

विष्णु पुराण

(प्रथम खंड)

(सरल भाषानुवाद सहित)

★

सम्पादकः .

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेद, १०८ उपनिषद्, षट्-दर्शन

२० स्मृतियां और १८ पुराणों के

प्रसिद्ध भाष्यकार ।

★

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान, वरेली ।

(उ० प्र०)

प्रकाशक ।

संस्कृति-संस्थान

वरेली (३० प्र०)



सम्पादक :

प० श्रीराम शर्मा आचार्य



सर्वाधिकार सुरक्षित



प्रथम संस्करण

१९६७ ई०



मुद्रक :

राष्ट्रीय प्रेस, मथुरा ।



१ मूल्य ७) २०

भूमिका

घठारह महापुराणों में यद्यपि 'यह विष्णुपुराण' पाकार की दृष्टि से बड़े छोटा है, पर इसका महत्व प्राचीन समय से ही बहुत अधिक माना गया है। अन्याय्य पुराणों में जो पुराण-सूचिका मिलती हैं उन सभी में इसको तृतीय स्थान दिया गया है। सरकृत के विद्वानों की दृष्टि में इसकी भाषा ऊँचे दर्जे की साहित्यिक, काव्यगुण सम्पन्न और प्रमादगुणयुक्त मानी गई है। जहाँ तक अनुमान है भाषा और वर्णनशैली की श्रेष्ठता में भागवत के सिवाय किसी अन्य ग्रन्थ की तुलना इससे नहीं की जा सकती। भूमण्डल का स्वरूप, ज्योतिष, राजवंशी का इतिहास, दृष्टि चरित्र आदि विषयों का इसमें बड़े बोध-गम्य ढंग से वर्णन किया गया है। कई पुराणों में जो साम्प्रदायिक लण्डन-मण्डन भ्रष्टाचार विरोध की भावना पाई जाती है, उससे भी यह मुक्त है। 'धार्मिक तत्वों का इसमें जैसी सरल और सुबोध शैली में वर्णन किया गया है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

'विष्णुपुराण' की श्लोक संख्या के विषय में बड़ा मतभेद है। अधिकांश स्थानों में २३ हजार श्लोक बनलाये गये हैं पर जो ग्रन्थ इस समय प्राप्त है उसमें केवल सात हजार श्लोक पाये जाते हैं। इस पर कई विद्वान कहते हैं कि 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' इसी का उत्तरार्ध है। इसको मान लेने पर और 'विष्णु धर्मोत्तर' के नौ हजार श्लोकों को जोड़ देने पर भी सोलह हजार की संख्या प्राप्त होती है जो तेईस हजार में सात हजार कम है। इस प्रकार यह एक ऐसी समस्या हो गई है जिसके सम्बन्ध में कोई निर्णायक सम्मति दे सकना असम्भव है। यद्यपि डा० विलसन जैसे विदेशी विद्वान इसको बहुत बाद की कृत्रिम रचना कहकर छुटकारा पा जाते

है, पर किसी हिन्दू धर्मानुयायी का इससे संतोष नहीं हो सकता। हम तो इस विषय में यही कह सकते हैं कि समग्र है किसी कारणवश प्राचीन काल में ही विष्णु पुराण का यह सक्षिप्त संस्करण किसी विद्वान ने पृथक् कर दिया हो और मूल बड़ा ग्रन्थ विदेशियों के आक्रमण के समय नष्ट हो गया हो।

विष्णु-पुराण के वर्ण-विषय—

विष्णु पुराण छ' अंशों में बँटा है, जिनमें १२६ अध्याय हैं। पहले अंश में काल का स्वरूप, सृष्टि की उत्पत्ति और ध्रुव, पृथ्वी और प्रह्लाद का वृत्तांत है। दूसरा अंश लोको के स्वरूप के सम्बन्ध में है। इसमें पृथ्वी के नीचे छह, सात पाताल लोक तथा सात ऊँचे लोकों का वर्णन है। ग्रह-नक्षत्र, ज्योतिष चक्र, नवग्रह आदि का भी परिचय दिया है। तीसरे में मन-वन्तर, वेदों की शाखाओं का विस्तार, गृहस्थ-धर्म और धातु विधि वर्णित है। चौथे अंश में सूर्य वंश, चंद्रवंश आदि के राजाओं के चरित्र तथा उनकी बंसावली वर्णन की गई है। पाँचवा अंश, जो पर्याप्त बड़ा है, श्रीकृष्ण चरित्र तथा उनकी लोकोत्तर लीलाओं से सम्बन्ध रखता है। यह बात उल्लेखनीय है कि जहाँ इसमें राम-चरित्र दस बीस लोकों में ही दिया गया है कृष्ण-चरित्र का विस्तार सँवडों पृष्ठों में है। अन्तिम अंश छोटा है और उसमें प्रलय और मोक्ष मार्ग का वर्णन करके ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है।

इस प्रकार शास्त्रों में पुराणों के जो पाँचो लक्षण (१) सर्ग (उत्पत्ति और महाभूतों की सृष्टि), (२) प्रतिसर्ग (सृष्टि का प्रारम्भ और विविध प्रकार के प्राणियों की उत्पत्ति) (३) वंश (ब्रह्माजी द्वारा उत्पन्न मूल वंशों का वर्णन), (४) मन्वन्तर (मान एवं समय के छह और कल्प आदि का वर्णन) (५) वसानुचरित्र (ऐतिहासिक राजवंशों के विभिन्न महापुरुषों का परिचय), 'विष्णु पुराण' में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त बीच-बीच में अध्यात्म विवेचन, सदाचार और धर्म का निरूपण, कनिषम आदि उपयोगी विषयों का भी समावेश है। मग्न विषयों का सम्पन्न अनुमान और आकार में वर्णन करना इस पुराण की विशेषता है। किसी विषय का इतना धन-

स्वयं विस्तार नहीं किया गया है कि पाठक को पढ़ते-पढ़ते भावस्वरूप जान सके लगे ।

पुराण का आविर्भाव—

विष्णु पुराण के आविर्भाव की कथा भी एक विशेष महत्व रखती है । इसमें दया, क्षमा की वृत्ति का एक उत्तम उदाहरण मिलता है । महर्षि बशिष्ठ के पौत्र पराशरजी को जब ज्ञान हुआ कि उनके पिता को विद्वामित्र जी की प्रेरणा से राक्षस ने खा लिया था तो उन्हें बड़ा रोष आया और उन्होंने राक्षसों के नाश के लिये एक यज्ञ आरम्भ किया, जिसमें सबों राक्षस जलकर भस्म होने लगे । यह देख गितामहर्षि बशिष्ठ जी ने उसी समझाया कि तुम्हारे पिता की मृत्यु में राक्षसों का कोई विशेष दोष न था, घटना और भाग्यवश ही उनकी इस प्रकार मृत्यु हो गई । अब तुम इस प्रकार के क्रोध की त्याग दो, क्योंकि साधुओं का मृत्यु लक्षण क्षमा ही कहा गया है :—

सचित्तस्यापि महता वत्स क्लेशेन मानवैः ।

यद्यस्तपसस्त्वं न क्रोधोनाशकरः परः ॥

स्वर्गापवर्गं व्यासेष कारण परमर्षयः ।

घर्जयन्ति सदा क्रोध तात मा तद्वशो भव ॥

(वि० १-१-१३-१८)

“हे वत्स ! मनुष्य अत्यन्त क्रुद्ध और थम से बिना यज्ञ और तप का श्रवण करता है यह क्रोध उगता अत्यन्त नाश करने वाला है । इससे महर्षिगण स्वर्ग और मोक्ष को बिगाड़ने वाले इन क्रोध का सर्वदा त्याग ही करते आये हैं । आ तुम इनके वशीभूत होकर अपना अनर्हित मन दरो ।”

पराशर जी ने वृद्धजनों की शिक्षा को स्वीकार करके जब राक्षसों का नाश करना वन्द कर दिया तो राक्षस बश के पूर्वज महर्षि पुलस्त्य जी बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने पराशर जी को पुराण संहिता की रचना कर सकने का वरदान दिया । उन्हीं के फलस्वरूप अवनर आने पर उन्होंने इसका उल्लेख मुनिवर मंत्रिज जी की प्रार्थना पर किया ।

वाराह कल्प का वर्णन—

जिहा पाल में हम सब रह रहे हैं उसका नाम शास्त्रों में 'वाराह वस्तु' कहा गया है। सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग मिलकर चतुर्गुण कहलाते हैं। ऐसे हजार 'चतुर्गुण' का ब्रह्मा का एक दिन होता है। ऐसे ही तीन ती माठ दिनों की ब्रह्मा की परमायु होती है। शास्त्रों के अनुसार ब्रह्मा की माथी माथु व्यतीत हो चुकी है और माथी माथु में यह पद्म नामक महाकल्प आरम्भ हुआ है जिसका प्रथम वस्तु 'वाराह' नाम का इस समय चल रहा है। इसका वर्णन करते हुए 'विष्णु पुराण' में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्न्य कल्पो में नारायण ने मत्स्य, कूर्म आदि का रूप धारण करके पृथ्वी का उद्धार किया था उसी प्रकार इस कल्प में उन्होंने जल में डूबी हुई पृथ्वी को बाहर लाकर सृष्टि रचना के उपयुक्त बनाने के लिये 'वेदवतमय वाराह' शरीर धारण किया। जब वे इस रूप में पृथ्वी के सम्मुख प्रकट हुए तो वह उनकी स्तुति करते हुये कहने लगी—

“हे कमलनयन भगवन् ! आपको नमस्कार है, आज आप इस पाताल लोक से मेरा उद्धार कीजिये। पूर्वकाल में मैं आपसे ही उत्पन्न हुई थी। मेरे तथा अग्न्य महाभूतों के उपादान कारण आप ही हैं। परमत्मा स्वरूप ! आपको नमस्कार है। प्रधान (धारण) और अन्त (कार्य) रूप ! आपको नमस्कार है। काल स्वरूप ! आपको नमस्कार है। प्रभो ! जगत की सृष्टि, पालन सहार के लिये आप ही ब्रह्मा विष्णु और रुद्र का रूप धारण करने वाले हैं। गोविन्दा ! जगत के एवाण्व मे मग्न हो जाने पर सबको उदरस्थ करके अन्त में आप ही उस जल में शयन करते हैं।” (वि० पु० १—४)

इसी प्रकार आगे चलकर सनन्दन आदि योगीश्वरों ने वाराह भगवान की स्तुति करते हुए कहा—“जगत्पते ! परमार्थ (सत्य वस्तु) तो एक मात्र आप ही हैं, आपके अतिरिक्त और कोई भी नहीं है। यह आपकी ही महिमा है जिससे यह सम्पूर्ण चराचर जगत व्याप्त है। यह जो कुछ भी मूर्तिमान जगत् दिवायी देता है, वह ज्ञान स्वरूप आपका ही शरीर है। इस सम्पूर्ण

ज्ञान स्वरूप जगत को अज्ञानी लोग अर्थ रूप (वास्तविक) समझने हैं, अतः वे निरन्तर मोहमय ससार-सागर में गडबदे रहते हैं। परमेश्वर ! जो लोग शुद्धचित्त और विज्ञानवेत्ता हैं, वे इस सम्पूर्ण ससार को आपकी ज्ञानात्मक रूप ही देखते हैं।” (वि० पु० १-४)

— इस वर्णन से जगत के आदिकारण तथा उसके सत्य-स्वरूप पर जो प्रकाश पड़ता है वही समस्त ज्ञान-विज्ञान का अन्तिम निष्कर्ष है। सृष्टि की रचना में चाह कितनी भी विविधता क्यों न दिखलाई पड़ती हो, ससार में कितनी भी सघर्ष क्यों न अनुभव होता हो, जन्म और मरण, उत्पत्ति और नाश में कितना ही अन्तर क्यों न जान पड़ता हो, पर ज्ञानी को स्पष्ट यह दिखायो देता है कि इन समस्त विविधता, भिन्नता के मूल में एकता विद्यमान है। विश्व भर में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है या अनुभव में आता है उस सबका मूल उद्गम एक ही है। पुराणकार ने इस तथ्य को बाराह भगवान की कथा के रूप में प्रकट किया है। अग्य लोग वैज्ञानिक शब्दावली में इसका निरूपण करते हैं पर वास्तविक साक्ष्य सबका यही है कि समस्त जगत का मूल कारण एक ही है। उसी से यह बार-बार उत्पन्न होता और वृद्धि को प्राप्त होता है और अन्त में उसी में लीन हो जाता है।

ध्रुव आश्रयान—

—विष्णुपुराण का ध्रुव आश्रयान बड़ा सुन्दर और शिक्षाप्रद है। ससार में मनुष्य यदि कोई महान् कार्य करना चाहता है, अपनी सामान्य स्थिति से उठकर आत्मोद्धार का अभिलाषी है तो उसका एक मात्र आधार तप—अनासक्त भाव से कर्तव्य पालन ही है। अपने उदर पालन के लिये, स्त्री, धन्य और परिवार के भरण-पोषण के लिये तो सभी को परिश्रम करना पड़ता है, इसके लिये मनुष्य अनुचित मार्ग का भी आश्रय लेते हैं, पर जो किसी प्रकार की महानता, लोकोत्तर पदवी का इच्छुक है, उसको इस स्वाध्यायी स्थिति से अवश्य ही ऊँचा उठना होता है। उसे लोक, समाज, समार के हित की भावना से भ्रम करना पड़ता है, उसका प्रतिष्ठा-कैलाश भी क्यों न पड़े। जब

मनुष्य अपने को इस विशाल संसार का एक अंग मात्र समझ लेता है और सबके हित में अपना हित मानने लगता है तो उसकी शक्ति अनन्त गुनी बढ़ जाती है और वह बड़े-बड़े दुस्तर बावों का भी सरलता से पूरा कर सकता है ।

ध्रुव की व्यक्तित्व भी ऐसा ही था । वह अपने को एक राजा का पुत्र अथवा किसी एक माता का बेटा समझने में बजाय व्यापक रूप में देखता था । इसीलिये उसे अपनी दिमाका अथवा सोनेले भाई से किसी प्रकार का द्वेष नहीं हुआ, परन्तु उसने अपना उद्धार अपने पुरुषार्थ में करने का निश्चय किया । वह सासारिक सम्पदा और वैभव को नाशवान समझकर आत्मिक उत्कर्ष का ही अभिलाषी था और इसलिये उसने अपने को संसार की सर्वव्यापक और नियामक शक्ति में मिला देने का प्रयत्न किया । वह इस लक्ष्य को कहाँ तक हृदयगम कर चुका था, यह उन शब्दों ने प्रकट होता है जो उसने भगवान के प्रकट होने पर उनकी स्तुति करते हुए कहे—

‘पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, महकार और मूल प्रकृति—ये सब जिनके रूप है उन भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ । जो अति शुद्ध, सूक्ष्म, सर्व व्यापक हैं और प्रधान से भी परे जिनका रूप है उन गुण भोक्ता परम पुरुष को मैं नमस्कार करता हूँ । प्रभो आप हजारों मस्तकी वाले, हजारों नेत्र वाले, हजारों चरखों वाले परम पुरुष हैं, आप सर्वत्र व्याप्त हैं । भूत और भविष्यत् जो कुछ पदार्थ हैं, वे सब आप ही हैं । विराट, स्वराट, सत्राट और आदि पुरुष (ब्रह्मा) आदि भी सब आपसे ही उत्पन्न हुए हैं । यह सम्पूर्ण जगत् आपके स्वरूप भूत ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत है । जिस प्रकार नन्हे से बीज में बड़ा भारी वट वृक्ष रहता है उसी प्रकार प्रलय काल में यह सम्पूर्ण जगत् बीज स्वरूप आप में ही लीन रहता है । जिस प्रकार बीज से अकुर रूप में प्रकट हुआ वटवृक्ष बढ़कर अत्यन्त विशाल, विस्तारमुक्त हो जाता है उसी प्रकार सृष्टिकाल में यह जगत् आप में से ही प्रकट होकर फैल जाता है । (वि० पु० १—१२)

मानव जाति की प्रगति के उन्नायक-महाराज पृथु—

कहा गया है कि विष्णु भक्त ध्रुव के वंश में ही कुछ पीढ़ियों के पश्चात् वेन नाम का एक ऐसा राजा उत्पन्न हुआ जो अत्यन्त निरकुश था और स्वयं को ही ईश्वर स्तुताकर सब प्रकार के धर्म-कर्तव्यों पर प्रतिबंध लगाता था। उसने प्रजा को आशा दी कि कोई यज्ञ, दान, हवन आदि न करे। जब देश के जानी-बूझने वाले उसे ऐसे धर्म विरुद्ध और जनता को कर्तव्य अष्ट करने वाले कार्यों से रोकने का प्रयत्न किया तो वह और भी उद्दण्डता का परिचय देने लगा। इस पर प्रजा के हित विन्तक व्यक्तियों ने उसका प्रन्त कर दिया और उसके पुत्र पृथु को शासनाधिकारी बनाया। वेन के कुशासन के कारण जो भरावृत्ता पैदा हो गई थी उसके कारण काफी समय तक देश में अन्धबुद्धि फैली रही और जीवन निर्वाह में अधिकार्य साधन नष्ट हो गये। उस समय तक जन साधारण वन और जंगलों की प्राकृतिक उपज पर ही निर्वाह करते थे। पृथु ने देखा कि यह 'रोज कुँआ खोदने' का तरीका बड़ा अस्मायी है और इससे चाहे जब जीवन निर्वाह की सामग्री का अभाव हो सकता है। अतः उसने भूमि को समतल कराके उसे जोतने बोन का क्रम आरम्भ किया, जिससे पर्याप्त मात्रा में खाद्य सामग्री प्राप्त हो सके। इस स्थिति का वर्णन करते हुए पुराणों में बताया है—

“उस समय अन्न, गोपालन, कृषि और व्यापार का कोई क्रम न था।

यह सब वेन पुत्र पृथु के समय से ही आरम्भ हुआ है। जहाँ-जहाँ भूमि समतल थी, वही-वही पर प्रजा ने निवास करना प्रसन्न किया। उस समय तक प्रजा का आहार केवल फल-मूलादि ही था, वह भी पेड़-पौधों के नष्ट हो जाने से बड़ा दुर्लभ हो गया था। इस प्रकार भूखी मरती प्रजा को प्राणदान करने के कारण महाराज पृथु भूमि के पिता हुए और सर्वभूतधारिणी पृथ्वी का 'पृथिवी' का नाम मिला।” (वि० पु० १—१३)

अधर्म पर धर्म की विजय—

इस संसार में धर्म और अधर्म—तमोगुण और तमोगुण का संघर्ष

भनादि काल से चला आया है। एक परमार्थ, परोपकार करना का मार्ग ग्रहण करके आत्मा को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है और दूसरा अन्याय, अत्याचार क्रूरता के द्वारा भी अपने स्वार्थ साधन, वैभव-विलास में ही रत रहता है। इस प्रकार के दो मनुष्यों का टकरा जाना स्वाभाविक ही है। यद्यपि परमार्थ मार्ग का अधिक किसी का अनहित नहीं चाहता, वह अत्याचारी की भी कल्याण-नामना ही करता है, पर जो क्रूर बुद्धि होता है, वह तो कभी सन्तुष्ट ही नहीं होता, वह अपने हितवर्ता के साथ भी बुराई करने को तैयार रहता है। इसी का एक परमोज्ज्वल उदाहरण 'त्रिष्णु पुराण' के प्रह्लाद-आख्यान में मिलता है।

प्रह्लाद का पिता हरिश्चकशिपु एक ऐसा ही दमन नीति में विश्वास रखने वाला सम्राट था। कहा जाता है कि उसने बहुत बड़ी शक्ति एकत्रित करके 'त्रिलोकी' को बखीभूत कर लिया था। उसके भय से 'देवता' (सृजन पुरुष) इधर-उधर जान बचाते मारे-मारे फिरते थे। वह अपने को ही ससार का वर्ता-धर्ता, विधाता मानता था। जो कोई विश्व सचानक परमात्मा का नाम लेता था वहीं उसे अपना शत्रु जान पड़ता था।

पर हरिश्चकशिपु का बेटा प्रह्लाद ठीक इसके विपरीत स्वभाव का था। वह परम ईश्वर भक्त था और ससार के प्रत्येक प्राणी तथा पदार्थ में उसी के रूप का दर्शन करता था। इससे पिता पुत्र से असन्तुष्ट रहता था और अन्त में यह दुर्भाव यहाँ तक बढ़ गया कि वह उसको अपना परम शत्रु मान-कर नष्ट करने पर उतारू हो गया। पर समदर्शी प्रह्लाद ने कभी उसके प्रति द्वेष भाव अपने मन में न आने दिया और वह उसके सब अत्याचारों को उसी परमात्म-शक्ति पर भरोसा रखकर सहन करता गया। हरिश्चकशिपु ने प्रह्लाद को हर तरह से अपने विचारों का अनुयायी बनाने का प्रयत्न किया पर वह सदा यही करता रहा—

“विषयों का जितना-जितना संग्रह किया जाता है, उतना ही वे मनुष्य के चित्त में दुःख बढ़ाते हैं। जीव अपने मनको प्रिय लगने वाले

वर्षों को जितना ही बढ़ाता है, उतने ही उसके हृदय में शोक स्वी सत्य (ः) गहरे जाते हैं। घर में जो धन, धान्यादि होते हैं, मनुष्य के ही भी रहते हुए, उसके चित्त में बने रहते हैं, और उनके नाश का आशंका में दुःख देती रहती है। इस प्रकार जीते जी तो वह यहाँ महान दुःख पाता है, मरने पर भी यम घातनाभो और यम वास में उसे उग्र वष्ट भोगना होता है। सारा संसार इसी प्रकार दुःखमय है। इसलिये इस संसार समुद्र, दुःखों से बचाने वाले एक मात्र भगवान ही हैं।”

“मनुष्य सोचता है कि ‘अभी तो बालक हूँ, इच्छानुसार खेल कूद लूँ, ज्ञानाभ्यास करने पर कल्याण साधन का प्रदत्त करूँगा। फिर पुत्र होने पर दत्ता है कि अभी तो मैं संसार-मुक्त भोग लूँ बुढ़ापे में धर्मध्यान करूँगा और जब वृद्ध हो जाता है तो अनुभव करता है जब तो मैं सक्रिय हो गया, मेरी इन्द्रियाँ कर्मों में प्रवृत्त ही नहीं होतीं शरीर के क्षिप्त हो जाने पर मैं क्या कर सकता हूँ? सामर्थ्य रहते तो मैं कुछ किया ही नहीं।’ इस प्रकार वह कभी कल्याण पथ पर अग्रसर नहीं हो पाता और केवल भोग कृष्ण में ही व्याकुल रहता है। (वि० पु० १—१७)

भोगवादी हरिण्यकशिपु को प्रह्लाद की यह त्याग-भावना विष तुल्य प्रतीत होती थी क्योंकि उसकी सवाई के कारण अनेक लोगो पर उसका प्रभाव पड़ना जाता था और उनके प्रजाजनों तथा नीकर-वाकरो में से बहु-संख्यक भीतर ही भीतर उसके विरोधी बनते जाते थे। इससे उसने पिता-पुत्र के सम्बन्ध को भूलकर प्रह्लाद को अपने मार्ग से हटाने का दृढ निश्चय कर लिया और जो कुछ उसके वश में था उसे मारने के लिये सब कुछ किया। पर जो व्यक्ति मानव-वक्त्र से ऊपर किसी महान शक्ति के सहारे अपने को मोड़ देता है और कर्तव्य पालन के अनिच्छित किसी अन्य दिशा में दृष्टिपात नहीं करना वह एक प्रकार से अमर हो जाता है। उस अविनाशो तत्व की गोद में अपने जो समर्पण कर देने वाला स्वयं भी नष्ट होने के मय से युक्त हो जाता है। इसलिए हरिण्यकशिपु के सब कुचक्र विफल सिद्ध हुए और

जैसा कहा गया है कि "तलवार का आश्रय लेने वाले तलवार से ही नष्ट हो जाते हैं" अपनी द्वेषाग्नि में वह स्वयं ही जल-भुन कर भस्म हो गया ।

अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन—

यद्यपि यह भक्ति प्रधान पुराण है पर इसके रचयिता ने अन्य मतों और सम्प्रदायों के साथ भी उदारता परिचय दिया है । भक्ति का सिद्धान्त द्वैतवाद के अन्तर्गत ही रह सकता है, क्योंकि भक्त कभी अपने को भगवान् के तुल्य नहीं मान सकता और न जीव को परमात्मा से पृथक् समझे बिना पूजा, उपासना, स्तुति, मजन आदि का कोई अर्थ हो सकता है । पर इसमें जब भरत के उपाख्यान में अद्वैत सिद्धान्त का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया है । जब सीवीर नरेश ने जब भारत से सत्य धर्म का उपदेश देने की प्रार्थना की तो उसने कहा—

“राजन् तुम श्रेय पूछना चाहते हो या परमार्थ ? हे भूपते ! श्रेय तो सब अपरमार्थिक ही हैं । जो मुख्य देवताओं की आराधना करके धन, सम्पत्ति, प्रजा और राज्यादि की इच्छा करता है उसके लिये तो वे श्रेय ही हैं । जिसकी फल स्वर्ग लोक की प्राप्ति है, वह यज्ञात्मक कर्म भी श्रेय है, किन्तु प्रधान श्रेय तो उस फल की इच्छा न करने में ही है । अतः राजन योगयुक्त युक्त पुरुषों को, प्रकृति आदि से अतीत उस आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये क्योंकि उस परमात्मा का सयोगरूप श्रेय ही वास्तविक श्रेय है ।

“इस प्रकार श्रेय तो सैकड़ों-हजारों प्रकार के हैं, किन्तु ये सब परमार्थ नहीं है । यदि धन परमार्थ हो तो धर्म के लिये उसका त्याग क्यों किया जाता है ? तथा इच्छित भोगों की प्राप्ति के लिये उसका व्यय क्यों किया जाता है ? अतः वह परमार्थ नहीं है । यदि पुत्र को परमार्थ कहा जाय तो वह अपने पिता का परमार्थ है और उसका पिता भी अपने पिता का परमार्थ होगा । अतः इस चराचर जगत् में पिता का कार्य रूप पुत्र भी परमार्थ नहीं है । यदि सत्तार में राज्य आदि की प्राप्ति को परमार्थ कहा जाय, तो ये कभी रहते हैं और कभी

होते रहते । अतः परमार्थ भी आगमापायी हो जायगा । यदि वेद त्रयो से सम्पन्न होने वाले यज्ञ कर्म को परमार्थ मानते हो तो उसके विषय में मैं जो कहता हूँ सो सुनो । नृप ! जो वस्तु कारण स्या मृत्तिका का कार्य होती है वह कारण को भ्रूणमिनी होने से मृत्तिका रूप ही जानी जाती है । अतः जो क्रिया समिधा, घृत और कुशा आदि नाशवान् द्रव्यों से सम्पन्न होती है, वह भी नाशवान् ही होगी । परमार्थ को तो प्राज्ञ पुरुष अविनाशी बतलाते हैं, पर कर्म तो, वह कैसा भी हो, नाशवान् द्रव्यों से सम्पन्न होने के कारण नाशवान् ही होगा, इसमें सन्देह नहीं ।

“अतः राजन् ! निस्तन्नेह यः सः सर्वं श्रियं ही है, परमार्थ नहीं । अतः जो परमार्थ है वह मेरे द्वारा भक्षेय में सुनो । आत्मा एक, व्यापक, सम, शुद्ध, निर्गुण और प्रकृति से परे है, वह जन्म, वृद्धि में रहित, सशब्दापी और धन्य है । राजन्, वह परम ज्ञानमय है । नाम, रूप और जाति आदि से उसका सम्पर्क न कभी हुआ है, न है और न होगा । वह आत्मा अपने और अन्य प्राणियों के शरीर में विद्यमान रहत हुये भी एक ही है—इस प्रकार का जो विशेष ज्ञान है वही परमार्थ है । जिस प्रकार अभिन्न भाव से व्याप्त एक ही वायु वाँसुरी के अलग अलग छिद्रों में होकर निकलने के कारण पद्म आदि अनेक भेद हो जाते हैं, उसी प्रकार एक ही परमात्मा के देवता, मनुष्य, पशु आदि अनेक भेद प्रतीत होते हैं । एक ही आत्मा के जो नाना भेद हैं वे बाह्य देहादि की कर्म प्रवृत्ति के कारण ही हुये हैं ।” (वि० पु० २-१४)

यही वेदान्त के महान् सिद्धान्त का सार है । आधुनिक विज्ञान भी अब प्रगति करते-करते इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि ससार में केवल एक ही तत्त्व है, उसे चाहे किसी नाम से पुकारो । पर यह सिद्धान्त चरितार्थ सभी हो सकता है जब हम उसके अनुसार व्यवहार भी करें । वर्तमान समय में हमारे देश के जो ‘ब्रह्मज्ञानी’ कहलाने वाले व्यक्ति जगत को ‘मिथ्या’ ही बतलाते रहते हैं पर एक पैसे के लिए भी बेईमानी करने को तैयार हो जाते हैं, अपने को समर्थ बतलाकर हर तरह के दुराचार में प्रवृत्त रहते हैं, उनको ‘वेदान्ती’ कहना इस शब्द की विद्वन्मत्ता भाव है । ‘त्रिधनुः पुरुष’ के उपरोक्त उपदेश के अनुसार तो

‘परमार्थी’ अथवा ‘आत्म ज्ञानी’ वही है, जो प्राणी मात्र को धरना ही एक अश सम्भवे और जब आवश्यकता पड़े धन, सम्पत्ति को ही नहीं धरिीर को भी तिनके के समान त्यागदे । आत्मज्ञान अथवा आत्मात्मवाद की परीक्षा बातों से नहीं व्यवहार से ही की जा सकती है ।

भक्ति का सच्चा स्वरूप —

पर ज्ञान और भक्ति का यह विवाद भी केवल बाह्य विषयों को महत्व देने वाले व्यक्तियों द्वारा उठाया जाता है, नहीं तो तत्त्व दृष्टि रखने वालों के लिये द तो ही मार्ग कल्याणकारी हैं । प्राचीन मनीषियों ने इनका प्रचार मनुष्यों की प्रभु के भेद को देखकर किया है क्योंकि सत्ता में प्रभु और कीमल प्रभुति का भेद पाया ही जाता है । पर इससे व्यवहार में कोई अन्तर नहीं पड़ता । अपने विश्वास के अनुसार व्यवहार करने वाला व्यक्ति, द्रव और अद्रव के विवाद में बिना पड़े हुये भी जीवन के सत्य-मार्ग को जान लेता है और उसी से उसका आत्म-कल्याण हो जाता है । जन्म भर सन्यासी रहकर ज्ञान-वर्धा करने वाले ‘साधु’ की अपेक्षा अपने कुकर्मों पर हृदय से पश्चात्ताप करने वाली वैरागी को मरणीपरान्त उच्चगति प्राप्त होने वाले आख्यान के अनुसार भगवान कथनी के बजाय ‘करनी’ को ही अधिक महत्व देते हैं । विष्णु पुराणान्तरगत ‘यम-गीता’ में यही सध्य प्रतिपादिन किया गया है ।

जब यमराज ने अपने एक दूत को यह आदेश दिया कि “भगवान मधु-सूदन के शरणागत व्यक्तियों को छोड़ देना ।” तो उस दूत ने हरि भक्तों के लक्षण पूछे । उसके उत्तर में यमराज ने कहा—

“जो मनुष्य अपने वर्ण-धर्म पर स्थिर रहते हुये सुहृद और विपक्षियों के प्रति समान भाव रखता है, बलात्कार से किसी का द्रव्य हरण नहीं करता, न किसी जीव की हिंसा ही करता है, उस निर्मल चित्त व्यक्ति को भगवान का भक्त जानो । जिस पवित्र हृदय वाले का चित्त कलि-कल्मष रूप मल से मलिन नहीं हुमा है और जिसने अपने अन्तः प्रदेश में सर्वदा श्री जनार्दन को बसा रखा ॥ उसे भगवान का अतीव भक्त समझो । जो एकान्त में पड़े हुये दूसरे के सोने

को देखकर भी उसे अपनी बुद्धि द्वारा तृण के समान समझता है, जो समस्त जीवों का प्रिय, हितवादी तथा भ्रमिमान और माया से रहित होता है, उसके हृदय में भगवान् वामुदेव सदा विराजमान रहते हैं।

“दूत ! यम और नियम का यात्न करने से जिनकी पाप राशि दूर हो गई है जिनमें गर्व, भ्रमिमान और मात्सर्य का सेव भी नहीं रहा है, उन मनुष्यों को तुम दूर से ही त्याग देना। जो पुरुष दूसरों का धन हरण करता है, जोषों को पीछा पड़ता है तथा मिथ्या और कटु भाषण करता है, उस दुष्ट बुद्धि मनुष्य के हृदय में भगवान् कभी टिन नहीं सकते। जो क्रुमति दूसरों का बर्तव्य देख नहीं सकता, दूसरों की निन्दा करता है, सज्जनों का अपकार करता है, सम्पन्न होकर भी न तो भगवान् की पूजा करता है न दीन जनों की सहायता करता है, उस अधम मनुष्य के हृदय में भगवान् जनार्दन का निवास कभी नहीं हो सकता।” (वि० पु० ३-७)

सच्च भक्त का प्रथम लक्षण यही है कि वह प्राणी मात्र में भगवान् का निवास समझकर उनका किसी प्रकार का अपकार न करे और सेवा के लिये सर्वत्र तत्पर, रह। यद्यपि धारन के कोरे शब्दों के पीछे बौढ़ने वाले ‘कर्म’ को निम्न स्वान् देखे हैं, पर वास्तविकता की दृष्टि से केवल मुख से ‘भ्राता की समानता, की बात कहने वालों की अपेक्षा उस सिद्धान्त को व्यवहार रूप में पूर्ण करने दिखाने वाले अधिक ज्ञान माने जायेंगे।

मानव-धर्म का परिचय—

इस प्रकार का परोक्ष और सहानुभूति पूर्ण सद् व्यवहार साधु और भक्ती का ही लक्षण नहीं, बल्कि मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। उसको उचित है कि वह जिस समाज में रहता है उसका सर्वेक हित चिन्तन करता रहे और किसी के साथ अप्रिय व्यवहार न करे। प्रत्येक मनुष्य समाज का एक अंग होता है और उसकी भलाई बुराई का प्रभाव सभी पर पड़ता है। इसलिये मनुष्य का धर्म है कि स्वयम् श्रेष्ठ बन और दूसरों को भी श्रेष्ठता का मार्ग दर्शन करे। विष्णु पुराण में चारों वर्गों के धर्मों का सामान्य निरूपण करते हुए कहा है—

“जो मनुष्य दूसरों की निन्दा, भुगली भयवा मिथ्या भावण नहीं करता तथा कभी ऐसा वचन नहीं बोलता जिससे दूसरों को घेद हो, उससे निन्दय ही भगवान् बेशव प्रसन्न रहते हैं। जो पुरुष दूसरों की स्त्री, घन और हिंसा में रवि नहीं करता उससे सर्वदा ही भगवान् सन्तुष्ट रहते हैं। जो मनुष्य किसी प्राणी को भयवा वृथादि किसी देहधारी को पीड़ित भयवा नष्ट नहीं करता उससे भगवान् प्रसन्न रहते हैं। जो मनुष्य स्वयं अपने और अपने पुत्रों के समान ही समस्त प्राणियों का हितचिन्तक होना है वह सुगमता से श्रीहरि को प्रसन्न कर लेता है। जिसका चित्त राग-द्वेषादि से दूषित नहीं है उससे भगवान् सदा ही सन्तुष्ट रहते हैं। इसके अतिरिक्त समस्त प्राणियों पर दया, सहनशीलता, समानता, सत्य, शौच, मगस-जामना, प्रियवादिता, मैत्री, निष्कामता, अष्टपणता और किसी का दोष न देखना—ये सब वरुणों के सामान्य नियम हैं। (वि० पु० ३-८)

इसी प्रकार गृहस्थों के सदाचार का वर्णन करते हुये कहा है ‘जो जितेन्द्रिय दोष के समस्त हेतुओं को त्याग देता है उसके धर्म, धर्म और काम की षोडी-सी भी हानि नहीं होती। जो विद्या विनय सम्पन्न, सदाचारी, प्राज्ञ मनुष्य पापी के प्रति भी पापमय व्यवहार नहीं करता तथा जिसका अन्तःकरण मैत्री-भावना से द्रवीभूत रहता है, मुक्ति उसकी मुट्ठी में रहती है। जो वीतराग महापुरुष कभी काम, क्रोध और लोभादि के बन्दीभूत नहीं होते तथा सदैव सदाचार में स्थित रहते हैं, उनके प्रभाव से ही पृथ्वी टिकी हुई है। अतः ज्ञानी मनुष्य को वही सत्य कहना चाहिये जो दूसरों के लिये हितकारी और प्रसन्नतादायक हो। यदि किसी सत्य बात के कहने से दूसरे को दुःख होता हो तो मौन रहे। यदि प्रिय वाक्य को भी अहितकर समझे तो उसे न बहे, हितकर वाक्य ही कहना अच्छा है, भले ही वह अत्यन्त अप्रिय क्यों न लगे। जो कार्य इहलोक और परलोक में प्राणियों के हित का साधक हो महिमान् पुरुष मन, वचन, कर्म से उसी का भावण करे।’ (वि० पु० ३-१२)

सत्ता से मदाग्य राजागण—

चौथे अंश में प्राचीन काल के विविध राजवंशों और राजाओं का वृत्तान्त

निसते हुये मन्त्र में कनिशुषी राजाओं का जो वरुन किया है, वह प्राचीन मौर
 जर्वा चीन सभी शासकों के लिये एक उपयोगी चेतावनी है। राजा का धर्म प्रजा
 का हित साधन और रक्षा करना ही है। जिसको शासन के उच्च पद पर बैठा-
 कर सम्मानित किया जाता है उसके ऊपर एक बहुत बड़े उत्तरदायित्व का
 भार भी सा जाता है। जो उस उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये अपने
 मुख, स्वार्थ, लाभ की चिन्ता न करके अपनी समस्त इच्छियों तथा साधनों की
 जनता के कल्याणार्थ लगा देता है, उस कार्य की पूर्ति के लिये प्रार्थों को देने में
 भी संकोच नहीं करता वही सच्चा राजा या शासक कहा जा सकता है। जो
 इसके विपरीत व्यवहार करता है, अपने बँसव-विलास की वृद्धि के लिये प्रजा
 को त्रास देता है, पीड़ित करता है, वह अपने पद की कनकित करने वाला है।
 ऐसे राजाओं का वरुन करते हुये पुरस्कार नहीं है—

“इस देव घरीर के मोह से भये हुये बहुरूपक ऐसे भूपतिगण हो
 गये हैं, जिन्होंने अपने राज्यभूमि से ही मनता की थी।” यह पृथिवी किस प्रकार
 भवज नाव में मेरी, मेरे पुत्र की भयथा मेरे बग की होगी—इसी चिन्ता से
 व्याकुल हुये इन सब राजाओं का मन्त्र हो गया। इन प्रकार अपने की जीतने के
 लिये राजाओं की भयज लक्ष्य करते देखकर बभुषरा धरतृकासीन पुणों के
 रूप में मागे हँव रही है। बह बहती है—

‘मही ! बुद्धिमान होते हुये भी इन राजाओं को यह कैसे मोह हो रहा
 है, जिसके कारण ये बुझबुझ के गलत धारणायी होते हुये भी अपनी म्दिरता
 में इतना विश्वास रखते हैं। ये लोग पहले अपने घर की ही ओरते हैं, फिर
 मन्त्रियों की, इसके अनन्तर क्षमा, अपने मृत्यु, पुण्यानी एवं अनुजों की जीतना
 चाहते हैं। ‘इसी क्रम से हम समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण पृथिवी को जीत लेंगे, ऐसी
 बुद्धि से मोहित हुये ये लोग अपनी निवर्तव्यता मृत्यु की नहीं देखते। यदि
 समुद्र से पिरा हुआ वह सम्पूर्ण भू-उन जीत कर अपने वध में कर लिया
 जाय तो भी मनोजय के सामने इसका क्या मूल्य है ? क्योंकि आत्मा का उद्धार
 तो मनोजय से ही हो सकता है। जिसे छोड़कर इनके पूर्वज बने गये और जिसे
 साथ लेकर इनके निजा भी नहीं गये, उसी मुन्को (पृथिवी को) से राजा

लोग अत्यन्त मूर्खता के कारण जीत लेना चाहते हैं। जिनके चित्त में सोच समाया हुआ है, उन पिता, पुत्र और भाइयों में अत्यन्त मोहान्धता के कारण पृथिवी के लिये ही परस्पर बग़ल होना है। जो-जो राजा लोग यही हो चुके हैं, उन सभी की ऐसी बुबुझ रही है कि यह पृथ्वी मेरी है—यह मारी की सारी मेरी ही है और मेरे पीछे भी यह सदा मेरी सन्तान की ही रहेगी। इस प्रकार राज्य और भूमि में ममता रखने वाले एक के पीछे एक राजाओं की सब कुछ छोड़कर मृत्यु के मुख में जाते हुये देखकर भी न जाने कैसे उनके उत्तराधिकारी अपने हृदय में फिर वैसे ही ममता को स्थान देते हैं? जो राजा लोग दूतों के द्वारा अपने सन्तानों से इस प्रकार कहलाते हैं कि “यह पृथिवी मेरी है, तुम लोग इसे तुरन्त छोड़कर चले जाओ, उन पर मुझे (पृथिवी को) बड़ी हँसी आती है और फिर उन मूर्खों पर दया भी होती है।”

जो मनोदशा पुराणकार ने छोटे बड़े राजाओं की लिखी है, वही आज भी अधिकांश शासकों की देखने में आती है। यद्यपि अब राजाओं का नाम मिट चुका है, सिंहासन पर बैठकर और मुकुट लगाकर भाट और बन्दीजनों के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनने की प्रथा भी बन्द हो गई है, तो भी उनका स्थान एक अन्य सत्ताधारी श्रेणी ने ले रखा है जो शासनाधिकार का अपनी बपीती समझते हैं और हर तरह के छन-बल, कपट द्वारा उस पर अपना अधिकार बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। ये लोग भूमि को तो नहीं, पर भूमि से प्राप्त होने वाले समस्त साधनों-सम्पत्ति को अपने ही अधिकार में रखना चाहते हैं, और इ के लिये साधन-विहीन जनता पर तरह-तरह के अन्याय करने में आगा-पीछा नहीं करते। यद्यपि वे यह भी जानते हैं और कहते हैं कि “यह लक्ष्मी चंचला है। आज तक कभी किसी के पास बिरकाल तक नहीं ठहरी,” तो भी इसकी ममता में वे ऐसे कैसे रहते हैं कि लोक-परलोक के विगड़ने का कुछ भी ध्यान नहीं रहता। ऐसे लोगों के लिये परलोक में कोई आशा होती ही नहीं क्योंकि जो ‘माया’ (लक्ष्मी) के लिये अपना सर्वस्व-आत्मा तक अर्पण कर देते हैं फिर उनका ‘राम’ तक पहुँचना असम्भव ही होता है।

वर्तमान शासकों में एक दोष पहले राजाओं की अपेक्षा भी अधिक देखने

में आती है। राजाओं पर कुछ उत्तरदायित्व सम्भल जाता था और राज्य की हानि को निजी हानि समझने के कारण वे प्रजा को सन्तुष्ट रखने, उसकी रक्षा करने की चिन्ता भी रखते थे। पर आज कल के शासक या नेता अस्थायी होने के कारण इस प्रकार की चिन्ता से भी मुक्त होते हैं और यदि वास्तव में वे धर्मनिष्ठ, कर्तव्यपरायण और निष्कारण नहीं हुये तो स्वायं साधन में सलग्न होकर देश और समाज के पतन के कारण बन जाते हैं।

श्रीकृष्ण-चरित्र की विशेषताएँ—

पाँचवें अक्ष में आरम्भ से अन्त तक कृष्ण चरित्र का वर्णन है। यद्यपि भगवान् कृष्ण के महान् चरित्रों का वर्णन 'भागवत' और 'महाभारत' में विस्तार से पाया जाता है, पर विष्णु पुराण में भी उनके लोकोत्तर कर्मों का बड़ी उत्तमता से वर्णन किया गया है। कृष्णजी के जन्म से पूर्व इस देश में सैनिकवाद का बीर दौरा हो गया था और प्रत्येक राजा अपनी सेना की सख्या अधिक से-अधिक बढ़ाकर दूसरों के राज्य को जीत लेने के लिये प्रातुर हो रहा था। इसके फल से सामान्य जनता की बड़ी दुर्दशा हो रही थी। उसका शोषण और जीवन-निर्वह के साधनों का अपहरण दिन पर दिन बढ़ता जाता था। सेना और युद्धों के लिये एक तरफ तो प्रजा की राजा की आज्ञानुसार सब साधन जुटाने पड़ते थे और दूसरी तरफ युद्धों के कारण कृषि-व्यापार आदि के कार्यों में बाधा पड़ती थी और लोगों को इधर-से-उधर भागते फिरना पड़ता था। इससे सब साधारण के कष्ट बहुत बढ़ गये थे।

इन अन्धाय पूर्ण कष्टों को सहन करते-करते जब जन-मानस अतृप्त क्षुब्ध हो गया, तो उसकी सामूहिक भावना ही 'मानो पृथिवी का रूप धारण कर ब्रह्माजी की शरण में उपस्थित हुई और उसने कहा—

"इस समय काल नमि आदि शक्तिशाली दैत्यगण मर्त्य लोक पर अधिकार जमा कर दिन-रात जनता को क्लेश पहुँचा रहे हैं। वह कालनेमि ही उग्र-सेन के पुत्र महान् अमरुत कस के रूप में उत्पन्न हुआ है। अरिष्ट, दैतुक, केशी, प्रलम्ब, नरक, सुन्द, बलि का पुत्र अति भयकर बाणासुर आदि दैत्य उत्पन्न

हो गये हैं तथा अन्य भी जो महा बलवान् दुरात्मा राक्षस राजाओं के पर में उत्पन्न हो गये हैं, मैं उनकी मरणा नहीं कर सकती। दिव्य भूतिधारी। देव-मण। इस समय मेरे ऊपर परम शक्तिशाली और ग्रहकारी दैत्यराजों की अनेक अक्षौहिणी सेनाएँ हैं। अमरेश्वरो। मे आपको बतला देना चाहती हूँ कि अब उनके भार से अत्यन्त पीड़ित होने के कारण मुझमें अपने को धारण करने की शक्ति भी नहीं रह गयी है। अतः महामातृमण! आप लोग मेरा भार उतारिये जिससे मैं अत्यन्त व्याकुल होकर रसातल को न चली जाऊँ।”

उपरोक्त उद्धरण में देश और समाज की स्थिति का जो चित्र खींचा गया है उसमें अस्वाभाविक और असम्भव कुछ भी नहीं है। आज भी ससार ठीक ऐसा ही स्थिति में होकर गुजर रहा है। आज एक देश में ही नहीं, बल्कि ससार भर में सैनिकवाद का इतना अधिक दोरदोरा है और राष्ट्रों की सहायक शक्ति इतनी बढ गई है कि ससार किसी भी समय नष्ट हो सकता है। इस समय जनता की कमाई का आधा भाग तो इसी सैनिक तैयारी में खर्च हो जाता है और इसलिये सर्वत्र लोगों को अभावजनित कष्ट सहन करना पड़ता है। आज भी जनता तरह तरह के करो के भार से उभी प्रकार कराह रही है जैसी कि कस के युग में थी। उस समय यद्यपि गौओं की सख्या हर जगह हजारों और लाखों थी और कहने के लिए दूध की नदियाँ बहती थी, पर तब भी अनेक बालकों को पीठे से दूध के त्रिण भी तरसना पड़ता-था। कारण यही था कि राज्य के करो को अदा करने के लिये अधिकार दूध का मक्खन और धी बनाकर बड़े नगरों में भेज दिया जाता था, जिससे सामान्य जनता को छाछ के प्रतिरिक्क दूध का एक छोटा अंश भी मिलना कठिन हो गया था।

भगवान् कृष्ण ने जन्मकाल से ही ग्रामों में निवास करके इस तथ्य की वास्तविकता को मनी प्रचार समझ लिया और कुछ बड़े होते ही जनता में इससे विरोधी भाव फैलाने आरम्भ कर दिये। वे सक्रिय रूप से भी दूध और मक्खन को नगरों में भेजे जाने का प्रतिबन्ध करते थे। इन्ही कारणों से

कस धीर उसके अधिकारी गए कृष्ण जी से शत्रुता मानने लगे और उन्होंने छत्र-बल से अनेक बार उनकी हत्या के लिए प्रयत्न किये। पर अपनी लोकोत्तर प्रतिभा और शक्ति के द्वारा उन्होंने शत्रु के गुप्त और प्रकट सभी आक्रमणों को सहज में विफल कर दिया। उनके ये कार्य साधारण जनता में चमत्कारों की तरह प्रसिद्ध हो गये और अन्त में जब उन्होंने कस को मारकर उसके अन्यायी शासन का अन्त कर दिया और छोटे-बड़े सभी लोग दमन और भत्या-चारों से छुटकारा पा गये तो कृष्ण जी एक महान् देवी शक्ति के रूप में पूजे जाने लगे।

श्री कृष्ण ने निरकुल तथा सैनिक शक्ति में विश्वास रखने वाले शासकों के अन्त करने का मानो बीड़ा उठा लिया था, इसलिए कस के पश्चात् के उसके स्वसुर जरासन्ध का, जो उस समय भारत में सबसे बड़ा सम्राट शासक था, मुनाबला करते रहे। यद्यपि जरासन्ध की सैन्य शक्ति बहुत अधिक थी, विष्णुपुराण के अनुसार उसने पहली ही बार २१ अश्वीहिणी सेना लेकर मथुरा पर आक्रमण किया था, पर श्री कृष्ण ने जनता में जागृति के माब फूँककर उसके विरुद्ध एक-ऐसा मुहृद संगठन तैयार कर दिया कि उसकी सैन्य शक्ति विशेष कारणर सिद्ध नहीं हुई और अन्त में श्री कृष्ण ने युक्ति पूर्वक उसको नष्ट कर दिया।

कालिय दमन का उद्देश्य—

विष्णु पुराण में कालिय-दमन का जैसा वर्णन किया है, उससे भी मगवान कृष्ण की लोक कल्याण की भावना प्रकट होती है। कहा जाता है कि जब मन्द जी ने कस के मातङ्ग से बचने लिये गोकुल छोड़कर वृन्दावन में अपना निवासस्थान बनाया तो वहाँ यमुना जी के निकट ही कालिय नाग रहता था। वह अत्यन्त क्रूर था और उसके कारण वह स्थान सब प्रकार के जीवधारियों से शून्य हो गया था। श्री कृष्ण के साथी ग्वाल वाले और गौधो की भी उससे भय रहता था। जो कोई भूल से उसके पास पास आ निवसता उसी को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता। उसकी 'विषाग्नि'

के फैलने से किनारे के वृक्ष भी जल गये थे । जब श्री कृष्ण ने यह सब देखा और कालिय के वहाँ रहने के कारण मनुष्यों और पशुओं के वधों पर विचार किया तो उन्होंने उसे वहाँ से हटाने का निश्चय कर लिया । इस उद्देश्य से जब वे कालिय के निवास स्थान के निकट पहुँचे तो उसका वर्णन पुराणकार के शब्दों में ही सुनिये —

“मृत्यु के दूसरे मुख के समान उस महाभयंकर कुण्ड को देखकर भगवान् मधुसूदन ने विचार किया, इसमें दुष्टात्मा कालिय नाम रहता है, जिसका विष ही शास्त्र है । इसने समुद्रगामी की सम्पूर्ण यमुना का जल दूषित कर दिया है, जिससे वह प्यासे मनुष्यों और पशुओं के भी काम नहीं आता । अतः इस नागराज का दमन अवश्य करना चाहिए जिससे ब्रजवासी लोग निर्भय होकर सुखपूर्वक रह सकें । ऐसा विचार कर वे पास के ही ऊँची चालाओं वाले एक कदम्ब के पेड़ पर चढ़कर अपनी कमर कसकर वेगपूर्वक नागराज के कुण्ड में कूद पड़े ।

तब श्री कृष्ण ने नागराज के द्वार पर अपनी भुजाओं को ठोका, उनका शब्द सुनते ही नागराज बाहर आ गया । उसके नेत्र क्रोध से कुछ ताम्र वर्ण हो रहे थे, मुखों में अभि कि लपटें निजल रही थी और वह महाविप्लवे भयंकर धातु भसी सर्पों से घिरा हुआ था । उसके साथ में मनोहर हारों से भूषित और कुण्डलों की कान्ति से सुशोभित सैंकड़ों नाग पत्नियाँ थी । तब सर्पों ने कुण्ड-माफ़र होकर श्री कृष्ण को अपने शरीरों से बाँध लिया और वे विषाग्र पवाला से व्याप्त अपने मुखों से उन्हें काटने लगे ।

“गोपगण के मुख से कृष्ण जी के ‘काली दह’ में कूदने का समाचार सुनकर यक्षोदा, और अनेक गोपियाँ, नन्द जी और गोपगण तथा अद्भुत विक्रम वाली बलराम जी भी धीघ्र ही वहाँ आ पहुँचे । जब उन्होंने कृष्ण जी को सर्पों के घुमल में फँसे देखा तो यक्षोदा और नन्द जी इतना शून्य होने लगे । सभी गोप, गोपी भी सोचाकुन होकर रोने लगे ।

‘तुम्की यह दशा देखकर रोहिणी नन्दन बलराम जी ने संकेत से
 १ कृष्ण से कहा—‘दिव देवेश्वर, क्या भाप अपने अनन्त रूप को नहीं
 जानते ? फिर जिस लिये यह अत्यन्त मानव भाव व्यक्त कर रहे हैं ।’ बलराम
 जी का सबेरा समझकर, मधुर मुँकाज से अपने ओठ सम्पुट खोलते हुए
 कृष्ण जी ने उल्लसकर अपने को सर्प के बन्धन से छुड़ा लिया और फिर दोनों
 एक-दूसरे से सर्प का बीच का फल भुक्ता कर उसी पर चढ़कर बड़े वेग से नाचने
 लगे । उनके चरणों की धमक से कालिय का प्राण मुँस में घा गया । वह
 मरने जिस पल को उठाना उसी पर नूँदकर भगवान् उठे भुक्ता देते । कृष्ण
 जी की भ्रान्ति, देवक, दण्डपात नाम की नृत्य-गतियों द्वारा ताड़न से यह
 महासर्प मूर्छित हो गया और उसने बहुत सा खरिब दमन किया ।

ग्रन्थ में नाग पत्नियों के प्रार्थना करने पर श्रीकृष्ण ने उसे छोड़ा
 और आदेश दिया कि वह यमुना जी को छोड़कर समुद्र में चला जाए । कई
 व्याख्याकारों ने इस ‘काली नाग’ की सीना का अर्थ मानव शरीर में मूलाधार
 स्थित कुण्डलिनी शक्ति का साधन करने से लगाया है । जिस
 समय कुण्डलिनी को जाग्रत किया जाता है उस समय वह भी बड़े उग्र
 रूप में उठती है और साधक को हिलाकर रख देती है । यह भी सम्भव है कि
 ‘कालिय’ व स्तव नाग जाति का कोई बलशाली मुखिया हो । ये लोग उस
 समय आर्यों द्वारा हटाये जाकर वनों और भूगर्भ स्थित भावामों में रहते थे और
 वहीं ॥ बरबर पाकर लूट-मार आक्रमण की तैयारी करते रहते थे । ऐसी दशा में
 वृन्दावन में नई बस्ती स्थापित करने पर उसके आस-पास के प्रदेश को
 निष्कण्टक करना श्री कृष्ण के लिये लिये आवश्यक हो या ।

लोक प्रिय नेता के रूप में—

श्रीकृष्ण के चरित्र की अधिर्वात घटनायें उनको एक लोक प्रिय
 नेता के रूप में हा प्रकट करती हैं । उनमें निस्वार्थ सेवा भाव के साथ ही
 जनता को अपनी ओर आकर्षित करने का स्वाभाविक गुण था । वे जहाँ
 कहीं भी रहे अथवा जिस किसी स्थान में गये वही पर जन साधारण ने

उनका सप्रेम स्वागत किया और सहयोग दिया । यदि ऐसा न होता तो वे गोकुल, वृन्दावन जैसे सामान्य ग्रामों में गोप जाति के साथ रहते हुए बंस, जरासंध, शिशुपाल के समान बड़े-बड़े सम्राटों का भुजाबला नहीं कर सकते थे । कंस वध के अवसर पर मथुरा में एक विद्रोही की हैसियत से जाने पर भी उनको अधिकांश प्रजाजनों तथा कंस के अनेक पार्षदों का सहयोग प्राप्त हुआ ।

कंस को भगवान् कृष्ण ने जिस प्रकार घनायास ही मार दिया उससे यह भी प्रकट होता है कि उसके कठोर और अन्यायपूर्ण शासन से उसके प्रजाजन और बहुत से राज्याधिकारी भी विरक्त हो गये थे । उसने अपने पिता उग्रसेन को कैद करके राज्य सिंहासन हथिया लिया था, इससे उसके परिवार और वंश के सदस्यों में भी असन्तोष की भावना उत्पन्न हो गई थी । श्रीकृष्ण ने एक चतुर राजनीतिज्ञ की भाँति इस परिस्थिति का लाभ उठाया और उसके निकटवर्ती सेवकों और कर्मचारियों को भी अपना सहयोगी बना लिया । मथुरा में कंस के माली तथा दासी कुब्जा ने उनका जिस प्रकार स्वागत किया तथा नगर के नरनारी उनकी देखकर जिस प्रकार प्रसन्न हुए, उससे यह ज्ञात होता है कि उनमें सबसे मैत्रीभाव स्थापित कर लेने तथा व्यवहार कुशलता का गुण पूर्ण मात्रा में विद्यमान था ।

पर इतना प्रभाव तथा सामर्थ्य होने पर भी उनमें स्वार्थपरता प्रयत्न अनुचित महत्वाकांक्षा का दोष तनिक भी न था । इस प्रकार एक बड़े राजा को पराभव कर देने पर यदि वे चाहते तो स्वयं राज्य के अधिकारी बन सकते थे, पर उन्होंने उसी समय राजा उग्रसेन को बन्धनमुक्त करके सिंहासन पर बैठाया और उनकी सब प्रकार से सहायता और रक्षा करने का भारवाहन दिया । इसका वर्णन करते हुए पुराणकर्ता ने लिखा है—

“तदनन्तरं श्री मधुसूदन ने जिनका पुत्र मारा गया है, उन राजा उग्रसेन को बन्धनमुक्त किया और उन्हें अपने राज्य पर अभिषिक्त कर दिया ।

हृष्टों द्वारा सम्मनित होकर यदु श्रेष्ठ राजा उग्रसेन ने अपने पुत्र तथा
 र भी जो लोग वहाँ मारे गये थे उन सब के शीर्षदैहिक नमन किये । शीर्ष-
 दैहिक कर्मों से निवृत्त होने पर सिंहासनाष्ट उग्रसेन से श्रीहरि दोनों ही दिनों !
 तारे योग्य जो सेवा हो उनके लिये हमें निरर्थक होकर भागा बीजिए । यथाति-
 ष्ठा होने से यद्यपि हमारा वंश राज्य का अधिकारी नहीं है तथापि इस-
 ली मुक्त दास के रहते हुए, राजाओं को तो क्या भाव देवताओं को भी भागा
 सकते हैं ।”

श्रीकृष्ण की राजनीति—

श्रीधर्म ही ऐसा धनुरार भा गया कि श्रीकृष्ण को उग्रसेन की रक्षा के
 लिये प्रयत्नशील होना पड़ा । कर्म भय के उन्नाट जयसंघ का जानावा था ।
 जब उसकी विधवा माली रोजी-बीटजी अपने पिता के समीप गईं तो वह कृष्ण
 और समस्त मद्रुबन्धियों पर बड़ा क्रोधित हुआ और एक विद्याल सेना लेकर
 पुरा पर बढ़ दौड़ा । उसके साथ श्रीकृष्ण और बनराम के संग्राम का वर्णन
 करते हुए बतलाया है—

“तब महाबली राम और जगद्विन मद्रुबन्धियों की घोड़ी-सी सेना लेकर
 गगर से बाहर भागे और जयसंघ की सेना से मिल गये । उन्होंने अपने पुत्र-
 इन मालों को स्मरण किया और उनके द्वारा श्रीधर्म ही मयराज की हथकर
 मयुराशुपी में चले भागे । यद्यपि जयसंघ की सेना हार गई थी, तो भी वह
 भीषण लौट गये इससे कृष्णजी ने अपनी विजयको अनुरूप समझा । इसी प्रकार
 जयसंघ ने अठारह बार मयुरा पर आक्रमण किया पर उसे सदैव हार कर
 वापस ही जाना पड़ा । उस समय मद्रुबन्धियों की सेना उसके मुखादिले में बहुत
 घोंड़ी थी, पर तो भी वह उसे निरन्तर पराजित करती रही, इसका कारण मय-
 वान के अवतारश्रीकृष्ण का माहात्म्य ही था । जो महापुरुष केवल अपने सर्वत्र
 भाव उत्तार को गष्ट कर सकते हैं, उनके लिये अनुपम की सेना का नाश कर
 देना कोई बड़ी बात नहीं थी । पर उन्होंने मानव धर्म का ध्यान करने की दृष्टि

से साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति का सहारा लेकर अपने उद्देश्य की पूर्ति की। इतना ही नहीं बरकर देख कर वे भाग भी जाते थे।” (वि० ५-२२)

जरासभ के साथी कान्यकुब्ज के आक्रमण के समय उन्होंने इसी नीति का प्राथम्य लिया। उन्होंने देखा कि इन लगातार युद्धों के कारण यदुवर्णियों की स्थिति सम्बल नहीं पाती और समस्त शक्ति इन भगडों में ही खर्च हो जाती है। तब उन्होंने मथुरा से हट कर बहुत दूर समुद्र के किनारे द्वारका की बसाकर वहाँ यादवों का राज्य स्थापित किया। इस प्रकार अपनी राजधानी को सुरक्षित बनाकर वे मथुरा चले आये और काल्यवन की युक्ति से पराजित करने की योजना करने लगे। वे मथुरा से बाहर बिना कोई शस्त्र लिये निकल आये। काल्यवन उनको इस प्रकार पराजित देखकर पकड़ने की कोशिश तो वे भी भागने लगे और भागते-भागते उस गुफा में आ घुमे जिसमें प्राचीन समय का राजा मुचुकुन्द दैवी निद्रा में सोया था। वह स्वयं गुफा में छुप गये और जब काल्यवन भीतर आया तो मुचुकुन्द को हो कृष्ण समझ कर लात से मार दिया। मुचुकुन्द कोषपूर्वक उठ बैठा और उसके द्वारा काल्यवन मारा गया।

श्रीकृष्ण की राजनीतिज्ञता का और निम्नकुल शासकों के प्रति विरोध भावना का चरम रूप महाभारत में देखने में आता है। उसमें वे भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ राजनीति विचारक और जनता के हित चिन्तक के रूप में प्रकट हुए हैं। उस काल में साम्राज्यवाद दिन पर दिन प्रबल होता जाता था और जिस प्रकार हम वर्तमान समय में सत्तार के राष्ट्रों को दो परस्पर विरोधी दलों में बँटा देखते हैं उसी प्रकार उस जमाने में भी भारत के राजागण दो भागों में बँट गये थे जिनमें से एक का नेतृत्व पाँचालपति द्रुपद और दूसरे का कुंसाग्रज्य का अधिपति दुर्योधन कर रहा था। भगवान् कृष्ण इस साम्राज्यवाद के विरुद्ध वे क्योंकि इसके द्वारा जनता का प्रतिपक्ष चोपण और उत्पीड़न होता था। लोग असंतुष्ट होते हुए भी राजाओं की सैनिक शक्ति के भय से उनके अन्यायों का प्रतिरोध न कर पाते थे। श्रीकृष्ण ने पाण्डवों का पक्ष लेकर इस राजनीतिक गुटबन्दी की बहुत कुछ तोड़-फोड़ की और पाण्डवों का समर्थन एक ऐसा दल

मार कर दिया जिससे दुर्योधन की बदली हुई साम्राज्यवादी महत्त्वकांक्षाएं र-धूर हो गई ।

अनेक आलोचकों के मत से महाभारत का सशम भारतवर्ष की महा-ता को नष्ट करने वाला था और इसके लिए वे श्रीकृष्ण को दोषी ठहराते हैं । र वास्तव में उनका उद्देश्य युवावस्था से दमनकारी सैनिकवाद के मान पर जनतन्त्रीय शासन की स्थापना करना था और महाभारत काल से बौद्ध-ग के उदय तक हमको जो किसी बड़े सम्राट या साम्राज्य का उल्लेख नहीं पलता उसका कारण भगवान कृष्ण की उपर्युक्त नीति ही थी । उस युग में गस्त देश व्यापी एक जनतन्त्र शासन स्थापित हो सकने की परिस्थितियाँ और सामन तो उत्पन्न नहीं हुये तो भी कुछ समय बाद बड़े-बड़े स्थानीय जन-तन्त्र प्रस्थित्व में आये और सैकड़ों, हजारों वर्ष तक उनमें जनता स्वतन्त्रताकी सास लेती हुई निवास करती रही । भगवान कृष्ण का यह सौ-नेता का रूप ही उनके वास्तविक महत्त्व का परिचायक है और उन्होंने गीता के “यदा यदादि यमस्य ग्लानिर्भवति भारत ” बाने श्लोक में ‘यम’ वा नाश करने ‘धर्म’ की स्थापना की जो प्रतिज्ञा की है, उसको सायंक बनाने वाला उनका यही कार्य है।

विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण चरित्र का उपसंहार करते हुये व्यास जी ने भी उनका ऐसा ही महत्त्व बतलाया है । उन द्वारिकावासी शत्रु के स्वर्गारोहण के उपरांत जब धर्जुन उनकी सहस्रा आधिताओं को लेकर हस्तिनापुर जा रहा था तो उसे सुटेरी ने लूट लिया और वह उनका कुछ भी प्रतिकार न कर सका । अपनी इस हीनता पर उसे बड़ी ग्लानि हुई और उसने अपनी मनोव्यथा व्यासजी को बतलायी । उसने कहा कि “मैंने महाभारत सशम में भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे अद्वितीय महारथियों को हरा दिया, पर आज थोड़े से लाठी लेकर लड़ने वाले अहीरों का भी सामना न कर सका । इससे विदित होता है कि श्रीकृष्ण ही मेरी सच्ची शक्ति थे और उन्हीं के प्रभाव से हम इतनी बड़ी सफलता प्राप्त कर सके थे ।” व्यासजी ने उसकी बात का समर्थन और श्री कृष्ण का महत्त्व प्रनट करते हुये कहा—

“धनत्रय ? तुमने श्रीकृष्ण चन्द्र का जैसा महात्म्य कहा वह सब सत्य ही है क्योंकि कमचनयन श्रीकृष्ण साक्षात् काल स्वरूप ही थे। उन्होंने पृथ्वी का भार उतारने के लिये ही अवतार लिया था। जब पृथ्वी ने भार फाँट होकर भगवान की प्रार्थना की तो श्री जनार्दन स्वयं ही यहाँ आये। सब सम्पूर्ण दुष्ट राजा मारे जा चुके अतः वह कार्य सम्पन्न हो गया। पाप ! सब शेष बचे वृष्टि और अन्धक आदि सम्पूर्ण यदुकुल का भी उपसंहार हो गया। अतः अपना कार्य समाप्त हो चुकने पर भगवान स्वच्छानुसार चले गये। इसलिये तुम अपनी पराजय से दुःखी न हो। यह सब उन भगवान की लीला का ही कीतुक है कि तुम अकेले ने कौरवों की नष्ट कर दिया और फिर स्वयं अहीरो से पराजित हो गये।” (वि० पु० १-३८)

शूद्रो और स्त्रियो की श्रेष्ठता—

पष्ठम अंश के दूसरे अध्याय में एक अद्भुत कथा है कि ‘एक बार मुनियों में परस्पर पुण्य के विषय में यह वार्तालाप हुआ कि ‘किस समय में थोड़ा पुण्य भी महान फल देता है और कौन उसका सुलपूर्वक अनुष्ठान कर सकते हैं’ वे मुनिगण जब स्वयं इसका निश्चय न कर सके तो सदेह को मिटाने के लिये महामुनि व्यास जी के पास गये—

“उस समय व्यास जी गंगा में स्नान कर रहे थे। उन्होंने एक बार जल से थोड़ा उठकर उन मुनिजनों को सुनाते हुए—कलियुग ही श्रेष्ठ है—यूद ही श्रेष्ठ है यह वचन कहा। यह कहकर उन्होंने फिर जल में डुबकी लगा ली। दूसरी बार लड़े होकर फिर कहा—‘स्त्रियाँ ही साधु हैं, वे ही धर्म्य हैं उनसे अधिक धर्म्य और कौन है ?’ तदनन्तर जब व्यास जी स्नान-कर्म समाप्त करते मुनियों के समीप पहुँचे और यथायोग्य अभिवादानादि के पश्चात् अपने भागनों पर बैठ गये तो उन्होंने पूछा—‘आप लोग कैसे पधारे हैं ?’

“मुनियों ने कहा—भगवन् ! पहले तो हमें यह बताया कि आपने स्नान करते हुए जो कई बार यह कहा कि ‘कलियुग ही श्रेष्ठ है, यूद ही श्रेष्ठ है, स्त्रियाँ ही साधु हैं सो क्या बात है ?’

"व्यास जी ने कहा, द्विजगण ! जो कन सतयुग में, इस वर्ष तपस्या करने से मिलता है, उसे मनुष्य ज़ेता में एक वर्ष में, द्वापर-में एक मास में और कलियुग में केवल एक दिन-रात में ही प्राप्त कर सकता है। इसी कारण मैंने कलियुग को श्रेष्ठ कहा। द्विजातियों को पहले ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करते हुये वेदाध्ययन करना पड़ता है और फिर स्वर्णोत्तरण से उपाजित धन द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ करने पड़ते हैं। इस प्रकार वे अत्यन्त परिश्रम तथा कष्ट से पुण्य लोको को प्राप्त करते हैं। किन्तु जिसे केवल मन्त्रहीन पाठ-यज्ञ का ही अधिकार है वह सूत्र केवल सेवा-धर्म का पालन करके ही सद्गति प्राप्त कर लेता है इसलिए वह अन्य जातियों की अपेक्षा धन्यतर है। इसी प्रकार पुरुषों को अपने धर्मानुकूल प्राप्त किये धन से ही सर्वदा सुपात्र को दान और विधिपूर्वक यज्ञ करना चाहिए। इस द्रव्य के उपार्जन और रक्षण में महान् दुःख भोगना पड़ता है तब जाकर जनको प्राजापत्य आदि शुभ लोकों की प्राप्ति होती है। परन्तु किन्हीं तो उन-उन वचन से पति की सेवा करने से ही उनकी द्विजकारिणी होकर पति के समान शुभ लोकों को अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं, इसीसे मैंने उनको 'साधु' कहा। (वि० पु० ६-२)

पराशर रचयिता ने इस कथानक द्वारा जन-सोचों का समाधान कर दिया है जो कलियुग, अपनी जातीय हीनता अथवा साधनों की कमी का बहाना घटनाकर कर्तव्य पालन से विमुक्त रहते हैं। उन्होंने बतला दिया है कि न कोई जमाना बुरा होता है, न कोई जाति छोटी होती है, न कोई वर्ग निन्द्य होता है, यदि मनुष्य स्वयं के अंगों में न पढ़कर सच्चे मन से अपने कर्तव्य का पालन करता रहे। भगवान् धन, दीनता, प्रतिभा, विद्वता, मान-सम्मान के भूखे नहीं वे केवल भावना की बंदर करते हैं। यही कारण है कि किसी सम्राट के एक लाख दान की अपेक्षा एक दीन हीन का एक वैसे का दान उनको अधिक बड़ा जान पड़ता है। इसी हार्दिक यत्ना और प्रेम को देखकर उन्होंने राजसी व्यक्तियों के बजाय शत्रु के वरों और विदुर के साथ का योग अत्यधिक प्रेम से लगाया। इसी आधार पर वे बड़े-बड़े धर्मव्यक्ती विप्रों के बजाय नरसी और तुकाराम, बबीर और रैदास जैसे श्रमजीवी भक्तों के अधिक निकट पहुँच गए।

वर्तमान समय में भी उच्च-नीच की दूषित मनोवृत्ति समाज का शासनहित कर रही है। यद्यपि इस समय छोटी-बड़ी जाति का भेद कुछ घिपित हो गया है पर उससे भी अधिक दुपित-धनी-गरीब के भेद ने उसका स्थान ले लिया है। आज धन की ही पूजा प्रतिष्ठा और सम्मान हो रहा है। गरीब व्यक्ति को जैसा सज्जन, सत्कर्म करने वाला, सेवा भावी क्यों न हो उसको प्राण का, ऊँचा उठने का, प्रतिष्ठित पद पाने का अवसर नहीं मिलता। अन्ध धर्म दोष और दुर्गुणों के भंडार धनवान् व्यक्ति रुपये के जोर से ही समाज में मुखिया और नेता बन बैठते हैं। यह प्रवृत्ति भगवान् और धर्म के प्रादेशों में विपरीत है और जब तक इसे बदला न जायगा सत्कार दिन पर दिन विपत्ति के दलदल में ही फँसता चला जाय।

स्त्रियों का महत्त्व भी स्पष्ट है। वे सच्चे घरों में समाज की निर्मात्री होती हैं। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपना आरम्भिक जीवन उनकी गोद में ही बिताना पड़ता है और जैसा उनका स्वभाव, व्यवहार, आचार-विचार होता है उसका प्रभाव मनुष्यों पर अवश्य पड़ता है। वर्तमान समय के बाल-मनो विज्ञान के ज्ञाताओं के अनुसार तो अच्छा जन्म लेने के साथ ही सीखने लगता है और आरम्भिक दो-तीन वर्षों में उसके भावी जीवन का अधिकांश में निर्माण हो जाता है। अर्थात् उस छोटी अवस्था में उसके ऊपर जो संस्कार पड़ते हैं वे फिर आजीवन कठिनाता से बदलते हैं और उन्हीं के अनुसार वह अच्छी बुरी जीवन-पाराम्भो को अपनाता है। अगर स्त्री अपने इसी एक कर्तव्य का वास्तविक रूप में पालन कर सके तो वह समाज का इतना बड़ा कार्य सिद्ध करती है, जिसका बदला किसी प्रकार नहीं दिया जा सकता। इसी को महर्षि व्यास ने 'पति की हितकारिणी' बनने का नाम दिया है, क्योंकि भावी सत्ता का सत्पान (संपूत) होना मनुष्य का सबसे बड़ा सौभाग्य है। पर इसके लिये स्त्री को सुयोग्य होना आवश्यक है। मूर्खा और अधिकांशित स्त्री तो सत्ता का निर्माण करने में बजाय उसका सत्यानाश कर देती है जिससे अनेक बातें यही कहना पड़ता है कि ऐसे 'पुत्रवान्' होने से ती 'निपुत्रो' रहना ही

प्रच्छा । विष्णु पुराण के मतानुसार स्त्रियाँ धन्य पक्ष्य हैं क्योंकि वे समाज के लिये परम उपकारी हैं । यदि वे अपने कर्तव्य का समुचित पालन न करें तो मानव समाज उन्नत और सुसंस्कृत बन ही नहीं सकता ।

मानव-जन्म की सार्थकता —

‘विष्णु पुराण’ के अन्तिम तीन अध्यायों में आध्यात्मिक सर्वां करते हुए मनुष्य को प्राप्त होने वाले त्रिविध ताप, परमार्थ-विद्या और ब्रह्मयोग का परिचय कराया गया है, जिससे मनुष्य सधार-चक्र और भव बन्धनों से छुटकारा पाकर अपने सत्य स्वरूप में अवस्थित हो सकता है । मानव जीवन की सब वेद, शास्त्र तथा ज्ञानी जनों ने बहुत बड़ा लाभ बतलाया है, एक ऐसा लाभ जिसके लिये देवगण भी आलायित रहते हैं । पर यह लाभ प्राप्त तभी हो सकता है जब मनुष्य अपने स्वरूप और कर्तव्यों को समझे और माया-मोह के पन्धे से बचकर अपना वास्तविक कर्तव्य पालन करे । जो ऐसा नहीं करता, इसके विपरीत मार्ग पर चलता है, तो उसके लिये यह एक महान् बन्धन, पतन का साधन भी बन सकता है । इस प्रकार इस मानव जीवन की स्वर्गीय या नारकीय बनाना हमारे अपने ही हाथ में है । जो व्यक्ति इस तत्त्व को जाने बिना भ्रमों की तरह जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करता है वह शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक तीनों तरह के तापों में ग्रसित होकर सुख की तुलना में बड़ ही अप्रिय चङुता है । इन तीनों तरह के तापों का वर्णन करते हुए पुराणकार कहते हैं—

“शारीरिक ताप के कितने ही भेद हैं, बहु मुनो । शिरोरोग, प्रतिश्याय (पीनस) उदर, शूल, भयंकर गुन्ध, अर्श (बवासीर), गोष, द्वास, नेत्ररोग, घनिष्ठार, कुष्ठ आदि शारीरिक बड़ भेद से देहिक ताप कितने ही प्रकार के हैं । अथ मानसिक तापों को मुनो—हाम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, विषाद, शोक, अमृषा, अवमान, ईर्ष्या, और मात्सर्य आदि भेदों से मानसिक ताप के अनेक भेद हैं । आध्यात्मिक तापों के भी इसी प्रकार कितने ही भेद हैं । पशुओं को जो बड़ जगती पशु पक्षी, विज्ञान, सर्प, बिच्छू, रक्षस आदि

से प्राप्त होता है, वह आधिभौतिक कहा जाता है। और शीत, उष्ण, वायु, वर्षा, बाढ़, विद्युत्सपात आदि से प्राप्त दुःख आधिदैविक बहे जाते हैं।

“इस प्रकार जन्म से मृत्यु तक जीव अनेकों दुःखों को भोगता है। अज्ञान रूप के अन्धकार से आवृत्त होकर मूढ़हृदय पुरुष यह नहीं जानता कि मैं वह से आया हूँ ? कौन हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? मेरा स्वरूप क्या है ? मैं किस वस्त्र से बेधा हुआ हूँ ? इस बन्धन का क्या कारण है ? अथवा यह अकारण है प्राप्त हुआ है ? मुझे क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए ? क्या कहना चाहिए और क्या न कहना चाहिए ? धर्म क्या है अधर्म क्या है ? कि अवस्था में मुझे किस प्रकार रहना चाहिए ? मेरा क्या कर्तव्य है ? अथवा क्या गुण और क्या दोष है ? इस प्रकार पशु के समान, विवेक-धूम्य, उदर और इन्द्रिय के भोगों में आसक्त पुरुष अज्ञान-जनित महान् दुःख भोगते हैं।” (वि० मु० ६-५)

इस प्रकार केवल स्वार्थ परायण जीवन व्यतीत करने वाला इस लोक और परलोक में दुःख ही पाता है। यदि वह कभी सुख का भी अनुभव करता है तो तब क्षणिक और भ्रम-युक्त होता है। जैसे शराब के नशे में मनुष्य बड़ा ‘मजा’ समझता है और आरम्भ में बड़ी प्रसन्नता भी प्रकट करता है, पर उसका परिणाम बवहवास होकर इधर-उधर गिरना और अपमानित होना ही होता है। परलोक में भी ऐसे पाप-परायण व्यक्तियों की अत्यन्त दुर्गति होती है क्योंकि दूषित मनोवृत्तियों के कारण उनसे आत्मा और सूक्ष्मदेह वहाँ भी बँसे ही बह अनुभव करती रहती है। इस प्रकार बार-बार मरना और जीना और गर्भावस्था, जरावस्था तथा मरणकाल के कष्ट सहना कभी मानव जन्म की सार्थकता नहीं मानी जा सकती।

निष्काम कर्म और ज्ञान-मार्ग—

इसलिये शास्त्रों का उपदेश यही है कि इस ससार के पदार्थों में अधिक ममता रखने और स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, धर, भूमि आदि की प्राप्ति और रक्षा में ही सलग्न रहने से मनुष्य को कभी सच्चा सुख नहीं मिल सकता। ये पदार्थ

जिनका सुख देते हैं उससे अधिक दुःख का कारण होते हैं। इस कारण प्रात्म कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को इनमें कभी भासक्त नहीं होना चाहिए, वरन् इनका सम्बन्ध कर्तव्य रूप ही मानना चाहिए। इसके लिए पुराणकार ने दो मार्ग ही हिताकारी बतलाये हैं, एक निष्काम कर्म-योग और दूसरा ज्ञान-योग, इसकी विवेचना करते हुये उन्होंने कहा है—

“ज्ञान दो प्रकार का है—शास्त्रज्ञान और विवेकज्ञान। शास्त्रज्ञान का ज्ञान शास्त्र-ज्ञान है और परब्रह्म का बोध विवेकज्ञान। भजान और भ्रंश-कार के समान है। उसको नष्ट करने के लिये इन्द्रियोद्भवज्ञान दीपकवत् और विवेकज्ञान-सूर्य के समान है। इस विषय में भगवान् मनु ने कहा है, कि शास्त्र ब्रह्म (शास्त्र-ज्ञान) में निपुण हो जाने पर जिज्ञासु विवेकज्ञान ज्ञान के द्वारा परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। प्रपञ्चवेद के अनुसार भी विद्या दो प्रकार की है—परा और अपरा। परा से भक्षर (मच्चिदानन्द) ब्रह्म की प्राप्ति होती है और अपरा वेदत्रयी ऋण है। जो मय्यवन, भक्षर, अविन्द्य, भक्ष, भक्ष्य, अनिर्दिश्य, भक्षण, सर्वगत, निरम, भूर्त्तों का प्रादिकारण, स्वयं कारणहीन है, जिससे सम्पूर्ण व्याप्य और व्यापक प्रवृत्त हुआ है, जिसे पण्डित-जन ज्ञान-नेत्रों से देखते हैं, वह परम धाम ही भक्षर ब्रह्म है। सुमुक्त जनों की उसी का ध्यान रचना चाहिये। वही वेद वचनों से प्रतिपादित भगवान् विष्णु का प्रति मूर्त परम पद है। इसका ज्ञान और सान्निध्य प्राप्त करने के दो साधन स्वाध्याय और योग हैं। स्वाध्याय से योग का और योग से स्वाध्याय का आश्रय करे, क्योंकि एक दूसरे के सहायक होने से वे दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। इस प्रकार स्वाध्याय और योग रूप सम्पत्ति से परमात्मा जाने जाते हैं।”

(वि० पु० ६-५)

उपरोक्त उद्धरण में पुराणकार ने कर्म और ज्ञान का जो समन्वय किया है, वही अधिकांश युद्धिवादी विद्वानों का अभिमत है। जो लोग इन दोनों मार्गों में वेद उदात्त करने की चेष्टा करते हैं और इस सम्बन्ध में ‘शास्त्रार्थ’ करने को उद्यत रहते हैं, उनकी विद्या को तोते के गमान रटी हुई और पेट को भरने के साधन स्वरूप ही समझना चाहिए। मनुष्य का काम न तो ज्ञान से बल

सबता है और न विवेक मूल्य वमें से । पहली प्रकार के मनुष्य यदि होंगी, ठीक और समाज पर भारस्वरूप होते हैं तो दूसरी श्रेणी के मनुष्य-तर का धर्म बिना कर बिनास और उत्थान के प्रयोग्य बन जाते हैं । इसलिये लेखक का यह मत बिल्कुल ठीक है कि मनुष्य को अपने जीवन की सफलता के लिये धर्म और ज्ञान परा और अपने विद्या का समन्वय बनाये रखना अनिवार्य है । एक तरफ जहां सांसारिक कर्तव्यों का पालन करके, समस्त सम्बन्धियों, इष्ट-मित्रों के साथ यथायोग्य व्यवहार करके सुख, सफलता प्राप्त करना प्रशंसनीय है, वहीं दूसरी ओर आरम-कल्याण का ध्यान रखकर शास्त्रों का विद्वान, मनन, उपासना, त्याग, तप, सेवा के मार्ग में भी अग्रसर होते रहना आवश्यक है ।

ऐसे धर्म-पालन के लिए यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य सर्वस्व त्यागी बनकर और जङ्गलों में जाकर रहने लगे अथवा छापा-तिलक लगाकर, भ्रष्ट रमाकर, वस्त्रत्याग कर 'साधू' या 'जोगी' बन जाय । यह मार्ग तो इस समय धीरे पतनकारी सिद्ध हो रहा है । ऐसे 'त्यागी बाबा' और 'तपसी महाराज' तो प्रायः साधारण गृहस्थी-जन के भ्रमेक्षा भी कड़ी अधिक प्रपञ्च में पड़े और निकृष्ट कर्म करते दिखाई पड़ते हैं । वे ससार का उपकार करने की बजाय अपकार ही अधिक करते हैं और इन प्रकार निष्पक्ष लोगों की निगाह में 'धर्म' और 'ज्ञान' को उपहास तथा निन्दा का विषय बनाते हैं । इसलिये परमार्थ और मोक्ष का मार्ग भी लौकिक कर्तव्यों का पालन करते हुए ही अधिक सुगमता और निश्चित रूप से प्राप्त किया जा सकता है । पुराणकार ने आगे चल कर लार्किङ्ग और केशिन्धवजी की कथा में यह स्पष्ट भी कर दिया है कि श्रेष्ठता अपने-अपने कर्तव्यों को पालन करते रहने और सत्य-व्यवहार की ही है । ऐसा व्यक्ति चाहे घर में रहे या वन में, उसको भगवान की प्राप्ति निश्चित ही है । इसी तथ्य को दृष्टिगोचर रखकर इस पुराण में भारतवर्ष को स्वर्ग से भी बढ़कर बतलाया है, क्योंकि यह ऐसी कर्म भूमि है जहाँ मनुष्य निष्काम भाव से कर्तव्य पालन करके स्वर्ग और अपवर्ग, स्वार्थ और परमार्थ दोनों की सिद्धि कर सकता है । पुराणलेखक अपनी सलित भाषा में कहते हैं

गायन्ति देवाः किलगीतकानि घन्यास्तु ते भारतभूमि भागे ।
 स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुष्पाः सुरत्वात् ॥
 कर्माप्यसकल्पिततूत्फलानि सनस्य विष्णो परमात्मभूते ।
 अवाप्य ता कर्म महीभनन्ते तास्मिल्लेय ये त्वमला प्रयान्ति ॥
 (वि० ई० २, ३।२४-२५)

भारतभूमि की महिमा पर मुग्ध होकर कवि कहता है कि यही एक ऐसा देश है जहाँ पर मनुष्य कर्म करते हुये भी उनके लिए 'अपमत्त्व' का अहंकार नहीं करते बरन् उसके फल को ईश्वरापित करके स्वयं निर्लेप बने रहते हैं । यही कारण है कि स्वर्गके देवता भी यहाँ गाते रहते हैं कि भारतभूमि बड़ी सौभाग्य शालिनी है जहाँ स्वर्ग और अपवर्ग दोनों का समन्वय किया जा सकता है । निस्सन्देह उसमें जन्म लेने वाले धन्य हैं ।

× × × × ×

'विष्णु पुराण' वास्तव में पुराण-साहित्य का एक अमूल्य रत्न है । विषय-निर्वाचन, तथ्यों का निरूपण, वंशज शैली का सघन और स्थाभाविक होना, भाषा का सौष्ठव और ज्ञानित्य आदि जिनने गुण इस अपेक्षाकुल अल्प विस्तार वाले पुराण में भर दिये गये हैं उन्हें देख कर 'यागर मे सागर' की उक्ति ही स्मरण हो आती है । हमारा विश्वास है कि इस पुराण को गढ़कर पाठकों के मन में से उन बहुत सी धारणाओं का अन्त हो आया जिनको बहुत से स्वयम्भू आलोचक, जिन्होंने अभी एक भी पुराण को पूरा न पढ़ा होगा, समय-समय पर पुराणों के विरुद्ध प्रकट किया करते हैं ।

हम यह नहीं कहते कि सब पुराण या उनमें दिये गये सब विषय उच्च-कोटि के उपयोगी और निर्दोष हैं । सभी प्राचीन ग्रन्थों की तरह पुराणों में भी समय-समय काफी मिलावट की गई है । विदेशी आक्रमणों के समय उनमें से अनेक नष्ट हो गये और फिर उनको इपर-उपर से सागधो सग्रह करके फिर से प्रस्तुत किया गया । इससे अनेक परिवर्तन, परिवर्द्धन उनमें होते ही रहे ।

अनेक स्वार्थीजनों ने उनमें से अपने लाभ की दृष्टि से तीर्थ, दान आदि की महिमा अप्रासंगिक रूप से भर दी, कही थानों का विशाल विधि-विधान ही शामिल कर दिया गया । इस प्रकार बहुसंख्यक अनावश्यक, अनुपयोगी और अनेक दूषित विषय भी पुराणों में शामिल कर दिये गये हैं । पर इस आधार पर उनका सर्वथा बहिष्कार करना बुद्धिमानी की बात नहीं है । अनेकों काम की महत्व की बातें भी हैं, अनेक प्राचीन तथ्यों का पता उनके द्वारा लगाया जा सकता है, इसलिये उनका सतोधन, परिमार्जन करके, उनकी उपयोगी बातों का संग्रह करना, उनसे लाभान्वित होना ही सर्वथा उचित है ।

‘विष्णु पुराण’ का बल्लेवर पहले से ही अल्प था और लोकप्रिय होने के कारण उसका सर्वोपयोगी रूप भी विकृत होने से बच गया, इसलिए उसे पूर्ण रूप में यथातथ्य प्रकाशित किया गया है ।

—श्रीराम शर्मा, आचार्य

विषय सूची

प्रथम अंश

१.	पराशर मुनि का यज्ञ और पुराण ज्ञान की प्राप्ति	४१
२	चौबीस तथों के माय जगन्-उत्पत्ति का वर्णन और विष्णु भगवान की महिमा	४६
३	ब्रह्मा की आयु और काल का स्वरूप	५६
४	ब्रह्माजी की कमल से उत्पत्ति, वाराह अवतार द्वारा पृथ्वी का उद्धार और लोक-रचना	६१
५	देवर्षि, पितृ, दानव, मनुष्य, नित्य आदि की सृष्टि	६६
६	चारों धर्म और उनके कर्तव्य, पृथिवी के विभाग, अन्न की उत्पत्ति	८८
७	प्रजापतिगण की उत्पत्ति, तामसी-सर्ग, स्वायम्भुव मनु और शतम्ब का वंश वर्णन	९४
८	रुद्र-सर्ग का वर्णन, भगवान तथा लक्ष्मीजी का प्रभाव	९०
९	इन्द्र की तुर्वासाजी का शाप, समुद्र मन्थन द्वारा रत्ना तथा लक्ष्मी की उत्पत्ति	९५
१०	सृष्टि, अग्नि आदि पितरों की मूर्तियों का वर्णन	११७
११	ध्रुव का जन्म और उत्तरी धोर तपस्या	१२०
१२	भगवान का प्रकट होकर ध्रुव को बरदान देना	१२८
१३	ध्रुव की सन्तान तथा राता वेन और पृथु का चरित्र	१४३
१४	प्राचीन बर्हि और उनके पुत्र प्रचेताओं का वर्णन	१५६

१५.	दक्ष प्रजापति की उत्पत्ति और उनकी आठ कन्याओं का वंश वर्णन	१६३
१६.	प्रह्लाद की कथा और नृसिंहावतार विषयक जिज्ञासा	१८५
१७.	हिरण्यकशिपु का त्रिलोक विजय और प्रह्लाद की भगवद् भक्ति	१८७
१८.	प्रह्लाद को मारने के लिये तरह-तरह के घातक प्रयोगों का वर्णन	२०२
१९.	प्रह्लाद द्वारा भगवान का स्वरूप कथन और उसकी रक्षा को सुदर्शन चक्र का भेजा जाना	२०६
२०.	प्रह्लाद की भगवत् स्तुति और नृसिंह भगवान द्वारा हिरण्यकशिपु का वध	२२१
२१.	कश्यपजी की अन्य स्त्रियों की सन्तान का वर्णन	२२७
२२.	विष्णु भगवान के रूप में समस्त सृष्टि की उत्पत्ति वर्णन	२३३

द्वितीय अंश

१.	प्रियव्रत का वंश वर्णन	२४६
२.	सागर, द्वीप, वर्ष, पर्वत, वन, नदियों आदि का वर्णन	२५२
३.	भारतादि नौ खण्डों का विभाजन	२६०
४.	प्लक्ष, पाल्मालि आदि समुद्रद्वीप वर्णन	२६४
५.	सात पाताल लोकों का वर्णन	२७७
६.	रौरव, असिपत्र वन, बाल भूत्र आदि नरकों का वर्णन	२८१
७.	ऊर्ध्व लोक और ग्रहादि की स्थिति	२८८
८.	सूर्य, नक्षत्र, राशि, बाल चक्र और लोक पालों का वर्णन	२९५
९.	निशुमार चक्र और ध्रुव वर्णन	३१३
१०.	द्वादश मास के द्वादश सूर्यों का वर्णन	३१७
११.	सूर्य का स्वरूप और वैष्णवी शक्ति का वर्णन	३२०

ग्रह-नक्षत्रों का वर्णन और सबका भगवान का अंश रूप कथन	३२३
राजा भरत का जड़ भरत के रूप में जन्म लेना और ब्रह्मज्ञान कथन	३३१
जड़ भरत और सीवीर नरेश का सवाद	३४६
ऋषु द्वारा निदाघ को अद्वैत सिद्धान्त का उपदेश	३५१
राजा और हाथी के दृष्टान्त से अद्वैत ज्ञान कथन और सीवीर नरेश का समाधान	३५६

तृतीय अंश

पहले सात मन्वन्तरो के मनु, इन्द्र, देवता, सप्तर्षि आदि का कथन	३६१
आगामी सात मन्वन्तरो का वर्णन	३६७
प्रत्येक चतुर्युगी में उत्पन्न होने वाले व्यासों का वर्णन	३७५
ऋग्वेद और उसकी शाखाओं का विस्तार	३८०
यजुर्वेद की सत्ताईस शाखाओं का वर्णन	३८४
सामवेद और उसकी शाखायें, अठारह पुराण और चौदह विद्याओं का वर्णन	३८८
यमराज द्वारा हरिमरुत के लक्षण और महिमा का कथन	३९३
भगवान विष्णु की धाराधना और उसका महात्म्य, चारों वर्णों के धर्म	४००
ब्राह्मण धर्म, गृहस्थ आदि आश्रमों के धर्म	४०६
जातकर्म, नामकरण और विवाह संस्कार वर्णन	४१२
गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी सदाचार	४१५
गृहस्थों के विशेष धर्म	४३४
आन्युदयिक आद्य, प्रेत क्रिया और आद्य	४४१

१५. १४. श्राद्ध की महिमा और काल निर्णय
 १६. १५. श्राद्ध के उपयुक्त ब्राह्मण और अन्य विधान
 १६. १६. श्राद्ध विहित और त्याज्य वस्तुओं का वर्णन
 १७. १७. देवताओं के पराजित होने पर विष्णु द्वारा मायामोह
 (नम्न) की उत्पत्ति
 १८. १८. मायामोह का असुरों को पतित करना और राजा
 शतधनु तथा उसकी रानी की कथा

चतुर्थ अंश

२०. १. वैवस्वत मनु के वंश और राजाओं का वर्णन
 २१. २. इक्ष्वाकु के वंश का वर्णन
 २२. ३. इक्ष्वाकु के वंश का वर्णन



श्रीविष्णुपुराण

प्रथम अंश

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

पहला अध्याय

ॐ पराशरं मुनिवरं नृत्तपीर्वाह्लिककियम् ।
मैत्रेयं परिपमच्छ प्रणिपत्याभिवाद्य च ॥१॥
त्यक्तो हि वेदाध्ययनमधीतमखिल गुरो ।
धर्मशास्त्राणि सर्वाणि तथाङ्गानि यथाक्रमम् ॥२॥
स्वप्नप्रमादाद्मुनिश्रेष्ठ मामन्ये नाकृतश्रमम् ।
वक्ष्यन्ति रुक्मशास्त्रेषु प्रायशो येऽपि विद्विष ॥३॥
साऽहमिच्छामि धमज्ञं श्रोतुं स्वस्तोयथा जगत् ।
बभूव भूयश्च यथा महाभाग भविष्यति ॥४॥
यन्मयं च जगद्ग्रहान्यतश्चैतच्चराचरम् ।
लीनमासीदथा यत्र लयमेप्यति यत्र च ॥५॥

श्री मूनजी ने कहा—जब मुनि श्रेष्ठ पाराशरजी पूर्वाह्लिक
को वरग करने आदर पर विराजमान हुए तो मैत्रेय ऋषि

ने उनको प्रणाम अभिवादन करके पूछा — हे गुरदेव आपके सर्व
 रहकर मैंने समस्त वेद-वेदाङ्ग एवं धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया है ॥१२॥
 आपके अनुग्रह से पण्डितजन भी यह नहीं कह सकते कि 'मैंने व्यास
 ध्यायन में धर्म नहीं किया है।' मेरे विरोधी भी ऐसा नहीं कह सकते
 हैं ॥३॥ हे धर्मज्ञ ! अब मैं आपके मुख से यह सुनना चाहता हूँ कि या
 जगत जिससे उत्पन्न हुआ है, यह समस्त चराचर जिनमें तीन पा
 जिससे प्रकट हुआ है, जिसमें समय होगा, उसका मूल स्वरूप क्या
 है ? ॥४-५॥

यत्प्रमाणानि भूतानि देवादीना च सम्भवम् ।
 सनुद्वपर्वताना च सस्थान च यथा भुवः । ६।
 सूर्यादीना च सस्थान प्रमाणं मुनिसत्तम ।
 देवादीना तथा वशान्मनू-मन्वन्तराणि च । ७।
 कल्पान् कल्पविभागाश्च चातुर्युगविकल्पितान् ।
 कल्पान्तस्य स्वरूपश्च युगधर्माश्च कृत्स्नतः । ८।
 देवर्षिपार्ष्णिवाणा च चरित यन्महामुने ।
 वेदशास्त्राप्रणयन यथावद्व्यासकर्तृकम् । ९।
 धर्माश्च ग्राह्याणादीना तथा चाश्रमवासिनाम् ।
 श्रोतुमिच्छाम्येह सर्वं त्वत्तो वासिष्ठनन्दन । १०।
 ब्रह्मप्रसादप्रवणं कुरुष्व मयि मानसम् ।
 येनाहमेतज्जानीया त्वत्प्रसादान्महामुने । ११।
 साधु मैत्रेय धर्मज्ञ स्मारितोऽस्मि पुरातनम् ।
 पितु पिता मे भगवान् वसिष्ठो यदुवाच ह । १२।
 विभ्रमिन्नप्रयुक्तेन रक्षसा भक्षिन पुरा ।
 श्रुतस्तातस्ततः क्रोधो मैत्रेयाभून्ममातुल । १३।
 ततः ह रक्षसा सत्रं विनाशाय समारभम् ।
 भस्मीभूताश्च शतशस्तस्मिन्सत्रे निशाचराः । १४।

प्राकाश आदि पञ्च महाभूतों की स्थिति, देवताओं की उत्पत्ति, समुद्र, पर्वत और पृथ्वी की दशा, सूर्य आदि ग्रहों का संस्थान और परिमाण देवताओं का वंश, मनु और मन्वन्तरो का वर्णन, बत्सों और युगों का स्वरूप, कल्पान्तर, सम्पूर्ण युगों के धर्म, देवों और राजाओं के चरित्र, श्वासजी द्वारा वेदों की विभिन्न शाखाओं का प्रणयन आदि का वर्णन भी मैं सुनना चाहता हूँ ॥६-६॥

हे दाक्षितनय ! दाहाण आदि चारों बणों और ब्रह्मचर्य आदि चारों ऋषियों के धर्म मैं आपसे जानना चाहता हूँ । हे ब्रह्मन् ! आप मुझ पर ऐसी कृपा करें जिससे मैं इन वमस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकूँ ॥ १०-११ ॥ पातानर जी बोले—हे धर्मज्ञ भर्गव ! तुमने पुराने विषयों की अच्छी याद दिलाई । पितामह वसिष्ठ ने जो कुछ कहा था वह मम भद्र मुझे स्मरण हो रहा है ॥ १२ ॥ हे भर्गव ! जब मैंने यह सुना था कि विश्वामित्र द्वारा प्रेरित राक्षस न पिताजी को भक्षण कर लिया, तो मुझे अत्यन्त क्रोध हुआ था और मैंने राक्षसों के विनाशार्थ यह प्रारम्भ कर दिया जिससे सबको हजारों राक्षस प्रतिदिन भस्म होने लगे ॥१३-१४॥

ततः सङ्क्षोभमाणेषु तेषु रक्षस्त्वशेषतः ।
 मामुवाच महाभायो वसिष्ठो मत्पितामहः ॥१५॥
 अयमयन्तकीपेन तात मय्युमिमं जहि
 राक्षसा नापराध्यन्ति पितुस्त विहितं हि तत् ॥१६॥
 मूढानामेव भवति क्रोधो ज्ञानवता कुतः ।
 हन्यते तात क केन यतः स्वकृतमुक्पुमान् ॥१७॥
 सन्धिनस्य पि महता वत्स कुंठेन मानवं ।
 यशस्तपसश्चैव काधो नादकरः परः ॥१८॥
 स्वर्गापवर्गव्यासेधकारण परमर्षयः ।
 यजंयन्नि गदा क्रोध तात मा तद्वशो भव ॥१९॥

अथ निशाचरैर्दग्धैर्दीनैरनपराभिभि ।

सत्र ते विरमत्यतस्तप्तमागारा हि गाधय ॥२०॥

एव सति तेनात्मनुगता महारमना ।

उपसहृतवांसत्र गद्यरतद्राव्यगोव्याम् ॥२१॥

जब इस प्रकार घण्ट्या राक्षस नष्ट हो गए तब मेरा शिष्य महाराज पसिद्ध भी ३ छावर कहा—ब्रह्म—घरपन्त छोड़ करना ठीक नहीं होता, अतः उसको पात करो । रागियों का कोई दोष नहीं है तुम्हारे पिता का प्रारम्भ ऐसा ही था ॥ १५-१६ ॥ भूत व्यक्ति ही क्रोध किया करता है, जानोजन ऐसा नहीं करता । हृ प्रिय । कोई किसी का वध नहीं करता है, क्योंकि सब धपन - धपने कृतकर्मों का पत्र भोग किया करते हैं ॥ १७ ॥ यह भी समझो कि मनुष्य अत्यन्त परिश्रम करने पर भी श्रीर तपस्या का सञ्चय करना है, पर क्रोध से वह सहज ही में नष्ट हो जाते हैं । इसलिए ज्ञान के भण्डार ऋषिगण स्वर्ग और मोक्ष में बाधा स्वरूप क्रोध का परित्याग कर दत हैं । इसलिए है तात । तुम भी क्रोध के बन्दीभूत मत हो ॥ १८-१९ ॥ बिना किना दोष के समस्त निशाचरों को भस्म करना निरयव है, इसलिए अब धपने इस यज्ञ से निवृत्त हो, क्योंकि साधुओं का भूषण क्षमा ही है ॥ २० ॥ पितामह महोदय के इस प्रकार उपदेश करन पर मैंने उनका आदेश धिरोधार्य करके उसी समय यज्ञ का उपसंहार कर दिया ॥२१॥

तत प्रीत स भगवान्वसिष्ठो मुनिसत्तम ।

सम्प्राप्तश्च तदा तत्र पुलस्त्यो ब्रह्मण सुत ॥२२॥

पितृमहेन दत्तार्घ्यं कृतासनपरिश्रह ।

मामुवाच महाभागो मैत्रय पुलहाग्रज ॥२३॥

वैरे महति यद्वाक्याद् गुरोरद्याश्रिता क्षमा ।

त्वयातस्मात्समस्तानिभवाञ्छास्त्राणि वेत्स्यति ॥२४॥

सन्ततेर्न ममोच्छेद क्रुद्धेनापि यतः कृत ।

त्वया तस्मा-महाभाग ददाम्यन्य महावरम् ॥२५॥

पुराणमहिताकर्ता भवान्वत्स भविष्यति ।
 देवतापारमार्थ्यं च यथाद्वैत्स्यते भवान् ॥२६॥
 प्रवृत्ते च निवृत्ते च कर्मण्यस्तमता मतिः ।
 मत्प्रसादादसन्दिग्धा तव वत्स भविष्यति ॥२७॥
 ततश्च प्राह भगवान्वसिष्ठो मे पितामह ।
 पुलस्त्येन यदुक्त ते सर्वमेतद्भविष्यति ॥२८॥

इस पर महामुनि वसिष्ठ मुक्त पर अत्यन्त प्रमत्त हुए और उसी बीच मे वज्रा जी ने पुत्र पुत्रस्य जी वहाँ आ पहुँचे ॥२२॥ पिताजी ने उनको अर्घ्यदान किया और पुत्रस्य जी आसन पर बैठकर मुक्त से रहने लगे—“अत्यन्त वैरभाव होने पर भी तुमने जो गुरुजनों के कथन को स्वीकार करते क्षमा कर दिया इससे तुमको संपन्न शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त हो जायगा ॥ २३-२४ ॥ पुलस्त्य जी घाने कहने लगे—“क्रोध करने पर भी तुमने जो मेरे वश का मूलोच्छेद नहीं किया उसके लिए मैं तुमको यह विशेष धर प्रदान करता हूँ कि तुम पुराण-महिताओं के रचयिता होंगे, देवता और परमार्थ सत्त्व को यथावत् जान सकोगे और मेरे प्रसाद मे प्रवृत्ति और निवृत्ति मूलक धर्म मे तुम्हारी बुद्धि निर्मल और धम-दिग्ध रहेगी” ॥ २५-२६-२७ ॥ तत्पश्चात् मेरे पितामह भगवान् वसिष्ठ ने कहा—“पुत्रस्य जी ने तुम से जो कहा है वह महत्त सत्य होगा” ॥२८॥

इति पूर्व वसिष्ठेन पुत्रस्त्येन च धीनता ।
 यदुक्त तत्स्मृतिं याति स्वत्प्रशनादत्रिल मम ॥२९॥
 सोऽहं वदाम्येष ते मैत्राय परिपृच्छते ।
 पुराणमहिता सम्पन्ना निरोध यथातथम् ॥३०॥
 विष्णो मकानादुद्भूत जगत्तत्रैव च स्थितम् ।
 स्थितिपमवर्तासौ जगतोऽस्य जगत्त म ॥३१॥

हे मैत्रेय ! पूर्वज्ञात मे वसिष्ठ जी और बुद्धिमान पुलस्त्य जी ने इस प्रकार जो कहा था वह सब इस समय तुम्हारे प्रश्न करने से मुझे प्रमाण हो गया ॥२९॥ अगए अब मैं तुम्हारे द्वारा विज्ञापित पुराण-

सहिता पूर्ण रूप से बताना है, तुम सम्बन्धना उभे ग्रहण करो ॥ ३० ॥
यह समस्त जान विष्णु से ही उत्पन्न हुआ है और उन्ही में स्थित है।
इसकी स्थिति और संयम के कर्ता वही हैं और वस्तुतः वे ही अवस्था
रूप हैं ॥ ३१ ॥

दूसरा अध्याय

अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने ।
सर्वरूपरूपाय विष्णवे सर्वविष्णवे ॥ १ ॥
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शङ्कराय च ।
वासुदेवाय ताराय सगस्थित्यन्तकारिणे ॥ २ ॥
एकानेत्रूपाय स्थूलसूक्ष्मात्मने नमः ।
अव्यक्तव्यक्तरूपाय विष्णवे मुक्तिहेतवे ॥ ३ ॥
सर्गस्थिविनाशानां जगतो यो जगन्मयः ।
मूलभूतो नमस्तमै विष्णवे परमात्मने ॥ ४ ॥
आधारभूत विश्वस्याप्योणीयासमन्तीयसाम् ।
प्रणम्य सर्वभूतस्थमच्युत पुरुषोत्तमम् ॥ ५ ॥
ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मल परमायतनः ।
समेवार्थस्वरूपेण भ्रातिदर्शनतः स्थितम् ॥ ६ ॥
विष्णुं प्रसिद्धानु विश्वम्य स्थितो सर्गो तथा प्रभुम् ।
प्रणम्य जगतामीशमजमक्षयमव्ययम् ॥ ७ ॥
वक्ष्यामि यथापूर्वं दक्षाद्यैर्मुनित्तमं ।
पृष्ठं प्रोवाच भगवानब्जयोनिः पितामहः ॥ ८ ॥

पाराशर जी कहने लगे—अविकार, शुद्ध तीनो बाल में अवि-
भाजी परमात्मा, सर्वदा एक रूप, सर्वविजयी विष्णु ही हरि, हिरण्य-
गर्भ और शङ्कर के नाम से प्रसिद्ध हैं, उन सृष्टि-स्थिति-विनाश करने
वाले वासुदेव को नमस्कार है ॥ १-२ ॥ एकानेक स्वरूप स्थूल-सूक्ष्ममय

कार्यकारणभूत, मुक्तिदाता विष्णु को नमस्कार है । इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय के मूलभूत, जगन्मय परमात्मा विष्णु को नमस्कार है ॥ ३-४ ॥ विश्वाधार, सुध्यातिमूढम्, सन प्राणिषो में स्थित धार, पुरुषोत्तम, ज्ञान स्वरूप, वास्तव में अत्यन्त निर्मल किन्तु, भ्रांति-घटा स्थूल रूप में दृश्यमान, कालस्वरूप, जन्ममूढ, अच्युत जगदीश्वर विष्णु को प्रणाम करके मैं उस समस्त ५.पानक को कहता हूँ जिसको पद्मयोनि भगवान् यद्वा जो ने दत्तादि भद्रामुनियों के प्रश्न करने पर कहा था ॥५-८॥

तं श्लोक्तं पुरुषुत्साय भूभुजे नर्मदातटे ।
सारस्वताय तेनापि मह्यं सारस्वतेन च ॥६॥
परः पराणा परमः परमात्मात्मसंस्थितः ।
रूपवर्णादिनिर्देष्टविशेषणविवर्जितः १०।
अपक्षयविनाशान्या परिणामधिजन्मभिः ।
वर्जितः शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम् ॥११॥
मर्वत्रासी समस्त च वसत्यत्रति वै यतः ।
ततः स बामुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥१२॥
तद्ब्रह्म परम नित्यमजमक्षयमभ्ययम् ।
एतत्स्वरूपं तु सदा हेयाभावाच्च निर्मलम् ॥१३॥
तदेव सर्वमेवंतद्व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत् ।
तथा पुरुषरूपेण कालमेषा च स्थितम् ॥१४॥

इस पादि मुनिजी ने नर्मदा के तट पर विरामह वा कथन राजा पुरुषुत्साय को सुनाया था, पुरुषुत्साय ने उसे सारस्वत से कहा और सारस्वत ने मनेमुना ॥६॥ परतपर आत्मसंस्थित परमात्मा, जो कि रूप, वर्ण, निर्देश से रहित है, अपक्षय विनाश-परिणाम-वृद्धि-जन्म से रहित है, जो जिसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि वह "सदा है" वही इस जगत के सर्वत्र व्याप्त है और समस्त जगत उसमें वास करना है, रक्षितिये मानुष्य कहा जाता है ॥१०-१२॥ वह ब्रह्म जन्ममूढ,

निरूप्य स्वरूप, अक्षय, अव्यय, सर्वदा एव रूप, माया तथा उगने गुणों से रहित और निर्मल है ॥ १३ ॥ व्यक्त (महदादि), अव्यक्त (माया) पुरुष और काल इन चारों रूपों में वही स्थित है ॥ १४ ॥

परम ब्रह्मणो रूप पुरुष. प्रथम द्विज ।
 व्यक्तः अव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम् ॥ १५ ॥
 प्रधानपुरुषः व्यक्तकालानां परमं हि यन् ।
 पश्यन्ति सूरय शुद्ध तद्विष्णो परमं पदम् ॥ १६ ॥
 प्रधानपुरुषः व्यक्तकालास्तु प्रविभागशः ।
 रूपाणि स्थितिसर्गास्तव्यक्तिसंज्ञावहेन च ॥ १७ ॥
 व्यक्तं विष्णुस्तथा व्यक्तं पुरुषं काल एव च ।
 क्रीडतो बालकस्येव चेष्टा तस्य निशामय ॥ १८ ॥
 अव्यक्तं कारणं यत्तत्प्रधानमृषिसत्तमैः ।
 प्रोच्यते प्रकृतिं सूक्ष्मां नित्यं सदपदमकम् ॥ १९ ॥
 अक्षयं नाशदाधारममेयमजरं ध्रुवम् ।
 शब्दस्पर्शविहीनं तद्रूपादिभिरसहितम् ॥ २० ॥
 त्रिगुणं तज्जगदानिरनादिप्रभवाप्ययम् ।
 तेनाग्ने सर्वमेवासीद्वयाग्नं वै प्रलयादनु ॥ २१ ॥

हे द्विज ! परब्रह्म का प्रथम रूप पुरुष होता है दूसरा तब तीसरा व्यक्त और अव्यक्त है और चौथा रूप काल है । जानीजने इन चारों में जो शुद्ध और परम—सार वस्तु है उसी का अनुभव करते हैं और वह विष्णु का परम पद अथवा परमरूप है ॥ १५—१६ ॥ पूर्वोक्त प्रधान आदि रूप ही विभागानुसार समस्त सृष्टि—स्थिति—प्रलय के उद्भव और प्रवृत्ति होने का कारण है ॥ १७ ॥ विष्णु भगवान् जो पुरुष आदि रूपों में प्रकट होते हैं, उसको बालकों ने खेल की तरह ही समझना चाहिए ॥ १८ ॥ ऋषिगण अव्यक्त कारण रूप प्रधान को ही सूक्ष्म प्रकृति के नाम से पुकारते हैं । यही अव्यक्त, अक्षय, अनश्वर, अजर, निश्चय, शब्द-स्पर्श विहीन, रूप रहित त्रिगुणमय ही

जगत् का कारण है । यह स्वयं प्रनादि है । मृष्टि के पहले घोर प्रलय के पश्चात् सर्वत्र बड़ी एक ही तत्त्व व्याप्त रहना है ॥१६—२१॥

वेदवादविदो विद्वन्निपता ब्रह्मवादिनः ।

पठन्ति चेतमेवार्थं प्रधानप्रतिपादकम् ॥२२॥

नाहा न रात्रिर्न नमो न भूमि-

र्नासोत्तमोज्ज्यातिरभूच्च नान्यत् ।

श्रोत्रादिपुद्गलानुपलभ्यमेक

प्राधानिकं ब्रह्म पुष्पास्तदामोन् ॥२३॥

विष्णो, स्वरूपात्परतो हि ते द्वे

ऋषे प्रधानं पुरषश्च विप्र ।

तम्यैव तेऽन्येन घृते विगुप्ते

ऋषान्तरं तद्विज्ज कालसङ्गम् ॥२४॥

प्रकृतौ संस्थितं व्यक्तमतीतप्रत्ये तु यत् ।

तस्मात्प्राकृतसंज्ञोऽयमुच्यते प्रतिसत्त्वरः ॥२५॥

अनादिमगवान्कालो नान्ताऽस्य द्विजं विद्यते ।

अ-पुच्छिन्नान्ततस्त्वेते मर्गस्थित्यन्तसंदेहाः ॥२६॥

गुणमाम्ये ततस्तस्मिन्पृथक्पुंसि व्यवस्थिते ।

पालस्वराजं तद्विष्णोर्भोनेयं परिवर्तते ॥२७॥

ततस्तु तत्परं ब्रह्म परमात्मा जगन्मयः ।

सर्गः सर्वभूतेशः सर्वात्मा परमेश्वरः ॥२८॥

प्रधानपुष्पो चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।

सोभयामास मम्प्राप्ते मर्गवाले व्ययाव्ययी ॥२९॥

हे विद्वान् ! वेदों के ज्ञाता ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति इस प्रधान को ही सत्य करने निम्नलिखित श्लोक द्वारा उभयका वर्णन किया करते हैं । "प्रलय काय मे दिन-रात्रि, आकाश-भूमि, दण्डवार-प्रकाश वृक्ष भी न था । उस समय केवल प्रधान, ब्रह्म घोर पूर्ण मात्र ही था" ॥ २२—२३ ॥ हे द्विज ! प्रधान घोर पुष्प के सेना रूप वपाधि

रहित विष्णु के स्वरूप से पृथक् है । ये दोनों सृष्टि आरम्भ होने के समय पृथक् हो जाते हैं और प्रलय काल में एक अव्यक्त रूप में संघ हो जाते हैं ॥ २४ ॥ महाप्रलय के समय समस्त विश्व प्रकृति में घन निहित रहना है इसलिए उसे प्राकृत-प्रलय कहते हैं ॥ २५ ॥ कालक्षय भगवान् अनादि है, इनका कोई अन्त नहीं है । इसलिये सृष्टि-स्थिति और प्रलय के क्रम का भी कभी अन्त नहीं होता, ये प्रवाह रूप से बराबर होते रहते हैं ॥ २६ ॥ हे मैत्रेय ! प्रलय काल में सत्त्व-रज तम की निमिषय अवस्था होकर गुणसाम्य हो जाता है और पुराण प्रकृति से पृथक् अवस्था में रहने लगता है, तब भी भगवान् विष्णु का वह काल स्वरूप बना रहता है ॥ २७ ॥ तदनन्तर सृष्टि काल के आगमने पर ब्रह्म परमात्मा, जगत्तम्य सर्वंगामी, सर्वभूतेश्वर, सर्वार्त्ता परमेश्वर ने स्वयं की इच्छानुसार परित्यागी प्रकृति और अन्तरित्यागी पुराण में प्रविष्ट होकर उनको सृष्टिकार्य के लिए क्षोभित और प्रेरित किया ॥ २८ ॥

यथा सन्निविमात्रेण गघ क्षोभाय जायते ।

मनसो नोपकर्तृत्वात्तथासो परमेश्वरः ॥ ३० ॥

स एव क्षोभको ब्रह्मान् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तम ।

म सक्वोचविकासाम्या प्रधान वेऽपि च स्थितः ॥ ३१ ॥

विकासारणस्वरूपैश्च ब्रह्मरूपादिभिस्तथा ।

व्यक्तस्वरूपश्च तथा विष्णु सर्वेश्वरश्चर ॥ ३२ ॥

गुणसाम्यात्तत्तत्तस्मात्क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने ।

गुणव्यञ्जनसम्भूति सर्गकाले द्विजोत्तम ॥ ३३ ॥

प्रधानतत्त्वमुद्भूत महान्त तत्समावृणोत् ।

सा त्ववो राजसदचव तामसश्च त्रिधा महान् ॥ ३४ ॥

प्रधानतत्त्वेन सम त्वचा बीजमिवावृतम् ।

वैकारिस्तजसश्च भूतादिश्चैव तामस ॥ ३५ ॥

पर इस कार्य में परमेश्वर की कोई क्रियाशीलता नहीं होती । जैसे गन्ध के समीप होने से मन में चञ्चलता उत्पन्न होती है, परमेश्वर

का यह धोम (जनवत्) उसी प्रकार का होता है । ब्रह्म में वे परमेश्वर ही सङ्कोच और विवास द्वारा धुमिल होने वाले और धोम करने वाले हैं और वे ही प्रधान प्रवृत्ति के रूप में रहते हैं ॥ ३०—३१ ॥
 प्राणाद्य आदि पञ्चभूत, ब्रह्मा आदि समस्त जीव और व्यक्त सृष्टि के रूप में भी वे परमेश्वर ही रहते हैं ॥ ३२ ॥ हे द्विजोत्तम ! सृष्टिकाल उपरिष्ठ होने पर पुरुष द्वारा अभिविद्धि उन गुणनाम्न से गुणव्यञ्जन प्रयोज्य महत्तत्त्व उपपन्न हुआ । महत्तत्त्व तीन प्रकार का होता है—
 सात्त्विक, राजस और तामस । त्रिषु प्रकार बीज द्विभवे से उद्भा रहता है उसी प्रकार यह महत्तत्त्व भी प्रधान तत्त्व से सर्वथ व्याप्त रहता है ॥ ३३—३४ ॥

त्रिविधाऽयमहङ्कारो महत्तत्त्वादजयान् ।
 भूतेन्द्रियाणां हेतुः स त्रिगुणस्वान्महाधुने ॥३६॥
 यथा प्रधानेन महान्महता न तथावृत्तः ।
 भूतादिस्तु विकृर्वाणः शब्दतन्मात्रक ततः ॥३७॥
 तसज्जं शब्दतन्मात्राः शब्दतन्मात्रम् ।
 शब्दमात्रं तथाकाश भूतादिः स ममावृणोत् ॥३८॥
 आकाशस्तु विकृर्वाणः स्पर्शमात्रं समजं ह ।
 यत्नवानभवद्वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः ॥३९॥
 आकाशं शब्दमात्रं तु स्पर्शमात्रं समावृणोत् ।
 ततो वायुविकृर्वाणो रूपमात्रं समजं ह ॥४०॥
 ज्योतिरत्युच्यते वायोऽन्तद्रूपगुणमुच्यते ।
 स्पर्शमात्रं तु वै वायू रूपमात्रं समावृणोत् ॥४१॥
 ज्योतिश्चापि विकृर्वाणं रसमात्रं समजं ह ।
 सम्मयन्ति ततोऽम्भानि रसाद्यागाणि तानि च ॥४२॥
 रसमात्राणि चाम्भानि रसमात्रं समावृणोत् ।
 विकृर्वाणानि चाम्भानि गन्धमात्रं मसज्जरे ॥४३॥

महत्तत्त्व से वैकारिक अर्थात् सात्विक, तेजस (राजस) और भूतादि (तामस) इन तीन प्रकार के ग्रहद्वार तत्त्व की उत्पत्ति हुई । ग्रहद्वार त्रिगुणात्मक होने के कारण ही भूत, इन्द्रिय और देवताओं के उद्भव का कारण होता है ॥ ३६ ॥ जिस प्रकार प्रधान तत्त्व द्वारा महत्तत्त्व आवृत होता है उसी प्रकार ग्रहद्वार महत्तत्त्व से आवृत रहता है । तामस ग्रहद्वार ने क्षुभित—वायोन्मुख होकर दक्ष तन्मात्रा और दक्ष तन्मात्रा से दक्ष गुण वाले आकाश की सृष्टि की और दोनों को आवृत कर लिया । आकाश ने क्षुभित होकर स्पर्श तन्मात्रा की सृष्टि की और उससे स्पर्श गुण विशिष्ट बलवान वायु की उत्पत्ति हुई और आकाश ने वायु को आवृत कर लिया ॥ ३७—३९ ॥ इसके पश्चात् वायु क्षुभित होने पर उसमें से रूपमात्र और ज्योति उत्पन्न हुई ज्योति का गुण रूप है ज्योति वायु द्वारा आवृत हुई । ज्योति ने क्षुभित होने पर रसमात्र उत्पन्न हुआ । उससे रस विशिष्ट जल का जन्म हुआ और वह ज्योति द्वारा आवृत हुआ । जल ने क्षुभित होने पर गन्ध मात्र की सृष्टि हुई, उसमें पृथ्वी की उत्पत्ति हुई जिसका विशेष गुण गन्ध है ॥ ४०—४३ ॥

सङ्घातो जायते तस्मात्तस्य गन्धो गुणो मतः ।
 तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रं तेन तन्मात्रतस्मृता ॥ ४४ ॥
 तन्मात्राण्यविशेषाणि प्रविशेपास्ततो हि ते ।
 न दाता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः ॥ ४५ ॥
 भूततन्मात्रसर्गोऽयमग्रहद्वारात्तु तामसत् ।
 तैजसान्दीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिक दक्ष ॥ ४६ ॥
 एकादश मनश्चात्र देवा वैकारिकाः स्मृताः ।
 त्वक् चक्षुर्नासिका जिह्वा श्रोत्रमत्र च पञ्चमम् ॥ ४७ ॥
 सान्तादोनामवाप्स्यं बुद्धियुक्तानि च द्विज ।
 पादूपस्थौ करौ पादौ वाक् च मैत्रेय पञ्चमी ॥ ४८ ॥

विसर्गजिल्पगन्युक्ति कर्म तेषां च कथ्यते ।

आकाशवायुतेजासि सलिल पृथिवी यया । ४२ ।

इन आकाश आदि भूतो में शब्द आदि की मात्रा होती है, जिसमें उसे सम्भाव्य कहा जाता है । सब सम्भाव्यों को 'प्रदिग्ध' माना जाता है । उनको शान्त, घोर या मूढ़ आदि विशेषण दी जाये जाते । यह केवल सामान्य ग्रहद्वारा से समस्त भूतों की सृष्टि होती है । दश इन्द्रियों को तैजस अथवा राजस ग्रहद्वारा से उत्पन्न किया जाता है । और इन्द्रियों के दश देवताओं को वैश्वारिक अर्थात् सृष्टि-ग्रहद्वारा से उत्पन्न माना गया है ॥ ४४-४५ ॥ अथर्ववी इन्द्रिय-ग्रह जिसके देवता चन्द्र, ब्रह्मा, रुद्र आदि को कहा गया है । हे इन्द्र ! तैजस, वसु, जिह्वा और नासिका ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जिनसे ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति और बुद्धि रहती है । शृणु, स्पर्श, रस, रीह और जिह्वा पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं जिनसे वात, जल, अग्नि, वायु, पृथ्वी, गति और स्थिति है ॥ ४७-४८ ॥

हे ब्रह्मन् ! आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी एक से एक अधिक रूपा में शब्दादि गुणों से युक्त हैं। इनको शान्त घोर, मूढ़ होने के कारण 'विशेष' कहा जाता है। इन पंच तत्वों में विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ हैं, इसलिए वे परस्पर में बिना मिने दृष्टे समार की रचना नहीं कर सकते इसलिए वे एक दूसरे से संयोग करने वाले होकर, एक ही लक्ष्य वाले महत्तत्त्व से लेकर विशेष पर्यन्त प्रकृति के सभी रूपों में 'पृष्टप' से अधिष्ठित होकर प्रधान (प्रकृति) के अनुग्रह से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की। ॥५०—५३॥ हे महाबुद्धिमान ! वह जल के बुलबुल के समान गोलाकार तथा महान प्राकृत भण्ड पंच भूतों की सहायता से क्रमशः बढ़ता गया। अग्न्यक्त रूप जगत्पति भगवान् विष्णु व्यक्त रूप होकर इस भण्ड में निवास करने लगे ॥५४—५६॥

मेरुत्वमभूत्तस्य जरायुश्च महोधरा ।
 गर्भोदक समुद्राश्च तस्यासन्सुमहात्मनः । ५७।
 साद्रिद्वीपसमुद्राश्च सज्ज्योतिर्लोकसग्रहः ।
 तस्मिन्प्रण्डेऽभवद्विप्र सदेवासुरमानुषः । ५७।
 वारिवह्न्यधनिलाकाशस्ततो भूतादिना यहिः ।
 वृत्तं दशगुणं नण्ड भूतादिर्महता तथा । ५८।
 अग्न्यवतेनावृतो ब्रह्मस्तैः सर्वैः सहितो महान् ।
 एभिरावरणैरण्ड सप्तभिः प्राकृतैर्वृतम् ।
 नारिकेलफलस्यान्तर्वीज ब्रह्मदलैरिव । ६०।
 जुषन् रजोगुणं तत्र स्वयं विश्वे-वरो हरिः ।
 ग्रहान् भूतान् स्य जगतो विसृष्टा सम्प्रवृत्तते । ६१।
 मृष्टं च पात्यनुयुगं यावत्तत्पविवर्त्तना ।
 सत्त्वभृद्भगवानविष्णुरप्रमेयपराक्रमः । ६२।
 तमोद्रेका च अल्पान्तं रुद्ररूपा जनार्दन ।
 मंत्रेणाक्षितभूतानि भक्षयत्यनिदारुणः । ६३।

प्रथम अंश-अ० २]

सुमेरु पर्वत इग गर्भ रूप अण्ड की उत्पत्ति (गर्भ-वेग), अन्त्यान्त पर्वत जरायु और समस्त समुद्र उनके गर्भोदक हुए। हे विप्र ! इसी अण्ड से पर्वतो सहित समस्त द्वीप, समस्त समुद्र और देव, असुर मनुष्य तथा प्रायः समस्त प्राणी उत्पन्न हुए ॥५७—५८॥ उस अण्ड में जल अग्नि, वायु, आकाश और भूतादि (तामस अहम्कार पूर्व-पूर्व की अपेक्षा) दश गुणा बाहर से आवृत्त किये हुए थे। ये सब भूतादि महत्तन्त्र से आवृत्त थे और सबके सहित महत्तत्त्व प्रयुक्त से आवृत्त था। जैसे नारियल के भीतर की गिरी बाहर के खोल और दिक्के से घिरी हुई होती है उसी प्रकार यह ब्रह्मांड मात प्राकृत आवरणों से आवृत्त रहता है ॥५९—६०॥ विश्वेश्वर भगवान् रजोगुण का अवलम्बन करके स्वयं ब्रह्मा होकर सृष्टि कार्य में प्रवृत्त हुये। अनुलित पराक्रम से भगवान् विष्णु सत्त्वगुण का अवलम्बन करके कल्प-काल तक युग-युग में सकल सृष्टि का पालन करते हैं। तत्पश्चात् जब कल्प का अन्त होता है तब ही भगवान् तमोगुण सम्पन्न होकर प्रति भीष्ण कर में समस्त भूनों को भक्षण कर लेते हैं ॥६१—६२॥

भक्षयित्वा च भूतानि जगत्प्रेमाणांवीकृते ।
 नागपयङ्गुलयान्ने शेते च परमेश्वरः ॥६४॥
 प्रबुद्धश्च पुनः सृष्टिं करोति ब्रह्मरूपधृक् ॥६५॥
 सृष्टिस्थायन्तकरणी ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् ।
 स सजा याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥६६॥
 स्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णु पाल्य च पाति च ।
 उपर्माहृत्यते चा-न्ते सत्तां च स्वयं प्रभुः ॥६७॥
 पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुगकाश एव च ।
 सर्वेन्द्रियान्तः करणं पुरुषाख्यं हि यज्जगत् ॥६८॥
 स एव सर्वभूतात्मा विश्वरूपो यतोव्ययः ।
 सर्गादिकं तु तस्यैव भूतस्यमुपकारकम् ॥६९॥
 स एव सृज्यः स च संगकर्ता स एव पात्यति च पाल्यते च ।
 ब्रह्माद्यवस्था भिरदोषमूर्तिविष्णुर्वरिष्ठो वरदो वरेण्यः ॥७०॥

जब सब भूतो को उदरस्थ कर लेते हैं और जगत एकार्णव हो जाना है तब वे भगवान् शेष शेषा परशयन करने लगते हैं । फिर अपने पर ब्रम्हा का रूप धर कर नई सृष्टि करते हैं ये एक मात्र भगवान् जनादेन ही सृष्टि-स्थिति और प्रलय में ब्रह्मा, विष्णु और शिव के नामों को ग्रहण करते हैं ॥६४—६६॥ भगवान् ब्रह्मा होकर स्वयं की सृष्टि करते हैं, विष्णु होकर अपना ही पालन करते हैं । और धर्म में रक्ष होकर अपना ही सहार करते हैं, क्योंकि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश समस्त इन्द्रियो और धन्य करण युक्त जगत उक्त भगवान् का ही विभूत रूप है । जब वे अव्यय हरि हों सब भूतो के रूप में हैं, वे ही विद्वत् रूप हैं तब सृष्टि रचना आदि सब कुछ उन्हीं के क्रिये है । वे ही मृज्जन किये जाते हैं, वे ही सृष्टि वर्ता है, वे ही पालन और भक्षण करते हैं, वे ही पाले जाते हैं और वे ही ब्रह्मा आदि की अवस्था में सब रूपों में व्याप्त होते हैं । अतएव भगवान् विष्णु ही वरिष्ठ, वरद और वरेश्वर हैं ॥ ६७—७० ॥

तीसरा अध्याय

निर्गुणस्याग्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमल'त्मनः ।
 कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्माणोऽभ्युपगम्यते ॥ १ ॥
 सक्तयः सर्वभाय नामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
 यतोऽज्ञो ब्रह्माणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ॥ २ ॥
 भवन्ति तपसा श्रेष्ठ पावकस्य यथोप्यता ।
 तन्निबोध यथा सर्वे भगवान्सम्भवर्त्तते ॥ ३ ॥
 नारायणाख्यो भगवान्ब्रह्मा लोकापितामहः ।
 उत्पन्नः प्रोच्यत त्र्यम्बकप्रथमोपचारतः ॥ ४ ॥
 निजैर्न तस्य मानेन प्रागुर्वपेक्षत स्मृतम् ।
 तत्परारय तमदं च परादं मभिधीयते ॥ ५ ॥

कालस्वरूपं विप्रलोभ्र यन्मयोक्तं तवानघ ।
 तेन तस्य निबोध त्वं परिमाणोपपादनम् ॥६॥
 अन्येषा चैव जन्तूना चराणामचराञ्च ये ।
 भूभूमृत्तागरादीनामेषाणां च सत्तम ॥७॥
 काशः पञ्चदशाख्याता निमेषा मुनिसत्तम ।
 काशान्निशत्कला त्रिशत्कला भीहूतिको विधिः ॥८॥
 तावत्संख्यंरहोरात्रं मुहूर्त्तमनुपं स्मृतम् ।
 अहारायाणि जावन्ति मासः पक्षद्वयात्मकः ॥९॥

मंत्रेण मे पूछा कि जो परमात्मा निर्गुण, अप्रमेय, मुक्त और प्रमत्त है उसको मृष्टि का कर्ता कैसे माना जाय ? ॥१॥ पाराशरजी ने उत्तर दिया कि जिस प्रकार ममत्त भाव रूप पदार्थों की शक्ति बिना सर्व के मानली जाती है, जिस प्रकार अग्नि में उत्पत्ता होना उसका स्वभाव निष्ठ गुण है, उसी प्रकार जगत्पति का मृष्टिकर्त्तृत्व में सम्पन्न है उसे मैं भी प्रकार ममत्ता है ॥२—३॥ जैसे यह कहा जाता है कि जाग्रत नाम वाले लोक पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुये यह एक उच्चारण से है । ब्रह्मा की प्रायु द्वात्रिंश वर्ष के हिसाब से सौ वर्ष की बतलाई गई है । इन सौ वर्षों का नाम 'पर' होना है और इसके दून्ने अर्द्धांश का नाम 'पराद' कहा जाता है ॥४—५॥ हे विष्णु, मैंने तुमकी विष्णु का जो काल स्वरूप बतनाया है उसके द्वारा ब्रह्मा, अन्न प्राणी, पृथ्वी तथा अन्न भूतों सागर आदि का परिमाण अवलोकितो ॥६॥ पञ्चदश निमेष की एक खाता होती है, तीस काश की एक पला होती है, तीन पला की एक दण्ड होती है दो दण्डों का एक मुहूर्त्त होता है । तीस मुहूर्त्त का मनुष्यों का एक दिन-रात्रि होता है । तीस दिन-रात्रि का एक महीना होता है त्रिंशमे दो पक्षकार होते हैं ॥७—८॥

तैः षडभिरयन वर्षे द्वेऽयने दक्षिणोत्तरं ।

अयन दक्षिण रात्रिदंशन मुतरं दिनम् ॥९॥

दिव्यैर्वर्षसहस्रंस्तु वृत्तप्रतादिसंज्ञितम् ।
 चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे ॥११॥
 चत्वारि श्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम् ।
 दिव्याब्दानां सहस्राणि युगेष्वाहुः पुराविदः ॥१२॥
 सत्प्रमाणं शते सन्ध्या पूर्वा तत्राभिधीयते ।
 सन्ध्याशर्च्चं च तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि सः ॥१३॥
 सन्ध्यासन्ध्याशयोरन्तर्यं कालोऽमुनिसत्तम ।
 युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतनेतादिसंज्ञितः ॥१४॥
 कृतनेता द्वापरश्च कलिश्चैव चतुर्युगम् ।
 प्राच्यते तत्सहस्रं च ब्रह्मणो दिवस मुने ॥१५॥

छ महीनो वा एक अयन और दो अयन का एक वर्ष होता है । इनमें से दक्षिण अयन में दक्षिण की राशि और उत्तर अयन में उनका दिन होता है । देवताओं के परिमाण से बारह हजार वर्षों के सतयुग, त्रेता आदि चारों युग हात हैं । उनके विभागों का हिसाब इस प्रकार है ॥१०—११॥ प्राचीन तत्व के ज्ञाना इन चार युगों के माण का क्रमशः चार तीन, दो और एक सहस्र वर्षों का बतलाते हैं । प्रत्येक युग की सन्ध्या का परिमाण क्रम ॥ चार तीन दो और एक स. वर्षों का होता है और सन्ध्याश (युग के समाप्त होने के पश्चात् का समय) भी इतना ही होता है ॥१२—१३॥ सन्ध्या से लेकर सन्ध्याश तक जितना समय व्यतीत होता है, उसी को सतयुग त्रेता आदि कहा जाता है । हे मुनिवर सतयुग, त्रेता द्वापर, कलियुग इन चारों युगों का एक हजार बार बीत जान अर्थात् चार हजार युगों का जितना समय होता है उसे ब्रह्मा का एक दिन कहा जाता है ॥१४—१५॥

ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन्मनवस्तु चतुर्दश ।

भर्वा त परिमाणं च तेषां कालकृतं शृणु ॥१६॥

ताप से व्यथित होकर जनलोक में चले जाते हैं । ॥२३॥

एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः ।
 भोगिशय्या गतः शेते त्रैलोक्यग्रासवृंहितः ॥२४॥
 जनस्थं योगिभिर्देवश्चिन्त्यमानोऽब्जसम्भवः ।
 तत्प्रमथेण हि ता रात्रि तदन्ते सृजते पुनः ॥२५॥
 एव तु ब्रह्मणो वर्षमेवं वर्षशतं च यत् ।
 शतं हि तस्य वर्षाणां परमायुमहात्मनः ॥२६॥
 एकमस्य व्यतीतं तु पराद्धं ब्रह्मणोऽनघ ।
 तत्प्रान्तेऽभून्महाकल्पः पाप्म इत्यभिविश्रुतः ॥२७॥
 द्वितीयस्य पराद्धस्य वर्तमानस्य वै द्विज ।
 वाराह इति कल्पोऽयं प्रथमः पकीर्तितः ॥२८॥

इसके पश्चात् तीनों लोक का एक रूप हो जाता है, नारायण स्वरूप ब्रह्मा तीनों लोकों समित कर शेषशेषों पर शयन करने लग जाते हैं ॥२४॥ तब जन लोक निवासी योगियों द्वारा चिन्तमान ब्रह्माभी ब्रह्म-दिन के बराबर वर्षों तक ही रात व्यतीत करते हैं । इसके पश्चात् फिर सृष्टि होती है ॥२५॥ इसी प्रकार दिन-रात्रि के परिमाण से पक्ष, मास आदि की गिनती से ब्रह्मा का एक वर्ष होता है । ऐसे सौ वर्षों की ब्रह्मा की परमायु होती है । हे निष्पाप द्विज ! इस समय तब ब्रह्मा का एक पराद्ध व्यतीत हो चुका है और उसके अन्त में पाप मासक महाकल्प पूर्ण हो चुका है । द्वितीय पराद्ध का यह प्रथम कल्प वाराह के नाम से कहा जाता है ॥२६—२८॥



पूर्व अयन (निवामस्थान) होता है वे नारायण के नाम से प्रसिद्ध हैं ।
॥४-५-६॥ जगत को जलमय देखकर उन प्रभु ने पृथ्वी के अलान्तगत
होने का अनुमान किया और उसके उद्धार की कामना की ॥ ७ ॥

अकरोत्स्वतन्मन्या कल्पादिषु यथा पुरा ।

मत्स्यकूर्मादिका तद्द्वाराह वपुरास्थितः ॥

वेदयज्ञमय रूपमशेषजगतः स्थितौ ।

स्थितः स्थिरात्मा सर्वात्मा परमात्मा प्रजापतिः ।

जनलोकगतैस्सिद्धैस्सनकाद्यै रभिश्रुतः ।

प्रविवेश तदा तोयमात्माधारो धराधरः ॥१०॥

निरीक्ष्य त तद देवी पातालतलमागतम् ।

तुष्टाव प्रणता भूत्वा भक्तिमन्ना वसुन्धरा ॥११॥

नमस्ते पुण्डरीकाक्ष शङ्खचक्रगदाधर ।

मामुद्धरास्मादद्य त्व त्वत्तोऽह पूर्वमुत्थिता ॥१२॥

त्वमाहमुद्घृता पूर्वं त्वग्मपाह जनार्दन ।

तथान्दानि च भूतानि गगनादीभ्यशेषतः ॥१३॥

नमस्ते परमात्मात्मपुरुषात्मप्रमोऽस्तु ते ।

प्रधान व्यक्त भूताय कालभूताय ते नमः ॥१४॥

तब उन अशेष जगत के मूलभूत, स्थिरात्मा, सर्वात्मा, परमात्मा
आत्माधार, धराधर, प्रजापति ने जिस प्रकार पूर्व कल्पों में मत्स्य, कूर्म
आदि का रूप धारण किया था उसी प्रकार वेद-यज्ञमय वराह का शरीर
अवलम्बन करके जन लोक स्थित सिद्ध गणों द्वारा स्तुत होते हुए जल के
भीतर प्रवेश किया ॥ ८-१० ॥ उस समय वसुन्धरा देवी ने उनके
पाताल में आया हुआ देखकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और उनके
स्तुति करने लगी ॥ ११ ॥ पृथ्वी ने बड़ा हृदयभूत । तुमको नमस्कार
हे तल-गदाधर । तुमको नमस्कार । आपन पहले भी मेरा उद्धार किया था
आज भी इस पाताल तल में मुझे निवारित्ये । आप तो पृथ्वी से आकाश
तक समस्त भूतों के रक्षक हैं । हे परमात्मन् । आपको नमस्कार ।

पुर्यात्मनः । अथर्वो नमस्कारः । आर प्रान्न, स्वस्त्यै एव काल इत्यादि
को नमस्कारः ॥ ११-१४ ॥

त्व कर्ता सर्वभूतानां त्व पाता त्व विनाशकृत् ।
सर्गादिषु प्रभो ब्रह्मविष्णुहृदात्मरूपधृक् ॥ १५ ॥
सम्भक्षयित्वा सकल जगद्वेकार्णवोक्तैः ।
शेषेत्वमेव गोविन्द चिन्त्यमानो मनोपिभिः ॥ १६ ॥
भवतो यत्परं तत्त्वं तन्न जानाति कश्चन ।
अवतारेषु यद्रूपं तद्वर्धन्ति दिवौकसः ॥ १७ ॥
त्वामाराध्य परं ब्रह्म पाता मुक्तिं मुमुक्षवः ।
वासुदेवमनाराध्य का मोक्षं समवाप्स्यति ॥ १८ ॥
यत्किञ्चिन्मनसा प्राह्य यद्ग्राह्यं चक्षुरादिभिः ।
बुद्ध्या च यत्परिच्छेद्य तद्रूपमखिलं तव ॥ १९ ॥
त्वन्मयाह त्वद्वामारा त्वत्सृष्टा त्वत्समाश्रया ।
माधवीमिति लोकाऽयमभिषत्तं ततोहिमाम् ॥ २० ॥

हे प्रभो ! मृष्टि आदि के लिए आप ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र का स्वप्न
धारण करत हो, तुम ही सर्व भूतों के कर्ता हो, तुम ही रहने वाले और तुम ही
विनाश करने वाले हो ॥ १५ ॥ हे गोविन्द ! जगत के जलमय होने पर सबको
भक्षण करके तुम ही मर्त्यापनों द्वारा चिन्त्यमान होकर घपन करने लगत
हो ॥ १६ ॥ आपके परम तत्व को तो कोई जान नहीं सकता, अतः
अवतार में जैसा प्रकट होता है उसी की देव-गण धर्षना करते हैं ॥ १७ ॥
१ परब्रह्म ! तुम्हारी ही आराधना करने मोक्षलाभी व्यक्ति मुक्ति प्राप्त
करते हैं । वासुदेव की आराधना के बिना कौन मोक्ष हो सकता है ? ॥ १८ ॥
जो कुछ मन में घट्टा किया जा सकता है, जो कुछ नेत्रों में ग्रहण किया
जा सकता है और जो कुछ बुद्धि में जाना जा सकता है वह सब आपकी ही रूप है ॥ १९ ॥ मैं भी आप ही में प्रकट हूँ, आपके ही आश्रय पर हूँ,
आपकी ही उपाई हूँ, आपकी ही आश्रित हूँ अनिष्टों का मुझे आपका
वध है ॥ २० ॥

जयाखिलज्ञानमय जय स्थूलमयाव्यय ।
 जयानन्त जयाव्यक्त जय व्यक्तमय प्रभो ॥२१॥
 परापरात्मन्विश्वात्मस्त्वय यज्ञपतेऽनघ ।
 त्वं यज्ञस्त्व वषट्कारस्त्वमोङ्कारस्त्वमनघः ॥२२॥
 त्वं वेदास्त्व तदङ्गानि त्वं यज्ञपुरुषो हरे ।
 सूर्यादयो ग्रहास्तारा नक्षत्राण्यखिल जगत् ॥२३॥
 मूर्तमूर्तमदृश्यं च दृश्यं च पुरुषोत्तम ।
 यच्चोक्तं यच्च नैवोक्तं मयात्र परमेश्वर ।
 तत्सर्वं त्वं नमस्तुभ्य भूयो भूयो नमो नम ॥२४॥
 एव सस्तूमयानस्तु पृथिव्या धरणीधरः ।
 सामस्वरध्वनिः श्रीमाञ्जगजं परिघर्षरम् ॥२५॥

ततः समुत्तिष्ठप्य धरा स्वदृष्टया महावराहः स्फुटपद्मलोचनः ।
 रसातलपुष्पप्रलम्बप्रसन्नः समुत्थितो तं लोकाङ्गणो गृह्णात् ॥२६॥
 उत्तिष्ठता तेन मुखानिलाहत तत्सम्भवाभ्यो जनलोकसंभ्रयान् ।
 प्रक्षालयामास हि तान्महाद्युतोन् सन्भदनादीनपकल्मषान् मुनीन् ॥२७॥
 प्रयान्ति तोमानि क्षुराग्रविक्षत रसातलेऽथ कृतशब्दसन्तति ।
 स्वामानिलास्ताः परितः प्रयान्ति सिद्धा जने ये नियता वसन्ति ॥२८॥

हे अखिल ज्ञानमय । आपकी जय हो , हे स्थूलमय अव्यय । आप
 की जय हो , जय अनन्त, जय अव्यक्त , जय व्यक्तमय । प्रभा परमात्मन ।
 विद्वात्मन । आप जगपुत्र हो । हे अनघ यज्ञपते । आप ही यज्ञ हैं ,
 आप ही वषट्कार हैं , आप ही ओंकार हैं , आप ही अग्नि स्वप्न हैं ॥ २१-२२ ॥
 हे हरे । आप ही वेद हैं , आप ही वेदाङ्ग हैं , आप ही यज्ञ-पुरुष
 हैं । सूर्यादि ग्रह , तारा , नक्षत्रादि युक्त समस्त जगत् आप ही है ॥ २३ ॥
 हे पुरुषोत्तम । इस समय मैंने मूर्त अमूर्त , दृश्य वदित जो कुछ कहा है
 घपवा नहीं कहा है , वह सब तुम ही हो , तुमको नमस्कार । हे परमेश्वर !
 हे भूयो भूयो आपको नमस्कार ॥ २४ ॥ पारागर जी रहने लगे पृथ्वी
 तारा इस प्रकार स्तुति की जाने पर नाम स्वर ध्वनि यानि महाप्रभु

धरणीधर धधर शब्द करके गर्जित लग । तत्पश्चात् कमल पत्र के समान
स्निग्ध - द्रव्यम श्रुत्वा पद्मनीवन महाशराह पृथ्वी को दात पर उठाकर
महान नीलाचल के समान रमातल न ऊपर आये ॥ २५-२६ ॥ उपर
उठते समय उनके मुँह से जो वायु निकली उगम ताडित होकर जल-
राशि जनशक्त पवित्र विद्या सनन्दन आदि मुनिशैल पर पड़ने की और
उनका प्रशस्ति कर दिश । नीचे की ओर उड़ जनशक्ति न छुग म
फाटने की तरह रसातल में प्रवण विधा । उठ वायु के बग म जनशक्ति
में निवास करने वाले विद्व गण द्धर-उधर निस्त होकर विचरित हो
गये । २८ ।

उत्तिष्ठन्स्त्वस्य जलार्द्रकुक्षेमहावराहस्य मही विगृह्य ।
विष्णुवतो वैश्वस्य शरीर रोमान्तरस्या मुनयः स्तुवन्ति । २९।
त तुष्टुवस्तोपपरीतचेतसां लाके जने ये निवसन्ति यानि ।
सनन्दनाद्या ह्यनिनम्रकन्दरा धराधर धीरतरोद्धनेक्षणम् । ३०।
जयेश्वर एव परमेश केशव प्रभो गदाशङ्खचरासिचक्रधर ।
प्रभूतिनाशम्यतिहेतुगेश्वर स्त्वमेव नान्यत्तरम च यत्पदम् । ३१।
पादेषु वैदाम्भव सुपदप्ट दन्तेषु यशश्चितयश्च वक्त्रे ।
हृतागजिह्वोऽसि तनूच्छाणि दम्भा प्रभो यज्ञपाम्भवे । ३२।
विलोचने रान्यहनी महारमन्सर्वाश्रय ब्रह्म पर शिरस्य ।
मूक्तान्यद्योपाणि सटाकनापो व्याण समस्तानि हवीणि देव । ३३।
स्रुक्कुण्ड सामस्वरधीरनाद प्राग्वलकायाविलसत्रयमन्त्रे ।
पूर्वैष्टधर्मश्रवणोऽसि देव सनातनात्मन्मगवन्प्रसीद । ३४।
पदक्रमाक्रान्तमृग भवन्त मादिम्यित चाक्षर विश्वभूते ।
विश्वस्य विश्व परमेश्वरोऽसि प्रसीद नायार्जुन परायणस्य । ३५।

पृथ्वी को धारण करके जन म भीत हुए और कम्पित काय उन
महावराह के उदमय शरीर में मुनिया न आश्रय ग्रहण किया । तब व
ज लोक निवासी सनन्दादि मुनिगण आनन्द पूर्वक प्रण करण में प्रयत्न
नयना में कुछ वर उन उदार वाचन धरणीधर की स्तुति करने लग ।

॥ २६-३० ॥ हे ब्रह्मा आदि ईश्वरो मे परमेश । यदा-अस-आसि - चक्र
 के धारण करन बान प्रभु । केवल । आपकी जय हो । आप सृष्टि, स्थिति
 और प्रलय के कर्ता ईश्वर हो, परम पद आपसे भिन्न नहीं है ॥ ३१ ॥
 हे यूप-दण्ड यज्ञ-पुरुष । आपके चारो पैर ही वेद स्वरूप हैं, दान यज्ञ है,
 मुख अग्नि कुण्ड है, आपकी जिह्वा हुनाशन है, समस्त शीम दर्भ (कुत्ता)
 हैं, महात्मन । आपके दोना नेत्र ही दिन-रात्रि हैं, मस्तक सर्वाश्रय ब्रह्मपद है,
 गर्दन पर की कशर अशेष मूक्त (पुरुष-मूक्त आदि) और घ्राण हवि है ।
 १ श्रुतगुणः । २ सामस्वर वीरनाड । यज्ञाग्नि । अन्निल सत्र सधि । आप क
 दोनों जग ह्मादूर्त कम हैं । हे देव । सनातन भगवन प्रसन्न हो । ॥ ३२-३३ -
 ३४ ॥ हे अपर विश्वभूति । आपके चरणों से पृथ्वी उपात्त है । हम
 आपको विद्वत्ता आदि और स्थिति के रूप में जानते हैं ॥ ३५ ॥
 दण्डाग्रविग्न्यस्तमशेषमेतद्भूमण्डल नाथ विभाष्यते ते ।
 विगाहतः पञ्चवन विसम्भ मरोजिनीपथमिवाढपद्मम् । ३६।
 द्यावापृथिवीरतुलप्रभात्र यदन्तर तद्वपुषा तवैव ।
 व्याप्त जगद्व्याप्तिममर्धदीप्ते हिताय विश्वस्य विभो भव त्वम् । ३७।

परमार्थस्त्वमेदेव । नान्योऽस्ति जगतः पते ।
 तवैव महिमा येन व्याप्तमेतच्चराचरम् । ३८।
 यदेतद् दृश्यते मूर्त्तमेतज्ज्ञान त्वनस्तथ ।
 भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः । ३९।
 ज्ञानम्वश्यमगित जगदेनद्वन्द्वयः ।
 अदम्यरूप पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसम्भूते । ४०।
 ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेनस्तेऽगित जगन् ।
 ज्ञानात्मन प्रपश्यन्ति स्वद्रूप परमेश्वर । ४१।
 प्रसीद सर्व सर्वोत्तमव्यासाय जगन्नामिनाम् ।
 उडरावीरमेवाम्भदत्ता दत्ताम्रलाचन । ४२।

युक्त कमलपत्र की तरह दिखाई दे रहा है ॥ ३६ ॥ हे अनुल प्रभाव ! पृथ्वी और आकाश के बीच अन्तरिक्ष में तुम्हारा शरीर ही व्याप्त है । हे जगद व्याप्ति समर्थ दीप्ति ! आप विश्व के हित में निमित्त हो । हे जगत्पति ! आप ही एक मात्र परमाण्व हो और कोई नहीं है । यह चराचर जिनके द्वारा व्याप्त हो रहा है वह आपकी ही महिमा है ॥ ३७-३८ ॥ आप ज्ञानात्मा हो और जो आपकी मूर्ति दृष्टिगोचर होती है वह आपका ही ज्ञानमय रूप ही है । पर जानरहित व्यक्ति जगत की भौतिक दृष्टि से ही देखते हैं । जिनकी बुद्धि कच्ची है वही इस ज्ञान स्वरूप अविल जगत को मूल रूप में देखते हैं । और ससार सागर में डूबते उतराते रहते हैं ॥ ३९-४० ॥ हे परमेश्वर ! जो जानवित् शुद्ध चेता हैं, वे समस्त जगत को तुम्हारा ज्ञानात्मक रूप ही मानते हैं ॥ ४१ ॥ हे सर्वात्मन ! हे जगत्तामन ! जगत के निजाम के लिये पृथ्वी का उद्धार करके हम सबको मुक्त करो ॥ ४२ ॥

सत्त्वोद्विक्तोऽसि भगवन् गोविन्द पृथ्वीमिमाम् ।
समुद्धर भवायेक शत्रो देह्यब्जलोचन ॥४३॥
सर्गप्रवृत्तिर्भवतो जगतामुपकारिणा ।
भारत्वेपा नमस्तेऽस्तु दाक्षो देह्यब्जलोचन ॥४४॥
एव सस्तूयमानस्तु परमात्मा महीधर ।
उज्जहार क्षिति क्षिप्रं व्यस्तवाश्च महाम्भसि ॥४५॥
तस्योपरि जलोदस्थ महती नीरिव स्थिता ।
विततत्वात्तु देहस्य न मही याति सम्प्लवम् ॥४६॥
तत क्षितिं समा कृत्वा पृथिव्या साऽचिनोदरोन् ।
यथाविभागं भगवाननादि परमेश्वर ॥४७॥
प्राक्सगदग्धानखिलाऽपर्वतान्पृथ्वीतले ।
अमोघेन प्रभावेण समर्जयिष्यवाञ्छित ॥४८॥
भूविभागं तत कृत्वा समद्रीपान्यथातथम् ।
भूरद्याश्चतुरा सोवान्पूर्ववत्सगत्पयन् ॥४९॥

हे भगवन गोविन्द । आप सत्वयुक्त हुए हो , उद्भव के लिए पृथ्वी का उद्धार करो । हे अज लोचन ईश्वर । हमारा बन्धाण करो । आपकी मृष्टि रचना जगत के लिए उपकारिणी हो ॥ ४३-४४ ॥ पाराशर जी ने कहा— परमात्मा धरणीपर ने इस प्रकार की स्तुति सुन कर शीघ्रतापूर्वक भूमि को ऊँचा उठाया और महासमुद्र को हटाया ॥ ४५ ॥ अपने वृहत् आकार को लेकर पृथ्वी जल के ऊपर एक बड़ी नाव के समान तैरने लगी ॥ ४६ ॥ तत्पश्चात् अनादि परमेश्वर ने पृथ्वी को समतल करके पर्वतों का यथास्थान स्थापित किया ॥ ४७ ॥ उन्होंने अपने अमोघ प्रभाव से पूर्व ज्ञान से दस हुए पर्वतों का पृथ्वी तल पर फिर से मृष्टि की ॥ ४८ ॥ फिर सानो द्वीपों के रूप में पृथ्वी को यथा तथा विभाजित करके समस्त नावों की बलना की ॥ ४९ ॥

ग्रह्यरूपधरो देवस्ततोऽमी रजसा वृत ।

चकार मृष्टिं भगवाञ्चतुर्वक्त्रधरो हरिः ॥५०॥

निमित्तमात्रमेवासी मृज्यानां सगङ्गमणि ।

प्रधानकारणीभूता यतो वै मृज्यशक्तयः ॥५१॥

निमित्तमात्रं मुबन्वैव नान्यत्किञ्चिदपेक्षते ।

नीयत तपता श्रेष्ठं स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम् ॥५२॥

तत्पश्चात् रजोगुण से घातून भगवान् चतुर्मुख ब्रह्माजी ने मृष्टि रचना प्रारम्भ की ॥ ५० ॥ वे इस मृष्टि कार्य में निमित्त मात्र ही हुए क्योंकि समस्त वस्तुओं की रचना में उनकी निजी शक्ति ही मुख्य कारण रूप होती है ॥ ५१ ॥ तत्पश्चात् श्रेष्ठ । मृज्वन काय के लिये धीरे धीरे काय की घातना नहीं जान पड़ती । समस्त वस्तुओं अपनी शक्ति से उद्भव का प्राप्त होती हैं ॥ ५२ ॥



पाँचवाँ अध्याय

यथा ससर्जं देवोऽनो देवसि पितृदानवान् ।
 मनुष्यनियेन्द्रादीन् नूयोन उत्तितोक्तः । १।
 यद्गुण यत्स्वभाव च यद्रूप च जगद् द्विज ।
 मर्गादौ मृष्टवान् ब्रह्मा तन्ममानुषव कृत्स्नतः । २।
 मैत्रेय कथयाम्येतच्छृणुष्व सुतमाहितः ।
 यथा ससर्जं देवोऽनो देवादीन् खिलान्विभू । ३।
 मृष्टं चिन्तयतस्तस्य कल्पादिषु यथा पुरा ।
 प्रबुद्धिपूर्वकं सर्गं प्रादुर्भूतस्तमोमयः । ४।
 तमो मोहो महामोहन्तामित्रो ह्यन्वसंजित ।
 अविद्या पञ्चधर्मेणा प्रादुर्भूता महात्मनः । ५।
 पञ्चधावस्थिता नगो ध्यायतोऽप्रतिबोधवान् ।
 बहिरन्तोऽप्रकाशश्च सवृतात्मा नगरमकः । ६।
 मुख्या नगा यतः प्रोक्ता मुरयमर्गस्ततस्त्वयम् । ७।
 तं दृष्ट्वा साधकं सर्गममन्यदपरं पुनः । ८।

मैत्रेय ने प्रश्न किया — “हृ द्विज श्रेष्ठ । ब्रह्माजी ने जिस प्रकार देवपि, पितृ, शानव, मनुष्य, तिमिक, वृक्ष आदि तथा पृथ्वी, आकाश तथा जल में रहने वाले प्राणियों की रचना और आरम्भ में जगत को जैसे गुण का, जिस स्वरूप का, जिस स्वभाव का बनाया उसको समझा कर कहिये ” ॥ १—२ ॥ पराशर ने कहा — “प्रभु ने जिस प्रकार देवादि समस्त सृष्टि रचना की, मैं उसका वर्णन करता हूँ, तुम सावधान-होकर सुनो ॥ ३ ॥ पूर्वजान के कल्पो में जिस प्रकार सृष्टि धनी थी उसने विषय में सोचते-सोचते ब्रह्माजी प्रबुद्धि से तमोमयसर्ग को प्रादुर्भूत किया ॥ ४ ॥ अर्थात् उससे तमः, मोह महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र इस पञ्चधर्मा अविद्या का प्रादुर्भाव हुआ । इस सृष्टि में अज्ञान, निराश, बहिरन्त प्रकाश का सवृतात्मा (मूढ स्वभाव) और नगरमक

पाँच प्रकार की गृष्टि प्रकट हुई । ब्रह्माजी की गृष्टि सब से प्रथम ना
(स्थावर) रचना ही हुई जिससे उसका नाम मुख्य-सर्ग पड गया ॥ ५-६ ॥
पर उसे वायं-साधन में असमर्थ देख कर उन्होंने अन्य प्रकार की रचना
का ध्यान किया ॥७-८॥

तस्याभिध्यायत सर्गस्तिर्यक् स्रोताभ्यवर्तत ।
यस्मात्तिर्यकप्रवृत्तिस्स तिर्यक्स्रोतास्ततः स्मृत ॥६॥
पश्चादयस्ते विख्यातास्तमः प्राया ह्यवेदिनः ।
उत्पथग्राहिणश्च ते ज्ञाने ज्ञानमानिन ॥१०॥
अहङ्कृता अहम्माना अष्टाविशद्वयात्मका ।
अन्तः प्रकाशास्ते सर्वे आवृताश्च परस्परम् ॥११॥
तमप्यसाधक मत्वा ध्यायतोऽयस्ततोऽभवत् ।
ऊर्ध्वस्रोतास्तृतीयस्तु सात्त्विकोर्ध्वमवर्तत ॥१२॥
ते सुः प्रीतिबहुला बहिरन्तस्त्वनावृताः ।
प्रकाशा बहिरन्तश्च ऊर्ध्वस्रोतोद्भवाः स्मृताः ॥१३॥
तुष्टान्तस्तृतीयस्तु देवसर्गस्तु स स्मृत ।
तस्मिन्सर्गेऽन्यस्त्रीर्निर्निष्पन्ने ब्रह्माणस्तदा ॥१४॥
ततोऽन्य स तदा दध्यौ साधक सर्गमुत्तमम् ।
असाधकास्तु ताञ्ज्ज्ञात्वा मुख्यसर्गादिसम्भवान् ॥१५॥
तथाभिध्यायतस्तस्य सत्याभिध्यायिनस्ततः ।
प्रादुर्बभूव चाव्यक्तादर्शस्रोतास्तु साधक ॥१६॥

तब उन्होंने तिर्यक जीवों की रचना की । इस रचना में प्राण
माहार मग्न हो द्वारा जीवन रहत ये इसलिए इसका नाम तिर्यक ना
'तिर्यक साता' पडा ॥ ६ ॥ ये सब अविवाश में तमोमय, अनुसधान
मून्य, उत्पथ ग्राही, अज्ञान की ही ज्ञान सम्झने वाले, अहङ्कृत, अह-
म्मान, अष्टाविशद्वयात्म, अन्तः प्रकाश और परस्पर में आवृत ।
॥ १०—११ ॥ इस रचना की भी कायशम न देखकर तीसरी रचन
की जो ऊर्ध्ववासी, ऊर्ध्ववाता और सात्त्विक थ । ब्रह्मा जी वाय

तीसरा धर्म देव-सर्ग के नाम से पुकारा गया । इन्हीं ब्रह्मा जी की मद्रोप हुआ और देने उन्होंने पद्मन्द भी दिया । फिर उन्होंने पहली रचनाओं का कार्यक्षम न देखकर, कार्य करने योग्य रचना का ध्यान किया और प्रव्यक्त (नाया) ने अर्द्धब्रह्मा (मनुष्यो) को प्रादुर्भूत किया । जिसका आशय यह है कि ये नीचे की ओर जाने वाले आहार से जीवित रहते थे ॥१२—१६॥

यस्मादर्थान्यवर्तन्ति ततोऽर्वाक्वन्तस्मन्तु ते ।
ते च प्रकाशबहुला स्तमोद्रिता रजोऽधिकाः ॥१७॥
तस्मात्तु दुःखबहुला भूयोभूयश्च कारिणः ।
प्रकाशा वहिर्न्तश्च मनुष्याः सायकान्तु ते ॥१८॥
इत्येते कथिताः सर्गाः पठ्य मुनिमत्तम ।
प्रथमो महनः नगो विशेषो ब्रह्मणस्तु सः ॥१९॥
तन्मात्राणां द्वितीयश्च भूतसर्गो हि म स्मृतः ।
वैकारिकस्मृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृतः ॥२०॥
इत्येषः प्राकृतः सर्गः सम्भूतो दुष्टिपूर्वकः ।
मुख्यसर्गश्चतुर्थस्तु मुख्यो वै स्यावराः स्मृताः ॥२१॥
तिर्यक्कर्मोत्तमस्तु यः प्रोक्तस्त्वेतन्मोक्षः स उच्यते ।
तदूर्ध्वसोत्तमा पश्यो देवसर्गस्तु सस्मृतः ॥२२॥

यह सृष्टि अधिक प्रकाश वाले, तनोद्रित और रजोधिक थे । इसी कारण मनुष्य विशेष दुःख अनुभव करने वाले, विशेष कार्य करने वाले बहिरन्तः प्रकाशक और कार्य सायक हुए ॥ १७-१८ ॥ हे मुनिये ! इन प्रकार यह छः प्रकार की सृष्टि बहो गई । महत्तम ब्रह्मा की प्रथम सृष्टि कही जाती है । दूसरी सृष्टि तन्मात्राओं की है जिसको भूत-सर्ग कहा जाता है । तीसरा सर्ग वैकारिक है जिसको ऐन्द्रियिक भी कहा जाता है ॥ १९-२० ॥ य दोनों मग अविद्या नाम वाली प्रकृति से उत्पन्न होते हैं । मुख्य स्यावर सर्ग चौथा है, तिर्यक् मोक्ष वाला पांचवा और उर्ध्वसोत्तमा अथवा देव-सर्ग छठा है ॥२१-२२॥

ततोऽर्वाक्स्रोतसा सर्गं सप्तमं स तु मानुषः । २३।
 अष्टमोऽनुग्रहं सर्गं सात्त्विकस्तामसश्च सः ।
 पञ्चमे वैवृतं सर्गं प्राकृतास्तु त्रयः स्मृताः । २४।
 प्राकृतो वैवृतश्चैव कौमारो नवमः स्मृतः ।
 इत्येते वै ममाख्याता नवः सर्गाः प्रजापतेः । २५।
 प्राकृता वैवृताश्चैव जगतो मूलहेतवः ।
 सृजता जगदीशस्य विमग्न्यच्छातुमिच्छसि । २६।
 सक्षपात्कथितं सर्गो देवादोना मुने त्वया ।
 विस्तराच्छ्रोतुमिच्छामि त्वत्तो मुनिवरोत्तमः । २७।
 कर्मभिर्भाविता पूर्वं कुशलाकुशलंस्तु ताः ।
 ख्यात्या तथा ह्यात्मुक्ताः सहारे ह्युपसहृताः । २८।
 स्यावराणां सुराद्यस्तु प्रजा ब्रह्मश्चतुर्विधाः ।
 ब्रह्मणः कुर्वन्तः सृष्टिं जज्ञिरे म्यानसस्तु ताः । २९।
 ततो देवासुरपितृमनुष्याश्च चतुष्टयम् ।
 सिमृक्षुरम्भाम्येतानि स्वमात्मानमयूयुजन् । ३०।

सन्तर अर्वाक् स्रोता नामक मनुष्य-सर्ग सातवा है । आठवें
 सर्ग का नाम अनुग्रह है जो सात्त्विक और तामस होता है । ये पाँच
 सर्ग वैवृत तथा पहल तीन प्रकृत कहे जाते हैं । इस प्रकार प्राकृत तथा
 वैवृत सग आठ प्रकार के होते हैं और सनत्कुमार आदि का सर्ग
 नवम है ॥ २३—२४ ॥ ये ही समस्त सर्ग जगत के मूल हस्तु हैं ।
 प्रजापति की रचना के इन नौ सर्गों का विवरण तुमको सुना दिया
 गया, अब जगदीश्वर की सृष्टि के विषय में तुम क्या सुनना चाहते हो ?
 मंत्रेय ने कहा— 'हो मुनिवर । आपन संक्षेप में देवादि की सृष्टि के
 विषय में बतलाया । मैं इस विषय को विस्तार पूर्वक आपसे सुनना
 चाहता हूँ ॥ २५ ॥ पराशर ने कहा— 'प्रलय के समय जब प्रजा का
 महार होता है तब भी उसमें भली बुरी बुद्धि का सञ्चार बना रहता
 है, उसी बर्तनुगारिणी बुद्धि उनको एक दम नष्ट नही त्याग देती है ।

है ब्रह्मन् । ब्रह्म द्वारा नवीन सृष्टि किये जाने के समय देवता आदि धीर
स्थावर आदि चारों तरह की प्रजा बुद्धि के संस्कार सहित उत्पन्न
होती है । यह सब मानस प्रजा होती है, क्योंकि ब्रह्मा के ध्यान से
ही उसकी उत्पत्ति होती है । उत्पन्नात् वह देव, असुर, पितृ और
मनुष्य-इन चार प्रकार अन्तः सज्जक प्रजा की रचना के लिए अपने
शरीर की योजना करते हैं ॥२६-३०॥

युक्तात्मनस्तमोमात्रा ह्युद्रिक्ताभूत्प्रजापतेः ।
मिसृक्षोजंघनात्पूर्वमसुरा जज्ञिरे ततः । ३१ ।
उत्ससर्जं ततस्ता तु तमोमात्रात्मिका तनुम् ।
सा तु त्यक्त्वा तनुस्तेन मैत्रेयामूद्रिमावरी । ३२ ।
सिसृक्षुरन्यदेहस्यः प्रीतिमाप ततः सुराः ।
सत्त्वोद्रिक्ताः समुद्भूता मुक्ततो ब्रह्मणो द्विज । ३३ ।
त्यक्त्वा सापि तनुस्तेन सत्त्वप्रायममूद्दिनम् ।
ततो हि बलिनो रानावसुरा देवता दिवा । ३४ ।
सत्त्वमानात्मिकामेव ततोऽन्या जगृहे तनुम् ।
पितृबन्धन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे । ३५ ।
उत्ससर्जं ततस्ता तु पितृन्पृष्ट्वापि स प्रभुः ।
सा चोत्सृष्टाभवत्मन्ध्या दिननक्तन्तरान्यता । ३६ ।

इस प्रकार सृष्टि किये जाने वाली के अदृष्ट, से मिलकर प्रजा-
युक्तात्मा हो गया । उससे तमोगुण की भावा बटने से जाँघों
से सर्वप्रथम असुर गणों की उत्पत्ति हुई ॥ ३१ ॥ सब उठने तमो-
नात्मन तनु (तमोगय भाव) की त्याग दिया और उस त्यागे हुए
तोगुण से रात्रि बन गई ॥ ३२ ॥ उत्पन्नात् ब्रह्मा अन्य देह (सान्त्विक
त्व) में स्थित हो अपने मुख से सत्त्व-गुण युक्त देवों की सृष्टि की
॥ ३३ ॥ जब उसने उस देह का त्याग कर दिया तो उसका दिन बन
या । इसीलिए असुर गण रात्रि में और देवता दिन में बसवाने होते
॥ ३४ ॥ फिर उस सत्त्वमात्रात्मक अन्य देह धारण करके बगल में से

पितृो को उत्पन्न किया । तब उसने उस देह को भी त्याग दिया और उससे दिन तथा रात्रि के मध्य सध्या का आविर्भाव हुआ ॥ ३५-३६ ॥

रजोमात्रात्मिकामन्या जगृहे स तनु ततः ।

रजोमात्रोत्कटा जाता मनुष्या द्विजसत्तम । ३७ ।

तामप्याशु स तत्याज तनुं सद्यः प्रजापतिः ।

ज्योत्स्ना समभवत्सापि प्राक्सन्ध्या याभिधीयते । ३८ ।

ज्योत्स्नागमे तु बलिनो मनुष्याः पितरस्तथा ।

मैत्रेय सन्ध्यासमये तस्मादेते भवन्ति वै । ३९ ।

ज्योत्स्ना राश्र्यहनी सन्ध्या चत्वार्येतांनि वै प्रभोः ।

ब्रह्मणस्तु शरीराणि त्रिगुणोपाश्रयाणि तु । ४० ।

रजोमात्रात्मिकामेव ततोऽन्या जगृहे तनुम् ।

ततः क्षुद्र ब्रह्मणो जाता जज्ञे कामस्तथा ततः । ४१ ।

क्षुत्क्षामानन्धकारेऽथ सोऽसृजद्भृगवास्ततः ।

विरूपा इमश्चूला जातास्तेऽभ्यधावस्ततः प्रभुम् । ४२ ।

मैव भो रक्षयतामेष यैरुक्त राक्षसास्तु ते ।

ऊचुः स्वादाम इत्यन्ये ये ते यक्षास्तु जक्षणात् । ४३ ।

अप्रियेण तु तान्दृष्ट्वा केशाः शीर्यन्त वेधसः ।

हीनाश्च शिरसो भूमः समारोहन्त तन्निधर । ४४ ।

हे द्विज सत्तम ! तब उसने रजोगुण युक्त अन्य देह प्रहरा । और उससे रजोगुण की अधिकता वाले मनुष्यों का आविर्भाव हुआ । ज प्रजापति ने उस देह का त्याग किया तो उसकी चांदनी बन ग और उसका नाम प्रातःकाल हो गया ॥ ३७-३८ ॥
मैत्रेय ! इसीलिए तमाम मनुष्य प्रातःकाल में और पितृगण सध्या काल में बलशाली रहते हैं ॥ ३९ ॥ तीन गुणों में आश्रित ज्योत्स्ना रात्रि, दिवस और सध्या — ये चारों प्रभु-ब्रह्मा के शरीर हैं ॥ ४० ॥ फिर रजोगुण समन्वित अन्य देह ग्रहण करने ब्रह्मा से भूल और शी को उत्पत्ति हुई ॥ ४१ ॥ जब भगवान ने विरूप, बड़े हुये दाढ़ी

वाले भूखे प्राणियों की सृष्टि की तो वे प्रभु को ही खाने को दींटे ।
उनमें से जिसने कहा कि " भरे ऐसा मत करना, इसकी रक्षा करो—
उनका नाम राक्षस हुआ और जिन्होंने कहा—"खाते हैं" उनका नाम
पक्ष हुआ ॥ ४२—४३ ॥ इन अग्रिम जीवों से असतुष्ट होकर विघाता
क शिर के सब दांत गिर कर फिर से मस्त्वक पर चढ़ गये ॥ ४४ ॥

सर्वेणात्तोऽभवन् सर्पा होनत्वादहयः स्मृताः ।
तत्र क्रुद्धो जगत्स्रष्टा क्रोधात्मनो विनिर्ममे ॥ ४५ ॥
वर्णो न कपिधेनोग्रभतास्ते पिशिताक्षना ।
गायतोऽङ्गात्समुत्पन्ना गन्धर्वास्तस्य तत्क्षणात् ॥ ४६ ॥
पिबन्तो जज्ञिरे वाच गन्धर्वास्ते न ते द्विज ।
एतानि सृष्ट्वा भगवान्ब्रह्मा तच्छक्तिचोदितः ॥ ४७ ॥
ततः स्वच्छन्दतोऽन्यानि वयासि वयसोऽसृजत् ।
अवयो वक्षसश्चक्रे मुखतोऽजाः स सृष्टवान् ॥ ४८ ॥
सृष्ट्वानुदराद्रथ पार्श्वान्मा च प्रजापतिः ।
पद्म्या चाश्वादन्समातगाध्रासभान्वावयान्मृगान् ॥ ४९ ॥
उष्ट्रानश्वतराश्चैव न्यङ्कूनन्याश्च जातयः ।
श्रोपध्यः फलमूलिभ्यो रामभ्यस्तस्य जज्ञिरे ॥ ५० ॥
नेतायुगमुत्ते ब्रह्मा कल्पस्पादो द्विजोत्तम ।
सृष्ट्वा पश्वोपधोः सम्यग्युयोज स तदाध्वरे ॥ ५१ ॥

इस प्रकार 'सर्वण' (शिर पर चढ़ने) की क्रिया से सर्प उत्पन्न
हुए और होनता के कारण उनका नाम अहि भी पड़ा और जगत्
स्रष्टा ने क्रापित होकर उनका स्वभाव भी क्रोध युक्त बना दिया ॥ ४५ ॥
ये भूरे रङ्ग के, उग्र स्वभाव के और मांस खाने वाले थे । फिर उसी
समय उनके शरीर से गन्धर्वों की उत्पत्ति हुई ॥ ४६ ॥ ये प्राणी 'गो'
(बाक्य और गीत) तथा 'ध्वयन' (उच्चारण व गान) करते करते
पैदा हुये इसलिये गन्धर्व कहलाये ॥ ४७ ॥ सब भगवान् ब्रह्मा ने इस
शक्ति से प्रेरित होकर स्वच्छन्दता पूर्वक 'वय.' शब्द से वया (पक्षी)

वक्ष से भेड़ और मुख से बकरे की उत्पत्ति किया । प्रजापति ने घट की दोनो बगलों से भी जाति, दोनो पैरों से भीड़ा, हाथी, शरभ, गवय हिरण, ऊँट, अश्वतर आदि अनेक प्राणिमो की सृष्टि की । उनके रोमों से फल मूल वाली वनस्पतियाँ बन गई ॥ ४८—५० ॥ हे द्विज ! उन्होंने कल्प के आदि में 'पशु भीषधि' की उत्पत्ति करके त्रेता के आरम्भ में यज्ञ में उनकी योजना की ॥ ५१ ॥

गौरजः पुरुषो मेघश्चाश्वतरगर्दभाः ।
 एतान्प्राभ्यान्पशूनाहुरारण्याश्च निबोध मे ॥ ५२ ॥
 आपदा द्विखुरा हस्ती वानरा. पक्षिपञ्चमाः ।
 शौदकाः पशवः पक्षा. सप्तमास्तु सरीसृपाः ॥ ५३ ॥
 गायत्रं च ऋचश्चैव त्रिवृत्स्तोम रघन्तरम् ।
 अग्निष्टोम च यज्ञाना निमंमे प्रथमान्मुखात् ॥ ५४ ॥
 यजू पि त्रष्टुम छन्द. स्तोम पञ्चदश तथा ।
 बृहत्साम तथोवय च दक्षिणादसृजन्मुखात् ॥ ५५ ॥
 सामानि जगतीछन्द स्तोम सप्तदश तथा ।
 वैरूपमतिरात्र च पश्चिमादसृजन्मुखात् ॥ ५६ ॥
 एकविंशमथर्वाणामाभोर्यामाणमेव च ।
 अनुष्टुभ च वैराजमुत्तरादसृजन्मुखात् ॥ ५७ ॥

गाय, बकरा, भेड़, घोड़ा, खच्चर, गधा ये सब प्राण्य पशु कहलाते हैं और [स्वापद (सिंह आदि), दो खुर वाले, हाथी, बन्दर, पक्षी उदक (कछुआ आदि) और रेगन वाले (सर्प आदि) जङ्गलों प्राणी कहे जाते हैं ॥ ५२—५३ ॥ ब्रह्माजी ने अपने प्रथम मुख से गायत्री, ऋग्वेद, त्रिवृत्स्तोम, रघन्तर और अग्निष्टोम का निर्माण किया । दक्षिण मुख से यजुर्वेद, पञ्चदश, त्रिष्टुप छन्दस्तोम, बृहत्साम और उक्थ की सृष्टि की । पश्चिम मुख से समस्त सामवेद सप्तय जगती छन्दस्तोम, वैरूप और अतिराज को रचा । उत्तर मुख से

इसीसे मनुष्य धरतीमें, सबवेद सोम अग्नि और वैराज की मृष्टि
की ॥ ५४—५७ ॥

उच्चारवानि भूतानि गात्रेभ्यश्च जनिरे ।
देवानुरपितृन् मृष्टा मनुष्याश्च प्रजापतिः । ५८।
तत पुन समजादौ सङ्कल्पस्य पितामह ।
यक्षान् पिशा चान्यन्यवान् तथैवाप्सरमा गणान् । ५९।
नरकिन्नररक्षासि वय पशुमृगारगान् ।
अथैव च व्यय च न यदिद म्याणुजज्जमम् । ६०।
तत्तत्तजं तदा ब्रह्मा भगवानादिवृत्प्रभु ।
तेषा ये यानि धर्माणि प्राक्मृष्ट्या प्रतिपेदिरे ।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते मृज्यमानाः पुनः पुनः । ६१।
हिंसाहिंसे मृदुकूरे धर्मायमवितानुने ।
तद्वाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते । ६२।
इन्द्रियार्थेषु भूतेषु शरीरेषु च स प्रभुः ।
नानात्वं विनियोग च घातैव ध्यमृजत्स्थयम् । ६३।
नाम रूप च मूताना कृत्याना च प्रपञ्चनम् ।
वेदशब्दैभ्य एवादी देवादीना चकार तः । ६४।
अपीणा नानधेयानि यथा वेदभूतानि वै ।
तथा नियोगयोग्यानि ह्यन्येषामपि सोऽनरोन् । ६५।
यमर्तु प्वर्तुलिङ्गानि नानारूपाणि पयंये ।
हृदयन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु । ६६।
यरोत्येवविधा मृष्टि वल्गादौ स पुनः पुनः ।
सिमृक्षाशक्तियुक्तोऽमो मृज्यशक्तिरचोदितः । ६७।

आदिवृत्त भगवान् प्रजापति देव ने इस प्रकार अपने शरीर
से ही समस्त छोटे-बड़े जीवों की मृष्टि की । उन्होंने देव, मनुष्य, पितृ
और मनुष्यों की रचना करके ब्रह्म ने आदि में ही यज्ञ, पिशाच,
गन्धर्व, धन्तरा, नर, किन्नर, राक्षस, पशु, पक्षी, मृग, वरुण आदि ।

युक्त प्रवाह रूप, नित्य तथा अनित्य, स्थावर-जङ्गममय इस समस्त जगत् की रचना की। इनमें से जिसके कर्म पुरानी सृष्टि में जिस प्रकार के थे, फिर से उत्पन्न किये जाने पर भी वे उसी को प्राप्त होने लगे। ॥५८—६१॥ उन जीवों हिंसा-प्रहिंसा, कोमल-कठोर, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य आदि के भाव प्राप्त होने लगे और वन्ही में उनकी प्रसिद्धि होने लगी ॥६३॥ इस प्रकार उस विधाता ने ही इन्द्रियावर्ग (आहार सम्बन्धी) भूत (जीव) और शरीर सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ पंदा कर दी ॥६४॥ उन्होंने वेदानुकूल देवादि प्राणियों के नाम और कार्य विभाग का निरूपण किया, समस्त ऋषियों को तथा नियोग और वेदों के निर्देशानुसार नाम दिया। त्रिश प्रकार ऋतुओं के बदलने पर पहले के समान ही ऋतुओं के विह्वलितलाई देते हैं, उसी प्रकार युग के आदि में देव आदि की उत्पत्ति पूर्ववत् हुआ करती है। कल्प के आदि में ब्रह्मा जी सर्जन शक्ति से युक्त होकर इसी तरह जगत् की रचना किया करते हैं ॥ ६५—६७ ॥



छठवाँ अध्याय

भवाविस्रोतास्तु कथितो भवता यस्तु मानुषः ।
 ब्रह्मन्विस्तरतो ब्रूहि ब्रह्मा तमसृजद्यथा ॥१॥
 यथा च वर्णान्सृजद्यद्गुणाश्च प्रजापतिः ।
 यच्च तेषां स्मृतं कर्म विप्रादीनां तदुच्यताम् ॥२॥
 सत्याभिध्यायिनः पूर्वं तिसृषोर्ब्रह्मणो जगत् ।
 भजायन्त द्विजथेष्ट सत्त्वोद्विक्ता मुख्यात्प्रजाः ॥३॥
 यदासौ रजसोद्विक्तास्तथा वै ब्रह्मणोऽभवन् ।
 रजसा तमसा चैव समुद्विक्तास्तथोत्तः ॥४॥

पञ्चधामन्याः प्रजा ब्रह्मा ससर्ज द्विजसत्तम ।
 तमप्रधानास्ताः सर्वाश्चातुर्वर्ण्यमिदं ततः ॥१॥
 ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम ।
 पादोरुवक्षःस्थलतो भुग्मतश्च समुद्गताः ॥६॥
 यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै ।
 चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम् ॥७॥
 यज्ञं राप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण वै प्रजाः ।
 आप्वाययन्ते धर्मज्ञ यज्ञाः कल्याणहेतवः ॥८॥

मंत्रेय ने पूछा — हे महामुने ! आपने ब्रह्माजी द्वारा सर्वाङ्ग ओं न
 मनुष्यों की उत्पत्ति की बात कही, उसे विस्तार पूर्वक कहिये । उनको किन
 गुणों से युक्त करके समस्त वर्णों की रचना की ? उन वर्णों के जो वर्तमान
 कर्म हैं उनका भी वर्णन कीजिये ॥१-२॥ परास्पर जो ने कहा— हे द्विज-
 श्रेष्ठ ! सत्ययुक्त जगतकर्ता ब्रह्माजी के मुख से प्रथम गरव गुणयुक्त प्राणिमों
 ने जन्म ग्रहण किया । छाती से रजोमृणयुक्त प्रभा उत्पन्न हुई और उस ने रज
 सचा तम से युक्त प्राणी उत्पन्न हुए ॥३-४॥ इनके साथ ही वेरों ने तम
 प्रधान लोगों की उत्पत्ति हुई । ये ही तम मिलाकर चारों वर्ण बन गये ।
 ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः भुक्ष, वक्षस्थल, उर, पैरों से उत्पन्न
 हुए ॥५-६॥ हे महामाण ! ब्रह्माजी ने यज्ञ के जलो प्रचार साधित होने
 के उद्देश्य ही इन चारों वर्णों की रचना की । देव गण यज्ञ से संतुष्ट होकर
 समस्त प्रजा का नर्याण करते हैं, इससे यज्ञ कल्याण का मूल है ॥ ७-८ ॥

निष्पाद्यन्ते नरेस्तैस्तु स्वधर्माभिरतैस्मदा
 विभुद्वाचरणोपेतैः मद्भिः ॥ ९ ॥
 स्वर्गमिच्छन्ती मानुष्यात्प्राप्नुवन्ति नरा मुने ।
 यज्ञमिच्छन्ति स्यान् तद्यान्ति मनुजा द्विज ।
 प्रजास्ता ब्रह्मणा गृष्टाश्चातुर्वर्ण्यव्यवस्थिताः ।
 सम्यक्कृद्वासमाचारप्रवणा मुनिसत्तम ॥११॥
 यथेच्छावासनिरताः सर्ववाधाविवर्जिताः ॥

स्वगुणातिशयोदितैर्यशोभि-

र्जगदावर्जनदृष्टशक्तियोगः ।

रचनागुणमात्रसकृतेषु

ज्वल्यलेव परेष्वमर्पवहिम् ॥ ४ ॥

- ४ प्रसह्य चैनं शास्त्रास्त्राभिभवितुमशक्ता धर्मप्रसङ्गममृष्यमाणाश्च राज्ञस्तेन तेन क्रमेण राजानं बोधिसत्त्वं प्रति विप्राहयामासुः—नार्हति देवो बोधिपरित्राजके विश्वासमुप-
गन्तुम् । व्यक्तमयं देयस्य गुणप्रियतां धर्माभिमुखतां चोपलभ्य व्यसनप्रतारणशृङ्खलशट-
मधुरवचनः प्रवृत्तिसंचारणहेतुभूतः कस्यापि प्रत्यर्थिनो राज्ञो निपुणः प्रणिधिप्रयोगः । तथा हि धर्मात्मको नाम भूत्वा देवमेकान्तेन कारुण्यप्रवृत्तौ ह्रीदैन्ये च समनुशास्ति, अर्थकामो-
१० परोधिषु च क्षत्रधर्मशास्त्रोप्यासनापनयेषु धर्मसमादानेषु दयानुवृत्त्या च नाम ते हृत्पक्ष-
माश्वासनविधिनोपैगृणीते प्रियसंस्तवश्चान्यराजदूतैः । न चायमविदितवृत्तान्तो राजशास्त्राणाम् ।
अतः साशङ्कान्यत्र नो हृदयानीति । अयं तस्य राज्ञः पुनः पुनर्भेदोपसंहितं हितमिव
बहुभिरुच्यमानस्य बोधिसत्त्वं प्रति परिशङ्कसंकोचितस्नेहगौरवप्रसरमन्यादृशं चित्तमभवत् ।

पद्भ्यामन्याः प्रजा ब्रह्मा ससर्ज द्विजसत्तम ।
 तमः प्रधानास्ताः सर्वाश्चातुर्वर्ण्यमिदं ततः ॥१॥
 ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम ।
 पादोरुवक्षस्यलतो मुखतश्च समुद्यताः ॥६॥
 यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै ।
 चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम् ॥७॥
 यज्ञं राप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण वै प्रजाः ।
 आप्याययन्ते धर्मज्ञ यज्ञाः कल्पाणहेतवः ॥८॥

मंत्रेय ने पूछा — हे महामुने ! आपने ब्रह्माजी द्वारा सर्वाङ्ग स्रोत मनुष्यों की उत्पत्ति की बात कही, उसे विस्तार पूर्वक कहिये । उनको किन गुणों से युक्त करके समस्त वर्णों की रचना की ? उन वर्णों के जो वर्तव्य धर्म हैं उनका भी वर्णन कीजिये ॥१-२॥ पराशर जी ने कहा— हे द्विज-श्रेष्ठ ! सत्ययुक्त जगत्कर्ता ब्रह्माजी के मुख से प्रथम सर्व गुणयुक्त प्राणियों ने जन्म ग्रहण किया । छाती से रजोगुणयुक्त प्रजा उत्पन्न हुई और उस ने राज तथा तम से युक्त प्राणी उत्पन्न हुए ॥३-४॥ इनके साथ ही पैंरों से तम प्रधान लोगों की उत्पत्ति हुई । ये ही सब मिलाकर चारों वर्ण बन गये । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः मुख, वक्षस्थल, उरु, पैंरों से उत्पन्न हुए ॥५-६॥ हे महाभाग ! ब्रह्माजी ने यज्ञ के अती प्रकार साधित होने के उद्देश्य ही इन चारों वर्णों की रचना की । देव गण यज्ञ से समुद्भूत होकर समस्त प्रजा का बन्धाण करते हैं, इससे यज्ञ बन्धाण का मूल है ॥७-८॥

निष्पादन्ते नरैस्तैस्तु स्वधर्माभिरतैस्सदा ।
 विमुदाचरणोपेतैः सद्भिः सन्मार्गगामिभिः ॥९॥
 स्वर्गापिचर्गो मानुष्यात्प्राप्नुवन्ति नरा मुने ।
 यज्ञाभिरुचित स्यान् तथान्ति मनुजा द्विज ॥१०॥
 प्रजास्ता ब्रह्मणा सृष्टाश्चातुर्वर्ण्यव्यवस्थिताः ।
 सम्पन्नद्विदासमाचारप्रवणा मुनिसत्तम ॥११॥
 यथेन्द्रावासनिरताः सर्वबाधाविवर्जिताः ।

युक्त प्रवाह रूप, नित्य तथा अनित्य, स्थावर-जङ्गममय इस समस्त जगत् की रचना की । इनमें से जिसके वर्म पुरानी मृष्टि में जिस प्रकार के थे, फिर से उत्पन्न किये जाने पर भी वे उसी की प्राप्त होने लगे । ॥५८—६१॥ उन जीवों हिंसा-घटिमा, बोजल-बटोर, धर्म-धर्म, सत्य-असत्य आदि के भाव प्राप्त होने लगे और उन्हीं में उनकी धर्म-रुचि होने लगी ॥६३॥ इस प्रकार उस विधाता ने ही इन्द्रियार्थ (ग्राह्य सम्बन्धी) भूत (जीव) और धारीर सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की व्यवस्थायें पंदा कर दी ॥६४॥ उन्होंने वेदानुबूल देवादि प्राणियों के नाम और कार्य विभाग का निरूपण किया, समस्त ऋषियों को सचा नियोग और वेदों के निर्देशानुसार नाम दिया । जिस प्रकार ऋतुओं के बदलने पर पहले के समान ही ऋतुओं के बिह्न दिसलाई देते हैं, उसी प्रकार युग के आदि में देव आदि की उत्पत्ति पूर्ववत् हुमा करती है । कल्प के आदि में ब्रह्मा जी सर्जन शक्ति से युक्त होकर इसी तरह जगत् की रचना किया करते हैं ॥ ६५—६७ ॥



छठवाँ अध्याय

अवविश्रोतास्तु कथितो भवता यस्तु मानुषः ।
 ब्रह्मन्विस्तरतो ब्रूहि ब्रह्मा तमसृजद्यथा ।१।
 यथा च वर्णानिसृजद्यद्गुणाश्च प्रजापतिः ।
 यच्च तेषां स्मृतं कर्म विप्रादीना तदुच्यताम् ।२।
 सत्याभिध्यायिनः पूर्वं सिसृक्षोर्ब्रह्मणो जगत् ।
 अजाम्यन्त द्विजश्रेष्ठ सत्त्वोद्विक्ता मुखात्प्रजाः ।३।
 वक्षसो रजसोद्विक्तास्तथा वै ब्रह्मणोऽभवन् ।
 रजसा तमसा चैव समुद्विक्तास्तथोरुतः ।४।

पद्भ्यामन्याः प्रजा ब्रह्मा ससर्ज द्विजसत्तम ।
 तमप्रधानास्ताः सर्वाश्चातुर्वर्ण्यमिदं ततः ॥५॥
 ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम ।
 पादोरुवक्षस्थलतो मुखतश्च समुद्गताः ॥६॥
 यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै ।
 चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम् ॥७॥
 यज्ञं राप्त्यापिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण वै प्रजाः ।
 आप्याययन्ते धर्मज्ञ यज्ञाः कल्याणहेतवः ॥८॥

मैत्रेय ने पूछा — हे महामुने ! आपने ब्रह्माजी द्वारा धर्मात् स्रोत मनुष्यों की उत्पत्ति की बात कही, उसे विस्तार पूर्वक कहिये । उनको किन गुणों से मुक्त करके समस्त वर्णों की रचना की ? उन वर्णों के जो कर्तव्य कर्म हैं उनका भी वर्णन कीजिये ॥१-२॥ पराशर जी ने कहा— हे द्विज-धेठ ! सत्ययुक्त जगतकर्ता ब्रह्माजी के मुख से प्रथम सत्त्व गुणयुक्त प्राणियों ने जन्म ग्रहण किया ; छाती से रजोगुणयुक्त प्रजा उत्पन्न हुई और उस में रज तथा तम से युक्त प्राणी उत्पन्न हुए ॥३-४॥ इनके साथ ही पैरों से तम प्रधान लोगों की उत्पत्ति हुई । ये ही सब मिलाकर चारों वर्ण बन गये । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः मुख, वक्षस्थल, उर, पैरों से उत्पन्न हुए ॥५-६॥ हे महाभाग ! ब्रह्माजी ने यज्ञ के नली प्रकार साधित होने के उद्देश्य ही इन चारों वर्णों की रचना की । देव यज्ञ से सतुष्ट होकर समस्त प्रजा का कल्याण करते हैं, इससे यज्ञ कल्याण का मूल है ॥७-८॥

निष्पाद्यन्ते नरस्तैस्तु स्वधर्माभिरत्तैस्सदा ।
 विशुद्धाचरणोपैतैः सद्भिः सन्मार्गगामिभिः ॥९॥
 स्वर्गापि वर्यो मानुष्यात्प्राप्नुवन्ति नरा मुने ।
 यज्ञाभिरुचित स्यान् तद्यान्ति मनुजा द्विज ॥१०॥
 प्रजास्ता ब्रह्मणा सृष्टाश्चातुर्वर्ण्यव्यवस्थिताः ।
 सम्यक्छद्मासमाचारप्रवणा मुनिसत्तम ॥११॥
 यथेच्छावासनिरताः सर्वबाधाविवाजिताः ॥

शुद्धान्त करणा शुद्धा कर्मानुष्ठाननिर्मला ॥१२॥

शुद्धे च तासा मनसि शुद्धेऽन्त सस्थिते हरी ।

शुद्धज्ञान प्रपश्यन्ति विष्णुवाङ्म येन तत्पदम् ॥१३॥

तत कालात्मको योऽसौ स ज्ञान वयितो हर ।

स पातयत्यथ धीरमल्पमल्पाल्पसारवत् ॥१४॥

प्रथमबीजमुद्भूत तमोलोभसमुद्भवम् ।

प्रजासु तासु मैत्रेय रागादिकमस्माधवम् ॥१५॥

अपने-अपने धर्म में समान विदुष्ठाचरण वाले श्रीर समाग गामी मनुष्यों द्वारा वास्तव में यग साधन होता है । यग से मनुष्य स्वर्ग अपवर्ग प्राप्त करते हैं और अभिलाषित स्थिति को पा सकते हैं ॥१६-१०॥ ब्रह्मा ने चतुर्वर्ण की व्यवस्था के निमित्त ही श्रद्धाचार सम्पन्न, स्वेच्छापूर्वक वाग्य करने वाली और बाधाओं से रहित प्रजा की सृष्टि की ॥११-१२॥ क्योंकि मन के शुद्ध होने और शुद्ध अन्त करण में भगवान के स्थित होने पर शुद्ध ज्ञान पैदा होता है और उसके द्वारा वे विष्णु के पद की देखने में समर्थ होते हैं । ॥१३॥ हे मैत्रेय । इसके पश्चात् जो भगवान के कालात्मक अंग की बात बही गई है, तदनुसार इस प्रजा में प्रथम से उत्पन्न तमोलोभ-लोभ थोड़ा थोड़ा करके और पाप का संचार कर देता है ॥१४-१५॥

तत सा सहजा सिद्धिस्तासा नातीव जायते ।

रसोज्ञासादयश्चान्या सिद्धयोऽष्टौ भवति या ॥१६॥

तासु क्षीणास्वशेषासु वर्द्धमाने पातके ।

द्वद्वाभिभवदू स्वार्तास्ता भवन्ति तत प्रजा ॥१७॥

ततो दुर्गाणि ताश्चक्रुर्घान्वा पावतमोदकम् ।

कृत्रिम च तथा दुर्गं पुरस्कर्ण्टकादिकम् ॥१८॥

गृहाणि च यथान्याय तेषु चक्रुः पुरादिषु ।

शीतातपादिवाधाना प्रशमाय महामते ॥१९॥

प्रतीवारिमिम कृत्वा शीतादेस्ता प्रजा पुन ।

वार्तोपाय ततश्चक्रुर्हस्तसिद्धिं च कर्मजाम् ॥२०॥

ग्रीह्यश्च यवाश्चैव गोब्रूमाश्चाणवस्तिलाः ।

प्रियङ्गवो ह्युदाराश्च कोरदूपाः सतीनकाः ॥२१॥

मापा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः सकुलत्यकाः ।

आढक्यश्चणकाश्चैव दारणाः सप्तदश स्मृताः ॥२२॥

इसके फलस्वरूप उनमें कार्य की सहज सिद्धि और रसोत्साह आदि अष्ट सिद्धि वरित रूप में उत्पन्न नहीं होती है । इन सिद्धियों के क्षीण होने तथा पार्श्वों के बढ़ने से समस्त प्रजा तरह तरह के दुखों में अप्रति होती है । ॥१६-१७॥ तब उन्होंने वृश्चों में, पर्वतों में और जल के समीप स्वाभाविक रक्षा स्थान भयवा कृत्रिम दुर्ग, पुर, खरंटक स्थापित किये और शीत ताप आदि की बाधा से बचने के लिये वहाँ पर घर आदि बनाये ॥१८-१९॥ जब लोगो ने इस प्रकार शीत आदि में अपनी रक्षा की व्यवस्था करली तो उन्होंने खेती हस्तकला की विधियाँ निकाली जिससे जीवन निर्वाह हो सके ॥२०॥ हे मुने ! घान, जो, गेहूँ, धनु, तिल, प्रियगु, उदर, कोरदुप, चीनक, उदं, मूँग, मसूर निष्पाव कुलशी आढक्य बना और सन ये सत्तरह ग्राम्य औषधि हैं ॥२१-२२॥

इत्येता औषधीना तु ग्राम्याना जातयो मुने ।

औषध्यो यज्ञियाश्चैव ग्राम्यारण्याश्चतुदश ॥२३॥

ग्रीह्यस्सयवा मापा गोब्रूमाश्चाणवस्तिलाः ।

प्रियङ्गुसप्तमा ह्येते अष्टमास्तु कुलत्यकाः ॥२४॥

श्यामाकास्त्वय नीबारा जतिलाः सगबधुकाः ।

तथा वेणुयवाः प्रोक्तास्तथा मर्कटका मुने ॥२५॥

ग्राम्यारण्याः स्मृता ह्येता औषध्यस्तु चतुदश ।

यज्ञनिष्पत्तये यज्ञस्तथासा हेतुस्तमः ॥२६॥

एतश्च सह यज्ञेन प्रजाना कारणं परम् ।

परावरविदः प्राज्ञास्ततो यज्ञान्वितन्वते ॥२७॥

अहन्यहन्यनुष्ठान यज्ञानां मुनिसत्तम ।

उपकारकरं पुंसां क्रियमाणाघशान्तिदम् ॥२८॥

यस औषधियाँ भी चौदह प्रकार की होनी हैं जैसे घान, जो, उदं, गेहूँ,

घनु तिल, प्रिय गु, कुलत्पक्व, द्यामाय, नीवार अतिल मवध्व, वेनुपथ और मकटक इनका उपयोग यज्ञ में आहुति देने के लिये होना है ॥२३से२६॥
 ये सब यज्ञ द्वारा समस्त प्रजा की उत्पत्ति का परम साधन सिद्ध होती हैं, इस-
 लिये लोक-परलोक के ज्ञाता यज्ञों का प्रचार करने की कहते हैं । यज्ञ प्रत्येक
 व्यक्ति द्वारा नित्य किया जाने योग्य अनुष्ठान है, मनुष्यों का उपकार करने वाला
 है, और नित्य होने वाले पचसूना पापों को दूर करने वाला है ॥२७-२८॥

येषां तु कालसृष्टोऽसौ पापविन्दुर्महामुने ।

चेत सु ववृधे चक्रुस्ते न यज्ञं पु मानसम् ॥२९॥

वेदवादास्तथा वेदान्यज्ञकर्मादिकं च यन् ।

तत्सर्वं निन्दयामासु यं ज्ञायामेधकारिणः ॥३०॥

प्रवृत्तिमार्गं व्युच्छिस्तिकाः रणो वेदनिन्दकाः ।

दुरात्मानो दुराचारा बभूवुः कुटिलाशयाः ॥३१॥

ससिद्धाया तु वार्ताया प्रजा सृष्टा प्रजापतिः ।

मर्यादा स्थापयामास यथास्थानं यथागुणम् ॥३२॥

वर्णानामाश्रमाणां च धर्मान्वर्तमानां वरः ।

लोकाश्च सबवर्णानां सम्पद्गन्धर्मानुपालिनाम् ॥३३॥

प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं क्रियावताम् ।

स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां सग्रामेऽवनिवर्तिनाम् ॥३४॥

वैश्यानां मास्तु स्थानं स्वधर्ममनुवर्तिनाम् ।

गान्धर्वं शूद्रजातीनां परिचर्यानुवर्तिनाम् ॥३५॥

हे महामते ! जिसके अन्तःकरण में इस कालरूप पाप विन्दुघ्नी की वृद्धि होती है वे यज्ञ की तरफ रुचि नहीं रखते ॥२९॥ जो कोई वेदो, वेदिक सिद्धांतों और यज्ञों की पूति करने वाले अन्याय कर्मों की निंदा करते हैं वे सब यज्ञों में व्याघात डालने वाले प्रवृत्ति मार्ग के उपदेशक, वेदनिन्दक, दुरात्मा, दुराचारी और कुटिलाशय माने जाते हैं ॥ ३०-३१ ॥ प्रजा के उत्पन्न हो जाने और जीविका की व्यवस्था हो जाने पर प्रजापति ने सबको स्थान और यथामर्यादा स्थापित किया ॥३२॥ उन्होंने समस्त वर्णों और

प्राथम्य के धर्मों का सम्यक् रूप से पालन करने वाले लोगों का उचित स्थान निम्नलिखित विना ॥३३॥ क्रियावान् ब्राह्मणों के लिये प्रजानात्यलोक सभ्राम में दिखने वाले क्षत्रियों के लिये एन्द्र-लोक, स्वधर्मनिवर्ती वैश्यों के लिये देवलोक और परिजनों परामण शूद्रों के लिये गन्धर्व लोक निश्चित किया ॥३४-३५॥

अष्टाशीतिसहस्राणि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ।

स्मृतं तेषां तु यत्स्थानं तदेव गुरुवासिनाम् ॥३६॥

सप्तर्षीणां तु यत्स्थानं स्मृतं तद्वै वनौषसाम् ।

प्राजापत्यं गृहस्यानां न्यासिनां ब्रह्मसत्तितम् ॥३७॥

योगिनाममृतं स्थानं स्वात्मसन्नापकारिणाम् ॥३८॥

एकान्तिनः सदा ब्रह्मव्यापिनो योगिनश्च ये ।

तेषां तु परमं स्थानं यत्तत्त्वज्ञानि मूरयः ॥३९॥

गत्वा गत्वा निर्वर्तन्ते चन्द्रमूर्धदयो ब्रह्माः ।

अद्यापि न निवर्तन्ते द्वादशाक्षरचिन्मकाः ॥४०॥

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।

असिपत्नवनं घोरं कालमूत्रमधीचिकम् ॥४१॥

विनिन्दवानां वेदस्य यज्ञध्यायानकारिणाम् ।

स्थानमेतत्समाख्यानं स्वधर्मत्यागिनश्च ये ॥४२॥

अष्टाशी सहस्र ऊर्ध्वरेता मुनिगण के लिये मरुत स्थान (वनलोक) बत-
लाया । गुरु के निकट रहने वाले ब्रह्मचारियों का भी यही स्थान है ॥३६॥
सप्तर्षि मंडल में जो तपोलोक है वह धातप्रस्थ वातों का और प्राजापत्य-लोक
गृहस्थों का स्थान कहा गया । सन्यासियों के स्थान का नाम 'ब्रह्म' है ॥३७॥
योगियों का स्थान 'अमृत' है जो कि त्रिपु का परम पद है जो एकाग्र में रहने
वाले सदा ब्रह्म का ही ध्यान रखने वाले योगी हैं, इनका यही मुख्य स्थान है,
जानीजन इसी का ध्वनोक्तन करते हैं । फिर भी इनका प्रावामयन होता रहता
है, पर जो द्वादशाक्षर यज्ञ (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का निरन्तर करने
रहते हैं, वे कभी सौट कर नहीं घाते ॥३८-३९॥ तामिस्र, मन्धता मिस्र,
महारौरव, रौरव, असिपत्नवन, घोर, काल मूत्र मधीचिक — ये सब मरुत-लोक

हैं । देवों की निंदा करने वाले, यज्ञों में बाधा डालने वाले और अपने धर्म को त्याग का आचरण करने वालों का यही स्थान कहा गया है ॥४०-४२॥

सातवाँ अध्याय

ततोऽभिध्यायतस्तस्य जज्ञिरे मानसा प्रजा ।
 तच्छरीरसमुत्पन्नं कार्यैस्तं करणं मह ॥१॥
 क्षेत्रज्ञा समवर्त्तन्त मानेभ्यस्तस्य धीमत ।
 ते सर्वे समवर्त्तन्ति ये मया प्रागुदाहृता ॥२॥
 देवाद्याः स्यावरात्ताश्च त्रैगुण्यविषये स्थिता ।
 एवभूतानि मृशानि चराणि स्यावराणि च ॥३॥
 यदास्य ता प्रजा सर्वा न व्यवधन्त धीमत ।
 अथान्यामानसापुत्रान्सदृशानात्मनोऽमृजत् ॥४॥
 भृगु पुलस्त्य पुलह कनुमङ्गिरस तथा ।
 मरीचि दक्षमग्नि च वसिष्ठ च व मानसान् ॥५॥
 नव ब्रह्माणा इत्येते पुराणे निश्चय गता ।
 स्यान्ति भूति च सम्भूति क्षमा प्रीति तथैव च ॥६॥
 सप्तति च तथैवोज्ज्वलिनसूया तथैव च ।
 प्रसूति च तत सृष्टा ददौ तेषा महात्मनाम् ॥७॥

श्री पराशर भी न कहा— इसके पश्चात् उन प्रजापति ने ध्यान किया, जिनसे उनके देह रूपी भूना से उद्भूत शरीर और इन्द्रियों युक्त मानसी प्रजा भी उत्पत्ति हुई ॥१॥ उस समय उन मेवात्री ब्रह्माजी के द्वारा ही चेतन प्राणी उत्पन्न हुए । पूर्व में मैंने देवताओं से स्यावर तत्र जिस त्रिगुणात्मिका चराचर सृष्टि का वर्णन किया है, वह सब इसी प्रकार प्रादुर्भूत हुई ॥२-३॥ जब उन महामनि प्रजापति की वह प्रजा पुत्र-पौत्रादि के रूप में वृद्धि को प्राप्त नहीं हुई, तब उन्होंने ध्यान ही समान भृगु, पुलस्त्य, पुलह, कनु, मरिचि, दक्ष मग्नि

था । उससे ब्रह्माजी ने कहा कि अपने शरीर को विभक्त कर डाल । यह कह कर वह वही अन्तर्धान हो गया ॥१३॥ ब्रह्माजी का आदेश सुनकर रुद्र ने अपने देह-गत स्त्री-पुरुष को पृथक् पृथक् विभक्त किया और फिर उस पुरुष के भी ग्यारह भाग कर डाले ॥१४॥

सोम्यासोभ्यस्तदा शान्ताशान्तः स्त्रीत्व च स प्रभुः ।

विभेद बहुधा देव स्वरूपरसितैः सितैः ॥१५॥

ततो ब्रह्मात्मसम्भूत पूर्व स्वायम्भुव प्रभुः ।

आत्मानमेव कृतवान्प्रजापात्ये मनुं द्विज ॥१६॥

शतरूपा च ता नारी तपोनिर्धूतकल्मषाम् ।

स्वायम्भुवो मनुर्देवः पत्नीत्वे जगृहे प्रभुः ॥१७॥

तस्मात्तु पुरुषाद्देवी शतरूपा व्यजायत ।

प्रियव्रतात्तानपादौ प्रसूत्याकृतिसंजितम् ॥१८॥

बन्याद्वय च धर्मज्ञ रूपोदायंगुणान्वितम् ।

ददौ प्रसूतिं दक्षाय आकूतिं रुचये पुरा ॥१९॥

प्रजापतिः स जग्राह तयोजनं सदक्षिणः ।

पुत्रो यज्ञा महाभाग दम्पत्योर्मिथुन ततः ॥२०॥

यज्ञस्य दक्षिणाया तु पुत्रा द्वादश जज्ञिरे ।

यामा इति समाख्याता देवाः स्वायम्भुवे मनी ॥२१॥

स्त्री-देह के भी उसने सोम्य, क्रूर, शान्त, अशान्त, श्याम, गौर आदि के भेद से अनेक विभाग किये ॥१५॥ फिर ब्रह्माजी ने अपने ही द्वारा उत्पन्न किये गये, अपने ही जैसे रूप वाले स्वायम्भुव की प्रथम मनु बनाकर उन्हें प्रज-पालन के कार्य में प्रवृत्त किया ॥१६॥ उन स्वायम्भुव के साथ ही शतरूपा नाम की नारी उत्पन्न हुई थी, उसे अपने भावों के रूप में ग्रहण किया ॥१७॥ उस शतरूपा ने स्वायम्भुव मनु से दो पुत्र उत्पन्न किये जिनके नाम प्रियव्रत और उत्तानपाद हुए । इसी प्रकार प्रसूति और आकूति नाम की रूप, गुण सम्पन्न दो बन्याएँ भी उत्पन्न थीं । उनमें से प्रसूति का विवाह दक्ष प्रजापति तथा आकूति का रुचि प्रजापति के साथ किया गया ॥१८-१९॥ हे महाभाग रुचि प्रजापति

बोधं बुद्धिस्तथा लज्जा विनय वपुरात्मजम् ।
 व्यवसाय प्रजज्ञे वै क्षेम शान्तिरसूयत ॥२०॥
 सुख सिद्धिर्यशः कीर्तिरित्येते धर्मसूनवः ।
 कामाद्रतिः सुत हर्षं धर्मपौत्रमसूयत ॥२१॥
 हिंसा भार्या त्वधर्मस्य ततो जज्ञे तथागृतम् ।
 कन्या च निकृतिस्ताम्या भयं नरकमेव च ॥२२॥
 माया च वेदना चैव मिथुन त्विदमेतयो ।
 तयोजज्ञेऽथ वै माया मृत्युं भूतापहारिणम् ॥२३॥
 वेदना स्वसुनं चापि दुःख जज्ञेऽथ रौरवात् ।
 मृत्योर्व्याधिजराशोकतृष्णाक्रोधाश्च जज्ञिरे ॥२४॥
 दुःखोत्तराः स्मृता ह्येते सर्वे चाधर्मलक्षणाः ।
 नैषा पुत्रोऽस्ति वै भार्या ते सर्वे ह्यूर्ध्वरेतसः ॥२५॥

इसी प्रकार मेधा ने ध्रुव, क्रिया ने दण्ड नय और विनय, बुद्धि ने बोध, लज्जा ने विनय, वपु ने व्यवसाय शान्ति ने क्षेम, सिद्धि ने सुख और कीर्ति ने यश को उत्पन्न किया, धर्म के यही सब पुत्र हैं । धर्म पुन काम ने रति से हर्ष को प्रकट किया ॥२०-२१॥ अधर्म की भार्या हिंसा हुई, उसने अनृत नामक पुत्र को और निकृति नाम की कन्या को जन्म दिया । उन दोनों के संयोग से भय और नरक नामक पुत्र तथा माया और वेदना नामकी कन्याएँ उत्पन्न हुईं, यह क्रमशः भय और नरक की भार्या हुईं । उनमें से माया ने सब जीवों का नाश करने में समर्थ मृत्यु नामक एक पुन का प्रसव किया ॥२२-२३॥ रौरव के द्वारा वेदना ने दुःख नामक एक पुत्र उत्पन्न किया तथा मृत्यु से व्याधि, जरा, शोक तृष्णा और क्रोध उत्पन्न हुए ॥२४॥ यह सभी अधर्म स्वरूप तथा दुःखोत्तर नाम से विख्यात हैं, इनके ऊर्ध्वरेता होने के कारण कोई सन्तान अथवा पत्नी आदि नहीं हैं ॥२५॥

रोद्राण्येतानि रूपाणि विष्णोर्भुनिवरात्मज ।

नित्यप्रलयहेतुत्वं जगत्तोऽस्य प्रयान्ति वै ॥२६॥

दक्षो मरीचिरत्रिश्च भृग्वाद्याश्च प्रजेश्वराः ।

जगत्पथ महाभाग नित्यसर्गस्य हेतवः ॥२७॥

मनवो मनुपुत्राश्च भूपा वीर्यधराश्च ये ।

रात्मागंनिस्ताः शूरास्ते सर्वे स्थितिकारिणः ।३८।

येयं नित्या स्थितिर्ब्रह्मन्नित्यसर्गस्तथेरितः ।

नित्याभावश्च तेषां वै स्वरूपं मम कथ्यताम् ।३९।

सर्गस्थितिर्विनाशाश्च भगवान्मधुसूदनः ।

तंस्ते रूपैरचिन्त्यात्मा करोत्यव्याहतो विभुः ।४०।

नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको द्विज ।

नित्यश्च सर्वभूतानां प्रलयोऽयं चतुर्विधः ।४१।

ब्रह्मो नैमित्तिकस्तत्र श्रेतेऽयं जगत्पतिः ।

प्रयाति प्राकृते चैव ब्रह्माण्डं प्रकृतौ लयम् ।४२।

हे मुनिवरात्मज ! भगवान् विष्णु के यह अत्यन्त भयङ्कर स्वरूप हैं,

क्योंकि विश्व की नित्य प्रलय के कारण रूप भी यही है ॥३९॥ दत्त, मरीचि,

अग्नि और भृगु आदि जो प्रजापति हैं, उन्हें इस विश्व के सृष्टि-कारण समझो

॥३७॥ मनु तथा उनके श्रेष्ठ मार्ग पर चलने वाले पराक्रमी और वीर पुत्र

जो राजा हैं, वे सब इस जगत् की नित्य-स्थिति के कारण रूप हैं ॥३८॥

यह सुन कर भगवान् ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपने जिस नित्य स्थिति, नित्य

सर्ग और नित्य प्रलय का मेरे प्रति वर्णन किया है, उनका स्वरूप अब मुझे

बताने की कृपा करें ॥३९॥ श्री पराशर जी ने कहा—जिन अचिन्त्यात्मा एवं

सर्व व्याप्त भगवान् मधुसूदन की गति कही भी नहीं रुक पाती, वही मनु आदि

रूपों से इस जगत् की सृष्टि स्थिति तथा संहार करते रहते हैं ॥४०॥ हे द्विज !

समस्त प्राणिमो वा प्रलय नैमित्तिक, प्राकृतिक आत्यन्तिक और नित्य के भेद से

चार प्रकार का है ॥४१॥ उनमें नैमित्तिक प्रलय ब्रह्मा प्रलय कही गई है, जिसमें

ब्रह्माजी कल्पान्त में शयन करते हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्राकृतिक प्रलय में,

प्रकृति में लीन हो जाता है ॥४२॥

ज्ञानादात्यन्तिकः प्रोक्तो योगिनः परमात्मनि ।

नित्यः सदैव भूतानां यो विनाशो दिवानिशम् ।४३।

प्रसूतिः प्रकृतेर्यत्तु सा सृष्टिः प्राकृता स्मृता ।

दंनन्दिनी तथा प्रोक्ता यान्तरप्रलयादनु ।४४।

भूतान्यनुदिन यत्र जायन्ते मुनिसत्तम ।
 नित्यमर्गो हि स प्रोक्तः पुराणार्थविचक्षणः ॥४५॥
 एव सर्वद्वारीरेषु भगवान्भूतभावनः ।
 सस्थितः कुस्त विष्णुस्त्वत्तिस्थितिसयमान् ॥४६॥
 सृष्टिस्थितिविनाशानां सत्तमः सर्वदेहिषु ।
 वैष्णव्यः परिवर्तन्ते मेनेयाहर्निश समाः ॥४७॥
 गुणत्रयमयं ह्येतद्ब्रह्मन् शक्तित्रयं महत् ।
 योऽतिशयति स यात्येव परं नाकर्त्तते पुनः ॥४८॥

आत्यन्तिक प्रलय वह है जिसमे ज्ञान बल से योगी परमात्मा में
 लीन हो जाता है तथा दिन-रात प्राणियों का धर्म ही नित्य प्रलय है ॥४५॥
 महत्तत्त्वादि के क्रम से प्रकृति के द्वारा जो सृष्टि होती है, यही प्राकृतिक सृष्टि
 है तथा अवान्तर प्रलय के पश्चात् होने वाली चराचर विश्व की रचना ही
 दैनन्दिनी सृष्टि है ॥४४॥ हे मुनिवर ! प्रतिदिन प्राणियों की जिसमे उत्पत्ति
 होती रहती है वह पुराण पारंगतो द्वारा निश्चय सृष्टि कही गयी है ॥४५॥ इस
 प्रकार सभी प्राणियों में स्थित भगवान् विष्णु इस ससार की सृष्टि, स्थिति और
 प्रलय करते रहते हैं ॥४६॥ हे मंत्रेयजी ! सृष्टि, स्थिति और संहार की इन
 वैष्णवी शक्तियों का सभी देहों समान रूप से रात-दिन सञ्चार होता रहता
 है ॥४७॥ हे ब्रह्मन् ! यह तीनों शक्तियाँ त्रिगुणात्मिका हैं और जो मनुष्य
 इनका प्रतिक्रमण करता है वह परमपद को प्राप्त होकर जन्म मरणादि से
 मुक्त हो जाता है ॥४८॥



आठवाँ अध्याय

कथितस्तामसः सर्गो ब्रह्मणस्ते महामुने ।
 रुद्रसर्गं प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदत शृणु ॥१॥
 कल्पादावात्मनस्तुल्यं सुतं प्रध्यायतस्ततः ।
 प्रादुरासीत्प्रभोरङ्गे कुमारो नीललोहिताः ॥२॥

रुरोद सुस्वर सोऽय प्राद्रवद् द्विजसत्तम ।
 किं त्व रोदिषि तं ब्रह्मा रुदन्तं प्रत्युवाच ह ।३।
 नाम देहीति तं सोऽय प्रत्युवाच प्रजापतिः ।
 रुद्रस्त्व देव नाम्नासि मा रोदीर्घैर्यमावह ।४।
 एवमुक्तः पुनः सोऽय सप्तकृत्वो रुरोद वै ।
 ततोऽन्यानि ददौ तस्मै सप्त नामानि वै प्रभुः ।५।
 स्थानानि चैषामष्टानां पत्नीः पुत्राश्च स प्रभुः ।
 भव शर्वमथेशान तथा पशुपतिं द्विज ।६।
 भीममुग्र महादेवमुवाच स पितामहः ।
 चक्रं नामान्यथैतानि स्थानान्येषां चकार सः ।७।

श्री पराशरजी ने कहा—हे महामुने ! ब्रह्माजी का तामस सर्व
 मीने तुम्हारे प्रति कहा है, अब ध्रुव सगं के बखन को सुनो ॥१॥ कल्प के
 आरम्भ में ब्रह्मा जी ने अपने समान पुत्रों को उत्पन्न करने की इच्छा से चिंतन
 किया तब उनकी गोद में ही एक नीलसोहित बालों का पुत्र प्रकट हो गया ॥२॥
 हे द्विजप्रेष्ठ ! जन्म होते ही वह उच्च स्वर में रोने और इधर-उधर दौड़ने
 लगा । यह देख कर ब्रह्माजी ने उससे उसके रोने का कारण पूछा तो उसने
 कहा कि मेरा नामकरण करिये । तब ब्रह्माजी ने कहा—वेरा नाम रुद्र हुआ,
 भव तू रुद्रन मत कर, धीरज रख ॥३-४॥ यह सुन कर भी वह सात बार
 और रोता रहा तब ब्रह्माजी ने उसके सात नाम और निदिष्ट किये तथा उन
 आठों के स्त्री और पुत्रों की भी कल्पना की । प्रजापति ने उसके जो नाम, श्रेष्ठ
 वह यह थे—भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र और महादेव । इस प्रकार
 नामकरण करके अन्ये स्थान भी निश्चित किये ॥५-७॥

सूर्यो जल मही वायुर्वह्निराकाशमेव च ।
 दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः कमात् ।८।
 सुवचंता तथैवोपा विवेशी चापरा शिवा ।
 स्वाहा दिशस्तथा दीक्षा रोहिणी च यथाक्रमम् ।९।
 सूर्यादीनां द्विजथ्रेष्ठ रुद्रार्चनमभिः सह ।
 पत्न्यः स्मृता महाभाग तदपत्यानि मे शृणु ।१०।

एषां सूतिप्रसूतिभ्यामिदभापूरितं जगत् ।
 शनैश्चरस्तथा शुक्रो लोहिताङ्गो मनोजवः ॥११॥
 स्कन्दः सर्गोऽथ सन्तानो बुधश्चानुक्रमात्सुताः ।
 एवं प्रकारा रुद्राऽसौ सती भार्यामनिन्दिताम् ॥१२॥
 उपयेमे दुहितर दक्षस्यैव प्रजापतेः ।
 दक्षकोपाच्च तत्याज सा सती स्वकलेवरम् ॥१३॥
 हिमवद्दुहिता साभूमेनायां द्विजसत्तम ।
 उपयेमे पुनश्चोमामनया भगवान्हरः ॥१४॥

हे द्विजोत्तम ! सूर्य, जल, पृथिवी, वायु, अग्नि, आकाश, दीक्षित
 ब्राह्मण और चन्द्रमा यह सब उनके रूप हैं, रुद्र आदि नामों के सहित उन सूर्य
 आदि रूपों की सुवर्चला, ऊषा, विवैशी, अपरा, शिवा, स्वाहा, दिशा, दीक्षा
 और रोहिणी नाम की भार्याएँ हुईं । अब तुम उनके पुत्रों के नामों की श्रवण
 करो ॥८—१०॥ उनके ही पुत्र, पीतादि से यह सम्पूर्ण विश्व परिपूर्ण हो रहा
 है । उनके पुत्र शनैश्चर, शुक्र, लोहिताङ्ग, मनोजव, स्कन्द, सर्ग, सन्तान
 और बुध नामक हुए । भगवान् रुद्र ने दक्ष प्रजापति की निन्दा-रहित कन्या
 सती को अपनी पत्नी बनाया, जिसने दक्ष से रुद्र होकर सती के यज्ञ में अपने
 देह का त्याग कर दिया था । वही दक्ष-सुता सती मेना के उदर से उत्पन्न
 हिमाचल की कन्या पार्वती हुई । उन अनन्य-परायण पार्वतीजी का शिवजी ने
 पुनः पाणिग्रहण किया ॥११—१४॥

देवी घातृविघातारौ भृगोः ख्यातिरसूयत ।
 श्रिय च देवदेवस्य पत्नी नारायणस्य या ॥१५॥
 क्षीराब्धी श्रीः समुत्पन्ना ज्ञूयतेऽमृतमन्थने ।
 भृगोःस्यात्या समुत्पन्नेत्येतदाह कथं भवान् ॥१६॥
 नित्यैवैष जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी ।
 यथा सवगतो दिष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम ॥१७॥
 अर्थो विष्णुरिय वाणी नीतिरेषा नयो हरिः ।
 बोधो विष्णुरिय बुद्धिधर्मोऽसौ सत्क्रिया त्वियम् ॥१८॥

स्रष्टा विष्णुरियं सृष्टिः श्र भूर्भुवरो हरिः ।
 सन्तोषो भगवाँल्लक्ष्मीस्तुष्टिर्मेत्रेय शाश्वतो ॥१८॥
 इच्छा श्रीभगवान्कामो यज्ञेऽभौ दक्षिणा त्रियम् ।
 श्राव्याहुतिः सौ देवो पुण्डरीको जनार्दनः ॥२०॥
 पत्नीशाला मुने लक्ष्मीः प्राग्वशो मधुसूदनः ।
 चित्तिलंछ्योर्हंरियुं प इध्मा श्रीभगवान्कुजः ॥२१॥

लक्ष्मीजी स्वयं ही चिता धीर विधाना नामक दो देवताओं को उत्पन्न किया धीर लक्ष्मी नामक एक पुत्री को भी जन्म दिया । यही लक्ष्मीजी भगवान् विष्णु की भार्या हुई ॥१५॥ मंत्रेयजी ने कहा—प्रभो ! लक्ष्मीजी की उत्पत्ति तो भृगुन मन्यन के समय क्षीर सागर से हुई बताई जाती है, परन्तु माप उन्हें भृगु के द्वारा स्वयं ही के गर्भ से उत्पन्न हुई कैसे कहते हैं ? ॥१६॥ श्री रत्नाकरजी बोले—हे द्विजश्रेष्ठ ! जिन अगन्थात्मा लक्ष्मीजी का कभी तिरोभाव नहीं होता, वे तो नित्य ही हैं । भगवान् विष्णु के समान ही यह भी सर्व व्यापक हैं ॥१७॥ विष्णु धर्म हैं तो इन्हें बाणी समझो, विष्णु न्याय हैं तो इन्हें नीति मानो, विष्णु बोध हैं तो इन्हें बुद्धि जानों, इनो प्रकार यदि विष्णु बुद्धि हैं तो यह धर्म हैं । हे मंत्रेयजी ! विष्णु इस विश्व के मूल हैं, तो लक्ष्मीजी पृथो हैं, विष्णु मूल हैं तो यह भूमि हैं, यदि वह सन्तोष हैं तो यह नित्य-सुखि हैं ॥१८-१९॥ यदि विष्णु कामदेव हैं तो लक्ष्मी जी इच्छा हैं, विष्णु यज्ञ हैं तो वह दक्षिणा हैं, वह पुण्डरीक हैं तो वह पूजाहुति हैं ॥२०॥ हे मुने ! भगवान् मधुसूदन यदि यज्ञमानसात्ता हैं तो लक्ष्मीजी पत्नीशाला हैं, विष्णु यूप हैं, तो लक्ष्मी चित्ति हैं, यदि वह कुज हैं तो यह इध्मा हैं ॥२१॥

सामस्त्वह्णी भगवानुन्दोतिः कमलालया ।
 स्वाहा लक्ष्मीर्जगन्नाथो वासुदेवो हुताशनः ॥२२॥
 शङ्करो भगवान्छीरिणीरी लक्ष्मीर्द्विजोत्तम ।
 मंत्रेय केशवः सूर्यस्तप्रभा कमलालया ॥२३॥
 विष्णु मित्रगणः पद्मा स्वया शाश्वतपुष्टिदा ।
 श्री.श्रीः सर्वात्मको विष्णुस्वकाशोऽतिविस्तरः ॥२४॥

सशङ्ख श्रीधर वान्ति श्रीस्वयंवानपायिनो ।
 घृतिलक्ष्मोजगत्तेष्टा वायु शर्वत्रगो हरि ॥२१॥
 जलधिर्द्विज गोविन्दस्तद्वेला श्रीर्महामुने ।
 लक्ष्मीस्वरूपमिन्द्राणी देवेन्द्रो भधुमूदन ॥२६॥
 यमश्चक्रधर साक्षाद्भूर्मोर्णा कमनालया ।
 ऋद्धि श्री श्रीधरो देव स्वयमेव घनेश्वर ॥२७॥
 गौरो लक्ष्मीर्महाभागा केशवो वरुण स्वयम् ।
 श्रीदेवमेना विप्रेन्द्र देवसेनापतिर्हरि ॥२८॥

भगवान् विष्णु साम हैं तो लक्ष्मी उद्गीति हैं, यह हुताशन हैं तो लक्ष्मी स्वाहा हैं । हे द्विजवर ! यदि विष्णु शिव हैं तो लक्ष्मी पार्वती हैं, वरुण हैं तो यह उनकी प्रभा है ॥ २२—२३ ॥ यदि विष्णु पितरगण हैं तो लक्ष्मीजी नित्य पुष्टि प्रदान करने वाली स्वधा हैं यदि वह अत्यन्त विस्तृत सर्वात्मक भवकाश हैं तो यह स्वर्गलोक हैं ॥२४॥ यदि भगवान् चन्द्रमा हैं तो लक्ष्मीजी उनकी अक्षय क्रांति हैं यदि विष्णु सबत्र गमन में समर्थ वायु हैं तो लक्ष्मीजी समार की गति एवं उसकी आश्रय रूपा है ॥२५॥ हे महामुने ! यदि गोविन्द समुद्र हैं तो लक्ष्मी उनकी तरंग हैं यदि भगवान् इन्द्र हैं तो लक्ष्मी इन्द्राणी हैं । यदि विष्णु यम है तो लक्ष्मी यम-भार्या घूर्मोर्णा हैं, यदि वह कुबेर हैं तो लक्ष्मी साक्षात् ऋद्धि हैं ॥२७॥ भगवान् केशव वरुण हैं तो लक्ष्मी गौरी हैं । हे विप्रेन्द्र ! श्री विष्णु देव सना के अधिनायक स्वामी कांति केय हैं तो लक्ष्मीजी देवसेना हैं ॥२८॥

अवष्टम्भो गदापाणि शक्तिर्लक्ष्मोर्द्विजोत्तम ।
 बाष्ठा लक्ष्मीर्निमेषोऽसौ मुहूर्तोऽसौ कलात्विषम् ॥२९॥
 ज्योत्स्ना लक्ष्मी प्रदीपोऽसौ सर्व सर्वेश्वरो हरि ।
 लताभूना जगन्माता श्रीविष्णुर्द्रुमसन्निभ ॥३०॥
 विभावरो श्रीदिवसो देवश्चक्रगदाधर ।
 वरप्रदो वरो विष्णुर्वधू पद्मवनालया ॥३१॥
 नदस्वरूपो भगवान्छोनदीरूपसंस्थिता ।

ध्वजश्च पुण्डरीकाक्षः पताका कमलानया ॥३२॥
 तृपणा लक्ष्मोर्जगन्नाथो लोभो नारायणः परः ।
 रतो रागश्च मैत्रेय लक्ष्मीर्गोविन्द एव च ॥३३॥
 किं चातिबहुनोक्तेन सदृक्षेष्टेष्टमुच्यते ॥३४॥
 देवतिर्यटमनुष्यादौ पुद्गलमा भगवान्हरिः ।
 स्योनाम्नो श्रीश्च विज्ञेया नान्योर्विद्यते परम् ॥३५॥

हे द्विजर्षेष्ठ ! भगवान् यदापारी विष्णु धाम्ना हैं तो लक्ष्मीजी
 नाँक हैं, भगवान् निमेष हैं तो यह काटा हैं, वह भूत हैं तो यह बला हैं
 ॥३२॥ यदि सर्वेश्वर विष्णु दीपक हैं तो लक्ष्मी ज्योति हैं, विष्णु वृक्ष हैं तो
 लक्ष्मीजी उगकी लता है ॥३०॥ यदि ब्रह्मदायाने भगवान् त्रिदत्त हैं तो लक्ष्मीजी
 निगा हैं । यदि घर देने वाले भगवान् विष्णु घर हैं तो लक्ष्मीजी उगकी वधु
 हैं ॥३१॥ भगवान् विष्णु नद हैं तो लक्ष्मीजी नदी हैं, बदलनोचन विष्णु
 ध्वजा हैं तो कमला पताका हैं ॥३२॥ यदि जगत के स्वामी विष्णु सोम हैं
 तो लक्ष्मी तृपणा हैं और हे मैत्रेय ! रति लक्ष्मी हैं तो राग गोविन्द हैं ॥३३॥
 अधिक क्या कहूँ, इतना कहना ही ठीक है कि देवता, तिर्यक् योनि जीव तथा
 मनुष्यादि में जितने भी पुरुष यज्ञक प्राणी हैं, वह सभी भगवान् विष्णु के
 रूप हैं तथा सभी छो नहाने वाले जीव लक्ष्मीजी के स्वरूप हैं । इस प्रकार
 विष्णु और लक्ष्मी से परे कोई भी नहीं है ॥३४—३५॥

नवौ अध्याय

इदं च शृणु मैत्रेय यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।
 श्रीसम्बन्धं मयाप्येतच्छ्रुत्वासीन्मरीचिताः ॥१॥
 दुर्वासाः शङ्करस्याशश्चचार पृथिवीमिमांशु ।
 ॥२॥ ददन् स्रजं दिव्यामृषिर्विद्याधरोकरे ॥२॥
 सन्तानवानामखिल यस्या गन्वेन वासितम् ॥

अतिसेव्यमभून्नह्यन् तद्वन वनचारिणाम् ।३।
 उन्मत्तवत्तद्वृत्तिवप्रस्ता दृष्ट्वा शोभनां स्रजम् ।
 ता ययाचे वरारोहा विद्याधरवधू ततः ।४।
 याचिता तेन तन्वङ्गी माला विद्याधराङ्गना ।
 ददौ तस्मै विशालाक्षी सादर प्रणिपत्य तम् ।५।
 तामादायात्मनो भूध्नि स्रजमुन्मत्तरूपवृक् ।
 कृत्वा स विप्रो मैत्रेय परिवभ्राम मेदिनीम् ।६।
 स ददर्श तमायान्तमुन्मत्तरावते स्थितम् ।
 शैलोनयाधिपतिं देव सह दंनैः शचीपतिम् ।७।

श्री पराशरजी ने कहा—हे मैत्रेय ! तुमने जो प्रश्न मुझसे किया, उस लक्ष्मीजी विषयक इतिहास को मैंने महर्षि मरीचि से सुना था, वह मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ, तुम उसे श्रवण करो ॥१॥ एक समय की बात है कि भगवान् शिवजी के अज्ञावतार महर्षि दुर्वासाजी भूतल पर विचरण कर रहे थे तभी उाहे एक विद्याधरी के हाथ में सन्तानक पुष्पो की एक दिव्य माला दिखाई दी । उसकी श्रेष्ठ गन्ध से सुरभित हुआ वह वन वहाँ के रहने वालों के लिये अत्यन्त सेवनीय हो रहा था ॥२—३॥ उस समय उन उन्मत्त वृत्ति वाले ऋषि श्रेष्ठ ने उस सुन्दर माला को देखकर विद्याधारी से उसकी माचना की ॥४॥ उनकी माचना स्वीकार करके उस विशालाक्षी विद्याधरी ने उन ऋषि को सादर प्रणाम किया और वह माला उन्हे दे दी ॥५॥ हे मैत्रेय ! उन्मत्त वेश वाले उन ब्राह्मण श्रेष्ठ ने उस माला को लेकर अपने मस्तक पर धारण किया और पृथिवी पर विचरण करने लगे ॥६॥ इसी बीच उन्होंने भक्त ऐरावत पर आरुढ़ हुए तीनों लोकों के स्वामी शचीपति इन्द्र को देवताओं के सहित उपर आते हुए देखा ॥७॥

तामात्मनः स शिरसः स्रजमुन्मत्तापट,पदाम् ।

आदायामरराजाय चिक्षेपोन्मत्तवन्मुनिः ।८।

गृहीत्वामरराजेन सगैरावतमूर्द्धनि ।

न्यस्ता रराज कैलासशिखरे जाह्नवी यया ।९।

मदान्यकारितालोऽसौ गन्धाकृष्टेन वारण ।

करेणाधाय चिक्षेप ता स्रज धरणीतले । १०।

ततश्चुकोष भगवान्दुर्वासा मुनिसत्तम ।

मेनेय देवराज त क्लृप्त्वा चैतदुवाच ह । ११।

ऐश्वर्यमददुष्टात्मन्ततिस्तव गोऽसि वामव ।

श्रियो घाम स्रज यस्त्वं मद्भक्त नाग्निन्दसि । १२।

प्रसाद इति नोक्त ते प्रणिपानपूर सरम् ।

हर्षोत्फुल्लकपोलेन न चापि खिरसा घृता । १३।

मया दत्तामिमा माला यस्मान्न बहु मन्यसे ।

श्रैलोक्यधीरसो मूढ विनाशमुपयास्यति । १४।

मुनि श्रेष्ठ दुर्वासा ने जब इन्हें देखा तो मदमत्त भौरो की गुजार से

पुस्त उस माला को अपने मस्तक से उतार कर उ होने देवाधिपति इन्द्र के कपड़ फेंकी ॥८॥ इन्द्र ने उस माला को अपने हाथी ऐरावत के मस्तक पर धारण करा दी, उस समय ऐसी शोभा हुई जैसे कैलाश निखर पर पतित-पावनी गंगाजी विराजमान हो ॥९॥ परन्तु वह मदी-मत्त हाथी उसकी सुगंध से और भी उन्मत्त हो गया और उसने उसे अपने मस्तक से उतार कर सू घा तथा पृथिवी पर फेंक दिया ॥१०॥ हे मनीषी ! जब मुनिवर दुर्वासाजी ने उस माला की ऐसी कुर्वसा देखी तो वह अत्यन्त क्रोध में भर कर इन्द्र से कहने लगे ॥११॥ दुर्वासा बोले—घरे, ऐश्वर्यमद से दूषित हृदय वाले इन्द्र ! तू अत्यन्त ढीठ है, तूने मेरे द्वारा प्रदत्त इस अत्यन्त शोभाधाम माला का किंचित् भी आदर नहीं किया ॥१२॥ तूने न तो प्रणाम ही किया और न यही महा कि बड़ी कृपा की और न तूने हर्षित मुख से उस माला को ही अपने मस्तक पर धारण किया । तूने मेरे द्वारा दी गई माला का कुछ भी मूल्य नहीं समझा, इस कारण तेरा तीनो लोको का ऐश्वर्य नष्ट हो जायगा ॥१३—१४॥

मा मन्यसे त्व सदृश नून शक्तेतरद्विजै ।

अतोऽवमानमस्मासु मानिना भवता कृतम् । १५।

मद्भक्ता भवता यस्मात्पिता माला महीतले ।

तस्मात्प्रणष्टलक्ष्मीक त्रैलोक्यं ते भविष्यति ॥१६॥

यस्य सञ्ज्ञातकोपस्य भयमेति चराचरम् ।

त त्वं मामतिगर्वेण देवराजावमन्यसे ॥१७॥

महेन्द्रो वारणस्कन्वादवतीर्य त्वरान्वितः ।

प्रसादयामास मुनिं दुर्वाससमकल्मषम् ॥१८॥

प्रसाद्यमानः स तदा प्रणिपातपुरःसरम् ।

इत्युवाच सहस्राक्ष दुर्वासा मुनिमत्तमः ॥१९॥

नाहं कृपलुद्दयो न च मां भजते क्षमा ।

अन्ये ते मुनयः शक्यं दुर्वाससमवेहि माम् ॥२०॥

गीतमादिभिरन्यैस्त्व गवमारोपितो मुधा ।

अशान्तिसारसर्वस्वं दुर्वाससमवेहि माम् ॥२१॥

भरे इन्द्र ! तू अवश्य ही मुझे अन्ध विप्रों जैसा ही समझता है, तभी तो तूने हमारा इस प्रकार निरादर किया है ॥१५॥ तूने मेरे द्वारा दी हुई माता को भूमि पर फेंक दिया, इसलिए तेरा यह त्रिभुवन भी अब शीघ्र ही श्री-हीनता को प्राप्त होगा ॥१६॥ भरे देवराज ! जिसके स्तोक से भयभीत हुआ यह सम्पूर्ण चराचरात्मक विश्व कम्पायमान होने लगता है, उन्हीं का तूने अत्यन्त अहंकार पूर्वक इस प्रकार तिरस्कार किया है ॥१७॥ श्री पराशर जी बोले—यह पुनः इन्द्र तुरन्त ही ऐरावत से उतर पड़े और अनुनय विनय पूर्वक उन पाप-श्रित मुनि की प्रसन्न करने लगे ॥१८॥ इन्द्र द्वारा इस प्रकार प्रणामादि किये जाने पर महर्षि दुर्वासा ने उनसे इस प्रकार कहा ॥१९॥ दुर्वासाजी बोले—हे इन्द्र ! मैं कृपालु चित्त वाला नहीं हूँ, मेरे अन्तःकरण में क्षमा विचित्र भी नहीं ठहर सकती । वह मुनि तो दूसरे ही हैं, मेरा नाम तो दुर्वासा है ॥२०॥ भरे, गीतम आदि ऋषियों ने तुझे अपराध ही इतना मुझ लगा लिया है, परन्तु याद रखना कि मैं तो सदा ही अशान्तिसार दुर्वासा हूँ ॥२१॥

वसिष्ठाद्यैर्दयासारंस्तोत्रं कुर्वद्भिरुच्यते ।

गर्वं गतोऽसि येनैव मामप्यचावमन्यसे ॥२२॥

ज्वलज्जटाकलापस्य भृकुटीकुटिल मुखम् ।
 निरीक्ष्य कस्मिंश्चने मन यो न गता भयम् ॥२३॥
 नाह क्षमिष्ये बहुना किमुक्तेन शतकनो ।
 दिट्म्वनामिमा भूयः करोष्यनुनयात्मिकाम् ॥२४॥
 इत्युक्त्वा प्रययौ विप्रो देवराजाऽपि त पुनः ।
 आरुह्यैरायन ग्रहान् प्रपयाधमरावताम् ॥२५॥
 ततः प्रभृति निःशोक सशक्र भुवनत्रयम् ।
 मैत्रेयासीदनध्वस्त सदङ्गीर्णीपधिवीर्यम् ॥२६॥
 न यज्ञाः समवर्तन्ति न तस्यस्यन्ति तापसाः ।
 न च क्षान्तादिधर्मेषु मनश्चक्रे तदा जनः ॥ ७॥
 निःसत्त्वाः सकला लोका लोभाच्च, पृहतेन्द्रियाः ।
 स्वल्पेऽपि हि बभूवुस्ते माभिलाषा द्विजात्मा ॥२८॥

दयावतार बलिष्ठजो आदि ने तेरी बहुत-बहुत प्रशंसा की है, इसलिए
 तू घोर अहंकारो हो गया है, इसी कारण तूने मेरा इस प्रकार से अपमान
 किया है ॥२२॥ इस उत्तर ने ऐसा क्रोध है जो मेरी टेढ़ी भृकुटी और
 प्रज्वलित जटा कलाप की देख कर मुझमें न डरना हो ॥२३॥ हे शनकनो ।
 अब तू बारम्बार अनुनय विनय करने का टोका करने चला है, परन्तु मुझ पर
 उसका कोई प्रभाव नहीं है, मैं तुम्हें कदापि क्षमा नहीं करूँगा ॥२४॥ ओ
 पराशर जी ने कहा—हे विप्र ! वह इहापि ऐसा कहकर चले गये और इन्द्र
 भी अपने ऐरावत पर बैठकर अमरावती को गये ॥२५॥ हे मैत्रेयजी ! उसी
 समय से इन्द्र सहित तीनों लोक गृह-वनादि व क्षिण हो जाने के कारण ग्रीहीन
 तथा ध्वस्त होने लगे ॥२६॥ तभी य यज्ञों के अनुष्ठान रुक गया, तपस्वियों
 ने तप और दासियों ने दान करना छोड़ दिया ॥२७॥ हे विप्रवर ! सभी
 लोक लोभादि के वश प पट कर सत्त्वहीन हो गए तथा बुद्ध पदार्थों की भी
 वासना करने लगे ॥२८॥

यतः सत्त्व ततो लक्ष्मीः सत्त्व भूत्यनुनारि च ।
 निःश्रीकाणाकुतः सत्त्वं विना तेन गुणा कुतः ॥२९॥

बलशौर्याद्यभावश्च पुरुषाणां गुणैर्विना ।
 लङ्घनीयः समस्तस्य बलशौर्यविवर्जितः ॥३०॥
 भवत्यपध्वस्तमतिलङ्घित प्रथितं पुमान् ॥३१॥
 एवमत्यन्तानि श्रीके नैलावये सत्त्ववर्जिते ।
 देवान् प्रति बलोद्योगं चकूर्देतेयदानवाः ॥३२॥
 लोभाभिभूता नि श्रीरादैत्या सत्त्वविवर्जिताः ।
 श्रिया विहीनैर्नि सत्त्वंदेवैश्चकुरस्ततो रणम् ॥३३॥
 विजितान्निदशा दैत्यैरिन्द्राद्या शरणं ययुः ।
 पितामहं महाभागं हुनाशनपुरोगमाः ॥३४॥
 यथावत्क्रयितो देवैर्ब्रह्मा प्राह ततः सुरान् ।
 परानरेक्ष शरणं ब्रजध्वपसुरार्दनम् ॥३५॥
 उत्पत्तिस्थितिनाशानामहेतुं हेतुमीश्वरम् ।
 प्रजापतिपतिं विष्णुमनन्तमपराजितम् ॥३६॥
 प्रधानपुंसोरजयो कारणं कार्यमतयो ।
 प्रणतातिहरं विष्णुं स व श्रेयो विधास्यति ॥३७॥

सत्त्व लक्ष्मीजी का ही साथी है, इसलिये जहाँ वह होता है, वहाँ लक्ष्मीजी का भी निवास रहता है। श्रीहीनो ने सत्त्व नहीं होता इसलिए गुणों की स्थिति ही कैसे होगी? जब गुण नहीं तो पुरुष में बल शौर्यादि भी नहीं रहता और जिसमें बल शौर्यादि नहीं, उसे वही भी आदर प्राप्त नहीं होता ॥३१॥ इस प्रकार जब तीनों लोक श्री हीन हो गये तब उन श्रीहीन देवताओं पर दैत्यों और दानवों ने आक्रमण कर दिया ॥३२॥ सत्त्व और र्बभ्रव में रहित होने पर भी दैत्यों ने लोभ के यत्नीभूत होकर सत्त्वहीन और श्रीहीन देवताओं से मग्राप छेड़ दिया ॥३३॥ अन्त में देवताओं की पराजय हुई, तब इन्द्रादि सब देवताओं ने अग्नि के नेत्रत्व में पितामह ब्रह्माजी की शरण ली ॥३४॥ तब देवताओं की बात सुनकर पितामह ने उनसे कहा—हे देवताओं! गुप्त दैत्यों का सहार करने वाले भगवान् विष्णु की शरण में जाओ, जो विश्व की गृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारण हैं,

किन्तु कारण ही नहीं चराचर के स्वामी, प्रजापतियों के अधिपति, सभी प्राणियों में व्याप्त, अन्त-रहित और कभी भी पराजित न होने वाले हैं एवं अजन्मा होकर कार्य-रूप में परिवर्तित प्रकृति और पुरुष के भी कारण हैं । इसलिए वही शरणागत ब्रह्मसत्तुम्हारा अवश्य ही कल्याण करेंगे ॥३७ ३०॥

एवमुक्त्वा मुरान्सर्वान् ब्रह्मा लोकपितामहः ।
 क्षीरोदस्योत्तरं तोरं तरेव सहितो ययौ ॥३८॥
 स गत्या त्रिदशं सर्वैः समवेतः पितामहः ।
 तुष्टाव वाग्भिरिष्टाभि परावरपतिं हरिम् ॥३९॥
 नमामि सर्वं सर्वेशमनन्तमजमव्ययम् ।
 लोकधाम धराधारमप्रकाशमभेदिनम् ॥४०॥
 नारायणमणीयासमशेषाणामणीयसाम् ।
 समस्तानां गरिष्ठं च भूरादीनां गरीयसाम् ॥४१॥
 यत्र सर्वं यतः सर्वमुत्तान्नं मत्पुनःसरम् ।
 सर्वभूतश्च यो देवः पराणामपि यः परः ॥४२॥
 परं परस्मात्पहपात्परमात्मस्वत्पवुकं ।
 योगिभिश्चिन्त्यते योऽमीमुक्तिहेतोर्मुमक्षुभिः ॥४३॥
 सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ।
 स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु ॥४४॥

श्री पराशरजी ने कहा—हे भगवन् जी ! सब देवताओं से ऐसा कहते हुए ब्रह्माजी भी उनके साथ उस क्षीर सागर के उत्तरीय किनारे पर पहुँचे, जहाँ भगवान् विष्णु का धाम है । वहाँ जाकर सभी देवताओं के साथ उन्होंने उन भगवान् की अत्यन्त मंगलमय वाणी में स्तुति की ॥३८-३९॥ ब्रह्माजी ने कहा—जो समस्त प्राणियों से सूक्ष्म तथा पृथिवी आदि समस्त पदार्थों से भी भारी है, उन अविनाशिक लोक के आश्रय, पृथिवी के आधार, अमर-अभेद्य, सर्वरूप, सर्वेश्वर, अन्त-रहित, अजन्मा तथा अव्यय भगवान् नारायण को मैं नमस्कार करता हूँ ॥४०॥ जिस परब्रह्म में मेरे सहित यह सम्पूर्ण विश्व स्थित है तथा जिससे उत्पन्न हुआ है, वो सर्व भूतमय और परे से ॥

परे है, जो पुरुष से परे होने के कारण मुमुक्षुओं के द्वारा ध्यान में ही दृष्टि-
गोचर होते हैं, जिसमें सत्त्वादि गुणों का अभाव है, वह शुद्ध से भी शुद्ध
परमात्म रूप आदि पुरुष भगवान् श्री हरि हमारे ऊपर प्रमत्त हो ॥४२-४४॥

कलाकाशमुहूर्तादिकालसूत्रस्य गोचरे ।
यस्य सत्तिर्न शुद्धस्य स नो विष्णुः प्रसीदतु ॥४५॥
प्रोच्यते परमेशो हि यः शुद्धोऽप्युपचारतः ।
प्रसीदतु स नो विष्णुरात्मा यः सर्वदेनाम् ॥४६॥
यः कारणं च कार्यं च कारणस्यापि कारणम् ।
कार्यस्यापि च यः कार्यं प्रसीदतु स नो हरिः ॥४७॥
कार्यं कार्यस्य यत्कार्यं तत्कार्यस्यापि यः स्वपम् ।
तत्कार्यकार्यभूतो यस्ततश्च प्रणताः स्म तम् ॥४८॥
कारणं कारणस्यापि तस्य कारणकारणम् ।
तत्कारणानां हेतुं, तं प्रणताः स्म परेश्वरम् ॥४९॥
भोक्तार भोगभूत च सृष्टार सृज्यमेव च ।
कार्यकर्तृस्वरूपं तं प्रणताः स्म परं पदम् ॥५०॥

विशुद्धबोधवन्निर्णयमजमदायमव्ययम् ।
 अव्यक्तमविकारं यत्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥११॥
 न स्थू न च सूक्ष्म यन्न विशेषणोचरम् ।
 तत्पदं परम विष्णोः प्रणामाः सदा मलम् ॥१२॥
 यस्यायुतायुताश्चाथे विश्वसक्तिरिय स्थिता ।
 परब्रह्मस्वरूप यत्प्रणामास्तमव्ययम् ॥१३॥
 यद्योगिनः सदोद्युक्ता पुण्यपापक्षयेऽक्षयम् ।
 पश्यन्ति प्रणवे चिन्त्य तद्विष्णोः परम पदम् ॥१४॥
 यन्न देवा न मुनयो न चाह न च क्षत्रजः ।
 जानन्ति परमेशस्य तद्विष्णोः परम पदम् ॥१५॥
 शक्तयो यस्य देवस्य ब्रह्मविष्णुशिवार्त्मिका ।
 भवन्त्यभूतपूर्वस्य तद्विष्णोः परम पदम् ॥१६॥
 सर्वदा सर्वभूतात्मसर्वं सर्वार्थयाच्युत ।
 प्रसीद विष्णो भक्तानां प्रज नो दृष्टिगोचरम् ॥१७॥

जो विष्णु, बोध रूप, नित्य, जन्म-रहित, मृत्यु-रहित, अव्यय, अव्ययन
 एवं विचार रहित है, वही भगवान् विष्णु का परम पद है ॥११॥ जो न
 स्थूल है, न सूक्ष्म हो है, न किसी विशेषण का विषय है, विष्णु भगवान्
 के सभी परम पद को हम प्रणाम करते हैं ॥१२॥ जिससे अमुतास के भी
 अमुतास के जगत् की सृष्टि करने की सामर्थ्य है तथा जो परब्रह्म स्वरूप है,
 हम सभी ब्रह्म परमेश्वर को प्रणाम करते हैं ॥१३॥ नित्य एक योगीजन
 अपने पुण्य-पापादि के क्षीण होने पर प्रणव के द्वारा चिन्तन योग्य, जिस
 अविनाशी पद का दर्शन करते हैं, भगवान् श्रीहरि का परमपद वही है ॥१४॥
 जिसे देवता, ऋषि, शिवजी और मैं सभी जानने में असमर्थ है, वही भगवान्
 श्री हरि का परमपद है ॥१५॥ ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप में जिन अनूतपूर्व
 देव की शक्ति हैं, वही भगवान् श्री हरि का परमपद है ॥१६॥ हे सर्वेश्वर ।
 हे सर्व भूतात्मन् । हे सर्वस्वरूप । हे सर्वार्थय । हे अच्युत । हे भगवान्
 विष्णो । आप हम भक्तों पर प्रसन्न होकर हम अपना दशन देन की
 कृपा करिये ॥१७॥

इत्युदोरितमाकर्ण्य ब्रह्मभुस्त्रिदशास्ततः ।
 प्रणम्योनु प्रसीदेति व्रज नो दृष्टिगोचरम् ॥१८॥
 यन्तय भगवान् ब्रह्मा जानाति परम पदम् ।
 तन्मता स्म जगद्धाम त्व सर्वगताच्युत ॥१९॥
 इत्यन्ते षचनरैरा देवाना ब्रह्मणस्तथा ।
 ऊबुद्धंपयस्सर्वे बृहस्पतिपुरोगमाः ।
 आद्या यज्ञपुमानीड्य पूर्वगा यश्च पूर्वजः ।
 तन्मता स्म जगत्स्रष्टु स्रष्टारमविशेषणम् ॥२०॥
 भगवन्भूतव्येष यज्ञमूर्तिधराव्यय ।
 प्रसीद प्रणनाना त्व सर्वेषा देहि वक्षनम् ॥२१॥
 एष ब्रह्मा सहास्माभिः सहस्रैः सिलोचनः ।
 सर्वादिस्यै सम पूषा पावकोऽय सहस्रिभिः ॥२२॥
 अश्विनौ वनवश्येने सर्वे चैते मरुद्गणा ।
 साध्या विश्वे तथा देवा देवेन्द्राः यमोऽश्वरः ॥२३॥
 प्रणामप्रवणा नाथ दैत्यसैन्यैः पराजिताः ।
 शरणा त्पामनुप्राप्ताः समस्ता देवतागणाः ॥२४॥

श्री पराशरजी ने कहा — ब्रह्माजी द्वारा की गई स्तुति को सुनकर देवताओं ने भी भगवान् को प्रणाम किया और इस प्रकार कहने लगे—हे प्रभो! आप हम पर प्रसन्न होकर हमें दर्शन दें। हे विश्व के आश्रय स्वरूप! हे अच्युत! आपके जिस परमपद को यह पितामह ब्रह्माजी भी नहीं जानते, उसे हम नमस्कार करते हैं ॥१८॥ जब ब्रह्माजी और देवगण स्तुति कर चुके तब बृहस्पति आदि देवपियो ने इस प्रकार स्तवन किया — जो परम स्तुतिपियों के योग्य आप यज्ञ पुरुष तथा पूर्वजों के भी पूर्व पुरुष हैं, उन विश्व के रचने वाले परम पिता परमात्मा को हम नमस्कार करते हैं ॥१९-२०॥ हे भूत भव्येश यज्ञ स्वरूप प्रभो! हे अव्यय! हम शरणागतों पर प्रसन्न होकर हमें दर्शन दीजिये ॥२१॥ हे स्वामिन्! हम सबके सहित यह ब्रह्माजी सब रदों के सहित शिवजी, द्वादश आदित्यों के सहित पूषा, अग्निपियों के सहित

पावक, दोनो अश्विनीकुमार, अष्टावसु, मरुद्गण, साध्यगण, विश्वेदेवता और देवराज इन्द्र यह समस्त देवगण दैत्य सेना से हारकर अत्यन्त प्रणत होते हुए भावकी शरण को प्राप्त हुए हैं ॥६३-६५॥

एव सस्तूयमानस्तु भगवान्छङ्खचक्रवृक ।
जगाम दशन तेषां भजेय परमेश्वर । ६६।
त हृष्टा ते तदा देवाः शङ्खचक्रबदाधरम् ।
अपूर्वरूपसस्यान तेजसा राक्षिमूर्जितम् । ६७।
प्रणभ्य प्रणता सर्वे सखीभस्तिमितेक्षणाः ।
तुष्टुवु पुण्डरीनाक्ष पितामहपुरोगमा । ६८।
नमो नमोऽविरोपस्त्व त्व ग्रह्या त्व पिताकष्टुक, ।
इन्द्रस्त्वमग्निः पवनो वरुणः सविता यमः । ६९।
वसवो मरुत साध्या विश्वेदेवगणाः भवान् ।
योऽयं तवाग्रता देव समीप देवतागणः ।
स त्वमेव जगत्प्रश्ना यतः सर्वंगतो भवान् । ७०।
एव यज्ञस्त्व वषट्कारस्त्वमोज्झारः प्रजापतिः ।
विधा वेद्य च सर्वात्मस्त्वन्मय चाखिल जगत् । ७१।
त्वामात्तिः शरण विष्णो प्रयाता दैत्यनिर्जिताः ।
वयं प्रतीद सर्वात्मस्तेजसाप्याययस्व नः । ७२।

श्री पराशरजी ने कहा—हे भगवन् ! इस प्रकार की स्तुतियों से प्रमग्न होकर शङ्ख चक्र धारण करने वाले भगवान् विष्णु उन्नी समय उनके सामने प्रकट हो गये ॥६६॥ उस शङ्ख, चक्र और गदाधारी उत्कृष्ट तेजपुंज युक्त अपूर्व एव दिव्य स्वरूप के दर्शन कर ग्रहाजो भादि सब देवता अत्यन्त विनय पूर्वक प्रणाम कर निस्फारित नेत्रों से देखते हुए, उन पञ्चतोषन भगवान् श्री हरि की स्तुति करने लगे ॥६६-७०॥ देवताओं ने कहा—हे नाथ ! आपको नमस्कार है, नमस्कार है । आप ब्रह्मा, शिव, इन्द्र अग्नि, पवन, वरुण, सूर्य, यमराज होते हुए भी निर्विरोध हैं ॥६९॥ हे प्रभो ! वसुगण, मरुद्गण, साध्यगण, और विश्वेदेवता भी आप ही हैं और यह सम्पूर्ण देव

समाज आप ही जगत् के रक्षयिता की मूर्ति हैं, क्योंकि आप सवगत एवं परिपूर्ण हैं ॥७०॥ आप ही यज्ञ, वषट्कार, ओंकार एवं प्रजापति हैं । हे सर्वात्मन् ! विद्या, वेद और सम्पूर्ण विश्व भी आपका ही स्वरूप है ॥७१॥ हे विष्णो ! हे प्रभो ! हम दैत्यों से हारकर आसुरता पूर्वक आपकी दारण में आये हैं, आप हम पर प्रसन्न होकर अपने तेज से हमें शक्ति सम्पन्न कर दीजिये ॥७२॥

तावदातिस्तथा वाञ्छा तावन्मोहस्तयासुखम् ।
 यावन्न याति शरणं स्वाम्शेषाघनाशनम् ॥७३॥
 एव प्रसाद प्रसनात्मन् प्रपन्नामा कुरुष्व न ।
 तेजसा नाथ सर्वेषां स्वशक्त्याप्यायन कुरु ॥७४॥
 एव सस्तूयमानस्तु प्रणतैरमरैर्हरि ।
 प्रसन्नदृष्टिर्मगवानिदमाह स विश्वकृत् ॥७५॥
 तेजसो भवता देवा करिष्याम्युपवृत्तस्य ।
 वदाम्यह यन्क्रियता भवद्भिस्तदिदं सुरा ॥७६॥
 आनीय सहिता दैत्यैः क्षोराब्धौ सकलीषधीः ।
 प्रक्षिप्यामामृतार्थं ता सकला दैत्यदानवैः ॥७७॥
 मन्थान् मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा च वासुकिम् ।
 मथ्यताममृतं देवा सहाये मम्यवस्थिते ॥७८॥
 सामपूर्वं च दंतेयास्तत्र साहाय्यकर्मणि ।
 सामान्यफलभोक्तारो यूयं वाच्या भविष्यथ ॥७९॥
 मद्यमाने च तत्राब्धौ यत्समुत्पत्स्यतेऽमृतम् ।
 तत्पानाद्वलिनी यूयममराश्च भविष्यथ ॥८०॥
 तथा चाहं करिष्यामि ते यथा त्रिदशद्विप ।
 न प्राप्स्यन्त्यमृतं देवा केवलं क्लेशभागिनः ॥८१॥

हे नाथ ! आपका जो आग्रह सभी प्राणियों के पार्षों को नष्ट कर देने में समर्थ है, उसको यह प्राणी जब तक प्राप्त नहीं करता, तब तक वह पीनता, इच्छा, मोह और दुःखादि से मुक्त नहीं होता ॥७३॥ हे प्रस-नात्मन् !

हम शरणागतो पर प्रमन्न होकर हमारे नष्ट हुए तेज की अपनी शक्ति से पुनः प्रबद्ध कीजिए ॥७४॥

श्री पराशरजी ने कहा—विनम्र हुए देवगण द्वारा इस प्रकार स्तुत होकर जगत्स्रष्टा भगवान् विष्णु ने प्रमन्न होकर कहा ॥७५॥ हे देवतागण ! मैं तुम्हारे तेज की पुनः नृद्धि करूँगा, अब मैं जो कुछ कहूँ वही तुम करो ॥७६॥ तुम दैत्यों से मिलकर सभी औषधियाँ लाकर अमृत प्राप्ति के निमित्त उन्हें क्षीर सागर में डाल दो, मन्दराचल की रई और वासुकि नाम की नेत्री बनाओ फिर दैत्यों और दानवों के सहयोग से समुद्र मयन करो और उससे अमृत निकालो ॥७७-७८॥ इस समय तुम साम नीति के अवलम्बन पूर्वक दैत्यों के पास जाकर उनसे कहो कि इस कार्य में हमारी सहायता करने के कारण इसने समानाश पर आप लोगों का भी अधिकार होगा ॥७९॥ हे देवगण ! समुद्र मयन से जिस अमृत की प्राप्ति होगी, उसे पीकर तुम बलवान् एवं अमर हो जाओगे ॥८०॥ हे देवतागण ! उस समय मैं ऐसी युक्ति निकालूँगा, जिससे तुम्हारे वैरी दैत्यगण अमृत प्राप्त न कर सकेंगे और उनके भाग में समुद्र मयन के परिश्रम से प्राप्त स्तेश हो रहेगा ॥८१॥

इत्युक्ता देवदेवेन सर्व एव तदा सुराः ।
सम्धानमसुरैः कृत्वा यत्नवन्तोऽमृतेऽभवन् ॥८२॥
नानौषधो. समानाय देवदैतेयदानवाः ।
क्षिप्त्वा क्षीराब्जिनायसि शरदभ्रामलत्विपि ॥८३॥
मन्यान मन्दरं कृत्वा नेत्र कृत्वा च वासुकिम् ।
ततो मथितमारपञ्चा मैत्रेय तरसामृतम् ॥८४॥
विनुषाः सहिताः सर्वे यतः पुच्छततः कृताः ।
कृष्णेन वासुकेर्दैत्याः पूर्वकाये निवेशिताः ॥८५॥
ते तस्य मुखनिःश्वासवह्नितापहतत्विपः ।
निस्तेजसोऽसुराः सव बभूवुरमितीजसः ॥८६॥
तेनैव मुखनिःश्वासवायुनास्तबलाहकः ।
पुच्छप्रदेशे वर्षाब्दिस्तदा चाप्यायिताः सुराः ॥८७॥

श्री पराशरजी ने कहा—देव देव भगवान् के ऐसे वचन सुनकर सभी देवताओं ने दंत्यों के पास जाकर सधि कर ली और अमृत-प्राप्ति में प्रयत्नवान हुए ॥८२॥ हे मंत्रेय जी ! देवताओं दानवी और दंत्यों ने नाना प्रकार की औपधियाँ ला-ला कर एकत्र की और उन्हें शरदाकाश जैसी स्वच्छ कान्ति वाले क्षीर सागर के जल में डाल दिया । फिर मंदराचल की रई और वासुकि नाग की नेती बनाने पर अत्यन्त वेग पूर्वक रागद्व में अमृत का मन्थन करने लगे ॥८३-८४॥ जिस ओर वासुकि की पूँछ थी, उध ओर भगवान् ने देवताओं को तथा मल की ओर दंत्यों को खड़ा किया ॥८५॥ अत्यन्त तेजस्वी वासुकि नाग के मूँस से निपलती हुई श्वास प्याला में जलते हुए दंष्ट्रगण तेजहीन हो गये तथा उसी श्वासोच्छ्वास से क्षत-विक्षत हुए मेघों के पूँछ की ओर बरसते रहने से देवताओं की शक्ति में वृद्धि होती गई ॥८७॥

क्षीरदमध्ये भगवान्कूमरूपी स्वयं हरि ।

मन्यन्तद्ररधिष्ठानं भ्रमन्तोऽभ्रून्महागुणे ॥८८॥

रूपेणान्येन देवानां मध्ये चक्रगदाधरः ।

चक्रं नागगजानं दैत्यमध्येऽपरेण च ॥८९॥

उपर्यक्रान्तवान्छूलं बृहद्रूपेण केशवः ।

तथापरेण मैत्रेययज्ञं दृष्टं सुरासुरैः ॥९०॥

तेजसा नागराजानं तथाप्यामितवान्हरिः ।

अन्येन तेजसा देवानुपवृत्तित्वान्प्रभुः ॥९१॥

मध्यमाने तनस्तस्मिन्क्षारारब्धो देवदानवैः ।

हविर्धामाभवत्पूर्वं सुरभिः सुरपूजिता ॥९२॥

जग्मुर्मुदं ततो देवा दानवाश्च महामुने ।

व्याक्षिप्तचेतसश्चैव बभूवुः स्तिनितेक्षणाः ॥९३॥

किमेतदिति सिद्धना दिवि चिन्तयता ततः ।

बभूव वारुणी देवी मदाघूर्णितलोचना ॥९४॥

हे महामुने ! भगवान् ने घूर्ण रूप धारण कर क्षीर सागर में घूमते हुए मंदराचल की आश्रय रूप हो अपने ऊपर धारण किया ॥८८॥ वही चक्र और

गदा के धारण करने वाले भगवान एक अन्य रूप से देवताओं में तबजो ने
 और रूप से दैत्यो में मिलकर वासुकि रूप नेती को खींचने लगे और एक अर्जों
 अत्यन्त विशाल रूप से जो देवता या दैत्य किसी को दिखाई नहीं दे रहा था,
 उस रई रूगी मदराचल को ऊपर से दाब लिया था ॥८६-८७॥ अपने ही तेज
 से उन्होंने वासुकि में बल का संचार किया और अपने ही तेज से देवताओं में
 बल की वृद्धि की ॥८९॥ इस प्रकार देवताओं और दैत्यो के द्वारा क्षीर सागर
 का मथन किया जाने पर सर्व प्रथम हवि की आश्रय रूपा कामधेनु निकली
 ॥९२॥ उस समय देवता और दैत्य सभी अत्यन्त आनन्दित हुए और उसकी
 और वित्त के आकर्षित होने के कारण वे उसे एकटक देखने लगे ॥९३॥ फिर
 यह क्या है ? इसे जानने के इच्छुक सिद्धों के सामने मद से फिरते हुए नेत्रों
 वाली वारणी देवी उत्पन्न हुई ॥९४॥

कुनावर्त्तितस्तस्मात्क्षीरोदाद्रासयज्जगत् ।
 गन्धेन पारिजातोऽभूद्देवस्त्रीनन्दनस्ततः ॥९५॥
 रूपोदायंगुणोपेतस्तथा चाप्सरसा गणः ।
 क्षीरोदधेः समुत्पन्नो मैत्रेय परमाद्भुतः ॥९६॥
 ततः शीतानुरभवज्जगृहे त महेश्वरः ।
 जगृह्ण विष नागा क्षीरोदाब्धिसमुत्थितम् ॥९७॥
 ततो घन्वन्तरिर्देवः श्वेताम्बरधरास्वयम् ।
 विभ्रतक्रमण्डलुं पूरणंममृतस्य समुत्थितः ॥९८॥
 ततः स्वस्यमनस्कास्ते सवतेयदानवाः ।
 वभूवुर्मुदिता सर्वे मैत्रेय मुनिभि सह ॥९९॥
 ततः स्फुरत्कान्ति विककसिमले स्थिता ।
 श्रीदेवी पयसस्तस्मादुद्भूता घृतपद्मजा ॥१००॥
 ता तुष्टुमुं वा युक्ताः श्रोसूक्तेन महर्षयः
 विश्वावसुमुखास्तस्या गन्धर्वा पुरतो जगुः ॥१०१॥
 भृताचीप्रमुखास्तन ननृतुश्चाप्यरोपणः ।
 गङ्गाशाः सरितस्तोयैः स्नानार्थमुपतस्थिरे ॥१०२॥

इसके पश्चात् पुनः गन्धन प्रारम्भ हुआ और अपनी गंध से नैलोक्य । सुगन्धित करने वाला और देवतारियो के आनन्द को बढ़ाने वाला बल्यवृक्ष उससे प्रकट हुआ ॥६५॥ फिर रूप एव उदारता आदि गुणों से परिपूर्ण अत्यन्त अद्भुत अप्सरायें उस क्षीर सागर से निकली ॥६६॥ तत्पश्चात् चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, जिसे शिवजी ने ले लिया और फिर जो विष निकले उन्हें नागों ने ग्रहण किया ॥६७॥ इसके बाद द्येत दस्यु धारण किये हुए भगवान् धन्वन्तरिजी प्रकट हुए, उनके हाथ में अमृत से परिपूर्ण कमण्डलु था ॥६८॥ हे मैत्रेय जी ! उस समय मुनियों के सहित सभी दैत्य-क्षान् अत्यन्त स्वस्थ चित्त और हर्षित हो उठे ॥६९॥ फिर खिले हुए कमल पवैठी हुई अत्यन्त नान्तिमयी लक्ष्मी जी हाथों में वमल का पुष्प लिए हुए क्षीर सागर में निकली ॥१००॥ (उसके समय महर्षिगणों ने श्री सूक्त से उनकी स्तुति प्रारम्भ की और विश्वावसु आदि गन्धर्व उनके सामने गाने लगे ॥१०१॥ क्षीर घृताची आदि अप्सरायें नाचने लगी तथा लक्ष्मी जी का अपने जल से अभिषेक कराने के लिए गंगा आदि सरिताएँ स्वयं वहाँ उपस्थित हुई ॥१०२॥)

दिग्गजा हेमपात्रस्थमादाय विमल जलम् ।
 स्नापयान्श्चक्रिरे देवीं सर्वलोकमहेश्वरीम् ॥१०३॥
 क्षीरोदो रूपधृत्तस्यै मालामम्लानपङ्कजाम् ।
 ददौ विभूषणान्प्रह्ने विश्वरुमां चकार ह ॥१०४॥
 दि यमात्याम्बुधरा स्नाता भूषणभूषिता ।
 पश्यता सर्वदेवाना ययी बक्ष स्यल हरे ॥१०५॥
 तथा त्रिल किता देवा हरिवक्ष स्यलस्यया ।
 लक्ष्म्या मैत्रेय सहसा परां निर्वृतिमागता ॥१०६॥
 उद्वेग परम जगुर्देव्या विष्णुपराड्, मुखा ।
 त्यक्ता लक्ष्म्या महाभाग विप्रचितिपुरोगमा ॥१०७॥
 ततस्ते जगुर्हृदेत्या धन्वन्तरिकरस्थितम् ।
 वमण्डलु महावीर्या यथास्तेऽमृतमुत्तमम् ॥१०८॥
 मायया मोहयित्वा तां विष्णु स्त्रीरूपसंस्थितः ।
 दानवेभ्यस्तदादाय देवेभ्यः प्रददौ प्रभु ॥१०९॥

स्वर्ण कलशों में भरे हुए उन भगवादि के पवित्र जल से दिग्गजों ने लक्ष्मीजी को स्नान कराया और क्षीर सागर ने मूर्तिमान् होकर कमल-पुष्पों की माला उन्हें मेट की तथा स्वयं विश्वकर्मा ने उनके भगों में भानूपण धारण कराये ॥१०३-१०४॥ इस प्रकार दिव्य वस्त्राभूषण धारण करके श्री लक्ष्मी जी देवगण के सामने ही भगवान् विष्णु के वरदायक में प्रतिष्ठित हो गई ॥१०५॥ हे मयैय जी ! भगवान् के वरस्वन में विराजमान लक्ष्मी जी के दृष्टिगत से देवगण परम प्रसन्न हुए ॥१०६॥ उस समय श्री लक्ष्मी जी के परित्यक्त होने से विप्रविविध आदि दैत्यों को अत्यन्त उद्विग्नता हुई ॥१०७॥ तब उन अत्यन्त बली दैत्यों ने अश्वत्थरित्री के हाथ से समुद्र से भरे हुए कमण्डलु को छीन लिया । इसलिए स्त्री रूप धारण कर भगवान् विष्णु ने दानवों को अपनी माया से मोहित कर उनसे कमण्डलु लेकर देवताओं को दे दिया ॥१०८-१०९॥

ततः पपुः सुरगणाः शकाद्यास्तत्तदाभूतम् ।

उद्यतायुधनिर्लिप्ता दैत्यास्ताश्च समभ्ययः ११०।

पीतेऽमृते च बलिभिर्देवदैत्यचमूस्तदा ।

बभ्र्यमाना विष्टो भेजे पाताल च विवेश वै १११।

ततो देवा मुदा युक्ताः शङ्खचक्रगदाभृन्म ।

प्रणिवृत्य ययापूर्वमाज्ञासत्तत्त्रिविष्टपम् ११२।

ततः प्रसन्नभाः सूर्यः प्रययौ स्वेन बत्मना ।

प्योतीपि च यथामार्गं प्रयशुर्मुनिसत्तम ११३।

ज्ज्वाल भगवाश्चोर्ध्वश्चाक्षुदोमिविभावसुः ।

धर्मे च सर्वभूताना तदा मतिरजायत ११४।

नैलोदय च धिया जुष्टं बभूव द्विजसत्तम ।

शक्रश्च निदधश्चेष्टः पुनः श्रीमानजायत ११५।

विद्वांसनगतः शक्रस्सम्प्राप्य त्रिदिव पुनः ।

देवराज्ये स्थितो देवी तुष्टावान्जकरा ततः ११६।

तब इत्यादि देवताओं ने उस समुद्र का पान कर लिया, इसमें लीवित हुए दैत्यगण ने तीक्ष्ण शङ्खादि शस्त्र लेकर देवताओं पर आक्रमण कर दिया

॥११०॥ परन्तु, भ्रमृत पीर वनयान होने के कारण दैत्यो की सब सेना देवताओं द्वारा परास्त हो गई और भरती-वटती हुई इधर-उधर भाग गई उनमें से कुछ दैत्य पाताल लोक में चले गये ॥१११॥ इसके पश्चात् शङ्ख चक्र गदाधारी भगवान् विष्णु को प्रणाम कर सब देवगण वहाँ से प्रसन्न होते हुए चल दिए और पूवर्क स्वर्ग का शासन करने लगे ॥११२॥ हे मुनिसत्तम ! उसी समय से अत्यन्त तेजोमय भगवान् भास्कर ने अपने मार्ग पर तथा तारागण ने अपने मार्ग पर चरना आरम्भ किया ॥११३॥ श्रेष्ठ दीप्तिमय अग्नि देवता अत्यन्त प्रज्वलित होने लगे और प्राणियों में घम की भी प्रवृत्ति होने लगी ॥११४॥ हे द्विज श्रेष्ठ ! त्रैलोक्य श्री सम्पन्न हो गया और देवश्रेष्ठ इन्द्र भी श्री से युक्त होगये ॥११५॥ इंद्र ने स्वर्ग में पहुँचकर पुन वहाँ का राज्य प्राप्त किया और राज्यपद पर अभिषिक्त होकर पद्म हस्ता श्री लक्ष्मी जी की स्तुति करने लगे ॥११६॥

नमस्ये सर्वलोकाना जननीमञ्जसम्भवाम् ।
 श्रियमुत्तिद्रपद्माक्षी विष्णुवक्ष स्थलस्थिताम् ॥११७॥
 पद्मालया पद्मकरा पद्मपत्रनिभेक्षणाम् ।
 वन्दे पद्ममुखी देवी पद्मनाभप्रियामहम् ॥११८॥
 त्व सिद्धिस्त्व स्वधा स्वाहा सुधा त्व लोकपादनी ।
 सन्ध्या रात्रि प्रभा भूतिर्मेधा श्रद्धा सरस्वती ॥११९॥
 यज्ञविद्या महाविद्या गुह्यविद्या च शोभने ।
 आत्मविद्या च देवि त्व विमुक्तिफलदायिनी ॥१२०॥
 आन्वीक्षिकी त्रयोवार्त्ता दण्डनीतिस्त्वमेव च ।
 सोम्यासोम्येजंगद्रूपेस्त्व येतद्वे वि पूरितम् ॥१२१॥
 का त्वन्या त्वामृते देवि सर्वयज्ञमय वपु ।
 अध्यास्ते देवदेवस्य योगिचिन्त्य गदाभृत ॥१२२॥
 त्वया देवि परित्यक्त सगल भुवननयम् ।
 वितप्टप्रायमभवत्त्वयेदानी समेधितम् ॥१२३॥

इन्द्र ने कहा—सम्पूर्ण लोको की माता, जिने हुए कमल जैते नेत्र वाली, भगवान् श्रीहरि से बड़ा स्थल में प्रतिष्ठित, कमल से आविर्भूत हुई

श्री लक्ष्मी जी को मेरा नमस्कार है ॥११७॥ कमल ही जिनका आश्रय स्थान है तथा कमल ही जिनके हाथों में मुनीभित्त है और कमल दल के समान ही जिनके खोचन हैं, उन पद्मपुत्री और पद्मनाभ प्रिया श्री लक्ष्मीजी का मैं वन्दन करना हूँ ॥११८॥ हे देवि ! तुम मित्रि, स्वधा, स्वाहा, स्वधा रूप तथा तीनों लोकों को पवित्र करने वाली हो, तुम ही भव्या, राज्ञि, प्रभा, विभूनि, मेधा, अडा एव सरस्वती हो । हे शोभने ! तुम ही यज्ञ विद्या और महाविद्या हो तथा तुम ही मुक्ति फल के देने वाली आत्मविद्या हो ॥११९॥ हे देवि ! तुम ही तर्क विद्या, वेदनयी, वार्ता एव दण्ड नीति हो, तुम ही मैं इस समस्त मसार को अपने गान्ध और उग्र रूपों से व्याप्त कर रखा है ॥१२०॥ हे देवि ! तुम्हारे अनिरिक्त्त ऐसी कोई धन्य नारी नहीं है जो देवाधिदेव भगवान् विष्णु के योगोक्तों द्वारा चिन्तनीय सर्वपञ्चमय देह का भाग्य प्राप्त कर सके ॥१२१॥ हे देवि ! तुम्हारे द्वारा त्यागी जाने पर वह त्रिलोकी नष्ट प्राय हो जाती थी, अब तुमने ही उसे पुनर्जीवन प्रदान किया है ॥१२२॥

द्वारा पुत्रास्तयागारमुहृद्वाग्यधनादिकम् ।

भवत्येतन्महाभागे नित्य त्वद्वीक्षणान्गुणाम् ॥१२३॥

शरीरारोग्यमर्ध्वमरिपक्षक्षय सुखम् ।

देवित्वदृष्टिदृष्टानां पुरुषाणां न दुर्लभम् ॥१२४॥

त्व माता सर्वलोकानां देवदेवो हरिः पिता ।

त्वयेतद्विष्णुना चाम्ब्र जगद्व्याप्तं चराचरम् ॥१२५॥

मा न कोशं तथा गोष्ठं मा गृहं मा पारच्छदम् ।

मा शरीरं कलत्रं च त्यजेथा. सर्वपावनि ॥१२६॥

मा पुत्रान्मा मुहृद्गर्भं मा पशून्मा विभूषणम् ।

त्यजेथा मम देवस्य विष्णोर्बक्षस्यलालये ॥१२७॥

सत्त्वेन सत्यशीचाम्या तथा शोलादिभिर्गुणैः ।

त्यज्यन्ते ते नरा. सद्यः सन्त्यक्ता ये त्वयापले ॥१२८॥

त्वया विलाकिता सद्यः शोलाद्यैरखिलैर्गुणैः ।

कुलैर्द्वयैश्च युज्यन्ते पुरुषा निगुणं अपि ॥१२९॥

हे महाभागे ! स्त्री, पुत्र, धर, धन, धान्य और गृहों की प्राप्ति भी तुम्हारी कृपा दृष्टि से ही होती है । हे देवि ! जो पुरुष आपके कृपापात्र है, उन्हें सदैव शारीरिक आरोग्य, ऐश्वर्य, क्षत्रियों का नाश तथा सुखादि कुछ भी अलभ्य नहीं है ॥१२४-१२५॥ तुम सर्व लोको की जननी हो और देवदेव भगवान् विष्णु जगत्पिता हैं । तुम दोनों से ही यह चराचरात्मक सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है ॥१२६॥ हे सर्व पावनि ! हे जननी ! हमारे कोश, गंड, धर, भोग्य वस्तु, देह तथा स्त्री आदि का तुम कभी भी त्याग न करना ॥१२७॥ हे विष्णु भगवान् के वक्षस्त्रय में निवास करने वाली मातृदेवरी । हमारे पुत्र, सुहृद, पशु और अलंकारादि भी कभी आप से रहित न हो ॥१२८॥ हे अमले ! तुम जिनका त्याग कर देनी हो, उनका सत्य, शौच और शीलानि गुण भी शीघ्र ही त्याग कर देते हैं ॥१२९॥ किन्तु तुम्हारे कृपा दृष्टि प्राप्त होने पर गुणहीन भी शीलानि गुणों से शीघ्र ही सम्पन्न होकर कुलीनता और ऐश्वर्यादि से परिपूर्ण हो जाता है ॥१२९-१३०॥

स श्लाघ्यः स गुणी धन्यः स कुलीनः स बुद्धिमान् ।

स सूरः स च विक्रान्तो यस्त्वया देवि वीक्षितः ॥१३१॥

सद्यो वे गुण्यमायाति शीलाद्या सकला गुणाः ।

पराङ्मुखी जगद्धात्री यस्य त्वं विष्णु वल्लभे ॥१३२॥

न ते वरुण्यिणु शक्ता गुणास्त्रिह्रापि वेधसः ।

प्रसीद देवि पद्माक्षि मास्मास्तस्य क्षीः कदाचन ॥१३३॥

एव श्रीः सस्तुता सम्पक् प्राह देवो शतक्रतुम् ।

शृण्वतां सर्वदेवानां सर्वभूतस्थिता द्विज ॥१३४॥

परितुष्टास्मि देवेश स्तोत्रेणानेन ते हरे ।

वर वृणीष्व यस्त्विष्टो वरदाह नवागता ॥१३५॥

वरदा यदि मे देवि वगर्हो यदि वाप्यहम् ।

प्रैतोक्ष्य न त्वया त्याज्यमेव मेऽस्तु वर परः ॥१३६॥

स्तोत्रेण यस्तर्पतेन त्वा स्तोप्यत्यब्धिसम्भवे ।

स त्वया न परित्याज्यो द्वितीयोऽस्तु वरो मम ॥१३७॥

हे देवि ! जिस पर तुम्हारी कृपा-दृष्टि रहती है, वह मनुष्य अवश्य ही

प्रसंगा के योग्य है, वह गुराँ, कुनीन, गूर, पराक्रमी, बुद्धिमान एवं धन्यनाम्न है ॥१३१॥ हे विष्णुदम्बने ! हे जगदाश्री तुम जितने विमुख होती हो, उतने नील आदि सनी गुरा अवगुरा बन जाते हैं ॥१३२॥ हे देवि ! तुम्हारे गुराँ के दरान में ब्रह्मा जी की बिह्वा भी अजनब है । इधरिह हे पद्म सो रने ! पद तुम मुक्त पर प्रसन्न होसो और कनी भी मेरा त्याग न करो ॥१३३॥ श्री पराशर जी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! इन प्रकार स्तुत होती हुई सर्वभूतस्थिता श्रीनक्ष्मीजी सब देवताओं की उपस्थिति में इष्ट से बोलीं ॥१३४॥ श्री नक्ष्मीजी ने कहा—हे देवेश ! मैं तेरे स्तोत्र ने अत्यन्त प्रसन्न हुई हूँ, तुम्हें जिन वस्तु की कामना हो, वही मुक्त से माँगो । तुम्हें वर प्रदान करने के लिये हो मैं यहाँ आदि हूँ ॥१३५॥ इस पर इन्द्र ने कहा—हे देवि ! यदि तुम मुझे वर-शक्ति के योग्य समझ कर वर देना ही चाहना हो तो प्रथम तो मुझे यहाँ वर दो कि तुम कनी त्रिलोकी का त्याग न करोगी ॥१३६॥ हे समुद्रोद्भूते ! मुझे द्वितीय वर यह दो कि मेरे इस स्तोत्र से जो मनुष्य तुम्हारी स्तुति करे, उसका तुम कभी भी त्याग न करोगी ॥१३७॥

त्रैलोक्यं त्रिदशं श्रेष्ठं न सत्त्वस्थानि वासव ।
 दत्तो वरो मया यस्ते स्तोत्राराधनमुष्टया ॥१३८॥
 यच्च सायं तथा प्रातः स्तोत्रैर्यानेन मानवः ।
 मां स्तोष्यति न तस्याहं भविष्यामि पराङ्मुखी ॥१३९॥
 एवं ददौ वरं देवो देवराजाय वै पुरा ।
 मैत्रेय श्रीर्महामाया स्तत्राराधनतोपिता ॥१४०॥
 भृगोः स्पात्यां समुत्पन्ना श्रीः पूर्वमुदधेः पुनः ।
 देवदानवयत्नेन प्रभूतामृतमन्यते ॥१४१॥
 एवं यदा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्दनः ।
 अवतारं करोत्येषा तदा श्रोतस्सहायिनी ॥१४२॥
 पुनश्च पद्मादुत्पन्ना आदित्योऽनूद्यदा हरिः ।
 यदा तु मार्गवा रामस्तदानुद्धरणी त्वियम् ॥१४३॥
 राघवत्वेऽनवत्पीता रुक्मिण्यो कृष्णजन्मनि ।
 अन्नेषु चावतारेषु विष्णोरेषानवायिनी ॥१४४॥

श्री लक्ष्मीजी ने कहा—हे देवताओं ने श्रेष्ठ इन्द्र ! मैं अब इस प्रलोकन का कभी त्याग न करूँगी, मैं तेरे स्तोत्र से प्रसन्न होकर तुझे यह वर प्रदान करती हूँ ॥१३८॥ जो मनुष्य प्रातः समय तेरे इस स्तोत्र से मेरा स्तव करेगा मैं उससे विमुख कभी न हूँगी ॥१३९॥ श्री पराशरजी ने कहा—हे मैत्रेयजी ! पूर्वकाल में इस प्रकार देवराज इन्द्र की स्तुति से शमुष्ट हुई श्रीलक्ष्मीजी ने उन्हें उक्त वर प्रदान किये ॥१४०॥ पहिले वे लक्ष्मीजी भृगु के द्वारा उनकी व्याप्ति नामक स्त्री के गर्भ से उद्भूत हुई थी, फिर वह समुद्र मथन के समय देवताओं और दानवों के प्रयत्न से क्षीर सागर से प्रकट हुई थी ॥१४१॥ इस प्रकार जगत्पति देवाधि देव भगवान् श्रीहरि अव-अव अवतार लेते हैं, तब-तब लक्ष्मीजी भी उनके साथ इस भूतल पर आती हैं ॥१४२॥ जब भगवान् विष्णु आदित्य रूप हुए तब वे कमल से उत्पन्न हुई और जब उन्होंने परशुराम का अवतार धारण किया तब लक्ष्मीजी ही पृथिवी हुईं ॥१४३॥ जब उन्होंने रामावतार लिया तब यह सीताजी हुईं और कृष्णावतार में रश्मिणी हुईं । इसी प्रकार भगवान् ने जो अन्य अनेक अवतार धारण किये, उनमें से किसी में भी भगवान् से अलग नहीं रहतीं ॥१४४॥

देवत्वे देवदेहेऽयं मनुष्यत्वे च मानुषी ।

विष्णोर्देहानुरूपा वै करोत्येपात्मनस्तनुम् ॥१४५॥

यश्चैतच्छृणुयाज्जन्म लक्ष्म्या यश्च पठेन्नरः ।

श्रियो न विच्युतिस्तस्य गृहे यावत्कुलत्रयम् ॥१४६॥

पाठ्यते येषु चैवेयं गृहेषु श्रीस्तुतिर्मुने ।

अलक्ष्मीः कलहाघारा न तोष्यास्ते कदाचन ॥१४७॥

एतत्ते कथितं ब्रह्मन्यन्मा त्वं परिपृच्छसि ।

क्षारान्धो श्रोत्र्यया जाता पूर्वं भृगुसुता सती ॥१४८॥

इति सकलविभूत्यवसिद्धेतुः ।

स्तुतिरियमिन्द्रमुखाद्रता हि लक्ष्म्याः ।

अनुदिनमिह पठ्यते नृभिर्मे-

वंशति न तेषु कदाचिदप्यलक्ष्मीः ॥१४९॥

जब भगवान् देव रूप होते हैं, तब लक्ष्मीजी दिव्य रूप धारण करती

हैं और जब वह मनुष्य रूप में अवतार लेते हैं तब वह भी मलवी हो जाती है । मनुष्य के देहानुत्पत्ति ही वह भी बनना बेहूषार करती है ॥१४५॥
 श्रीकृष्णजी के जन्म की इन कथा को जो कोई पढ़ेगा या श्रवण करेगा उसके
 देह के तीनों गुणों में लक्ष्मण का कभी भी नाम नहीं होगा ॥१४६॥ हे मुने !
 श्रीकृष्णजी के इस स्त्रोत्र का जिन परों में पाठ होला रक्षा है, उनके लक्ष्मण की
 प्रायश्चर्य दारिद्र्य कभी भी नहीं टिकती ॥१४७॥ हे ब्रह्मन् ! तुमने यह
 प्रश्न किया था कि जब लक्ष्मणजी भृगुजी की पुत्री को तो फिर उनकी सम्पत्ति
 भीर सागर में विज्र प्रसार हुई, उसका उपाधान मैंने इस वृत्तान्त के द्वारा कर
 दिया है ॥१४८॥ इस प्रकार इन्द्र-मुख से उद्गृत हुई यह स्तुति सभी विद्वानों
 को प्रान कराने वाली है, इसका जो नियम नियमित रूप से पाठ करेंगे उनके
 यही निर्वन्दा कभी न रहेगा ॥१४९॥



दशवाँ अध्याय

कथितं मे त्वया सर्वं यत्पृष्टोऽसि मया मुने ।
 भृगुसर्गादभृत्येष सर्गो मे कथ्यतां पुनः ॥१॥
 भृगाः स्वात्मां समुत्पन्ना लक्ष्मीविष्णुपरिग्रहः ।
 तथा धानृदिधातारौ स्वात्मां जातीं नृणो भृगोः ॥२॥
 आप्रतिनियमितैर्धनैः मेरोः कन्ये महात्मनः ।
 भार्ये धानृविवाश्रोते तपोर्जातो मुतावुनौ ॥३॥
 प्राणदत्तं व मृकण्डुश्च मार्कण्डेयो मृकण्डुनः ।
 ततो वेदधिरा लजे प्राणस्यापि मुनं शृणु ॥४॥
 प्राणस्य क्षुत्तिमान्भृगो राजवाञ्छ ततोऽभवत् ।
 ततो व शो महाभाग विस्तरं मार्गवा गतः ॥५॥
 पत्नी मरीचिः सन्भूतिः पूर्णमात्रमनुवत् ।
 विरजाः पर्वतश्च व तस्य पुत्री महात्मनः ॥६॥

श्री मैत्रेय जी ने कहा— हे मुने ! आपसे मैंने जो प्रश्न किया था, वह सब कुछ आपने धृता दिया, अब वृषा करके भृगु-सत्तति से लेकर, सम्पूर्ण सृष्टि का सृज्मसे वर्णन करिये ॥१॥ श्री पराशरजी बोले—भृगुजी द्वारा रयाति के गर्भ से विष्णुभार्या लक्ष्मीजी तथा धाता और विधाता नामक दो पुत्रों की उत्पत्ति हुई ॥२॥ उन धाता, विधाता का विधाह महात्मा मेरु की आयति और नियति नाम की पुत्रियों से सम्पन्न हुआ, जिनसे प्राण और मृकण्डु नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए । मृकण्डु के पुत्र भार्कण्डेय हुए, जिनसे वेदशिरा का जन्म हुआ । अब प्राण की सत्तति कहता हूँ, उसे सुनो ॥३-४॥ प्राण का पुत्र द्युतिमान् हुआ, द्युतिमान का पुत्र राजवान् और उस राजवान् से ही भृगुवश का अत्यन्त विस्तार हुआ ॥५॥ मरीचि की पत्नी सम्भूति से पौर्णमास हुआ, उसके विरजा और पर्वत नाम के दो पुत्र हुए ॥६॥

वंशसकीर्तने पुत्रान्वदिष्येऽहं ततो द्विज ।
 रमृतिश्चाङ्गिरसः पत्नी प्रसूता कन्यकास्तथा ।७।
 सिनीवाली कुहूचर्च व राका चानुमतिस्तथा ।
 अनसूया तर्पेवात्रेर्जज्ञे निष्कल्मषान् सुतान् ।८।
 सोम दुर्वासस चर्च दत्तात्रेय च योगिनम् ।
 प्रोत्था पुलस्त्यभ र्याया दत्तोतिस्तत्सुनोऽभवत् ।९।
 पूर्वजन्मनि योऽगस्त्यः स्मृतः स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
 कर्दमश्चोर्वरीयाश्च सहिष्णुश्च सुताख्यः ।१०।
 क्षमा तु सुपुत्रे भार्या पुलहस्य प्रजापतेः ।
 प्रतोश्च सन्ततिर्मर्या वालखिल्यानसूयत ।११।
 पटिपुत्रसहस्राणि मुनोनामूर्ध्वरेतसाम् ।
 अङ्गुष्ठपर्वमात्राणां ज्वलद्भास्करतेजसाम् ।१२।
 ऊर्जाया तु बयिष्ठस्य सप्ताजायन्त र्यं सुताः ।
 रजो गोत्रोर्ध्वबाहुश्च सवनश्चानघस्तथा ।१३।
 सुतपाः शुक्र इत्येते सर्वे सप्तर्षयोऽमलाः ।
 योऽसावग्न्यभिमानो स्याद् ग्रहाणास्तनयोऽयजः ।१४।

तस्मात्स्वाहा सुतांस्तेभ्ये त्रीनुदारोजसो द्विज ।

पावकं पथमान तु शुचि चापि जलाशिनम् ॥११॥

हे द्विज ! जब उनकी बधावति कहूँगा तब उन दोनों की सन्तति को बजाजोगा । अगिरा की भार्या स्मृति से सिनोवाली, बृह, रक्षा और मनुमति नाम की बन्धार्यों ने जन्म लिया । अत्रि-पत्नी घननूया ने चन्द्रमा, दुर्वाणा और दत्तात्रेय की उत्पत्ति दिया । पुलस्त्य की पत्नी प्रीति से रत्नोनि की सन्तति हुई जो स्यायन्मुख मन्वन्तर में हुए अपने जन्म में अगस्त्य नाम के प्रसिद्ध या प्रजापति पुलह की भार्या क्षमा से कदम्ब, उर्वरीयाव तथा सहिष्णु नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए । वसु की सन्तति नाम की पत्नी ने अगृठ के चौराओं के समान बैठ जाने तथा प्रहर मूर्ध के समान अत्यन्त तेज वाले शालखिन्द्यादि साठ सहस्र ऊर्वन्तेता पुत्र उत्पन्न किये ॥१०-१२॥ वसिष्ठी की उर्वी नाम की पत्नी से रज, गौत्र, ऊर्वन्बाहु, सवन, अनप, मुत्तपा और शुक्र नाम के साठ पुत्र हुए, यह, सनी स्वच्छ स्वभाव वाले सप्तपि हुए । ब्रह्माजी का ज्येष्ठ पुत्र जो घग्नी का घग्निमानी देवता है, उसकी स्वाहा नाम की भार्या ने अत्यन्त तेजस्वी पावकः पथमान और जल भक्षक शुचि, इन तीन पुत्रों को जन्म दिया ॥१३-१५॥

तेषां तु सन्ततावन्ये चत्वारिंशच्च पञ्च च ।

वध्यन्ते यज्ञपश्यन्ते पिता पुत्रत्रय य यत् ॥१६॥

एवमेकोनपञ्चाशद्वह्नयः परिकीर्तिता ।

पिनरो ब्रह्मणा नृप्टा ध्यास्याता ये मया द्विज ॥१७॥

अग्निष्वात्ता बर्हिषदोऽनग्नयः साम्नयश्च ये ।

तेभ्यः स्वधा सुते जज्ञे मेना र्वं धारिणी तथा ॥१८॥

ते उभे ब्रह्मवादिन्यो योगिन्यावपुने द्विज ।

उत्तमज्ञानमम्पन्ने सर्वेः समुदितेर्भुणो ॥१९॥

इत्येषा दक्षकन्याना कथितापत्यसन्तति ।

श्रद्धावान्सस्मरन्नेतामनपत्यो न जायते ॥२०॥

उन तीनों के पैंतालौष पुत्र हुए । अग्नि और सनके तीन पुत्रों को मिल : यह सब उनकास अग्नि बहे जाते हैं । हे द्विज ! ब्रह्माजी द्वारा रचित जि ।

अग्निपितृक अग्निष्वात्ता और साम्निक वह्निपद आदि पितरो के विषय में जो तुम्हें बताया था, उनके द्वारा स्वर्घा के गम से मेना और घाटिणी नाम्नी दो पुत्रिया उत्पन्न हुई ॥१६-१८॥ वह दोनों ही श्रेष्ठ ज्ञान चाली सबगुण सम्पन्ना तथा योगिनी थी ॥१९॥ इस प्रकार यह दक्ष-मुताओं की वंश परम्परा बही गई, इसे जो व्यक्ति थोड़ा पृथक् स्मरण करता है, वह पुनर्बान् होता है ॥२०॥



ग्यारवाँ अध्याय

प्रियव्रतोत्तानपादो मनो स्वायम्भुवस्य तु ।
 द्वी पुत्री तु मह बायी धर्मज्ञो कथितो तव ॥१॥
 तयोरुत्तानपादस्य सुरुच्यामुत्तम सुत ।
 धर्मोद्गायामभद्रह्यपितुरत्य तवत्सभ ॥२॥
 सुनीतिर्नाम या राजस्तस्यासी-महिषो द्विज ।
 सनातिप्रीतिमास्तस्यामभूवस्या ध्रुव सुत ॥३॥
 राजासनस्यतस्याङ्क पितृभ्रतिरमाश्रितम् ।
 दृष्टोत्तम ध्रुवश्चक्रे तमारादु मनोरथम् ॥४॥
 प्रत्यक्ष भूतिस्तस्या सुरुच्या नाभ्यनन्दत ।
 प्रणयेनागत पुत्रमुत्सङ्गारोहणोत्सुक् ॥५॥
 सपत्नीताय दृष्ट्वा तमङ्गारोहणात्सुखम् ।
 स्वपुत्रं च तथारढ सुरचिर्विषयमब्रवीत् ॥६॥
 क्रियते वि वृथा यस्य महानेप मनोरथ ।
 अन्यस्त्रीगमजातेन ह्यसम्भूय ममोदरे ॥७॥

श्री पराशरजी न कहा—हे मेनेय जी । मैं तुम्हें स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो दत्तयत बली और धर्मज्ञ पुत्रों के विषय में कह चुका हूँ । उनमें उत्तानपाद की पत्नी गुरुचि ने उत्तम नामक एक पुत्र उत्पन्न किया और उसकी सुनीति नाम की राजमहिषी ने ध्रुव नामक पुत्र को जन्म

दिया, इस राज महिषी में राजा का विशेष प्रेम नहीं था ॥१-३॥ एक दिन जब राज्यासन पर आरुढ़ पिता की गोद में उत्तम बैठा था, उस समय ध्रुव की इच्छा भी राजा की गोद में बैठने की हुई । परन्तु अपनी प्रियसी सुरभि के सामने राजा ने अपने उस पुत्र को गोद में न लिया और सुरभि ने अपनी सीत के पुत्र को गोद में बैठने को उत्सुक और अपने पुत्र को गोद में बैठा देख कर उससे कहा कि तू मेरे उदर के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री का पुत्र होकर भी ऐसी महान् इच्छा कर रहा है ? ॥४-७॥

उत्तमोत्तममप्राप्यमविवेको हि वाञ्छसि ।
 मत्स्य सुतस्त्वमप्यस्य किन्तु न त्व मया घृतः ॥८॥
 एतद्राजासन सर्वभूतसथयकेतनम् ।
 योग्य ममैव पुनस्य किमात्मा विलस्यते त्वया ॥९॥
 उर्ध्वमेनोरथस्तस्य मत्पुत्रत्वेव किं वृथा ।
 सुनीत्यामात्मनो जन्म किं त्वया नावगम्यते ॥१०॥
 उत्सृज्य पितर बलिस्तन्ध्वत्वा मातृभापितम् ।
 जागम कुपितो मातुर्निजाया द्विज मन्दिरम् ॥११॥
 त इष्टा कुपित पुत्रमोपत्प्रस्फुरितधरम् ।
 सुनीतिरङ्गमारोप्य मन्त्रेयेदमभापत ॥१२॥
 वत्स कः कापहेतुस्के कश्च त्वा नाभिनन्दति ।
 कोऽवजानाति पितर वत्स यस्तेऽपराध्यति ॥१३॥
 इत्युक्त सकल मात्र कथयामास तच्चया ।
 सुरभि प्राह भृशालप्रत्यक्षमतिर्गविता ॥१४॥
 विनिश्चस्येति कथिते तस्मिन्पुत्रेण दुर्मना ।
 आसक्षामेक्षणा दोना सुनीतिर्विक्रियमवबोत् ॥१५॥

तू विवेक हीन है, इसीलिए अलभ्य और अश्वस्तु का मनोरथ करता है । यद्यपि तू भी इन्ही महाराज से उत्पन्न है, परन्तु मेरे गर्भ से जन्म नहीं लिया है । सभी चक्रवर्ती नरेशों का आश्रय रूप यह राज्य सिंहासन मेरे ही पुत्र के बैठने योग्य है, इसकी इच्छा करके तू व्यर्थ हो क्यों अपने चित्त को

सन्तप्त करता है ? ॥८-६॥ तू मेरे पुत्र के समान ही ऐसी उच्च आवाधा को क्यों धारण किये हुए है ? क्या तुझे ज्ञात नहीं है कि तू सुनीति का पुत्र है ? ॥१०॥ श्री पराशरजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! विमाता की बात सुन कर बालक ध्रुव को क्रोध आगया और वह पिता के पाससे हट कर अपनी माता के भवन में पहुँचा उस समय उसके झोंठ काँप रहे थे । सुनीति ने अपने पुत्र को इस प्रकार आता हुआ देखा तो उसने उसे गोद में बिठाते हुए पूछा—हँ वेडा ! तू क्रोधित क्यों हो रहा है, किसने तेरा अपमान किया है ? तेरा अपराध करके कौन तेरे पिता को अपमानित करने जा रहा है ? ॥११-१३॥ श्री पराशरजी ने कहा— इस प्रकार का प्रश्न सुन कर ध्रुव ने पिता के सामने ही गुरुचि द्वारा कही गई सब बातें सुनाई । पुत्र जब सिसकते हुए इस बात को कह रहा था तब सुनते-सुनते राजमहिषी सुनीति स्निग्ध चित्त से दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कहने लगी ॥१४-१५॥

गुरुचिः सत्यमाहेद मन्दभाग्योऽन पुत्रक ।

न हि पुण्यवता वत्स सपत्नरेवमुच्यते ॥१६॥

नोद्वेगस्तात कर्त्तव्य. कृत शङ्कवता पुरा ।

तत्कोऽपहृत् शक्रोति दातुं कश्चाकृत त्वया ॥१७॥

तत्त्वया नात्र कर्त्तव्य दुःख तद्वावयसम्भवम् ॥१८॥

राजासन राजच्छत्र वराश्रवरवारणाः ।

यस्य पुण्यानि तस्यैते मत्वेतच्छाम्य पुत्रक ॥१९॥

अन्यजन्मकृते. पुण्यं गुरुष्व्या गुरुचिर्नृपः ।

भार्योति प्रोच्यते भान्या मद्विद्या पुण्यवजिता ॥२०॥

पुण्योपचयसम्पत् स्तस्याः पत्रस्तथोत्तमः ।

मम पुत्रस्तथा जातः स्वल्पपुण्यो ध्रुवो भवान् ॥२१॥

तथापि दुःखं न भवान् कर्त्तुमर्हति पुत्रक ।

यस्य यावत्स तेनैव स्वेन तुष्यति मानवः ॥२२॥

सुनीति बोली—हे पुत्र ! गुरुचि का कहना यथार्थ है, तू मन्द भाग्य है

इसीलिये उसने ऐसा कहा है, क्यों कि पुण्यवान् के सामने ऐसा कहने का

स्वयं दलता हुआ आजाता है, वैसे ही सत्पान्त्र पुरुषों के पास समस्त वैभव अपने आप ही आ पहुँचता है ॥२४॥ ध्रुव ने कहा—हे माता ! मेरे चित्त की शान्ति के लिये तुमने जो कुछ कहा है, वह उसके बठोर बचनों से सिधे हुए मेरे हृदय में ठहर नहीं पाता । इसलिये अब मैं वही कहूँगा, जिसके द्वारा सब लोको में सम्मानित सर्व-थेष्ठ पद को प्राप्त हो सकूँ ॥२६॥ यद्यपि राजा की प्रियसी सुरवि अवश्य ही भाग्य वाली है और मैं उसके उदर से उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, फिर भी अपने गर्भ द्वारा प्रवृद्ध विद्ये गये इस बालक के प्रभाव को भी देख लेना । जिस उत्तम को सुरवि ने जन्म दिया, वह भी मेरा भाई ही तो है । पिता का दिया हुआ राजपद उसी को मिले । क्योंकि किसी दूसरे के द्वारा दिये हुए पद की अभिसापा नहीं करता, मैं तो अपने पुत्रपार्थ से ही उस पद को पाना चाहता हूँ जिसे पिताजी भी न प्राप्त कर सके हैं ॥२७-२९॥

निजगाम गृहान्मातुरित्युक्त्वा मातरं ध्रुवः ।

पुराञ्च निगम्य ततस्तद्वाह्योपवनं ययौ ॥३०॥

स ददर्श मुनीस्तत्र सप्त पूर्वगतान्ध्रुवः ।

कृष्णाजिनोत्तरीयेषु विष्टरेषु समास्थितान् ॥३१॥

स राजपुत्रस्तान्वाग्निप्रतिपत्याभ्यभाषत ।

प्रश्रयावनतः सम्यगभिवादन्पूरुमं कम् ॥३२॥

उत्तानपादतनय मा निबोधत सत्तमाः ।

जात सुनीत्या निवदाद्युक्त्वा कं प्राप्तमन्तिकम् ॥३३॥

चतुःपञ्चाब्दसम्भूतो बालस्त्वमृपनन्दन ।

निर्वेदकारणं किञ्चित्तव नाद्यापि वर्तते ॥३४॥

न चिन्त्य भवतः किञ्चिद्दधियते भूपतिः पिताः ।

न चैवैष्टवियोगादि तव पश्याम बालक ॥३५॥

शरीरे न च ते व्याधिरस्माभिरूपलक्ष्यते ।

निर्वेदः किञ्चिद्विस्तस्ते वध्यता यदि विद्यते ॥३६॥

श्री पराशरजी ने कहा—माता के प्रति यह कह कर ध्रुव उसके भवन से

यह दे बोर फिर यह भी बता कि हम तेरी क्या सहायता कर सकते हैं, हमें प्रतीत होता है कि तू हमने कुछ कहने की इच्छा करता है ॥१२६-४०॥ प्रभु बोले—हे द्विजसत्तम । मैं घन या राज्य नहीं चाहता, मैं तो केवल वही पर प्राप्ति करना चाहता हूँ जिसका भोग पहिले कभी बिग्री ने न किया हो । हे मुनि-वर ! यदि आप यह बताने की शृपा करें कि मुझे सबसे अग्रगण्य वह स्थान किस कर्म से उपलब्ध हो सक्ता है तो यह बहुत बड़ी सहायता होगी ॥४१-४२॥

अनाराधितगोविन्देनरैः स्थानं नृपात्मज

न हि सम्प्राप्यते श्रेष्ठं तस्मादाराधयाच्युतम् ॥४३॥

परः पराणा पुरुषो यस्य तुष्टो जनार्दनः ।

स प्राप्नोत्यक्षय स्थानमेतत्सर्वं मयोदितम् ॥४४॥

यस्यान्तः सतंभेवेदमच्युतस्याव्ययारमनः ।

तमाराधय गोविन्द स्थानमग्र-यं यदीच्छसि ॥४५॥

परं ब्रह्म पर धाम योऽसौ ब्रह्म तथा परम् ।

तमाराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम् ॥४६॥

ऐन्द्रमिन्द्रः परं स्थानं यमाराध्य जगत्पतिम् ।

प्राप यज्ञपतिं विष्णुं तमाराधय सुव्रत ॥४७॥

यो यज्ञपुरुषो यज्ञो योगेशः परमः पुमान् ।

तस्मिंस्तुष्टे यदप्राप्य किं तदस्ति जनार्दने ॥४८॥

प्राप्नोष्याराधिते विष्णौ मनसो यद्यदिच्छसि ।

त्रैलोक्यान्तर्गतं स्थानं किमु वत्सोत्तमोत्तमम् ॥४९॥

मरीचि ने कहा—हे नृपात्मज ! भगवान् गोविन्द की आराधना के बिना मनुष्य को कैसे स्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये तू उन्हीं अच्युत नारायण की आराधना कर ॥४३॥ अत्रि ने कहा—जो परम पुरुष जनार्दन परा प्रकृति से भी परे हैं, वह जिस से प्रसन्न होते हैं, वही उस अक्षयपद को प्राप्त होता है, मेरा यह वचन अक्षरजः सत्य है ॥४४॥ अगिरा ने कहा—यदि तू ब्रह्म-स्थान की कामना करता है तो जो अव्ययतारमा अच्युत इस सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं, उन्हीं की आराधना कर ॥४५॥ पुस्तक ने कहा—परस्वरूप, परब्रह्म श्री

परमवाम रूप भगवान् श्री हरि की उपासना से मनुष्य को अत्यन्त दुर्लभ मोक्ष भी प्राप्त हो जाती है ॥४६॥ पुनह ने कहा—इन्द्र ने भी जिन जगन्नाथ विष्णु का आराधन करके इन्द्रपद को प्राप्त किया था, उन्ही यज्ञपति भगवान की आराधना तू भी कर ॥४७॥ क्रतु ने कहा—जो भगवान् जगन्नाथ परम-पुरुष, यज्ञ पुरुष तथा योगेश्वर हैं, उनके प्रसन्न होने पर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो फलान्य हो? ॥४८॥ वसिष्ठ ने कहा—भगवान् विष्णु की आराधना करके तू जो भी इच्छा करेगा उसी को तुझे प्राप्ति हो जायगी, ब्रह्मलोक के श्रेष्ठ से श्रेष्ठ स्थान का तो कहना ही क्या है? ॥४९॥

आराध्यः कश्चितो देवो भवद्भिः प्रसातस्य मे ।
मया तत्परितापाय यज्ञतन्य तदुच्यताम् ॥५०॥
यथा चाराधनं तस्य मया कार्यं महात्मनः ।
प्रसादमुमुक्ष्वान्तर्मे कथयन्तु महर्षयः ॥५१॥
राजपुत्र यथा विष्णोः आराधनपरं नरैः ।
कार्यमासाधनं तन्नो यथावच्छेदोऽनुमर्हसि ॥५२॥
वाह्यार्पाः शिलाह्विता त्याजयेत्त्वयम नर ।
तस्मिन्नेव जगदाम्नि तत् कुर्वीत निश्चलम् ॥५३॥
एवमेवाप्रचितोऽहं तन्मयेन धृतात्मना ।
जगन्मयं यन्निबोधेन तन्न पार्थिवनन्दन ॥५४॥
हिरण्यगर्भं पुरुषप्रधानाव्यक्तरूपिणे ।
ॐ नमो वासुदेवाय शुद्धज्ञानस्वरूपिणे ॥५५॥
एतच्छृत्वा भगवान् जय स्वायम्भुवो मनु ।
पितामहस्तव पुत्र तस्य तृष्टो जगन्नाथ ॥५६॥
ददौ यथाभिप्रेता सिद्धिं त्रैलोक्यदुर्लभाम् ।
तथा त्वमपि गोविन्द तोषयतस्सदा जपन् ॥५७॥

ध्रुव बोले—हे महर्षियो ! आपने मुझे आराध्य का उपदेश तो कर दिया, परन्तु अब मुझे यह भी बताने की कृपा करें कि उनकी प्रसन्न करने के लिये किस प्रकार जप आदि करना चाहिये । उन महर्षियों की आराधना की विधि

मुझे सहर्षं बताइये ॥५०-५१॥ ऋषियो ने कहा—हे राजपुत्र ! भगवान् विष्णु की आराधना में लगे हुए पुरुषों को जिस प्रकार उनकी उपासना करती चाहिये, वह हमने सुन ॥५२॥ सर्व प्रथम सभी बाह्य विषयों से मन को हटा कर उन जगद्धाम में स्थिर करे । इस प्रकार एकाग्र चित्त से तन्मयता पूर्वक जिस प्रकार जप-विधान वह शक्य कर ॥५४॥ हिरण्यगर्भ पुरुष, प्रधान, अव्यक्त तथा शुद्ध ज्ञान रूप भगवान् वासुदेव को नमस्कार है ॥५५॥ इस ॐ नमो भगवते वासुदेवाय मन का जप पहिले तैरे पितामह स्वायम्भुव मनु ने किया था, तब उन पर प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें अभिलाषित मिद्धि प्रदान की थी । उन्हीं के समान तू भी इसका निरन्तर जप करके भगवान् गोविन्द की प्रसन्नता प्राप्त कर ॥५६-५७॥



बारहवाँ अध्याय

निशम्यैतदक्षेपेण भैरेय नृपतेः सुत !
 निर्जंगाम वनात्तस्मात्प्रणिपत्य स तानुपीन् ॥१॥
 कृतवृत्त्यमिवात्मान मन्यमानस्ततो द्विज ।
 मधुसूत महापुण्य जगाम यमुनातटम् ॥२॥
 पुनश्च मधुसूतेन दैत्येनाधिष्ठित यत ।
 ततो मधुवन नाम्ना स्थातमत्र महीतले ॥३॥
 हर्या च सवण रक्षो मधुपुत्र महाबलम् ।
 क्षत्रुघ्नो मधुरा नाम पुरी यत्र चकार य ॥४॥
 यत्र वै देवदेवस्य सांनिध्य हरिमेव स ।
 सर्वपापहरे तस्मिन्पस्तोर्ध्वं चकार स ॥५॥
 मरीचिमुग्यं मुनिभिर्यथादृष्टमभूत्तथा ।
 आत्मन्यक्षपदेवस्य स्थित विष्णुमभ्यसत ॥६॥
 धनन्यचेतस्तस्य प्यायतो भगवान्हरिः ।
 सर्वभूतगतो विप्र सर्वभाषगतोऽभवत् ॥७॥

श्री पराशरजी ने कहा—हे मैत्रेयजी । ऋषियों की वान सुत कर राजकुमार ध्रुव ने उन्हें प्रणाम किया और वह उस उपवन से चन दिया ॥१॥ फिर वह धपने की अत्यन्त कृत्-कृत्य मानना हुआ यमुना तट पर स्थित मधु नामक वन में थाया । उस वन में मधु नामक देव रहने लगा था, इस कारण उसका नाम मधुवन हुआ था ॥२-३॥ वहीं उस मधु के पुत्र तवण का वध करके शत्रु ने मधुरा नामक एक नगर की स्थापना की ॥४॥ जिस वधुवन में देवाधि-देव भगवान् विष्णु की सर्व मन्त्रिणि रहती है, उषी में जाकर ध्रुव ने घोर तप किया ॥५॥ मरीचि आदि महर्षियों के उपदेशानुसार ही उसने अपने हृदय में निश्चित देवेश्वर भगवान् श्रीहरि के ध्यान का ध्यायन किया और हे त्रिप । इस प्रकार धनन्य चित्त से ध्यान करने रहने से उसके हृदय में सब भूतों में निवास करने वाले भगवान् विष्णु सब भाव से प्रकट हुए ॥६-३॥

मन्स्थयस्थिते तस्मिन्विष्णो मैत्रेय योगिनः ।
न शशाक घग्गभारमुद्रोदु भूतधारिणो ॥१॥
वामपादस्थिते तस्मिन्भनागात्रेन मेदिनी ।
द्वितीय च ननामाद्वं सितेर्दक्षिणतः स्थिते ॥२॥
पादाङ्गुष्ठेन सम्पोष्य यदा स धनुषा स्थितः ।
तदा समस्ता वसुधा चचाल सह पर्वत ॥३॥
नद्यो नदाः समुद्राश्च सङ्क्षीभ परम ययुः ।
तत्क्षोभादमराः क्षोभ परं जग्मुर्महामुने ॥४॥
यामा नाम तदा देवा मैत्रेय परमाकुलाः ।
इन्द्रेण सह सम्मन्य ध्यानमङ्ग प्रचक्रमु ॥५॥
कूष्माण्डा विविधै रूपैर्महिन्द्रेण महामुने ।
समाधिभङ्गमत्यन्तमारब्धाः कर्तुमातुरा ॥६॥
सुनीतिर्नाम तन्माता साक्षा तत्तुरन् स्थिता ।
पुत्रेति कृष्णा वाचमाह मायामयो तदा ॥७॥
पुनकास्मान्निवर्तम्ब दारोरात्ययदारुणान् ।
निर्वन्धतो मया तद्व्यो बहुभिस्त्व मनोरथ ॥८॥

हे मंत्रेयत्री ! जब योगी ध्रुव के चित्त में भगवान् विष्णु स्थित हो गये, तब सब भूतों की घटितो पृथिवी उसका बोझ वहन करने में असमर्थ हो गई ॥८॥ उनके बाँए चरण के बल सँडे होने के कारण पृथिवी का भी बाँया आधा भाग नीचे को झुक गया तथा दाँए चरण से सँडे होने पर दाँया भाग झुक गया ॥९॥ जब वह पाँव के अंगूठे से पृथिवी को मध्य में से दबा कर स्थित हुआ तब पर्वतों सहित सम्पूर्ण भूमण्डल चलायमान हो उठा ॥१०॥ हे महामुने ! उस समय नद, नदी और समुद्र आदि भी अत्यन्त क्षुब्ध प्रतीत होने लगे तथा देवताओं में भी इससे घोर हलचल होने लगी ॥११॥ हे मंत्रेयत्री ! उस समय दाम नामक देवताओं ने इन्द्र के साथ मन्त्रणा की और ध्रुव का ध्यान भग करने का उपाय करने लगे ॥१२॥ किन्तु इन्द्र के साथ मिल कर अत्यन्त प्राणु बुध्माण्ड नामक देवगण विभिन्न रूप धारण करके उसकी समाधि भग करने में सफल हुए ॥१३॥ उस समय माया ने निर्मित हुई उसकी माता सुनीति सत्रत नेत्र उसके समक्ष प्रकट होकर वरुण स्वर में, ठे पुत्र, हे पुत्र ! पुकारने लगी और बोली कि देह को नष्ट करने वाले इस भयंकर तप को त्याग दे, क्योंकि मैंने बड़ी-बड़ी मनोतिथियाँ मना कर तुझे प्राप्त किया था ॥१४-१५॥

दीनामेवा परित्यक्तुमनाथा न स्वमहंसि ।

सपत्नावचनाद्वत्स भगतेस्त्व गतिर्मम ॥१६॥

क व त्व पञ्चवर्षीयः क चैतद्धारण तप ।

निवर्तता मनः कृष्टाश्रियः प्राप्तफलवजितात् ॥१७॥

यास कीटनयानान्ते तदन्तेऽध्ययनस्य ते ।

ततः समस्तभागाना तदन्ते चेप्यते तप ॥१८॥

पात्रः कीटनयाना यस्तप यासस्थ पुत्रव ।

तस्मिंस्त्वमिच्छसि तपः किं नाशायामनो रतः ॥१९॥

मत्प्रोति परमा धर्मो वयोऽवस्थाक्रियाममम् ।

अनुवर्त्तन्व मा मोहाश्रियर्त्तास्मादधर्मतः ॥२०॥

परित्यजति वरसाण यद्येतन्न भवात्तप ।

त्यदयाम्यहमिह प्राणांस्ततो यं पर्यवस्तव ॥२१॥

हे पुत्र ! सौत के कठोर वचनों के कारण मुझ दुखिया का भी त्याग कर देना तेरे लिये उचित नहीं है । मुझ प्रायश्चित्त होना का आश्रय तो एक मात्र तू ही है ॥१६॥ कहीं तो तेरी पाँच वर्ष की प्रवस्था और कहीं यह अनुग्रह तपस्या ? भरे देना । इस निष्कल और क्लेशयुक्त आग्रह ने विमुख हो ॥१७॥ क्योंकि भभी तो तेरी प्राप्ति सेलने कूदने की ही है, फिर अध्ययन करने योग्य होगी, उसके बाद भोगों की भोगने का समय होगा और भन्न में तप करने की प्रवस्था प्राप्त होगी ॥१८॥ हे पुत्र ! तुझ मुकुमार की जो बाधावस्था है, उस सेलने की प्रवस्था में तू तपस्या का अभिलाषी हुआ है, भरे, तू क्यों इससे अपना सर्वनाश करने की तत्पर है ? ॥१९॥ मुझे प्रसन्न करना ही तेरा परम धर्म है, इसलिये तू अपनी प्राप्ति के अनुकूल ही क्यों की कर, मोह का अनुवर्जन और इस तपस्या की प्रथम से अब विमुख होना ॥२०॥ हे पुत्र ! यदि तू मात्र अपने इस तप रूप हठ का त्याग न करेगा तो मैं तेरे ही समक्ष अपने प्राण विसर्जन कर दूँगी ॥२१॥

ता प्रलापवनीमेवं बाष्पाकुलत्रिलोचनाम् ।
समाहितमना शिष्यो पश्यन्नापि न दृष्टवान् ॥२२॥
वत्स वत्स सुधोराणि रक्षाभ्येतानि भीषणे ।
वनेऽभ्युद्यतगच्छाणि समायान्त्यपगम्यताम् ॥२३॥
इत्युक्त्वा प्रययौ माय रक्षाभ्याविवेनुन्ततः ।
अभ्युद्यतोऽगच्छाणि ज्वालागमालाकुलैर्मुखैः ॥२४॥
ततो नादानतीवोभावाजपुत्रस्य ते पुरः ।
भुमुबुद्धीमशस्त्राणि आमयन्तो निशाचराः ॥२५॥
शिवाश्च शतशो नेदुः सज्वालाववलेर्मुखैः ।
आसाय तस्य बालस्य योगयुक्तस्य सर्वदा ॥२६॥
हन्ता हन्यतामेव छिन्ना छिन्नामयम् ।
भक्ष्यता भक्ष्यता चातमित्यूचुस्ते निशाचराः ॥२७॥
ततो नानाविधान्नादान् सिंहोष्ट्रमकराननाः ।
आसाय राजपुत्रस्य नेदुस्ते रजनीचराः ॥२८॥

श्री पराशरजी ने कहा — हे मंत्रेयजी ! ध्रुव का चित्त भगवान् श्रीरुद्र
 में तन्मयता पूर्वक लगा हुआ था, इसलिये उसने अपनी माना हरिणी माया का
 अभ्यूषात पूजन विलाप करते हुए देस कर भी नहीं देखा ॥२२॥ यह दस वर
 वह माया 'अरे पुत्र ! उठ, यहाँ से शीघ्र ही भाग निकल दल इस अशुभ
 घार वन में यह भयंकर राक्षस कैसे शस्त्रास्त्र ग्रहण किये हुए धारद है ऐसा
 कहती हुई यहाँ से चल दी और सभी ऐसे अनेक राक्षस वहाँ प्रकट होगये जिनके
 हाथों में शस्त्रास्त्र थे और मुख से अग्नि की लपटें निकल रही थी ॥२३॥
 उन राक्षसों ने अपने अपने समक्षों में लपटें निकालीं और उल्लास और ध्रुव के
 सामने भीषण कोलाहल किया ॥२४॥ उस निरर्थक योगपुरुष नागव ध्रुव को
 डराने के उद्देश से मुख से अग्नि की चिंगारियाँ छोड़ती हुई सँकड़ा गीदड़ियाँ
 वहाँ घोर शब्द करने लगी ॥२५॥ और ये राक्षस भी मारो, काटो, भक्षण
 करो इस प्रकार चीखने लगे तथा सिंह, ऊँट, मकर आदि जैसे मुख वाले
 भक्षक राक्षस भी उस राक्षसपुंज को उस्त करने के लिये अनेक प्रकार से
 गजना करने लगे ॥२६॥

रक्षासि तानि ते नादा शिवास्तान्यापुधानि च ।

गोविन्दासक्तचित्तस्य ययुर्नन्द्रयगोचरम् ॥२६॥

एकाग्रचेता सतत विष्णुमेवात्मसश्रयम् ।

दृढवा-पृथिवीनाथपुत्रो नाम्य कथञ्चन ॥३०॥

तत सर्वासु मायासु विलीनासु पुन सुरा ।

सक्षोभ परम जग्मुस्तत्परामवशङ्किता ॥३१॥

ते समेत्य जगद्यानिमनादिनिधन हरिम् ।

शरण्य शरण यातास्तपसा तस्य तापिता ॥३२॥

द्वन्द्व जगन्नाथ परेश पुरुषोत्तम ।

ध्रुवस्य तपसा तद्वास्त्वा वय शरण गता ॥३३॥

दिने दिने कलालेशै शशाङ्क पूयते यथा ।

तथाय तपसा दव प्रयात्यृद्धिमहनिशम् ॥३४॥

श्रोतानपादितपसा वयमित्य जनादेन ।

भीतास्त्वां शरणं यातास्तपसस्तं निवर्तय ॥३५॥

परंतु भगवान् मे प्राप्तक चित्त वाले उस बालक को स्मरिणी और उनके शब्द तथा राक्षस और उनको वर्जन तथा शस्त्रास्त्र बुद्ध भी दिखाई न पड़े ॥३६॥ वह राजकुमार एकाग्र चित्त से अपने आग्रह स्वरूप भगवान् विष्णु की ही देखना रहा, उनके अनिरिक्त उसने किसी अन्य को नहीं देखा ॥३७॥ इस प्रकार उस सन्तुष्ट माया के विहीन होने से देवगण उनके हारने की आशा करने हुए अत्यंत भयभीत हुए ॥३८॥ इसलिए उनके तप से व्याकुल हुए वे परस्पर मिल कर ससार के आदि कारण, कारणगत बलन, आदि-रहित तथा अन्त-विहीन भगवान् विष्णु की शरण में पहुँचे ॥३९॥ देवनाभी ने कहा - हे देव-देव ! हे जगन्नाथ ! हे परब्रह्म, हे पुरुषोत्तम ध्रुव के तप को देख कर हम व्याकुल हो रहे हैं, हमलिये आपकी शरण को प्राप्त हुए हैं ॥४०॥ हे देव ! जैसे चन्द्रमा अपनी कलाओं के द्वारा नित्य वृद्धि को प्राप्त होता है, वैसे ही हमने तप के प्रभाव से यह दिन-रात्रि निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहा है ॥४१॥ हे जनार्दन ! हम उत्तानपाद-मुक्त ध्रुव के तप से डर कर आपकी शरण में उपस्थित हुए हैं, आप उन्हे तपस्या से निवृत्त करिये ॥४२॥

न विद्यः किं स शत्रुत्वं सूर्यत्वं किमभीप्सति ।

चित्तपांभुपसोमानां सार्थभनापः पदेषु किम् ॥४३॥

तदस्माकं प्रसीदेत हृदयाच्छन्यमुद्धर ।

उत्तानपादतनयं तपसः सन्निवर्तय ॥४४॥

नेन्द्रित्य न च सूर्यत्वं नेवाम्बुपधनेशताम् ।

प्रार्थयत्येष यं कामं तं करोम्यखिलं सुराः ॥४५॥

यान देवा यथाकाम स्वस्थान विगतज्वराः ।

निवर्त्तयाम्यहं वातं तपस्यासक्तमानसम् ॥४६॥

इत्युक्त्वा देवदेवेन ब्रह्मण्य त्रिदशस्ततः ।

प्रययुः स्वानि धिष्ण्यानि दातकनुपुरोगमा ॥४७॥

भगवानपि सर्वात्मा तन्मयत्वेन तोषितः ।

गत्वा ध्रुवमुवाचेद चतुर्भुजवपुर्हरि ॥४१॥

श्रोतानपादे भद्र ते तपसा परितोषितः ।

वरदोऽहमनुप्राप्तो वर वरय सुव्रतः ॥४२॥

बाह्यार्थनिरपेक्ष ते मयि चित्तं यदाहितम् ।

तुष्टोऽहं भवतस्तेन तद्वृणीष्व वर परम् ॥४३॥

वह इन्द्रत्व की कामना करता है अथवा सूर्यत्व प्राप्त करना चाहता है या वह कुबेर, वरुण, चन्द्रमा में से किसी के पद की प्राप्ति-अभिलाषा करता है यह हमें ज्ञात नहीं है ॥३६॥ हे प्रभो ! आप हम वर प्रसन्न हूँजिये और उत्तानपाद सुत की तपस्वा से निवृत्त करके हमारे हृदय-कटक को दूर कीजिये ॥३७॥ यह सुन कर श्री भगवान् ने कहा—हे देवगण ! तुम चिन्ता को त्याग कर अपने-अपने स्थान को जाओ । ॥३८॥ इन्द्र, वरुण या कुबेर आदि के पद की कामना नहीं करता, मैं उसकी अभिलाषा पूर्ण करूँगा और उसे तप से भी निवृत्त कर दूँगा ॥३९-४१॥ श्री पराशर जी ने कहा—देवदेव भगवान् विष्णु द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर सभी देवता उन्हें प्रणाम करके अपने-अपने धाम को गये और सर्वात्मा भगवान् ने भी ध्रुव के तप से समुष्ट होकर उसे चतुर्भुज रूप में वर्णन देकर कहा ॥४०-४१॥ भगवान् बोले—हे उत्तानपाद के पुत्र ! हे ध्रुव ! तेरा कल्याण हो । तेरे तप से प्रसन्न होकर तुझे वर देने के निमित्त मैं यहाँ आया हूँ, हे श्रेष्ठ व्रत वाले ध्रुव ! अब तू इच्छित वर माँगले ॥४२॥ तू ने सभी बाह्य विषयों को त्याग कर मुझ में ही अपने चित्त को लगाया है, इसलिये मैं तुझ पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ । अब तू अपना अभिलाषित वर माँग ॥४३॥

ध्रुत्वेत्य गदित तस्य देवदेवस्य बालकः

उन्मीलिताक्षो ददृशे ध्यानदृष्टं हरिं पुर ॥४४॥

शङ्खचक्रगदाशाङ्गवरासिधरमच्युतम् ।

किरीटिन समालोक्य जगाम शिरसा महीम् ॥४५॥

रोमाञ्चिताङ्गः सहसा साध्वस परम गतः ।

स्तवाय देवदेवस्य स चक्रं मानसं प्रवः ॥४६॥

किं वदामि स्तुतावस्य केनोक्तेनास्य संन्तुतिः ।

इत्याकुलमतिर्देव तमेव शरणं ययौ ।४७।

भगवन् यदि मे शोभ तपसा परमं गतः ।

स्तोतुं तदहमिच्छामि वरमेन प्रयच्छ मे ।४८।

ब्रह्माद्यस्य वेदज्ञं ज्ञापिते यस्य नो गतिः ।

तत्त्वा कथमहं देव स्तोतुं शक्नोमि बालकः ।४९।

त्वद्भक्तिप्रवणं ह्येतत्परमेष्ठिन मे मन ।

स्तोतुं प्रवृत्तं त्वरपादौ तन प्रज्ञा प्रयच्छ मे ।५०।

शङ्खप्रान्तेन गोविन्दस्त पस्पज्ञं कृताञ्जलिम् ।

उत्तानपादतनय द्विजवर्यं जगत्पतिः ।५१।

अथ प्रमत्तवदनः स क्षणान्मुपनन्दनः ।

तुष्टाव प्रणतो भूत्वा भूतघातारमच्युतम् ।५२।

श्री पराशरजी ने कहा—भगवान् विष्णु के वचन सुन कर बालक ध्रुव ने अपने नेत्र छोले और ध्यानावस्था में जिसके दर्शन किये थे, उन भगवान् की साक्षात् रूप में अपने सामने खड़े पाया ।॥४६॥ वे भगवान् शिरीष, मुकुट, शक पत्र, गदा, शङ्ख मनुष्या खड्ग शरण किये हुए थे । उन्हें देख कर ध्रुव ने पृथिवी पर अपना मस्तक रख कर प्रणाम किया और सहस्र रोमांचित हाँसे हुए उसने भगवान् की स्तुति करनी चाही । परन्तु स्तुति में क्या कहूँ यह उसकी समझ में नहीं आया जिससे वह अत्यंत व्याकुल हुआ और पन्थ में उसने भगवान् की ही शरण की ।॥४७-४८॥ ध्रुव बोला—हे प्रभो ! यदि आप मेरे सब से प्रसन्न हुए हैं तो मैं आपकी स्तुति करने की इच्छुक हूँ प्रथम वर यही प्रदान करिये जिससे मैं आपका स्तव करने में समर्थ हो सकूँ ।॥४९॥ हे देव ! ब्रह्मा आदि वेदों के ज्ञाता भी जिसकी गति का ज्ञान नहीं रखते, उनका स्तवन में विशेष शालक किस प्रकार कर सकता हूँ ? ।॥५०॥ हे परमेश्वर ! आपकी भक्ति से प्रविष्ट हुआ मेरा चित्त आपसे चरणों की स्तुति करने की उन्मत्त है, शक्तिये आप मुझे बंसी ही बुद्धि दीजिये ।५१॥ श्री पराशरजी ने कहा—हे द्विज भो ! भगवान् श्री गोविन्द ने अपने सामने करबद्ध खड़े हुए ध्रुव की पाने

मित्र रहने हैं ॥१८॥ भूत, भविष्यत् आदि आप ही हैं और विराट्, वरुण, मरुत आदि एवं अधिपुरुष आदि की उत्पत्ति भी आपसे हुई है ॥१९॥

अतरिच्यत सोऽथ त्रिषून् च वे भुवः ।

त्वत्तो विश्वमिदं जात त्वत्तो भूतमविष्यतो ॥६०॥

त्वद्रूपवारिणश्चान्नभूत सर्वमिदं जगत् ।

त्वत्तो यज्ञः सर्वद्वजः पृषदाग्नं षमुद्विषा ॥६१॥

त्वत्तः ऋचोऽयं सामानि त्वत्तद्वन्दामि जनिरे ।

त्वत्तो यजूंष्यजामन्त त्वत्तोऽप्यादवैकना दनः ॥६२॥

गावस्त्वत्तः समुद्वनतास्त्यत्तोऽथा अवयो मृगाः ।

त्वन्मुत्तादश्राहणास्त्वत्तो वाहोः क्षनमजायत ॥६३॥

वैदयास्तदोदजाः शुद्धास्तव पद्भ्यां समुन्दताः ।

अदृणोः सूर्योऽनिलः प्राणान्चन्द्रमा मनसस्त्वव ॥६४॥

प्राणोऽन्त नृपिराजज्ञातो मुष्मादग्निरजायत ।

नानितो गगनं द्यौश्च निरसः समवर्जत ।

दिशः धोनात्क्षितिः पद्भ्यां त्वत्तः सवयमूदिदम् ॥६५॥

न्यग्रोधः सुमहानल्पं यथा बीजे व्यवस्थिनः ।

संयमे विश्वमक्षिणं बोधभूतं तथा त्वनि ॥६६॥

आप सभी दिशाओं में प्रवृद्ध हैं, यह समूहों विश्व आपसे ही प्रकट हुआ है, तथा भूत-भविष्यत् भी आपसे ही हुए हैं ॥६०॥ यह समूहों विद्वत् आपसे 'वन्द्य' भूत द्रष्टागुह में है, सभी पुरुषोंवालों वापा यज्ञ, पृषदाग्न और दो प्रकार : षमु, यह सब आप से ही हुए हैं ॥६१॥ आपसे ऋक्, यजुः साम और गाथी आदि छंदों की उत्पत्ति हुई है तथा आपसे ही अश्व और एक दोत वाले बैला आदि जीव हुए हैं ॥६२॥ आपसे ही गौ, बकरी, भेड़, मृग हुए हैं और आपके ही मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुए हैं । आपकी भुजाओं से सवित्र, जाधो से वेद और चरणों से मूर्खों की उत्पत्ति हुई है । आपसे ही नेत्रों से सूर्य, प्राण, से वायु, मन से चन्द्रमा, नादिकारण से प्राण, मुख से अग्नि, नाभि से आकाश मन्त्रक से स्वर्ग, श्रोत्र से दिशाएँ तथा चरणों से पृथिवी आदि की उत्पत्ति

सक्ष वे अथ भाग से स्पर्श किया तभी वह राजपुत्र दाएँ भर में ही हाथित मुष्ट से अत्यंत विनीत होकर भगवान् की स्तुति में प्रवृत्त हुआ ॥१५६-१६॥

भूमिरापोऽनलो वायुः ख मनो बुद्धिरेव च ।
 भूतादिरादिप्रकृतियस्य रूपं नतोऽस्मि तम् ॥१३॥
 शुद्धं सूक्ष्मोऽखिलव्यापी प्रधानात्पत पुमान् ।
 यस्य रूपं नमस्तस्मै पुरुषाय गुणाशिने ॥१४॥
 भूरादं ना समस्तानां मन्धादीनां च शाश्वत ।
 बुध्यादीनां प्रधानस्य पुरुषस्य च यं परं ॥१५॥
 तं ब्रह्मभूतमात्मानमशेषजगत् पतिम् ।
 प्रपद्ये शरणं शुद्धं त्वद्रूपं परमेश्वर ॥१६॥
 बृहत्त्वादं बृहत्त्वाच्च यद्रूपं ब्रह्मसंज्ञितम् ।
 तस्मै नमस्ते सर्वात्मन्योगिचिन्त्याविकारिणे । ७।
 सहस्रशोर्थां पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
 सर्वव्यापी भुवः स्पर्शादत्यतिष्ठद्वाङ्मलम् ॥१८॥
 यद्रूपं यच्च वै भव्यं पुरुषोत्तमं तद्भुवान् ।
 त्वत्तो विराट् स्वराट् सम्राट् त्वत्तद्वाप्यधिपूरुष ॥१९॥

ध्रुव ने कहा—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, महेश्वर और मूल प्रकृति जिन भगवान् के स्वरूप हैं, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ ॥१३॥ जो परमात्म देव अत्यंत शुद्ध, सूक्ष्म, सर्व व्याप्त तथा प्रधान से भी परे है और वह पुरुष जिनका स्वरूप है, मैं उन गुण भोक्ता को नमस्कार करता हूँ ॥१४॥ हे प्रभो ! पृथिव्यादि सब भूत और अथादि उनके गुण, बुद्धि आदि कारण एवं प्रधान और पुरुष से भी परे सनातन पुरुष आप ही है, मैं आप निखिल ब्रह्माण्ड नायक के ब्रह्मभूत स्वरूप की शरण में हूँ ॥१५॥ हे योगियों के लिये चिन्तन के योग्य ! हे सर्वात्मन् ! व्यापक और बढ़ने वाला होने से आपका जो रूप ब्रह्म कहा गया है, मैं उसी निर्विकार रूप को नमस्कार करता हूँ ॥१६॥ हे नाथ ! आप सहस्र शिर सहस्र नेत्र और सहस्र पद वाले परम् पुरुष हैं, आप सर्वत्र व्याप्त हैं तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके दस मण्डल प्रमाण से

मिदं रहने ॥१५८॥ भूत, नविष्यन् आदि आप ही हैं और विराट्, स्रष्टा, स्रज्ज् एव प्रविशुष्य आदि की उत्पत्ति भी आपसे हुई है ॥१५९॥

अत्यरिच्यत सोऽप्यश्च नियमूचन् च वे भुवः ।

त्वत्तो विश्वमिदं जान त्वत्तो भूतनविष्यतो ॥१६०॥

त्वद्रूपवारिणश्चान्धभूतं नवंमिदं जगत् ।

त्वत्तो यज्ञः स्रवंहृतः पृथदाग्य पशुद्विधा ॥१६१॥

त्वत्तः ऋचोऽप्य सामानि त्वत्तः स्रज्ज्द्विधा जज्ञिरे ।

त्वत्तो यज्ञं प्यजायन्त त्वत्तोऽन्वाश्चैकना दनः ॥१६२॥

गावस्त्वत्तः समुद्भूतास्त्वत्तोऽन्वा भवयो मृगाः ।

त्वन्मुखाद्वाह्याणास्त्वत्तो वाह्योः दानमजायत ॥१६३॥

वैश्यास्तवाहजाः शुद्रास्तव पशूणां समुद्भवाः ।

अक्षणोः सूर्योऽनिलः प्राणाच्चन्द्रमा मनसस्तव ॥१६४॥

प्राणोऽस्तं गुपिराज्ज्जातो मुग्धादग्निरजायत ।

नानितो गगनं चोन्न गिरसः समवर्तत ।

दिशः श्रोत्रास्ततिः पशून्वा त्वत्तः स्रवमभूदिदम् ॥१६५॥

न्यग्रोधः सुमहानल्पे यथा बीजे व्यसस्थितः ।

मयमे विश्वमस्मिन् बीजभूतं तथा त्वयि ॥१६६॥

आप सभी दिशाओं में प्रवृद्ध हैं, यह समूहों विषय आपसे ही प्रवृद्ध हुआ है, तथा भूत-नविष्यन् भी आपसे ही हुआ है ॥१६०॥ यह समूहों विरद आपके स्वप्न भूत वद्यागृह में है, सभी पुरोदानों वाता यज्ञ, पृथदाग्य और ही प्रकार के पशु, यह सब आप से ही हुआ है ॥१६१॥ आपसे ऋच, स्रज्ज् आप और आपकी प्राणि पदों की उत्पत्ति हुई है तथा आपसे ही स्रज्ज् और एक दौत वाले नेत्रों प्राणि जीव हुए हैं ॥१६२॥ आपसे हो गी, बरहो, मेघ, मृग हुए हैं और आपसे ही मुग्ध में वाह्याण उत्पन्न हुए हैं । आपकी मुखों से शक्ति, जीवों से वैश्य और पशुओं से शुद्रों की उत्पत्ति हुई है । आपसे ही नेत्रों से मूत्र, प्राण, से वायु, मन से अहम्, नासिकारध से प्राण, मुख से अग्नि, नाभि से आकाश मन्त्र से शक्ति, श्रोत्र से दिशाएँ तथा पशुओं से पृथिवी प्राणि की उत्पत्ति

हुई है, इस प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व ही आपसे उत्पन्न हुआ है ॥६३-६५॥ जैसे छोटे से बीज में विशाल वट वृक्ष रहता है, वैसे ही आप बीज रूप में यह विश्व प्रलयकाल में लीन रहता है ॥६६॥

बीजादङ्कुरसम्भूतो न्यग्रोधस्तु समुत्थितः ।
विस्तारं च यथा याति त्वत्तः सृष्टौ तथा जगत् ॥६७॥
यथा हि कदली नान्या त्वक्षयादपि दृश्यते ।
एवं विश्वस्य नान्यस्त्वत्त्वत्स्थायीश्वर दृश्यते ॥६८॥
ह्लादिनी सन्धिनी सविस्त्वयेका सर्वसंस्थितौ ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥६९॥
पृथग्भूतंकभूताय भूतभूताय ते नमः ।
प्रभूतभूतभूताय तुभ्य भूतात्मने नमः ॥७०॥
व्यक्तप्रधानपुरुषो विराट् सभ्राट् स्वराट् तथा ।
विभाव्यतेऽन्तःकरणो पुरुषेण्वक्ष्यो भवान् ॥७१॥
सर्वस्मिन्सर्वभूतस्त्व सर्वः सर्वस्वरूपवृक् ।
सर्वं त्वत्तत्ततश्च त्वं नमः सर्वात्मनेऽस्तु ते ॥७२॥
मर्वात्मकोऽसि सर्वेण सर्वभूतस्थितो यतः ।
कथयामि नततः किं ते सर्वं वेत्सि हृदि स्थितम् ॥७३॥

हे प्रभो ! जैसे बीज से अकुर हुआ वट वृक्ष वृद्धि को प्राप्त होकर बहुत विस्तार वाला हो जाता है, वैसे ही यह विश्व सृष्टि काल में आप से उत्पन्न होकर अत्यंत विस्तीर्ण हो जाता है ॥६७॥ हे प्रभो ! कदली क्षुण् क्षिणिके और पत्तों से पृथक् प्रतीत नहीं होता, वैसे ही यह विश्व से पृथक् नहीं देखा जाता, क्योंकि वह आप में ही स्थित है ॥६८॥ आपसर्वाश्रय में ह्लादिनी और सन्धिनी विद्या अभिन्न रूप से निवास करती है । आप निर्गुण हैं इसलिये कोई भी आह्लादिनी, संतप्त करने वाली या दोनों गुणों से मिली हुई सवित् आप में नहीं रहती ॥६९॥ आप ही पृथक् रूप तथा एक रूप भी हैं आप ही सूक्ष्म भूत तथा अनेक जीव हैं, आप ही सब भूतों में अन्तर में निवास करते हैं, ऐसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥७०॥ आप ही अन्तःकरण में महत्तत्त्व, प्रधान, पुरुष, विराट्, सभ्राट् और स्वराट्

आदि रूपों में ध्यान बिम्बे जाते हैं तथा पुरुषों में आप नित्य एवं सम रहित है ॥७१॥ सब में आपही सर्व भूत हैं, सब रूपों के धारक होने से आप ही सब कुछ है, सम्पूर्ण पदार्थ आपसे ही हुए हैं, इसलिये आप सर्वात्मा को नमस्कार करता हूँ ॥७२॥ हे सर्वेश्वर ! हे सर्वात्मक ! आप सब भूतों में व्याप्त हैं, मैं आपसे क्या निवेदन करूँ, क्योंकि आप तो घट-घट की जानते हैं ॥७३॥

सर्वारमन्सर्वभूतेश सर्वसत्त्वसमुद्भूतः ।
 सर्वभूतो भवान्वेति सर्वसत्त्वमनोरयम् ॥७४॥
 यो मे मनोरथोनाथ सफलः स त्वया कृतः ।
 तपश्च तप्तं सफलं यद्दृष्टोऽसि जगत्पते ॥७५॥
 तपसस्तरफलं प्राप्तं यद्दृष्टोऽहं त्वया ध्रुव ।
 महदां न हि विकल राजपुत्र न जायते ॥७६॥
 धरं धरय तस्मात्त्वं यथाभिमतमात्मनः ।
 सर्वं सम्भवते पुंसां मयि दृष्टिपर्यं गते ॥७७॥
 भगवन्भूतभक्ष्येण सर्वस्यास्ते भवान् हृदि ।
 किमज्ञातं तव ब्रह्मन्मनसा यन्मये स्मृतम् ॥७८॥
 तथापि तृभ्य देवेण कथयिष्यामि त्वेवमा ।
 प्राप्यते दुर्विनीतेन हृदयेनातिदुर्लभम् ॥७९॥
 किं वा सर्वजगत्स्रष्टः प्रसन्ने त्वयि दुर्लभम् ।
 त्वत्प्रसादफलं भृङ्क्तेऽत्रैलोवय मघयानपि ॥८०॥
 नैतज्जासन योग्यगजातस्य ममोदरात् ।
 इतिगर्वादवोचन्मां सपत्नी मातुस्त्वर्कः ॥८१॥
 आधारभूतं जगतः सर्वेषामुत्तमोत्तमम् ।
 प्रार्थयामि प्रभो स्थानं त्वत्प्रसादादतोऽव्ययम् ॥८२॥

हे सब भूतेश्वर ! हे सर्वात्मन् ! हे सर्व भूतों के आदि स्थान, आप ही भूत रूप में स्थित होने के कारण, सभी के मनोरथों के जानने वाले हैं ॥७४॥ यही वो इच्छा थी, वह तो आपने पूर्ण कर दी और मेरा तप भी सफल हो गया

क्योकि मैंने आपका साक्षात् दर्शन प्राप्त कर लिया है । ७५॥ श्री भगवान् ने कहा — हे ध्रुव ! तुझे मेरा दर्शन मिल गया, इससे तेरा तप तो सफल हो गया, परन्तु मेरा साक्षात्कार भी तो कभी फल-रहित नहीं होता ॥ ७६॥ इसलिये अब तू अपना इच्छित वर माँग, क्यो मेरा दर्शन प्राप्त करने वाले को अप्राप्य कुछ भी नहीं रहता ॥ ७७॥ ध्रुव ने कहा—हे भगवान् ! आप सब के अन्तःकरण में स्थित हैं, इसलिये मन की कोई भी इच्छा आप से छिपी हुई नहीं रह सकती ॥ ७८॥ फिर भी हे प्रभो ! मैं जिस अत्यन्त दुर्लभ वस्तु की अभिलाषा करता हूँ, उसे आपकी आज्ञानुसार निवेदन करूँगा ॥ ७९॥ हे विश्व रक्षिता प्रभो ! आप प्रसन्न हो गये हैं तो अब क्या दुर्लभ रह गया है । देवराज इन्द्र भी आपकी कृपा दृष्टि प्राप्त करके ही तीनों लोकों का भोग करते हैं ॥ ८०॥ हे प्रभो ! मेरी विमाता ने अत्यन्त अहंकार पूर्वक कहा था कि जिसने मेरे उदर से जन्म नहीं लिया, वह इस राज्य सिंहासन के योग्य नहीं हो सकता ॥ ८१॥ इसलिये, मैं आपकी कृपा से उस सर्वश्रेष्ठ अम्यय स्थान की इच्छा करता हूँ जो संपूर्ण जगत् का आश्रय भूत हो ॥ ८२॥

यत्त्वया प्रार्थ्यते स्थानमेतत्प्राप्स्यति वै भवान् ।

त्वयाह तोषितः पूर्वमन्दजन्मनि बालक ॥ ८३॥

त्वमासीर्ग्राह्यः पूर्वं मध्येकाग्रमति सदा ।

मातापित्रोश्च शुश्रूषुनिजघमांनुपालकः ॥ ८४॥

पालेन गच्छता मित्र राजपुत्रस्तवाभवत् ।

योधनेऽपिलभोगाद्भ्यो दर्शनीयोऽज्ज्वलाकृतिः ॥ ८५॥

तत्तद्ज्ञानस्य तामृद्धिमवलोक्यातिदुर्लभाम् ।

भवेय राजपुत्रोऽहमिति बभूव त्वया कृता ॥ ८६॥

ततो यथाभिलषिता प्राप्ता ते राजपुत्रता ।

उत्तानपादस्य गृहे जातोऽसि ध्रुव दुर्लभे ॥ ८७॥

अन्धेना दुर्लभ स्थानं मुने स्वामभुवत्स यत् ।

तस्मैतदपर यात मेनाह परितोषितः ॥ ८८॥

मामाराज्य नरो मुक्तिमवाप्नोत्यविलम्बिताम् ।

मथ्यपित्तमना वान किमु स्वर्गादिकं पदम् ॥८६॥

श्री भगवान् ने कहा—हे वाचक ! तू ने अपने पूर्व जन्म में भी मुझे प्रवृत्त किया था, इसलिये तेरे इच्छित स्थान की तुझे अवश्य प्राप्ति होगी ॥८६॥ उस जन्म में तू ब्राह्मण पुत्र में उत्पन्न, माणा-गिरा की सेवा करने वाला, स्वर्ण पराशर शीर मुक्त में तन्मय भाव वाला था ॥८४॥ कालान्तर में तेरी मित्रता एक राजकुमार से होगई, जो कि अनार्य तरुणावस्था में सर्व भोग मग्न और हृष साहस्य में भी देखने योग्य था ॥८६॥ उसही मैत्रि में रहते हुए उसके दुर्गम वंशज को देखकर राज पुत्र होने की तेरी भी इच्छा हुई ॥८९॥ इसीलिये तुझे इस जन्म में राजपुत्रत्व की प्राप्ति हुई है और जिन स्वामश्रुत मनु के पुत्र में किसी का जन्म तेरा दुर्लभ है, उन्हीं के पुत्र उत्तानपाद ने यहाँ तू उत्पन्न हुआ है, परंतु, हे वाचक ! जिनने मुझे प्रसन्न किया है, उनके लिये तो यह स्थान नगण्य ही है ॥८७-८८॥ मेरे धाराधन में मोक्ष भी तुरंत मिल जाता है, तो जिनका चित्त निरंतर ही मुझ में लग्न हुआ है, उसके लिये स्वर्गादि लोक तो सुख ही हैं ॥८६॥

वैलोकादधिके स्थाने सर्वेत्तराग्रहाधयः ।

भविष्यति न सन्देहो मत्प्रसादाद्भूबाग्नयः ॥९०॥

सूर्याप्त्यामलवा भीमात्मोमपुत्राद्वृहस्पतेः ।

सितार्पितनयादीनां सर्वेक्षोणा तथा ध्रुवः ॥९१॥

सप्तर्षीणामशेषाणां ये च वैमानिकाः सुगः ।

सर्वेषामुपरि स्थानं तव दत्ता मया ध्रुवः ॥९२॥

केचिच्चतुर्थं यथावत्केचिन्मन्त्रान्तरं सुराः ।

तिष्ठन्ति भवतो दत्ता मया च कल्पसंस्थितिः ॥९३॥

सुनीतिरपि ते माता त्वदासन्नातिनिर्मला ।

विमाने ठारवा भूत्वा त्वत्कालं निवर्त्यति ॥९४॥

ये च त्वां मानवाः प्रातः सायं द्वयुगमाहिताः ।

कीर्त्तयिष्यन्ति तेषां च महत्सुखं भविष्यति ॥९५॥

हे ध्रुव ! तू त्रिलोकी में सर्वोच्च स्थान की निश्चय ही प्राप्त करेगा और सब ग्रहों तथा नक्षत्रों का आश्रय रूप होगा ॥६०॥ हे ध्रुव ! मैं तुझे वह ध्रुव स्थान प्रदान करता हूँ जो सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र और शनि ग्रहों, नक्षत्रों, सप्तर्षियों और विमान में विचरण करने वाले सब देवताओं से भी उच्च है ॥६१-६२॥ कोई देवता चार युग तक और कोई एक मन्वन्तर तक ही स्थित रहते हैं, परन्तु मैं तुझे एक वल्गु तक के लिए स्थित करता हूँ ॥६३॥ तू माता सुनीति भी अत्यन्त उज्ज्वल तारिका रूप से एक विमान में स्थित रह कर उतने ही समय तक तेरे पास रहेगी ॥६४॥ जो मनुष्य तेरे इस चरित्र का प्रातः साय कीर्तन करेगा, उन्हें महान् पुण्य-फल की प्राप्ति होगी ॥६५॥

एवं पूर्वं जगन्नाथाद्देवदेवाज्जनादंनत् ।
 वर प्राप्य ध्रुवः स्थानमध्यास्ते स महागते ॥६६॥
 स्वयं शुश्रूषणाद्धर्म्यन्मितापित्रोश्च वै तथा ।
 द्वादशाक्षरमाहात्म्यात्तपसश्च प्रभावतः ॥६७॥
 तस्याभिमानमूर्द्धि च महिमानं निरीक्ष्य हि ।
 देवासुराणामाचार्यः श्लोकमश्रोशना जगौ ॥६८॥
 अहोऽस्य तपसो वीर्यमहोऽस्य तपसःफलम् ।
 यदेनं पुरतः कृत्वा ध्रुव सप्तर्षयः स्थिताः ॥६९॥
 ध्रुवस्य जननी चेय सुनीतिर्नाम सूनृता ।
 अस्याश्च महिमानं कः शक्तो वर्णयितुं भुवि ॥७०॥
 त्रैलोक्याश्रयता प्राप्त परं स्थानं स्थिरायति ।
 स्थानं प्राप्ता परं धृत्वा या कुक्षिविवरे ध्रुवम् ॥७१॥
 यश्च तत्कीर्तयिन्नित्यं ध्रुवस्यारोहणं दिवि ।
 सर्वपापविनिर्मुक्तः स्वर्गलोके महीयते ॥७२॥
 स्थानभ्रंशं न चाप्नोति दिवि वा यदि वा भुवि ।
 सर्वं वत्स्याणसंयुक्तो दीर्घकालं स जीवति ॥७३॥

श्री पराशरजी ने कहा—हे महामते ! देवदेव जनार्दन भगवान् से ऐसा वर प्राप्त कर ध्रुव उस अत्यन्त श्रेष्ठ स्थान में प्रतिष्ठित हो गये ॥६६॥ यमं

रामणता पूर्वक अपने माता-पिता की सेवा, द्वादशाक्षर मंत्र के माहात्म्य और उपस्था के प्रभाव से उनके मान बँधव और प्रभाव को बढ़ता हुआ देख कर देवताओं और असुरों के आचार्य श्री शुक्राचार्य जी ने उनकी प्रशस्ति में कहा है कि भद्रा, इस ध्रुव की तपस्या का कैसा प्रभाव और कितना धर्मभूत फल है, जिससे सप्तपिण्ड इस ध्रुव को अग्रगण्य करके स्थित हैं ॥६८-६९॥ इस की माता मुनीति भी सत्य और हितकारी वचन कहने वाली हुई है, उसकी महिमा के वर्णन की सामर्थ्य किस में है ? जिने ध्रुव को अपने उदर में धारण करके हो तीनों लोकों का माय्य भूत सर्वश्रेष्ठ स्थान को पा लिया, वह स्थान विरस्यायी रहेगा ॥१००-१०१॥ ध्रुव के इस दिव्य लोक प्राप्ति वाले प्रसंग का कीर्तन करने वाला मनुष्य सभी पापों से छूट कर स्वर्ग में पूजा जाता है ॥१०२॥ फिर वह स्वर्ग प्रपन्ना पृथिवी पर कहीं भी रहे अपने स्थान से नहीं गिरता तथा सभी मंगलों से सम्पन्न रहता हुआ, दीर्घकाल तक जीवन पारण करता है ॥१०३॥

तेरहवाँ अध्याय

ध्रुवाब्धिर्दृष्टि च भव्यं च भव्याच्छम्भुर्व्यजायत ।
 शिष्टेराघत्त सुच्छाया पञ्चपुत्रानकल्मषान् ॥१॥
 रिपुं रिपुक्षयं विप्रं वृकल वृकतेजसम् ।
 रिपोराघत्त वृहती चाक्षुषं सर्वतेजसम् ॥
 भजीजनत्पृक्करिण्या वारुण्या चाक्षुषो मनुः
 प्रजापतेरामजायां वीरणस्थ महोत्तमनः ॥२॥
 मनोरजायन्त दद्या नह्वलाया महौजसः ।
 कन्याया तपता थोष्ठ वैराजस्य प्रजापतेः ॥३॥
 कुरुः पुरुः शतयु म्नास्तपस्वी सत्यवाञ्छुभिः
 भग्निष्टोमोऽतिरात्रश्च सुयु म्नाश्चेति ते नव

अभिमन्युश्च दशमो नङ्गलाया महौजस ।
 कुरोरजनयत्पुत्रान् पडाग्नेयी महाप्रभान् ॥६॥
 अङ्ग सुमनस ख्यातिं कनुमङ्गिरस शिबिम् ।
 अङ्गान्मुनोथापत्य वै वेनमेकमजायत ॥७॥

श्री पराशरजी ने कहा—हे मंत्रेपजी ! ध्रुव ने शिष्टि और भव्य का जन्म हुआ । भव्य का पुत्र शम्भु हुआ और शिष्टि की भार्या ने रिपु, रिपुञ्जय, विप्र, वृकल और वृकतेजा नामक पाँच पुत्रों को जन्म दिया । उनमें से रिपु ने अपनी वृहती नाम की भार्या से महातेजस्वी चाक्षुष नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥१२॥ चाक्षुष का विवाह वरुण कुलोत्पन्न महात्मा वीरुण प्रजापति की पुत्री से हुआ, उसी मनु की उत्पत्ति हुई ॥१३॥ नपस्वीवर मनु ने वैराज प्रजापति की पुत्री नङ्गला से दश अत्यंत तेजस्वी पुत्रों को उत्पन्न किया ॥१४॥ उनके कुछ, कुछ, तनघुम्न, तनस्वी, सत्यवान्, सुचि, अग्निहोम, अतिरार्ज, सुघुम्न एवं अभिमन्यु नाम हुए । कुरु ने अपनी भार्या आग्नेयी से धग, सुमन, ख्याति, कनु, अगिरा और शिवि नामक छ अत्यंत प्रतापी पुत्र उत्पन्न किये । धग ने मुनोथा के गर्भ से वेन नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥१५-७॥

प्रजार्थमृषयस्तस्य ममन्युर्दक्षिण करम् ।
 वेनस्य पाणी मयिते सम्बभूव महामुने ॥८॥
 दैग्यो नाम महोपासी य पृथुः परिकीर्तितः ।
 येन दुग्धा मही पूर्वं प्रजाना हितकारणान् ॥९॥
 विमर्थं मयित पाणिर्बेनस्य परमपिभिः ।
 यत्र जज्ञे महावीर्यं स पृथुर्मुनिसत्तम ॥१०॥
 मुनोथा नाम या वन्यामृत्यो प्रथमतोऽभवत् ।
 अङ्गस्य भार्या सा दत्ता तस्या वेनो व्यजायत ॥११॥
 स मातामहदोषेण तेन मृत्यो सुतात्मजः ।
 निसर्गदिप मेत्रेय दुष्ट एव व्यजायत ॥१२॥
 अभिपिक्तो यदा राज्ये स वेनः परमपिभिः ।
 घोषयामास स तदा पृथिव्या पृथिवीपतिः ॥१३॥

न यष्टव्यं न दातव्यं न ह तव्यं कथञ्चन ।

भोक्ता यज्ञस्य कस्त्वन्यो ह्यह यज्ञपतिः प्रभु ॥१५॥

ततस्तमृषयः पूर्वं सम्पूज्य पृथिवीपतिम् ।

ऊचुः सामकल वावय मैत्रेय सनुपन्थिताः ॥१६॥

उसी वन के दक्षिण हाथ का ऋषियों ने सन्तान के निमित्त मग्न किया था, जिससे वैन नामक एक पुत्र की उत्पत्ति हुई, यही राजा पृथु के नाम से प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने प्रजा-पालन के निमित्त पृथिवी का दोहन किया था ॥१५॥ श्री मैत्रेयजी ने कहा—हे मुनिसत्तम ! उन महर्षियों ने वन के हाथ का मग्न क्यों किया था तथा पराक्रमी पृथु का जन्म कैसे हुआ ? ॥१६॥ श्री पराक्रमजी ने कहा—मृत्यु की मुनीया नाम की प्रथम पुत्री प्रथम को व्याही गई थी । उसी से राजा वैन उत्पन्न हुए थे ॥१७॥ हे मंत्रजो ! पृथुमुखा का वह पुत्र अपने नाना के स्वभाव - दोष के कारण ही रूपित स्वभाव का हुआ ॥१८॥ जब वह वैन राजपद पर अतिपिक्त हुआ था तभी उसने विश्व भर में यह घोषित कर दिया था कि मैं भगवान् हूँ, यज्ञ पुरुष और यज्ञ का भोक्ता एवं स्वामी मैं ही हूँ, इसलिये अब कभी कोई भी मनुष्य दान और यज्ञादि न करे ॥१९-२०॥ हे मैत्रेयजी ! उस समय के महर्षिगण उन राजा वैन के समक्ष उपस्थित हुए और उन्होंने उसकी प्रशंसा करते सान्त्वनामयी मीठीबाली से कहा ॥२१॥

भो भो राजन् शृणुष्व त्वं यद्वदाम महीपते ।

राज्यदेहोपकाराय प्रजानां च हितं परम् ॥२२॥

दीर्घमत्रेण देवेभ्यः सवयज्ञश्चर हरिम् ।

पूजयिष्यामि भद्रं ते तम्याज्येन भविष्यति ॥२३॥

यज्ञेन यज्ञपुरुषो विष्णुः सम्प्रीतिना नृप ।

धर्माभिभवत कामान्शुचिनिव प्रदास्यति ॥२४॥

यज्ञैर्वीरोश्चरो येषां राष्ट्रे सम्पूज्यते हरिः ।

तेषां सर्वेष्मितावाप्तिं ददाति नृप नृमृताम् ॥२५॥

मत्तः कोऽभ्यधिकोऽन्योऽस्ति कश्चा राघ्यो ममापर ।

कोऽयं हरिरिति ह्याना यो वा यज्ञेश्वरो मत्तः ॥२६॥

ब्रह्मा जनादेन सम्भुरिन्द्रो वायुर्ममो रविः ।

हृतभुगवर्णो घाता पूषा भूमिर्निशाकरः ॥२१॥

एते चान्ये च ये देवाः शापानुग्रहवारिणः ।

नृपस्यन्ते शरीरस्था सर्वदेवमयो नृपः ॥२२॥

ऋषियों ने कहा—हे राजन् ! हे महीपते ! हम तुम्हारे राज्य, प्रजा तथा शरीर के हितार्थ जो कहते हैं, उसे श्रवण करो ॥१६॥ तुम्हारा कल्याण हो, हम यज्ञेश्वर देवदेव भगवान् विष्णु का पूजन करेंगे, उनके फल के छे अक्ष का भाग तुम्हें भी प्राप्त होया ॥१७॥ हे राजन् ! यज्ञों के द्वारा भगवान् यज्ञ पुरुष सन्नुष्ट होकर हमारे साथ ही तुम्हारी भी अभिनापाएँ पूरी करेंगे ॥१८॥ जिन राजाओं के राज्यकाल में यज्ञेश्वर भगवान् का यज्ञानुष्ठानों द्वारा पूजन होता है, उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं ॥१९॥ यह सुन कर वेन ने कहा— मुझसे अधिक ऐसा कौन है जो मेरे द्वारा भी पूजा के योग्य हो, तुम जैसे यज्ञेश्वर एवं भगवान् कहते हो, वह कौन है ? ॥२०॥ ब्रह्मा, विष्णु, सम्भु, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, घाता, पूषा, पृथिवी और चन्द्रमा अथवा अन्य जो भी देवता शाप, या वर देने में समर्थ हैं, उन सभी का निवास राजा में होने से राजा ही सर्वदेवमय होता है ॥२१-२२॥

एव ज्ञात्वा मयाज्ञानं यद्यथा क्रियता तथा ।

न वातव्यं न यष्टव्यं न होतव्यं च भो द्विजा ॥२३॥

भर्तृं शुश्रूषण धर्मो यथा स्त्रीणां परो मतः ।

ममाज्ञाऽपलन धर्मो भवता च तथा द्विजाः ॥२४॥

देहानुज्ञा महाराज मा धर्मो यातु सक्षयम् ।

हविषा परिणामोऽयं यदेतदलिख जगत् ॥२५॥

इति विज्ञाप्यमानोऽपि स वेनः परमपिभिः ।

यदा ददाति नानुज्ञा प्रोक्तं प्रोक्तं पुनः पुनः ॥२६॥

ततस्ते मुनयः सर्वे ऋषामर्षसमन्विताः ।

हृग्यता हृग्यता पाप इत्युबुस्ते परस्परम् ॥२७॥

यो यज्ञपुरषं विष्णुमनादिनिधनं प्रभुम् ।

विनिन्दत्यधमाचारो न स योग्यो भुवः पतिः ॥२८॥

इत्युक्त्वा मन्त्रपूतस्तैः कुशमुनिगणा नृपम् ।

निजघ्नुनिहतं पूर्वं भगवन्निन्दनादिना ॥२६॥

हे द्विजराज ! यह जान कर मेरे आदेश का पालन करो, किसी को भी दान, यज्ञ, हवनादि नहीं करना चाहिये । हे ब्राह्मणों ! जैसे श्री वा परमधर्म पतिसेवा है, वैसे ही आपका परमधर्म मेरी आज्ञा का पालन है ॥२३-२४॥ महर्षियों ने कहा—हे राजन् ! आपका आदेश ऐसा होना चाहिए, जिससे धर्म का नाश न हो । देखिये, यह सम्पूर्ण विश्व हवि से ही उत्पन्न हुआ है ॥२५॥ श्री पराशरजी ने कहा—जब महर्षियों के बारबार समझाने पर भी वेन न माना तो वे अत्यंत क्रोध पूर्वक परस्पर में बहने लगे कि इस पापारामा को मार डालो, मार डालो ॥२६-२७॥ जो अनादि एवं अनन्त यशोदत्त विष्णु का निन्दक है, वह आचरणहीन पुरुष राजा होने से योग्य नहीं है ॥२८॥ यह कह कर उन महर्षियों ने प्रभु-निन्दा करने पड़िते से ही मृत हुए उस राजा का मंत्रपूत कुशों के आघात से बच कर दिया ॥२९॥

यतश्च मुनयो रेणुं ददन्तुः सर्वेती द्विज ।

किमेतदिति चामन्नान्प्रच्छुस्ते जनास्तदा ॥३०॥

आप्यातं च जनैस्तेषां चोरीभूतैरराजके ।

राष्ट्रे तु लोकैरारब्धं परम्वादानमातुरैः ॥३१॥

तेषामुदोणवेगानां चोराणां मुनिमतमाः ।

सुमहान् दृश्यते रेणुः परवितापहारिणाम् ॥३२॥

ततः सम्मन्त्र्य ते सर्वे मुनयस्तस्य भूभृताः ।

ममन्शुर्हं पुत्रार्थं मनस्यस्य यत्नतः ॥३३॥

मय्यमानात्समुत्तम्यो तस्यारोः गुरपः विज ।

दग्धस्फुणाप्रतीकान् सवर्षाद्याम्योर्निहतवत् ॥३४॥

किं करोमीति तान्मवागम्य विजानाह ॥३५॥

निषेदेति तमूचुस्ते निषादगतेन ॥३६॥

तत्तत्तत्सम्भवा जाता विजप्रसूतिर्निजप्रसूतिः ॥३७॥

निषादा मुनिनाहं यत्नतः ॥३८॥

तेन द्वारेण नत्पापं निष्क्रान्तं तस्मै भूपतेः ।

निपादास्ते ततो जाना वेनकल्मषनाशनाः ॥३७॥

हे ब्रह्मन् । फिर महर्षियों ने सर्वत्र घड़ी घूम उठती हुई देख कर अपने पास खड़े हुए लोगों से पूछा कि यह क्या है ? तब उन्होंने उत्तर दिया कि इस समय राज्य राजा रहित हो गया है, इसलिये दीन दुःखी मनुष्यों ने धनवानों को छूटना प्रारम्भ कर दिया है ॥३०-३१॥ हे मुनिवरों ! उन अत्यन्त बेगवान् लुटेरों के उत्पात से ही यह धूल उड़ रही है ॥३२॥ तब उन महर्षियों ने परस्पर में परामर्श करके उस पुत्रहीन राजा वेन की जीर्ण को पुत्र प्राप्ति के लिये यथा ॥३३॥ उस के मये जान से उसमें जले हुए ढूँठ के समान वाले बग्न वा, अत्यन्त नाटा और छद्मिटे मुख का एक पुरुष प्रकट हुआ ॥३४॥ उसने प्रत्यक्ष आतुरता पूर्वक उन ऋषियों से पूछा कि मैं क्या करूँ ? तब उन ऋषियों ने 'निपीद' अर्थात् बैठजा कहा, इसलिये वह आगे चल कर निपाद कहा गया ॥३५॥ इसलिये हे मुने ! उसके वसज विध्याचक्ष पर रहने वाले पाप कर्मों में रत निपाद हुए ॥३६॥ उसी निपाद रूप द्वार के मार्ग से राजा वेन का सभी पाप निश्चित गया, इस प्रकार निपादगण राजा वेन के पापों को नष्ट करने वाले होगए ॥३७॥

तस्यैव दक्षिणं हस्तं मम-धुस्ते ततो द्विजा ॥३८॥

मध्यमाने च तत्राभूत्पृथुर्वैद्यः प्रतापवान् ।

दोष्यमानः स्ववपुषा साक्षादग्निरिव ज्वलन् ॥३९॥

आद्यमाजगव नाम सात्त्वपात ततो धनुः ।

शराश्च दिव्या नभसः कवचं च पपात ह ॥४०॥

तस्मिन् जाते तु भूतानि सन्प्रहृष्टानि सर्वशः ।

सत्पुत्रेणैव जातेन वेनोऽपि त्रिदिव ययौ ॥४१॥

पुनराम्नो नरकात् त्रातः सुतेन सुमहात्मना ।

तं समुद्राश्च नद्यश्च रत्नान्यादाय सर्वशः ॥४२॥

तोयानि चाभिषेकार्यं सर्वाण्येवोपतस्त्रिरे ।

पितामहश्च भगवान्देवैराङ्गिरसं सह ॥४३॥

स्थावराणि च भूतानि जङ्गमानि च सर्वशः ।
समागम्य तदा वैश्वमध्यपिश्वन्नराधिपम् ॥४४॥

फिर उन ऋषियों ने वेन के दीए हाथ को मया, जिससे वेनपुत्र पृथु उत्पन्न हुए, जिनका देह प्रज्वलित अग्नि के समान देशीयमान् था ॥४५-४६॥ इसी अवसर पर आजगव नामक शिव वनुष, दिव्य बाण और कवच आस्त्रों से गिरने लगे ॥४७॥ उनके प्रकट होने से सब प्राणियों को भयित प्रसन्नता हुई तथा उन सत्पुत्र की उत्पत्ति से वेन की भी स्वर्ग प्राप्त हुआ ॥४८॥ इस प्रकार महात्मा पुत्र के जन्म लेने से वह नरक में जाने से बच गया । उन राजा पृथु का अभिषेक करने के लिए सब समुद्र और नदियाँ मूर्तिमान होकर सब प्रकार के रत्न और पवित्र जल लेकर वहाँ आये और सब मागिरस देवताओं ने महिन सभी प्राणियों ने राजा वेन के राज्याभिषेक महोत्सव में भाग लिया ॥४९-५०॥

हस्ते नु दक्षिणे चक्रं दृष्ट्वा तस्य पितामहः ।
विष्णोरक्षं पृथुं मत्वा परितोष पर ययौ ॥४५॥
विष्णुचक्रं करे चिह्नं सर्वेषां चक्रवर्तिनाम् ।
भवत्यग्राह्यतो यस्य प्रभावस्त्रिदशैरपि ॥४६॥
महता राजराज्येन पृथुर्जन्यः प्रतापवान् ।
सोऽभिपिक्तो महातेजा विधिवद्वनंकोविदे ॥४७॥
पित्रापरञ्जितास्तस्य प्रजास्तेनानुरञ्जिताः ।
अनुरागात्ततस्तस्य नाम राजेत्पजायन ॥४८॥
प्रापस्तस्तम्भरे चास्य समुद्रममियास्थितः ।
पर्वताश्च ददुर्मार्गं ध्वजमङ्गलं नामवन् ॥४९॥
प्रवृष्टपच्या पृथिवी सिद्धयन्त्यश्वानि चिन्तया ।
सर्वकामदुष्ठा गावः पुटके पुटके मधु ॥५०॥

उनके दीए हाथ की चकाविल देख कर उन्हें भगवान् विष्णु, का भय लगने लगा वहाजी अत्यन्त प्रमत्तता की प्राप्त हुई ॥४५॥ भगवान् के चक्र का यह चिह्न सभी राजाओं के हाथ में पड़ा होता है, जिसके प्रभाव की सुरिष्ट

करना देवताओं के भी बस का नहीं है ॥४६॥ इस प्रकार अत्यंत तेजस्वी एवं प्रतापी देव पुत्र घर्मवान् व्यक्तियों द्वारा विधि पूर्वक राजाधिराजपद पर अभिषिक्त हुए ॥४७॥ उनके पिता ने जिस प्रजा को अप्रसन्न किया था, उसी प्रजा को उन्होंने प्रसन्न किया, इस प्रकार प्रजा को प्रसन्न करने के कारण ही वह वास्तविक रूप से राजा हुए ॥४८॥ उनके समुद्र में स्नाने पर जल स्थिर हो जाता और पर्वत भां उन्हे मार्ग दे देते थे इससे उनकी ध्वजा का कभी पतन नहीं हुआ ॥४९॥ वृषियों जोते-बोये बिना ही धान्य उत्पन्न करती और पत्नी जी, चिन्तन मात्र से ही भग्न पक जाता था, गौएँ कामधेनु के समान सर्व काम-प्रद थी तथा पुटके-पुटके में मधु भरा रहता था ॥५०॥

तस्य वै जातमात्रस्य यज्ञो पैतामहे शुभे ।

सूतःसूत्या समुत्पन्नःसौत्येऽहनि महामतिः । ५१।

तस्मिन्नेव महायज्ञे जज्ञे प्राज्ञोऽय मागधः ।

प्रोक्तौ तदा मुनिवरंस्तावुभौ सूतमागधौ । ५२।

स्तूयतामेव नृपतिः पृथुर्वैभ्यः प्रतापवान् ।

कर्मतदनुरूपं वा पात्रं स्तोत्रस्य चापरम् । ५३।

ततस्तावुवतुविप्रान्सर्वानिव कृताञ्जली ।

अथ जातस्य नो कर्म ज्ञायतेऽस्य महीपतेः । ५४।

गुणा न चास्य ज्ञायन्ते न चास्य प्रथित यज्ञः ।

स्तोत्रं किमाश्रय रवस्य कार्यमस्माभिरुच्यताम् । ५५।

करिष्यस्येप यत्कर्म चक्रवर्ती महाबलः ।

गुणा भविष्या ये चास्य तैरयं स्तूयता नृपः । ५६।

उन राजा ने उत्पन्न होते ही जो पैतामह यज्ञ किया, उससे सोमाभिषेक के दिन ही अभिषेक वाली भूमि से सूतजी उत्पन्न हुए ॥५१॥ उसी यज्ञ में मागध भी प्रवृत्त हुए । उन सूत और मागध से ऋषियों ने कहा इन भगवत् प्रतापी देव पुत्र पृथु भी तुम स्तुति करो । राजा स्तुति के योग्य है और तुम भी स्तुति करने में योग्य ही हो ॥५२-५३॥ तब उन सूत-मागध ने उन ऋषियों से परब्रह्म निवेदन किया कि हम इनके बर्णों को नहीं जानते, क्योंकि यह आज ही

चकार हृदि तादृक् च कर्मणा कृतवानसौ ।
 ततस्तु पृथिवीपालः पालयन्पृथिवीमिमाम् ॥६४॥
 इयाज विविधैर्योगैर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ।
 त प्रजा पृथिवीनाथमुपतस्थुः क्षुधादिताः ॥६५॥
 ओषधीषु प्रणष्टास्तस्मिन्काले ह्यराजके ।
 तमूबुद्धे नताः पृष्टास्तन्नागमनकारणम् ॥६६॥
 अराजके नृपथ्ये धरित्र्या सकलोपधीः ।
 यस्तास्ततः क्षयं यान्ति प्रजाः सर्वाः प्रजेश्वर ॥६७॥
 त्वन्नो वृत्तिरदो घात्रा प्रजापालो निरूपितः ।
 देहि न क्षुत्परीतानां प्रजानां जीवनीपधीः ॥६८॥

यह धर्मज्ञ, कृतज्ञ, दयालु, मिष्टभाषी, मान योग्य पुरुषों को मान दे
 वाले, यज्ञ और ब्रह्म परायण, सन्तानों में सम्मानित और शत्रु-मित्र के समा-
 व्यवहार करने वाले हैं । सूत-भाग्य द्वारा वर्णित इन गुणों को अपने बित्त में
 धारण करके उन्होंने उसी के अनुसार कर्म किये और पृथिवी के पालन पूर्वक
 महती दक्षिणा वाले अनेक बड़े यज्ञों का उन्होंने किया । जब अराजकता फैली
 थी सब ओषधियों के न रहने से क्षुधादुर हुई पृथिवीपति पृथु की शरण में
 उपस्थित हुई और राजा के पृथक् पर उसने अपनी उपस्थिति का कारण उन्हें
 बताया ॥६२-६६॥ प्रजा ने कहा—हे प्रजापालक महाराज ! अराजकता
 फैलने पर सब ओषधियाँ पृथिवी में समा गई, इससे आपकी प्रजा क्षीण हो रही
 है ॥६७॥ विधाता ने आपको हमारा जीवन दाता तथा प्रजापति किया है, इस-
 लिये भूल रूपी महारोग से सन्तप्त हुए हम प्रजाजनों को आप जीवन रूपी
 ओषधि प्रदान कीजिए ॥६८॥

ततस्तु नृपतिर्दिव्यमादायाजगवं धनुः ।
 शराश्च दिव्यान्कुपितः सोऽन्वधावद्वसुन्धराम् ॥६९॥
 ततो ननाश त्वरिता गोभूत्वा च वसुन्धरा ।
 सा लोम-ब्रह्म नोकादीन्सन्नासादगमन्मही ॥७०॥

यत्र यत्र ययौ देवी सा तदा भूतधारिणी ।
 तत्र तत्र तु सा वै न्य ददृशेऽभ्युद्यतायुवम् ॥७१॥
 ततस्तु प्राह वसुधा पृथुं पृथुपराक्रमम् ।
 प्रवेदमाना तद्वाणपरित्राणपरायणा ॥७२॥
 स्त्रीवधे त्व महापाप किं नरेन्द्र न पश्यसि ।
 येन मा हन्तुमत्यर्थं प्रकरोषि नृपोद्यमम् ॥७३॥

आ पराशरजी बोले—हे ब्रह्मन् ! प्रजा की पुकार सुन कर राजा पृथु ने अपना आज्ञावश नामक दिव्य धनुष और दिव्य बाण ग्रहण किया तथा क्रोध पूर्वक पृथिवी को मारने के लिये चले ॥६९॥ सब अत्यंत भयभीत हुई पृथिवी गौ का रूप धारण करके वहाँ से भागती हुई ब्रह्मसौक आदि लोकी में गई ॥७०॥ सभी भूतो को धारण करने वाली वह धरित्री जहाँ जहाँ भी गई, वही वही उसने राजा पृथु को शर-संधान किये हुए अपने पीछे-पीछे धाते हुए देखा ॥७१॥ तब उन अत्यंत पराक्रम वाले राजा पृथु ने उनके बाण-प्रहार के भय से कम्पित हुई पृथिवी से इस प्रकार कहा ॥७२॥ पृथिवी बोली—हे राजेन्द्र ! तुम मेरी हत्या करने को ऐसे सतावले क्यों हो रहे हो ? क्या भाप इसमें स्त्री-हत्या वा पाप नहीं देखते है ? ॥७३॥

एकस्मिन् यत्र निधन प्रापिते दुष्टकारिणि ।
 बहूनां भवति क्षेम तस्य पुण्यप्रदो वधः ॥७४॥
 प्रजानामुपकाराय यदि मा त्व हनिष्यति ।
 आघारः कः प्रजानां ते नृपश्चेष्ट भविष्यति ॥७५॥
 त्वा हत्वा वसुधे वार्धामन्च्छासनपराङ्मुखीम् ।
 आत्मयोगबलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः ॥७६॥
 ततः प्रणम्य वसुधा त भूयः प्राह पार्थिवम् ।
 प्रवेपिताङ्गी परम साध्वस समुपागता ॥७७॥
 उपायत समारण्याः सर्वे सिद्ध-यन्तुपुत्रक्रमाः
 तस्माद्ब्रह्मपुत्राय ते त कुरुष्व यदीच्छसि ॥७८॥

समस्ता या मया जीर्णा नरनाथ महौषधीः ।
 यदीच्छसि प्रदास्यामि ताः क्षीरपरिणामिनोः ॥७६॥
 तस्मात्प्रजाहिताभ्यां मम धर्ममृता वर ।
 त तु वत्स कुरुष्व त्व क्षरेय येन वत्सला ॥७७॥
 समा च कुरु सवत्र येन क्षीर समन्ततः ।
 वरौषधः बीजभूत बीज सर्वत्र भावये ॥७८॥

राजा पृथु ने कहा—जहाँ एक अनर्थ करनेवाले के वध से अनेक शक्तियों को सुख प्राप्त होता हो, वहाँ उसका वध ही श्रेयस्कर है ॥७६॥ पृथिवी ने कहा—हे राजन् ! यदि आप मुझे प्रजा के हितार्थ ही मारने की इच्छा करते हैं तो मेरे मरने पर आपको उस प्रजा का आचार क्या होगा ? ॥७७॥ पृथु बोले—मैं अपनी आज्ञा को न मानने वाली तुम्हें मार कर अपने योग-बल से स्वयं ही आचार बन कर प्रजा का पालन करूँगा ॥७८॥ इस पर श्री पराशरजी ने कहा—यह सुन कर मय से अत्यंत कांपती हुई उस पृथिवी ने राजा को प्रणाम करके कहा ॥७९॥ पृथिवी बोली—हे राजन् ! जो कार्य योजना बद्ध होते हैं, वह अवश्य ही सिद्ध होते हैं । इसलिये मैं आपको एक उपाय बताना चाहती हूँ, आप चाहे तो उसके अनुसार करें ॥८०॥ हे नरेन्द्र ! मैंने जिन औषधियों को अपने में लीन कर लिया है, यदि आप चाहें तो मैं उन्हें दूध के रूप में पुनः दे सकती हूँ ॥८१॥ इसलिये हे धर्मात्माओं मे श्रेष्ठ ! आप अपनी प्रजा का हित करने के लिये कोई ऐसा बख्श कल्पित कीजिये, जिसके स्नेह वश मैं उन औषधियों को दूध रूप में निकाल दूँ ॥८२॥ आप मुझे सब और समस्त कर दीजिये, जिससे श्रेष्ठ औषधियों के बीज रूप दूध का उत्पादन सर्वत्र हो सके ॥८३॥

तत उत्सारयामास शैलान् शतसहस्रशः ।
 धनुष्कोट्या तदा वैन्यस्तेन शैला विवर्दिताः ॥८२॥
 न हि पूर्वंचिर्गो वै विपमे पृथिवीतले ।
 प्रविभागः पुराणा वा ग्रामाणा वा पुराभवत् ॥८३॥
 न सस्यानि न गोरस्य न वृषिर्न वणिक्पयः ।
 वैन्यात्प्रभृति मेत्रेय सर्वस्यैतस्य सम्भवः ॥८४॥

यत्र यत्र सम त्वस्या भूमेरासीद्द्विजोत्तम ।
तत्र तत्र प्रजा सर्वा निवास समरोचयन् ॥८५॥
आहार फलमूलानि प्रजानामभवत्तदा ।
कृच्छ्रेण महता सोऽपि प्रणशस्त्रोपघोषु वै ॥८६॥
स कल्पदित्वा वत्स तु मनु स्वायम्भुव प्रभुम् ।
स्वपाशो पृथिवीनाया दुक्षोह पृथिवी पृथुः ॥८७॥
सस्यजातानि सर्वाणि प्रजाना हितकाम्यया ।
तेनान्नेन प्रजास्तात वर्तन्तेऽद्यापि नित्यम् ॥८८॥

श्री पराशरजी न कहा—यह सुन कर राजा पृथु ने अपने अनुप की
गैटि स हजारों पर्वतों की उखाड़-उखाड़ कर एक ही स्थान पर एकत्र कर दिया
॥८५॥ इससे पहिले पृथिवी समतल नहीं थी तथा पुर, ग्राम आदि का विभाग
भी नहीं था ॥८६॥ ह मेमयजी ! उस समय अन्न, कृषि, व्यापार आदि का
कोई नियमित क्रम नहीं था, इसका आरम्भ वेनपुत्र पृथु के शासन काल में ही
था ॥८७॥ हे द्विज श्रेष्ठ ! जहाँ जहाँ पृथिवी समतल हुई, वही वही प्रजा जा बसी
उस समय तक केवल फल मूलानि का आहार किया जाता था, परन्तु औपधियो
के मट होने पर वह भी अत्यन्त दुर्लभ हो गया ॥८८॥ उस समय राजा पृथु ने
स्वायम्भुवमनु को बध्ना बनाया और अपने हाथ से पृथिवी रुपी गी से सब
प्राणियों का दोहन किया । उसी अन्न के आहार पर अब प्रजा जीवन यापन
करती है ॥८९॥ ॥८९॥

प्राणप्रदाता स पृथुयस्माद्भूमेरभूत्पिता ।
ततस्तु पृथिवीसज्जामवापाखिलवारिणी ॥८९॥
ततश्च देवैर्भुनिभिर्देवै रक्षोभिरद्रिभिः ।
गन्धर्वैरुर्गर्गसै पितृमिस्तरुमिस्तथा ॥९०॥
ततस्तानमुपादाय तत्तद्दुग्ध मुने पयः ।
वत्सदोग्धुनिशेषाश्च तेषा तथोनमोऽभवन् ॥९१॥
संपा धात्री विधात्री च धारिणी पोषणी तथा ।
सर्वस्य तु तत्र पृथ्वी विष्णुपादतलोद्भवा ॥९२॥

एवंप्रभावस्त पृथुः पुत्रो वेनस्य वीर्यवान् ।
 जज्ञे महीपतिः पूर्वं राजाभूञ्जनरञ्जनात् ॥६३॥
 य इदं जन्म वैन्यस्य पृथोः सकीर्त्तयेन्नरः ।
 न तस्य दुष्कृतं किञ्चित्क न्दामि प्रजायते ॥६४॥
 दुस्त्वप्नोपशमं नृणां शृण्वतामेतदुत्तमम् ।
 पृथोजन्म प्रभावञ्च करोति सततं नृणाम् ॥६५॥

पृथिवी को प्राण दान करने के कारण राजा पृथु उसके पिता हुए, इसलिये उस परिकी का नाम पृथिवी हुआ ॥६६॥ हे मुने ! इसके परचात देवता, मुनि, देव, राक्षस, पर्वत, सर्प, यक्ष और पितर आदि ने अपने-अपने पात्रों में दूध का दौहन किया और दौहनकर्त्ताओं के अनुसार ही दौघा और बछड़ा आदि नियुक्त हुए ॥६७-६८॥ इसीलिये भगवान् विष्णु के बरखों से उद्भूत हुई यह पृथिवी सब की जन्म-दात्री, रचयित्री तथा धारण-पोषण करने वाली है ॥६९॥ इस प्रकार प्राचीन काल में वह वनपुत्र राजा पृथु इतने प्रभाव और पराक्रम वाले हुए तथा प्रजा की रक्षा करने के कारण ही उन्हें राजा कहा गया ॥७०॥ महाराज पृथु के शरिर का जो कोई कीर्त्तन करता है उसके दुष्कर्म का फल मष्ट हो जाता है ॥७१॥ राजा पृथु की उत्पत्ति का यह वृत्तान्त और उनका प्रभाव श्रोता के दुस्त्वप्नो का शमन करता है ॥७२॥

चौदहवाँ अध्याय

पृथोः पुत्रो तु धर्मज्ञो जज्ञातेऽन्तर्द्धिवादिनो ।
 शिखण्डिनो हविर्धानमन्तर्धानाद्वधजायत ॥१॥
 हविर्धानात् पठान्नेयो धियणाजनयत्सुतान् ।
 प्रचीनवर्हिष शुक्रं गय कृष्णं वृजाजिनी ॥२॥
 प्राचीनवर्हिर्भगवान्महानासीत्प्रजापतिः ।
 हविर्धानान्महाभाग येन सर्वाधिताः प्रजाः ॥३॥

प्राचीनाग्राः कुशास्तस्य पृथिव्यां विश्रुता मुने ।
 प्राचीनवर्हिर्मवत्स्यातो भुवि महाबलः ॥४॥
 समुद्रतनयायां तु कृतदारो महोपतिः ।
 महतरतपसः पारे सवर्णाया महामते ॥५॥
 सवर्णाधत्त सामुद्रो दत्त प्राचीनवर्हिपः ।
 सर्वे प्रचेतसो नाम धनुर्वेदस्य पारगाः ॥६॥
 अपृथग्धर्मचरणास्तेऽनप्यन्त महत्तपः ।
 दशदपंसहस्राणि समुद्रसन्निवेशयाः ॥७॥

श्री पराशरजी ने कहा—हे मैत्रेयजी ! उन राजा पृथु के अन्तर्धान और
 वादी नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए । अन्तर्धान ने सिद्धिदिङ्गी नाम की अपनी पत्नी
 से हविर्धान नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥१॥ हविर्धान से विषणा ने प्राचीनवर्हि, युक्र,
 गय, कृष्ण, वृज और अजिन नामक छः पुत्र उत्पन्न हुए ॥२॥ हविर्धान के पुत्र
 प्राचीनवर्हि एक महान् प्रजापति हुए और उन्होंने यज्ञ के द्वारा अपनी प्रजा की
 अत्यन्त वृद्धि की ॥३॥ हे मुने ! उनके शासन काल में समस्त पृथिवी में कुछ ही कुल
 दिखाई देते थे, इसीलिये वे प्राचीनवर्हि के नाम से प्रसिद्ध हुए ॥४॥ हे महामते !
 उन राजा ने तप के बद्वान् समुद्र की पुत्री सवर्णा का पाणिग्रहण किया ॥५॥
 उस सवर्णा के गर्भ से प्राचीनवर्हि ने दस पुत्र उत्पन्न किये । वे प्रचेता नामक
 सभी पुत्र धनुर्विद्या में पारंगत हुए ॥६॥ उन्होंने समुद्र के जल में दस हजार
 वर्ष तक रह कर समान धर्म के आचरण पूर्वक धीरे तप किया था ॥७॥

यदर्थं ते महात्मानस्तपस्ते पुर्महामुने ।
 प्रचेतसः समुद्राम्भस्येतदाख्यातुमहम् ॥८॥
 पित्रा प्रचेतस प्रोक्ताः प्रजार्थममितात्मना ।
 प्रजापतिनियुक्तेन बहुमानपुरस्सरम् ॥९॥
 ब्रह्मणा देवदेवेन समादिष्टोऽस्म्यहं मुताः ।
 प्रजाः संवदनीयास्ते मया चोक्तं तथेति तन् ॥१०॥
 तन्मम प्रतीये पुत्राः प्रजावृद्धिमतन्द्रिताः ।
 कुरुष्व माननीया व. सभ्यगान्ना प्रजापतेः ॥११॥

ततस्ते तत्पितुः श्रुत्वा वचनं नृपनन्दनाः ।

तथेत्युक्त्वा च त भूयः पप्रच्छुः पितरं मुने ॥१२॥

येन तात प्रजावृद्धौ सतर्थाः कर्मणा वयम् ।

भवेन तत् समस्तं नः कर्म व्याख्यानुमर्हसि ॥१३॥

श्री मंज्यजी ने कहा—हे महामुने ! उन महात्मा प्रचेतागण ने श्रुति में रह कर किसलिये ऐसा तप किया था यह बताने की कृपा करिये ॥१२॥ श्री पराशरजी ने कहा—हे मंज्यजी ! एक समय उन प्रचेतामो के पिता महात्मा प्राचीनवर्हि ने प्रजापति को प्रेरणा से उनसे सन्तानोत्पत्ति के लिये कहा था ॥१॥ प्राचीनवर्हि बोले—हे पुत्रो ! देवदेव ब्रह्माजी ने मुझे प्रजा की वृद्धि का आदेश दिया और मैंने भी उसे स्वीकार कर लिया ॥१०॥ इनलिये हे पुत्रो ! मेरी प्रसन्नता के लिये प्रजा-वृद्धि का कार्य करो, क्योंकि प्रजापति की आज्ञा ही माननी ही होगी ॥११॥ श्री पराशरजी ने कहा—हे मुने ! उन राज कुमारों ने पिता की आज्ञा स्वीकार करके उनसे पूछा ॥१२॥ प्रचेता बोले—हे पिताजी ! हम जिस प्रकार प्रजावृद्धि कर सकें वह हमें भले प्रकार बताइये ॥१३॥

आराध्य वरदं विष्णुमिष्टप्राप्तिममशयम् ।

समेति नान्यथा मर्त्यं किम यत्कथयामि व ॥१४॥

तस्मात्प्रजात्रिवृद्धयर्थं सर्वभूतप्रभु हरिम् ।

आराधयत गोविन्दं यवि सिद्धिमभीप्सु ॥१५॥

धर्ममर्थं च कामं च मोक्षं चान्विच्छन्ना सदा ।

आराधनीया भगवाननादिपुरुषोत्तमः ॥१६॥

यस्मिन्प्राराधिते सर्गं चकारादौ प्रजापतिः ।

तमाराध्याच्युत वृद्धिः प्रजानां यो भविष्यति ॥१७॥

इत्येवमुक्तास्ते पित्रा पुत्राः प्रचेतसो दश ।

मग्ना पयोधिसलिले तपस्तेपुः समाहिना ॥१८॥

दशवर्षसहस्राणि न्यस्तचित्ता जगत्पतौ ।

नारायणे मुनिश्रेष्ठे सर्वलोकपरायणे ॥१९॥

तत्रैवावस्थिता देवमेकाग्रमनसो हृदिम् ।

तुष्टुबुधैस्तुतः कामान् स्तानुरिष्टान्प्रयच्छति ॥२०॥

पिता बोले—भगवान् विष्णु वर देने वाले हैं, उनकी आराधना करने से अवश्य ही इच्छित वस्तु प्राप्त होनी है। इसके अतिरिक्त और क्या कहूँ ? ॥१४॥ यदि तुम सपत्नता की कामना करने हो तो प्रजा की वृद्धि के निमित्त सर्वभूतेश्वर श्री गोविन्द की आराधना करो ॥१५॥ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की चाहना वाले पुरुषों को भगवान् विष्णु की सदैव आराधना करनी चाहिये ॥१६॥ जिनकी कल्पारभ में उपासना करके प्रजापति ने इस विश्व की रचना की है, उन्हीं की आराधना करने से प्रजा की वृद्धि होगी ॥१७॥ पराशरजी ने कहा—पिता की इस प्रकार आज्ञा पाकर दसों प्रचेतायण समुद्र के जल में निमग्न रह कर यन्त्र पूर्वक तपस्या करने लगे ॥१८॥ हे मुनिवर ! वे लोकायय भगवान् विष्णु में ध्यान लगाये हुए वहाँ दस हजार वर्ष तक रहकर, उन्हीं की स्तुति करते रहे। वे भगवान् अपने स्तोत्रों को सब अभिलाषित प्रदान करते हैं ॥१९-२०॥

स्तव प्रचेतसो विष्णोः समुद्राम्भगि सस्थिताः ।

चक्रुस्तन्मे मुनिश्रेष्ठ सुपुण्य वक्तुमर्हसि ॥२१॥

शृणु मैत्रेय गोविन्द यथापूर्वं प्रचेतसः ।

तुष्टुबुस्तन्मयोभूताः समुद्रसलिलेशयाः ॥२२॥

नताः स्म सर्ववचसा प्रतिष्ठा यत्र शाश्वतो ।

तमाद्यन्तमशेषस्य जगतः परम प्रमुष् ॥२३॥

ज्योतिराद्यमनीपम्यमण्वनन्तमपारवत् ।

योनिभूतमशेषस्य स्वावरस्य चरस्य च ॥२४॥

यस्याहः प्रथमं रूपमरूपस्य तथा निशा ।

सन्ध्याः च परमेष्ठस्य तस्मै कालात्मने नमः ॥२५॥

भुज्यतेऽनुदिनं देवैः पितृभिश्च सुधात्मकः ।

जीवभूतः सप्तस्तस्य तस्मै सोमात्मने नमः ॥२६॥

यस्तमास्यति तीव्रात्मा प्रभाभिर्भास्यन्नमः ।

धर्मशान्ताम्भसा योनिस्तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥२७॥

काष्ठिज्यबावु यो विभक्तिं जगदेतदशेषतः ।

शब्दादितश्च यो व्यापी तस्मै भूम्यात्मने नमः ॥२८॥

श्री मंत्रेयजी ने कहा—हे मुनिवर ! समुद्र के जल में स्थित रह कर प्रचेताग्रो ने जिस प्रकार भगवान् का स्तव किया, वह मुझे बताने की इष्टा करिये ॥२१॥ श्री पराशरजी ने कहा—हे मंत्रेयजी ! पूर्व काल में समुद्र स्थित प्रचेताग्रो ने भगवान् गोविन्द की जो स्तुति छ मयता पूर्वक की थी, मैं सुनो ॥२२॥

प्रचेताग्रो ने कहा—सभी वाक्यों की जिनमें नित्य स्थिति है और जो ससार की उत्पत्ति तथा प्रलय के कारण हैं, उन परम प्रभु को हमारा नमस्कार है ॥२३॥ जो ज्योति स्वरूप, उपमा रहित, अणु, अनन्त, अपार और चराचर एक विश्व के कारण हैं तथा जिन रूपहीन के दिवस रात्रि और सध्या ही प्रथम रूप हैं, उन कालरूप भगवान् को नमस्कार करते हैं ॥२४-२५॥ जो सभी प्राणिमो के जीवन स्वरूप हैं, तथा जिनके अमृतमय रूप का पान देवता और पितर नित्य-प्रति करते हैं, उन सोम स्वरूप परमात्मा को नमस्कार है ॥२६॥ जो अपने तीक्ष्ण रूप से आकाश को प्रकाशित करते और अधकार का भण कर लेते हैं, तथा जो घूष, शीत और जल के उद्गम स्थल हैं, उन भास्कर रूप भगवान् को नमस्कार है ॥२७॥ जो इस विश्व के धारणकर्त्ता, सन्दावि विषमो के आश्रय रूप तथा सब व्यापक उन पृथिवी रूप प्रभु को नमस्कार है ॥२८॥

यद्योनिभूत जगतो बीज यत्सर्वदेहिनाम् ।

तत्तोयरूपमोक्षस्य नमामो हरिमेषसः ॥२९॥

यो मुख्य सर्वदेवानां हृदयभुक् तथैव ।

पितृणां च नमस्तस्मै विष्णवे पावकात्मने ॥३०॥

पञ्चधावस्थितो देहे यश्चेष्टां कुर्वन्निशाम् ।

आकाशयोनिर्भगवास्तस्मै वाय्वान्मने नमः ॥३१॥

अवकाशमक्षपाणां भूतानां यः प्रयच्छति ।

अनन्तमूर्तिमाद्भुतस्त्वस्मै व्यामात्मने नमः ॥३२॥

समस्तेन्द्रियसर्गस्य यः गदा स्यान्मुत्तमम् ।

तस्मै शब्दादिरूपाय नमः शृण्णाय वेपथे ॥३३॥

गृह्णाति विषयान्नित्यमिन्द्रियात्मा क्षराक्षरः ।
 यस्तस्मै ज्ञानमूलाय नता स्म हरिमेघसे ॥३४॥
 गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति ।
 घन्तःकरणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः ॥३५॥
 यस्मिन्ननन्ते सकल विषय यस्मात्तथोद्गतम् ।
 लयस्थानं च यस्तस्मै नमः प्रकृतिधर्मिणे ॥३६॥

जो विश्व की यानि रूप तथा सब प्रणियों का बीज रूप है, उस जल रूप भगवान् को हम नमस्कार करते हैं ॥३४॥ जो सब देवताओं का हृदय और पितरों का कवच भक्षण करने वाले है, उन घग्नि रूप ईश्वर को नमस्कार है ॥३०॥ जो प्राणायाम आदि पञ्च बायु रूप में शरीर में स्थित होकर उसे चेष्टावान् करता रहता है तथा जो आकाश योनि है, उस वायु रूप परमेश्वर को नमस्कार है ॥३१॥ जो सब भूतों को अवकाश प्रदान करता है, उन अनन्त भूति एव आकाश रूप भगवान् को नमस्कार है ॥३२॥ जो सब इन्द्रिय सृष्टि के श्रेष्ठ स्थान हैं, उन शब्दादि गुण रूप विधाता श्री कृष्ण को नमस्कार है ॥३३॥ जो सर अक्षर और इन्द्रिय रूप से विषयों को ग्रहण करते रहते हैं, उन ज्ञान के मूल भगवान् विष्णु को नमस्कार है ॥३४॥ जो घन्त करण रूप से इन्द्रियों के विषयों को आत्मा के समक्ष प्रेषित करते हैं, उन विश्वात्मा प्रभु को नमस्कार है ॥३५॥ जिनमें सम्पूर्ण सत्ता स्थित है, जिनसे उत्पन्न होकर वह जहाँ में लीन हो जाता है, उन प्रकृति स्वरूप परमेश्वर को नमस्कार है ॥३६॥

शुद्धः सैलक्ष्यते भ्रान्त्या गुणवानिवयोऽगुणः ।
 तमात्मरूपिण देव नता स्म पुरुषोत्तमम् ॥३७॥
 अविकारमज शुद्ध निर्गुण यश्चिरञ्जनम् ।
 नता स्म तत्पर ब्रह्म विष्णोर्यत्परम पदम् ॥३८॥
 अदीर्घह्रस्वमस्यूलमनण्वक्ष्यामलोहितम् ।
 अस्नेहच्छायमतनुमसक्तमशरीरिणम् ॥३९॥
 अनाकाशमसस्पृशमगन्धमरसं च यत् ।
 अचक्षुःश्रोत्रमचलमवाक्पाणिममानसम् ॥४०॥

अनामगो नमसुखमतेजस्वमहेतुकम् ।

अभय भ्रान्तिरहितमनिद्रमजरामरम् ॥४१॥

अरजोऽशब्दममृतमप्लुत यदसकृतम् ।

पूर्वापरे न वै यस्मिस्तद्विष्णोः परम पदम् ॥४२॥

परमेशत्वगुणवत्सर्वभूतमसश्रयम् ।

नताः स्म तत्पद विष्णोजिह्वाहगोचर न यत् ॥४३॥

जो निर्गुण होते हुए भी आरोप से गुणयुक्त दिखाई देते हैं उन आत्मरूप पुष्पश्रेष्ठ को नमस्कार है ॥३७॥ जो विकारजन्म, रहित रहित, गुण रहित, शुद्ध, निर्मल और विष्णु का परमपद रूप है, उस ब्रह्म को नमस्कार है ॥३८॥ जो सम्बा, स्थूल, लघु, काला, लाल, स्नेह, प्रान्ति तथा देह वाला नहीं है तथा आसक्ति रहित और जीव से भिन्न है और अवकाश, स्पर्श, गन्ध, रस से रहित, मेघ, जिह्वा, हाथ और मन से भी हीन है ॥३९-४०॥ जो नाम, गोत्र, सुख वेगदि से रहित, कारण-हीन और भय, भ्रान्ति, निद्रा, जरा और मरण आदि प्रवृत्त्यादि से परे है ॥४१॥ जो रजोगुण-रहित, शब्द रहित, मृत्यु-रहित गति-रहित तथा भाव्यादन-रहित है और जिसमें पूर्वापर व्यवहार भी नहीं है, वही भगवान् श्रीहरि का परमपद है ॥४२॥ जिसका परम गुण सासन है, जो सर्व रूप एव व्यापार रहित है तथा जिह्वा और दृष्टि का भी विषय नहीं है ऐसे भगवान् के उस परमपद की हमारा नमस्कार है ॥४३॥

एव प्रचेतसो विष्णुः स्तुवन्तस्तत्समाधयः ।

दशवर्षसहस्राणि तपश्चेष्टमंहाणवे ॥४४॥

ततः प्रसन्नो भगवास्तेषामन्तजले हरिः ।

ददौ दर्शनमुग्रिद्रनोलोत्पलदलच्छवि ॥४५॥

पतत्रिराजमाख्यमलोक्य प्रचेतसः ।

प्रणिपेतुः शिरोभिस्त भक्तिभारावनामितैः ॥४६॥

ततस्तानाह भगवान्निवृत्तामोषितो वरः ।

प्रगादगृमुणोऽहो वरदः समुपस्थितः ॥४७॥

ततस्तमूधुवंरद प्रणिपत्य प्रचेतसः ।

यथा पित्रा समादिष्टं प्रजानां वृद्धिवारणम् ॥४८॥

त चापि देवस्त दत्त्वा यथाभिलषित वरम् ।

अन्तर्धानं जगामाशु ते च निम्नक्रमुर्जसात् ॥४६॥

श्री पराशरजी ने कहा—इस प्रकार समुद्र में खड़े हुए प्रचेताग्रों ने समाधिस्य होकर भगवान् विष्णु की स्तुति पूर्वक दस हजार वर्ष तक तप किया ॥४४॥ इससे भगवान् उन पर अत्यंत प्रसन्न हुए और उन्हें प्रफुल्लित नील कमल जैसे घाटा वाले दिव्य स्वर्ण से जल में ही दर्शन दिया ॥४५॥ जब उन प्रचेताग्रों ने गरदारुण भगवान् के दर्शन किये तब उन्होंने भक्ति के भार से झुके हुए अपने शिरो को और नी झुका कर भगवान् को प्रणाम किया ॥४६॥ यह देख कर भगवान् उनके प्रति बोध—तुम पर अत्यंत प्रसन्न हुआ हूँ और तुम्हें वर प्रदान करने के लिये यहाँ आया हूँ अपना इच्छित वर माँगो ॥४७॥ यह सुन कर प्रचेताग्रों ने बरदाता भगवान् विष्णु को पुनः प्रणाम किया और उनसे पिता ने उन्हें प्रजावृद्धि की जो आशा दी थी, यह सब वृत्तान्त उनसे निवेदन किया ॥४८॥ इस पर भगवान् ने उन्हें उत्तरा इच्छित वर प्रदान किया और वहीं अन्तर्धान हो गये और तब प्रचेताग्रण भी समुद्र के जल से वा निकल आये ॥४९॥



पन्द्रहवाँ अध्याय

तपश्चरत्सु पृथिवी प्रचेन सु गहीरुहाः ।

शरदयमाणामावब्रुवंमूवाय प्रजाक्षयः ॥१॥

नाशकमरुतो वातु वृत्तं यममवद्द्रुमेः ।

दशवर्षसहस्राणि न शेकुश्चेष्टितु प्रजाः ॥२॥

तान्दृष्ट्वा जलनिष्क्रान्ता सर्वे क्रुद्धा प्रचेतसः ।

मुत्तेभ्यो वायुमग्निं च तेऽसृजन जातमन्यवः ॥३॥

सम्पूजयन्त्य तान् क्रुद्धाः क्रुद्धा याम्पुरक्षोपयन् ॥

तानग्निरदहद्घोरस्त्रनाभुद्द्रुमसद्वयः ॥४॥

ब्रुमक्षयमथो दृष्ट्वा किञ्चिच्छिष्टेषु शास्त्रिणु ।
 उपगम्याब्रवीदेताभ्राजा सोम प्रजापतीन् ॥१॥
 कोप यच्छत राजान शृणुध्व च वचो मम ।
 सन्धान व करिष्यामि सह क्षितिर्द्वैरहम् ॥६॥
 रत्नभूता च कन्येय वार्क्ष्यी वरवर्णिनी ।
 भविष्यज्ञानता पूर्वं मया गोभिविवर्द्धिता ॥७॥

श्री पराशरजी ने कहा—जब प्रचेतागण तपस्या में लगे हुए थे, तब किसी प्रकार से पृथिवी की रक्षा-व्यवस्था न होने के कारण वह वृक्षों से प्राच्छादित हो गई और बहुत-सी प्रजा क्षीण होगई ॥१॥ आकाश तक ऊँचे लगे वृक्षों के कारण दस हजार वर्ष तक वायु का चलना ही रुका रहा और प्रजा चेष्टा-रहित हो गई ॥२॥ जब प्रचेतागण जल से बाहर घासे तो उन वृक्षों का ऐसा विस्तार देखकर उन्होंने क्रोध पूर्वक अपने मुख से वायु और अग्नि को छोड़ा ॥३॥ उस वायु ने वृक्षों को उखाड़ कर धुँक बिखा और प्रचण्ड अग्नि ने उन्हें भस्म कर दिया । इस प्रकार वृक्ष नष्ट होने लगे ॥४॥ उस भयानक वृक्ष-प्रलय के कारण चन्द्रमा ने प्रचेताओं के पास जाकर कहा ॥५॥ हे प्रचेतागण ! आप अपने क्रोध का शमन करके मेरी बात सुनिये । वृक्षों के साथ मैं आपकी सधि करा देना चाहता हूँ ॥६॥ यह रत्न रूपा एक श्रेष्ठ वरुण वाली कन्या वृक्षों से उत्पन्न हुई है, भविष्य की बात जान कर मैंने अपनी बिरहों से इसका पोषण किया है ॥७॥

मारिषानाम नाम्नैषा वृक्षाणामिति निर्मिता ।
 भार्या वोऽस्तु महाभागा ध्रुवं वक्षविवर्द्धिनी ॥८॥
 युष्माक तेजसोऽर्द्धेन मम चाद्धेन तेजसः ।
 अस्यामुत्पत्स्यते विद्वान्दक्षो नाम प्रजापतिः ॥९॥
 मम चाग्नेन सयुक्तो युष्मत्तेजोमयेन वै ।
 तेजसाग्निममा भूय प्रजा संवर्द्धयिष्यति ॥१०॥
 वष्पुर्नाम मुनि पूर्वमासीद्वेदविदा वरः ।
 गुरभ्ये गोमतीतीरे स तेने परम तपः ॥११॥

इसवे पश्चात् एक दिन उस अप्सरा ने उन महर्षि से कहा—हे ब्रह्मन् !
 अब मैं स्वर्ग लोक को प्रस्थान करूँगी, आप प्रसन्न होकर मुझे जाने की अनुमति
 दीजिये ॥१४॥ उसकी बात सुन कर उसमे आसक्तिवान् ऋषि ने कहा कि अभी
 कुछ दिन और ठहरो ॥१५॥ उनके अनुरोध पर वह अप्सरा सौ वर्ष तक और
 उनके साथ रहती हुई विविध भोगों को भोगती रही ॥१६॥ तब उसने पुनः
 उनसे कहा कि अब मुझे स्वर्ग जाने की अनुमति दीजिये । इस पर ऋषि ने
 उससे कहा कि अभी कुछ दिन और ठहरो ॥१७॥ इस प्रकार फिर सौ वर्ष
 व्यतीत हो गए तब उसने मुसका कर मुनि से कहा—भगवन् ! अब मैं स्वर्ग लोक
 को जा रही हूँ ॥१८॥ यह सुन कर मुनि ने उसे अपने हृदय से लगा लिया
 और बोले कि वहाँ तो तुम्हें बहुत समय लगेगा, इसलिए अभी क्षण भर तो रुको
 ॥१९॥ तब वह श्रेष्ठ कटि वाली अप्सरा उन ऋषि के साथ ही सौ वर्ष से कुछ
 कम समय तक और क्रीडा करती रही ॥२०॥

गमनाय महाभाग देवराजनिवेशनम् ।

प्रोक्तः प्रोक्तस्तथा तन्व्या स्थोयतामित्यभाषत ॥२१॥

तस्य शापभयाद्भूता दाक्षिण्येन च दक्षिणा ।

प्रोक्ता प्रणयभङ्गार्तिवेदिनी न जहौ मुनिम् ॥२२॥

तथा च रमतस्तस्य परमर्षेरर्हनिक्षम् ।

नव नवमभूत्प्रेम मन्मथाविष्टचेतसः ॥२३॥

एकदा तु स्वरायुक्ता निश्चक्रामोदजान्मुनिः ।

निष्क्रामन्त च कुत्रेति गम्यते प्राह सा शुभा ॥२४॥

इत्युक्तं स तथा प्राह परिवृत्तमहः शुभे ।

सन्ध्योपास्ति करिष्यामि क्रियालोपोऽन्यथा भवेत् ॥२५॥

ततः प्रहस्य मुदती त सा प्राह महामुनिम् ।

किमय सर्वधर्मज्ञ परिवृत्तमहस्तव ॥२६॥

यदूना विप्र वर्षाणा परिवृत्तमहस्तव ।

गतप्रेतान् कुरुते विस्मय कस्य कथ्यताम् ॥२७॥

[महाभाग ! वह अप्सरा जब-जब ऋषि से स्वर्ग लोक को जाने की

आपने आथम मे घुसते हुए देखा है ॥२८॥ अब दिन के छिपने पर यह सच्चा-
काल उपस्थित हुआ है, फिर तुम इस प्रकार से उपहास क्यों कर रही हो ?
॥२९॥ प्रम्लोचा ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपने मेरे प्रातः काल आने की जो बात
कही, वह तो ठीक है परन्तु उस प्रातः काल को आज सैकड़ों वर्ष व्यतीत हो
चुके हैं ॥३०॥ चन्द्रमा बोले—यह सुन कर वह विप्रश्रेष्ठ चिन्ता में पड़ गये और
उन्होंने आतुरता पूर्वक उस विद्याल नेत्र वाली सुन्दरी से पूछा—प्ररी भीर !
मुझे सत्य बता कि तरे साथ विषयासक्त रहते हुये मेरा कितना समय व्यतीत हो
चुका है ? ॥३१॥ प्रम्लोचा ने कहा—अब तक नी सौ सात वर्ष, छ मास और
तीन विस व्यतीत हो चुके हैं ॥३२॥ अपि ने कहा—क्या तू यह सत्य कह रही
है या मेरा उपहास करती है ? मुझे तो ऐसा लग रहा है कि यहाँ मैं तेरे साथ
एक दिन ही रहा हूँ ॥३३॥ प्रम्लोचा ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैं आपके समक्ष निप्या
कैसे कह सकती हूँ ? इस पर भी आपने अपने धर्म मार्ग में तत्पर होकर मुझे
पूछा है, तो असत्य कहने की बात ही नहीं है ॥३४॥

निश्चय्य तद्वचः सत्यं स मुनिर्नृपमन्दनाः ।
धिगृधिष्टमामित्यतोवेत्य निनिन्दात्मानमात्मना ॥३५॥
तपासि मम नष्टानि हत ब्रह्मविदा धनम् ।
हृतो विवेकः केनापि योषिन्मोहाय निमित्ता ॥३६॥
ऊर्मिषट्कातिगं ब्रह्म श्रेयमात्मजयेन मे ।
मनिरेषां हृता येन धिक् तं काम महाग्रहम् ॥३७॥
प्रतानि वेदवेद्यास्त्रिवारणान्यस्त्रिलानि च ।
नरव्रधाममार्गेण सङ्गेनापहृतानि मे ॥३८॥
विनिन्द्यत्य स धर्मजः स्वयमात्मानमात्मना ।
तामप्सरसमासीनामिदं वचनमब्रवीत् ॥३९॥
गच्छ पापं यथाकामं यत्कार्यं तद्वृत्तं त्वया ।
देवराजस्य मत्तोमं कुर्वन्त्या भावचेष्टितं ॥४०॥
न त्वां करोम्यहं भस्म प्रोपतीश्रेण बह्विना ।
अतां सप्तपदं मैत्रमुपितोऽहं त्वया सह ॥४१॥

चन्द्रमा बोले — हे राजपुत्रो ! प्रम्लोचा की सख बाणी सुन कर महर्षि अपने को धिक्कारने लगे । ऋषि ने कहा—घरे, मेरी तपस्या नष्ट हो गई, ब्रह्मवेत्ताओं का जो धन मेरे पास था वह अचिन्तक के कारण लुट गया । प्रहो ! श्री की रचना तो मोह जाल छालने के लिये ही हुई है ॥३५-३६॥ मुझे अपने मन की वश में करके छोड़ो ठमियो का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, मेरी बुद्धि को नष्ट कर देने वाले नाम रूपी महाग्रह को बारबार धिक्कार है ॥३७॥ नरक ग्राम के मार्ग रूपी इस नारी के सुष्ठु दोष से ब्रह्म प्राप्ति के कारण रूप सभी ब्रतों का नाश हो गया ॥३८॥ इन धर्मज्ञ मुनि ने इस प्रकार अपने ही निन्दा की और फिर उस अम्बर से कहने लगे ॥३९॥ हे पापिनि ! अब तू जहाँ चाहे सभी जा, तू ने अपने रूप से मुझे मोहित करके इन्द्र का कार्य पूर्ण कर दिया है ॥४०॥ अपने क्रोध रूपी प्रज्वलित अग्नि से मैं तुझे इसनिय भस्म नहीं करना चाहता कि सखन मनुष्य सात पग सोय रहने से ही बिग बन जाते हैं, परन्तु मैं तो तेरे साथ इतने दीर्घ समय तक रहा हूँ ॥४१॥

अथवा तव को दोषः किं वा कुप्याम्यह तव ।
ममैव दोषो निर्त्ररा येनाहमजितेन्द्रियः । ४२।
यथा शक्रप्रियायिन्या कृतो मे तपसो व्ययः ।
त्वया धित्वा महामोहमञ्जुषा मुजुगुप्तिनाम् । ४३।
यावदित्यं स विप्रपिस्ता ब्रवीति सुमध्यमाम् ।
तावद्गतत्वेदजला सा वनूधातिवेषयुः । ४४।
प्रवेपमाना सततं म्विभ्रगात्रतता सतीम् ।
गच्छ गच्छेति सक्रोधमुवाच मुनिस्ततमः । ४५।
सा तु निर्भोत्सजा तेन विनिष्क्रम्य तदाश्रमात् ।
आकाशगामिनी स्वेद ममाजं तरुपल्लवैः । ४६।
निर्माजंमाना गात्राणि गतत्वेदजलानि वै ।
नृणादृक्षं ययौ बाला तदप्राप्तिपन्नवैः । ४७।
ऋषिणा यस्तदा गर्भस्तस्या देहे समाहितः ।
निजंगाम स रोमाञ्चस्वेदरूपी तदङ्गनः । ४८।

इसमें तेरा कुछ दोष भी नहीं है, जिससे मैं तुझ से रह हो जाऊँ। सभी दोष मेरा है, क्योंकि मैं अपनी इद्रियो को नहीं जीत सका ॥४२॥ इन्द्र के स्नान के लिये जिस तूने मुझे तप-भ्रष्ट कर दिया, ऐसी तुझ महामोह मयूख को अत्यन्त धिक्कार है ॥४३॥ चन्द्रमा बोले — जब तक वह यद्यपि उससे इस प्रकार कहते रहे, तब तक वह घबराहट के कारण पसीने से लथपथ होकर काँती रही ॥४४॥ इस प्रकार पसीने से भीगी और भय से काँपती हुई उस भस्म से मुनि ने अत्यन्त क्रोधित होकर कहा—जा, तू यहाँ से तुरन्त जाती जा ॥४५॥ इस प्रकार बारबार तिरस्कार करने पर वह आश्रम से निकली और आश्रम मार्ग से गमन करते हुए उसने अपने पसीने को वृक्षों के पत्तों से पोंछा और वह एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर चढ़ती हुई चलती चली गई ॥४६॥ यद्यपि कण्डु ने उसके ओं गमन स्थापित किया था, वह भी रोमाच के पसीने के रूप में उसके देह से निकल आया ॥४७॥

त वृक्षा जगृह्यर्ममेक चक्रे तु मारुतः ।
 मया चाप्यायतो गोभिः स तदा ववृधे शर्भः ॥४६॥
 वृक्षाग्रगर्मसम्भूना मारिषाख्या वरानना ।
 ता प्रदास्यन्ति वो वृक्षाः कांप एष प्रशाम्यताम् ॥४७॥
 कण्डोरपत्यमेव सा वृक्षेभ्यश्च समुदगता ।
 समापश्य तथा वायो. प्रभलोच्चातनया च सा ॥४८॥
 स चापि भगवान् कण्डुः क्षीणे तपसि सत्तमः ।
 पुरुषोत्तममाख्यातं विष्णोरायतन ययौ ॥४९॥
 तर्षकाग्रमतिभूर्त्वा जकाराराधन हरेः ।
 ग्रहापारमय कुर्वञ्छपमेकाग्रमानसः ।
 ऊर्ध्वंवाहुर्महायोगी स्थित्वासौ भूपनन्दनाः ॥५०॥
 ग्रहापार मुनेः श्रोतुमिच्छामः परम स्तवम् ।
 जपता कण्डुना देवो येनाराध्यत केशवः ॥५१॥

हे राजपुत्रो ! उस गर्भ को वृक्षों ने ग्रहण किया और वायु ने उसे ५१पूर्वक क्षुद्रा कर दिया, सब मैं अपनी तिरणों से उसका पोषण करने लगा

इससे वह वृद्धि को प्राप्त हुआ ॥४६॥ इस प्रकार वह मारिषा नाम की कन्या वृक्षाग्र से उत्पन्न हुई, जिस वृक्षगण तुम्हारे लिये समर्पित करके, इनलिये अपने क्रोध को अथ शांत कीजिये ॥५०॥ वृक्षोंकी वह कन्या उसी प्रम्लोचा की सुता है, इस प्रकार वह कण्डु ऋषि की, वायु की तथा मेरी भी पुत्री है ॥५१॥ फिर वह सन्त श्रेष्ठ कण्डु क्षीणतप हुए पुरुषोत्तम क्षेत्र नामक स्थान को गये, जो भगवान् विष्णु की निवासा भूमि है । वहाँ उन्होंने एकाग्र चित्त से ब्रह्मपारम्य का जप और ऊर्ध्वबाहु रह कर भगवान् विष्णु की उपासका की ॥५२ ५३॥ यह सुन कर प्रचताग्रो ने कहा—कण्डु मुनि का यह ब्रह्मपार नामक महावृक्षोत्तम हम सुनना चाहते हैं जिसका जप करते हुए उन्होंने भगवान् का आराधन किया था ॥५४॥

पार पर विष्णुरपारपार पर परेभ्य परमार्थरूपी ।
 स ब्रह्मपार परपारभूत पर पराणामपि पारपार ॥५५॥
 सा कारण कारणतस्ततोऽपि तस्यापि हेतु परहेतुहेतु ।
 कार्येषु चैव राह कर्मकर्तृ रूपैरक्षेपैरवतोह सर्वम् ॥५६॥
 ब्रह्म प्रभुर्ब्रह्म स सबभूतो ब्रह्म प्रजाना पतिरच्युतोऽसौ ।
 ब्रह्माव्यय नित्यमज स विष्णुरपक्षयार्थ रक्षितैरसङ्गि ॥५७॥
 ब्रह्माक्षरमज नित्य यथासौ पुरुषोत्तम ।
 तथा रागादयो दोषा प्रयान्तु प्रशम मम ॥५८॥
 एतद्ब्रह्मपराख्य वै सस्तव परम जपन् ।
 भवाप परमा सिद्धि स तमाराध्य केशवम् ॥५९॥
 [इमं स्तवय पठति शृणुयाद्वापि नित्यश ।
 स कामदोषैरक्षितैर्मुक्त प्राप्नोति वाञ्छितम् ॥]
 इमं च मारिषा पूजमासीद्या ता ब्रवीमि व ।
 कार्यगौरवमेतस्या कथने फलदायि व ॥६०॥

चंद्रमा ने कहा—भगवान् विष्णु विश्वपथ के अन्तिम लक्ष्य हैं, जिनका पार नहीं पाया जा सकता । यह पर से भी परे और सत्य स्वरूप हैं । वह तपोनिष्ठों को ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे पर से परे तथा इन्द्रियों के अगोचर, भक्तों के

पालक और अमीष्ट पूरक है ॥१५२॥ कारण के कारण, उसके भी कारण के कारण होने से परम कारण है इस प्रकार वर्म, कर्त्ता आदि के सहित सम्पूर्ण प्रपञ्च के पालक है ॥१५६॥ वह ब्रह्म ही प्रभु, सर्वरूप और सम्पूर्ण प्रसा का स्वामी और अविनाशी है । वही अन्वय, नित्य, अजन्मा तथा क्षयादि विचारों रहित विष्णु है ॥१५७॥ उन पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु के अक्षर, अक्षर, प्रसा तथा नित्य ब्रह्म होने से मेरे भी रागादि दोष शान्ति को प्राप्त हो ॥१५८॥ इस ब्रह्मपार नामक स्तोत्र के जप पूर्वक भगवान् केशव की आराधना करने से महर्षि को परम सिद्धि की प्राप्ति हुई ॥१५९॥ (इस स्तोत्र का जो नित्य पाठ या श्रवण करता है वह कामादि विकारों से छूट कर इच्छित फल प्राप्त करता है। अथ मैं उस मारिषा का पूज्य वृत्तान्त कहता हूँ । वह पहले जन्म में क्या भी ? मनु सेने पर तुम्हारे गौरव की सफलता होगी ॥१६०॥

अपुत्रा प्रागिय विष्णुं मृते भर्त्तरि सत्तमाः ।
 भूपपत्नी महाभागा तांपयामास भक्तिः ॥१६१॥
 आराधितस्तया विष्णुः प्राह प्रत्यक्षता गतः ।
 वर युगोष्मेति शुभे सा च प्राहात्मवाञ्छितम् ॥१६२॥
 भगवन्बालवेधव्याद् वृथाजन्माहमीदृशी ।
 मन्दभागा समुद्भूता विकला च जगत्पते ॥१६३॥
 भवन्तु पतय. श्लाघ्या मम जन्मनि जन्मनि ।
 त्वत्प्रसादात्तथा पुत्रः प्रजापतिसमोऽस्तु मे ॥१६४॥
 कुल धीर्लं वय. सत्य दाक्षिण्य क्षिप्रकारिता ।
 अविस्वादिता सत्य वृद्धसेवा कृतज्ञता ॥१६५॥
 रूपसम्पत्समायुक्ता सर्वस्य प्रियदर्शना ।
 अयोनिजा च जायेय त्वत्प्रसादादधोक्षज ॥१६६॥
 तर्पयमुक्तो देवेशो हृषीकेश उवाच ताम् ।
 प्रणामनम्रामुत्याप्य वरद. परमेश्वरः ॥१६७॥

यह शपथ पूर्व जन्म में एक राज-महिषी थी । उसके पति दुर्गम पत्न्या में ही मृत्यु की प्राप्ति हो गये थे । तब इस महाभागा ने भगवान् विष्णु

भगवान् अन्तर्धान हो गये । तुम्हारी पत्नी मारिषा के रूप में यह वही राज-महिषी है ॥७२॥

तत सोमस्य वचनाञ्जगृह्णस्ते प्रचेतस ।
 सहत्य कोपं वृक्षेभ्य पत्नीधर्मेण मारिषाम् ॥७३॥
 दशभ्यस्तु प्रचेतोभ्यो मारिषाया प्रजापति ।
 जज्ञे दक्षो महाभागो य पूर्वं ब्रह्माणोऽभवत् ॥७४॥
 स तु दक्षो महाभागस्सृष्ट्यर्थं सुमहामते ।
 पुत्रानुत्पादयामास प्रजासृष्ट्यर्थमात्मन ॥७५॥
 भवराश्च वराश्चैव द्विपदोऽय चतुष्पदान् ।
 आदेश ब्रह्मणाः कुर्वन् सृष्ट्यर्थं समुपस्थितः ॥७६॥
 स सप्ता मनसा दक्ष पश्चादसृजत स्त्रिय ।
 ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ॥७७॥
 कालस्य नयने युक्ताः सप्तविंशतिमिन्दवे ।
 तासु देवास्तथा दैत्या नागा गावस्तथा खगा ॥७८॥
 गन्धर्वाप्सरसश्चैव दानवाद्याश्च जशिरे ।
 तत प्रभृति मैत्रेय प्रजा मैथुनसम्भवा ॥७९॥
 सङ्कल्पादृशनात्स्पर्शात्पूर्वेणामभवन् प्रजाः ।
 तपोविशेषं सिद्धाना तदात्यस्ततपस्विनाम् ॥८०॥

श्रीपराशरजी ने कहा—चन्द्रमा के इस प्रकार कहने से प्रचेतागण शान्त हुए और उन्होंने मारिषा को भार्या रूप में ग्रहण किया ॥७३॥ उन दसों प्रचेताओं से उस मारिषा ने दश प्रजापति को जन्म दिया, जो पूर्वकाल में ब्रह्माजी से उत्पन्न हुए थे ॥७४॥ हे महामते । ब्रह्माजी की आज्ञा से उस दक्ष प्रजापति ने सर्ग रचना की इच्छा करके नीचे ऊँचे तथा विभिन्न प्रकार के देह धारियों को पुत्र रूप से उत्पन्न किया ॥७५-७६॥ पहिले उन्होंने मानसी सृष्टि रची, फिर स्त्रियाँ उत्पन्न करके मैथुनी सृष्टि की रचना की । उन्होंने अपनी दस कन्याएँ धर्म के और तेरह कश्यप के साथ ब्याह दीं ॥७७॥ फिर काल परिवर्तन = निपुक्त हुई अस्विनी आदि सत्ताईस बन्ध्याएँ चन्द्रमा को दी । इनसे देवता,

प्रजाः सृजेति व्यादिष्टं पूर्वं दक्षः स्वयम्भुवा ।
 यथा ससर्ज भूतानि तथा शृणु महामुने ॥८७॥
 मानसान्येव भूतानि पूर्वं दक्षोऽसृजत्तदा ।
 देशानृपीन्सगन्धर्वानसुरान्पन्नगास्तथा ॥८८॥
 यदास्य सृजमानस्य न व्यवर्धन्त ताः प्रजाः ।
 ततः सञ्चिन्त्य स पूनः सृष्टिं हेतोः प्रजापतिः ॥८९॥
 मैथुनेनैव धर्मेण सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
 असिन्कोमावहृत्कन्या वीरणस्य प्रजापतेः ।
 सुता सुतपसा युक्ता महतीं लोकधारिणीम् ॥९०॥
 अथ पुनसहस्राणि वैरुण्या पञ्च वीर्यवान् ।
 असिक्न्या जनयामास सर्गहेतोः प्रजापतिः ॥९१॥
 तान्दृष्ट्वा नारदो विप्र सविबर्द्धं यिषून्प्रजाः ।
 सङ्गम्य प्रियसवादो देवपिरिदमब्रवीत् ॥९२॥
 हे हर्यश्वा महावीर्याः प्रजा यूयं करिष्यथ ।
 ईदृशो दृश्यते यत्नो भवता श्रूयनामिदम् ॥९३॥
 बालिशा बल यूय वै नास्या जानीत वै भुवः ।
 अन्तरूढ्वंमघश्चैव कथं सृक्ष्यथ वै प्रजाः ॥९४॥
 ऊढ्वं तिर्यग्घश्चैव यदाप्रतिहता गतिः ।
 तदा कस्माद्भूवो नास्त सर्वे द्रक्ष्यथ बालिशाः ॥९५॥
 ते तु तद्वचनं श्रुत्वा प्रयाताः सर्वतो दिशम् ।
 अद्यापि नो निवर्तन्ते समुद्रेभ्य इवापगाः ॥९६॥

श्री पराशरजी ने कहा—हे महामुने । स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजी द्वारा प्रजा उत्पन्न करने की आज्ञा प्राप्त कर दक्ष ने पहिले जिस प्रकार प्राणियों की रचा, उसे सुनो ॥८७॥ उस समय क्रम से शृषि, गधर्व, अशुर, सर्प आदि मानसी सृष्टि की ही दक्ष ने रचना की ॥८८॥ परन्तु जब इस प्रकार प्रजा की वृद्धि नहीं हुई तो उन्होने मैथुनी सृष्टि के विचार से वीरण प्रजापति की अत्यन्त तपस्विनी बन्ना अस्मिन्नी ना प्राणिग्रहण किया ॥८९-९०॥ इसके पश्चात्

उन्होंने अपनी भार्या असिनी के गर्भ से पाँच हजार पुत्र उत्पन्न किये ॥६१॥
 उन सब की प्रजोत्पत्ति की इच्छा माना देखकर नारदजी ने उनसे पाग जाकर
 इस प्रकार कहा—हे हर्षवर्मण ! मुझे जगता है कि घाय प्रजा उत्पन्न करने के
 इच्छुर हैं, इसलिये मेरी बात सुनो ॥६२-६३॥ तुम अभी पृथिवी का मध्य,
 ऊर्ध्व और तल भाग को ही नहीं जानते तो प्रजोत्पत्ति किस प्रकार करेंगे ?
 ॥६४॥ जब तुम इस ब्रह्माण्ड में ऊपर, नीचे, इधर, उधर सर्वत्र घसीप गति
 वाले हो, तो तुम्हें इस पृथिवी का अन्त क्यों नहीं दिखाई देता ? ॥६५॥
 नारदजी की बात सुन कर वे सब विभिन्न दिशाओं को चले गये तथा श्रृंग
 समुद्र में मिली हुई नदियों का पुनरावर्तन नहीं होता धँगे ही वे, जब कभी भी
 नहीं लौटे ॥६६॥

हृष्यंश्चेष्वयं नष्टेषु दक्षः प्राचेतसः पुनः ।
 वैरण्यामथ पुत्राणां सहस्रममृशत् ॥ ५॥
 विवर्द्धयिष्यस्ते तु सप्तलाभ्याः प्रजाः पुनः ।
 पूर्वोक्तं वचनं ब्रह्मन्नास्तेनैव नंदिनः ॥ ६॥
 अन्योन्यमूचुस्ते तथैव मम्यगादः ॥ ७॥
 भानगाः पटवी चैव शान्तवती ॥ ८॥

भाइयो का अनुसरण करना चाहिये ॥६८-६९॥ हम भी पृथिवी का परिमाण जान कर ही प्रजोत्पत्ति में लगेंगे । ऐसा विचार कर वह भी विभिन्न दिशाओं में जाकर हयंस्वो के समान ही लौट कर नहीं आये ॥१००॥ इसलिये, तभी से भाई की खोज में जाने वाला भाई नाश को प्राप्त हो जाता है और कोई ऐसा न करे, यह सिद्धान्त निश्चित हुआ ॥१०१॥ जब दश प्रजापति को यह ज्ञात हुआ कि यह पुत्र भी नारदजी के उपदेश से चले गये तब उन्होंने अत्यन्त क्रोध पूर्वक नारदजी को शाप दे डाला ॥१०२॥

सर्गकामस्ततो विद्वान्स मंत्रेय प्रजापतिः ।

पट्टि दक्षोऽसृजत्कन्या वरुण्यामिति न. श्रुतम् ॥१०३॥

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।

सप्तविंशति सोमाय चतस्रोऽरिष्टनेमिने ॥१०४॥

द्वे चैव बहुपुत्राय द्वे चैवाङ्गिरसे तथा ।

द्वे कृशाश्वाय विदुषे तासां नागानि मे शृणु ॥१०५॥

अरुन्धती वसुयामिर्लम्बा भानुमरुत्वती ।

सङ्कल्पा च मुहूर्ता च साध्याविश्वा च साहशी ॥१०६॥

धर्मपत्न्यो दश त्वेतास्तास्वपत्यानि मे शृणु ।

विश्वेदेवास्तु विश्वाया साध्या साध्यान जायत ॥१०७॥

मरुत्वस्या मरुत्वन्तो वसोश्च वसव स्मृता ।

भानोस्तु भानवः पुत्रा मुहूर्ताया मुहूर्तजा ॥१०८॥

लम्बायाश्चैव घोषोऽथ नागवीथी तु यामिजा ।

पृथिवीविषय सर्वमरुन्धत्यामजायत ।

सङ्कल्पायास्तु सर्वात्मा जज्ञे सङ्कल्प एव हि ॥१०९॥

हे मंत्रेयजी ! सुना जाता है कि फिर दश प्रजापति ने साठ बन्ध्याएँ उत्पन्न की, उनमें से दस धर्म को, तेरह कश्यप को, सत्ताईस चन्द्रमा को और चार अरिष्टनेमि को व्याह दी ॥१०३-१०४॥ तथा दो कन्याओं का विवाह बहुपुत्र से, दो का अंगिरा से और दो का कृशाश्व के साथ हुआ, जब उनके रूप बहता है ॥१०५॥ अरुन्धती, वसु, यामि, लम्बा, भानु, मरुत्वती, सङ्कल्पा,

मूर्तता, साध्या और विश्वा, यह दत्तों धर्म की भाषा हुई । अब इनके पुत्रों के विषय में मुनो-विदवा से विश्वेदेवा और साध्या से साध्यगण हुए ॥१०६-१०७॥ मरुत्वती से मरुत्वाद्, वसु मे वसुगण, मानु मे मानु और मूर्तता से मूर्तताभिमानो देवता उत्पन्न हुए ॥१०८॥ धाम्वा से धोष, यामि से नागवीषि, धरन्धती से पृथिवी विषयक सभी जीव तथा संख्या से सब प्राणियों में रहने वाले संकल्प की उत्पत्ति हुई ॥१०९॥

ये स्वनेकवसुप्राणदेवा ज्योतिः पुरोगमाः ।
 वसवोऽष्टौ समास्यातास्तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् ॥११०॥
 आपो ध्रुवश्च सोमश्च धर्मदर्चवानितोऽनलः ।
 प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवो नामभिः स्मृताः ॥१११॥
 आपस्य पुत्रो वंतश्चन्द्रः श्रमः शान्तो ध्वनिस्तथा ।
 ध्रुवस्य पुत्रो भगवान्कालो लोकप्रकालनः ॥११२॥
 सोमस्य भगवान्वर्चा वर्चस्वी येन जायते ।
 धर्मस्य पुत्रो द्रविणो हुतहव्यहस्तथा ॥११३॥
 मनोहरायां शिशिरः प्राणोऽथ वरणस्तथा ।
 घनिलस्य शिवा भार्या तस्याः पुत्रो मनोजवः ॥११४॥
 प्रविज्ञातगतिदर्चव द्वौ पुत्रावनिलस्य तु ।
 घनिपुत्रः कुमारस्तु शरस्तम्बे व्यजायत ॥११५॥
 तस्य शाखौ विशाखश्च नैगमेयश्च पृथग्जाः ।
 मपत्यं कृत्तिकानां तु कार्तिकेय इति स्मृतः ॥११६॥
 प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रमृषिं नाम्नाय देवतम् ।
 द्वौ पुत्रौ देवतस्यापि क्षमावन्तौ मनोषिणौ ॥११७॥

विभिन्न प्रकार का वसु ही जिनका जीवन है, ऐसे घात वसु प्रसिद्ध हैं, अब मैं उनकी वंशावलि बहता हूँ ॥११०॥ वे आप, ध्रुव, सोम, धर्म, घनिल, घनल, प्रत्यूष और प्रभास नाम से विख्यात हैं ॥१११॥ आपके चार पुत्र हुए जिनके नाम वंतश्चन्द्र, श्रम, शान्त और ध्वनि थे, ध्रुव के पुत्र लोकप्रकाल करने वाला काल हुआ ॥११२॥ सोम के पुत्र वर्चा हुए, जिनसे वर्चस्व की प्राप्ति

होती है । धर्म ने अपनी पत्नी मनोहरा से दक्षिण, हुन, हृष्यवह, शिशिर, प्राण और वरुण नामक पुत्र उत्पन्न किये । अनिल की पत्नी शिवा के मनोजव और अविज्ञातगति नामक दो पुत्र हुए । अग्नि का कुमार नामक पुत्र मरकटे में उत्पन्न हुआ ॥११३-११५॥ साख, विशाख और नंगमेय उससे छोटे भाता हुए । कृत्तिकाओं का पुत्र कार्तिक हुआ ॥११६॥ प्रत्यूष के पुत्र देवल नामक श्रृंग हुए । इनके दो क्षमाशील एवं विद्वान् पुत्र उत्पन्न हुए ये ॥११७॥

बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मचारिणी ।
योगसिद्धा जगत्कृत्स्नमसक्ता विचरत्युत ॥११८॥
प्रभासस्य तु सा भार्या वसूनामष्टमस्य तु ।
विश्वकर्मा महाभागस्तस्यां जज्ञे प्रजापतिः ॥११९॥
कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च बर्द्धकी ।
भूषणानां च सर्वेषां कर्ता शिल्पवता वरः ॥१२०॥
यः सर्वेषां विमानानि देवतानां चकार ह ।
मनुष्याश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्प महात्मनः ॥१२१॥
तस्य पुत्रास्तु चत्वारस्तेषां नामानि मे शृणु ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यस्त्वष्टा रुद्रश्च वीर्यवान् ॥१२२॥
त्वष्टुश्चाप्यात्मजः पुत्रो विश्वरूपो महातपाः ।
हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः ॥१२३॥
वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतः स्मृतः ।
मृगव्याधश्च शबश्च कपाली च महामुने ॥१२४॥
एकादशैते कथिता रुद्रादिभुक्तेश्वराः ।
शत त्वेक समाख्यात रुद्राणाममितीजसाम् ॥१२५॥

। प्रथम वसु प्रभास का विवाह बृहस्पतिजी की ब्रह्मचारिणी और सिद्ध योगिनी बहिन वरस्त्री से हुआ, वह प्रभासक्त भाव से पृथिवी पर भ्रमण करती फिरती थी । उसके द्वारा प्रभास वसु ने प्रजापति विश्वकर्मा को उत्पन्न किया जो सहस्रों शिल्पों के निर्माता, शिल्पियो, मे श्रेष्ठ देवशिल्पी हुए ॥११८-१२०॥ उन्होंने देवताओं के सब विमानों की रचना की । इनकी शिल्प विद्या के आश्रय

से अनेकानेक भनुष्य अपने जीवन का निर्वाह करते हैं ॥१२१॥ उन विश्व कर्मा के भद्रकृपाद, अद्विबुध्य स्वष्टा और रूद्र नाम के चार पुत्र हुए । ॥१२२॥ उनमें से स्वष्टा के पुत्र का नाम विश्वस्व हुआ । हे महामुने ! हर, बहुस्व, अन्नक, अक्षयवित, वृषाक्षिपि, सन्तु, वषट्, रंभव, मृगन्नाय, सर्व और वषाणी नामक यह स्याह रूद्र तीनों लोकों के अधीश्वर हुए । ऐसे संकष्टों ही अत्यन्त तेजस्वी एकादश रूद्र विख्यात हैं ॥१२३-१२५॥

वश्यपस्य तु भार्या यास्तासां नामानि मे शृणु ।
 अदितिर्दितिर्दनुर्वैवारिष्टा च सुरसा सभा ॥१२६॥
 सुरभिर्विनता चैव ताम्रा क्रोधवशा इरा ।
 कद्रुमुनिश्च घमंज तदपत्यानि मे शृणु ॥१२७॥
 पूर्वमन्वन्तरे श्रेष्ठा द्वादशासन्तुरोत्तमाः ।
 तुषिता नाम तैश्चोऽयमूचुर्वैस्वतेऽन्तरे ॥१२८॥
 उपस्थितेऽतियससञ्चाक्षुषस्यान्तरे मनोः ।
 समवायीकृताः सर्वे समागम्य परस्परम् ॥१२९॥
 आगच्छन् द्रुतं देवा अदिति सम्प्रविश्य वै ।
 मन्वन्तरे प्रनूयामस्तत्रः श्रेयो भवेदिति ॥१३०॥
 एवमुक्त्वा तु ते सर्वे चाक्षुषस्यान्तरे मनोः ।
 मारीचाक्षद्वयपाज्जता अदित्या दक्षकन्यया ॥१३१॥
 तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव हि ।
 अयंमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तयैव च ॥१३२॥
 विवस्वान्प्रविता चैव मित्रो वरुण एव च ।
 अंगुर्भगञ्चातितेजा आदित्या द्वादन स्मृताः ॥१३३॥
 चाक्षुषस्यान्तरे पूर्वमासन्ते तुषिताः सुराः ।
 वैवस्वतेऽन्तरे ते वै आदित्या द्वादश स्मृताः ॥१३४॥

अब उरुद्वज्जी की जो भार्याएँ हर्न उनके नाम अदिति, दिति, दनु, अरिष्टा, सुरसा, सभा, सुरभि, विनता, ताम्रा, क्रोधवशा, इरा, कद्रु, और मुनि ये । अब उनकी संतति सुनो ॥१२६-१२७॥ चाक्षुष मन्वन्तर ॥ तुषित नामक

बारह देवता थे । वे उस मन्वन्तर के समाप्त होने और वैवस्वत मन्वन्तर के आने पर परस्पर बोले ॥१२८-१२९॥ हे देवताओं ! चलो, अदिति के गर्भ में प्रविष्ट होकर हम क्षीघ्र ही वैवस्वत मन्वन्तर में उत्पन्न हो, हमारे लिये यही हितकर होगा ॥१३०॥ इस प्रकार निश्चय कर उन्होंने कश्यप पत्नी दक्षिणा अदिति के उदर से जन्म लिया और तब वे विष्णु, इन्द्र, अर्यमा, वाता, त्वष्टा, पूषा विवस्वान्, सविता, मैत्र, वरुण, अशु और भय नामक द्वादश आदित्य हुए ॥१३१-१३३॥ इस प्रकार वाष्पुष मन्वन्तर के तुपित नामक देवता ही वैवस्वत मन्वन्तर में द्वादश आदित्य होगये ॥१३४॥

याः सप्तविंशतिः प्रोक्ताः सोमपत्न्योऽथ सुव्रताः ।
 सर्वा नक्षत्रयोगिन्यस्तन्नामन्यश्च ताः स्मृताः ॥१३५॥
 तासामपत्याम्यभवन्दीप्तान्यमिततेजसाम् ।
 अरिष्टनेमिपत्नीनामपत्यानीह षोडश ॥१३६॥
 बहुपुत्रस्य विदुषश्चतस्रो विद्युतः स्मृताः ।
 प्रत्यङ्गिरसजाः श्रेष्ठा ऋचो ब्रह्मपिमत्कृताः ॥१३७॥
 कृशाश्वस्य तु देवर्षेर्देवप्रहरणाः स्मृताः ।
 एते युगसहस्रान्ते जायन्ते पुनरेव हि ॥१३८॥
 सर्वे देवमणास्तात त्रयश्चिन्तु छन्दजाः ।
 तेषामपीह सतत निरोधोत्पत्तिरुच्यते ॥१३९॥
 यथा सूर्यस्य मैत्रेय उदयास्तमनाविह ।
 एवं देवनिकायास्ते सम्भवन्ति गुणे युगे ॥१४०॥

चन्द्रमा की जिन सत्ताईस भार्याओं के विषय में कहा जा चुका है, वे सब नक्षत्र योगिनियाँ अपने उन्ही नामों से शसिद्ध हैं ॥१३५॥ उन अत्यन्त तेजस्विनियों ने अनेक पुत्र उत्पन्न किये । अरिष्टनेमि की पत्नियों के सोसह पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥१३६॥ बहुपुत्र की भार्या विद्युत् चार रूप वाली है । ऋचाओं के अभिमान देवता प्रत्यङ्गिरा से उत्पन्न हुए और देवप्रहरण नामक देवता देवर्षि कृशाश्व से उत्पन्न हुए । यह एक हजार युगों के बाद पुनः उत्पन्न होते हैं ॥१३७-१३८॥ यह तीनों देवता स्वच्छा से जन्म लेने में समर्थ हैं, कहा जाता है कि इन

उत्पत्ति और निरोध इस लोक में निरंतर होती रहती है ॥१३८॥ हे मनीषी !
जैसे संसार में मृत्यु का उदयास्त निरन्तर होता है वैसे ही इन देवताओं की
उत्पत्ति युग-युग में होती है ॥१४०॥

दत्त्वा पुत्रद्वयं जज्ञे कश्यपादिति नः श्रुतम् ।
हिरण्यकशिपुश्चैव हिरण्याक्षश्च दुर्जयः ॥१४१॥
सिंहिका चामवत्कन्या विप्रचितोः परिग्रहः ।
हिरण्यकशिपोः पुत्राञ्चात्वारः प्रथितौजसः ॥१४२॥
अनुज्ञादस्त्वं ह्यादश्च प्रज्ञादस्त्वं वृद्धिमान् ।
संज्ञादश्च महावीर्या दैत्यवंशविवर्धनाः ॥१४३॥
तेषां मध्ये महाभाग सर्वत्र समदृक्वशां ।
प्रज्ञादः परमां भक्तिं य उवाच जनार्दन ॥१४४॥
दैत्येन्द्रदीपितो वह्निः सर्वाङ्गोपचितो द्विज ।
न ददाह च यं विप्र वानुदेवे हृदि स्थिते ॥१४५॥
महाश्वान्तःमलिले स्थितस्य चलतो महो ।
चयात् सकला यस्य पाशवदस्य घोमतः ॥१४६॥
न भिन्न दिविर्घः शस्त्रैर्यस्य दैत्येन्द्रपातितैः ।
शरीरमद्रिकठिनं सर्वत्राच्युतचेतसः ॥१४७॥

मुना जाता है कि कश्यपजी ने दिनि के गर्भ से श्वेत दुर्जय हिरण्यक-
शिप और हिरण्याक्ष नामक दो पुत्र एवं सिंहिका नाम की एक पुत्री उत्पन्न की,
विष्का विवाह विप्रचिति से हुआ । हिरण्यकशिपु के चार पुत्र अनुज्ञाद, ह्याद,
प्रज्ञाद, और संज्ञाद नामक हुए, इन्हीं ने दैत्य वंश की वृद्धि हुई ॥१४१-१४३॥
हे महाभाग उन चारों में प्रज्ञाद सब को समान भाव से देखने वाले और
त्रिनेन्द्रिय हुए, उन्होंने भगवान् की परम भक्ति का वर्णन किया ॥१४४॥ त्रिहिं
दैत्यराज हिरण्यशिपु द्वारा जलाई गई अग्नि ने उन्हें सब घोर से जलाना चाहा,
परंतु हृदय में भगवान् का निवास होने के कारण उनको दग्ध नहीं किया जा
सका ॥१४५॥ जो पाश में बँधकर समुद्र के जल में पड़े हुए ऊपर-ऊपर डोने तो
समूर्ण पृथिवी कापने लगी थी ॥१४६॥ जिनका शरीर सर्वत्र के समान कठोर

या श्रीरभगवान् मे चित्त रहने के कारण दैत्यराज के साम्राज्य ॥ भी बह
द्विज भिन्न न हो सका ॥१४७॥

विषानलोज्ज्वलमुखा यस्य दैत्यप्रचोदिताः ।
नान्ताय सर्वपतयो बभूवुररतेजसः ॥१४८॥
शैलं राक्रान्तदेहोऽपि यः स्मरन्पुरुषोत्तमम् ।
तत्याज नात्मनः प्राणान् विष्णुस्मरणदक्षितः ॥१४९॥
पतन्तमुच्चादवनिर्यमुपेत्य महामतिम् ।
दधार दैत्यपतिना क्षिप्तं स्वर्गनिवासिना ॥१५०॥
यस्य संशोषको वायुर्देहे दैत्येन्द्रयोजितः ।
अवाप सक्षय सद्यश्चित्तस्थे मधुसूदने ॥१५१॥
विषाणभङ्गमुन्मत्ता मवहानि च दिग्गजाः ।
यस्य वक्षःस्थले प्राप्ता दैत्येन्द्रपरिणामिताः ॥१५२॥
यस्य चोत्पादिता कृत्या दैत्यराजपुरोहितैः ।
बभूव नान्ताय पुरा गोविन्दासक्तचेतसः ॥१५३॥
शम्बरस्य च मायाना सहस्रमतिभायिनः ।
यस्मिन्प्रयुक्तं चक्रेण कृष्णस्य वितथीकृतम् ॥१५४॥
दैत्येन्द्रसूदोपहृत यस्य हालाहलं विषम् ।
जरयामास मतिमानविकारममत्सरी ॥१५५॥
समचेता जगत्प्रयुक्तः सर्वेष्वेव जन्तुषु ।
यथात्मनि तथान्येषां परं मैत्रगुणान्वितः ॥१५६॥
धर्मात्मा सत्यशी यदिगुणानामाकरः परः ।
उपमानमशेषाणां साधूनां यः सदाभवत् ॥१५७॥

दैत्यपति के द्वारा प्रेषित विषाग्नि छोड़ते हुए सर्प भी जिस भक्त
भक्त न कर सके । जिन भक्तराज के हृदय पर भगवत्स्मरण रूपी कवच स्थित
था, जिसमें पत्थरो की भीषण मार भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकी
॥१५८-१५९॥ दैत्यराज द्वारा जिसे स्वर्ग से नीचे गिराये जाने पर पृथिवी के
ऊँची उठकर मध्य में ही अपने अक में ले लिया ॥१५७॥ भगवान् के चित

: स्थित रहने के कारण सब शोषक वायु भी जिनके शरीर ना स्पर्श करते । शान्त हो गया ॥१५१॥ जिनके बक्षःस्थल में लग कर दिग्गजों के दाँत भी टूट गये और सम्पूर्ण मद नष्ट हो गया ॥१५२॥ दैत्य-पुरोहितों द्वारा प्रेषित हत्या भी जिन भगवदासक्त भस्तराज का घन्त बजने में समर्थ न हो सकी ॥१५३॥ दाम्बरागुर कीहजारी मायाएँ भी जिनका बुद्ध न बिगाड़ सकी और गजान् के घट्ट से नष्ट हो गई ॥१५४॥ जिन मत्सर हीन मतिमान् नेरमोक्ष्ये द्वारा लपेटे हुए विष को भी विचार रहित साव से पी लिया ॥१५५॥ जो इस विश्व को भी प्राणियों के प्रति समान भाव वाले तथा दूसरों से अपने समान ही बनाए लिये थे ॥१५६॥ तथा जो परम परमात्म, सत्य और शीर्ष आदि गुणों से सिद्ध और साधुजन के लिये उपाय कृत थे ॥१५७॥



सोलहवाँ अध्याय

कथितो भवता यशो मानवाना महारमनाम् ।
 कारण चास्य जगतो विष्णुरेव सनातनः ।१।
 यस्त्वेतद् भगवानाह प्रह्लादा दैत्यसत्तमम् ।
 ददाह नाग्निर्नास्त्रैश्च क्षुण्णस्तत्याज जीवितम् ।२।
 जगाम बहुधा क्षीम यन्नाविचलिते स्थिते ।
 पाशैर्बद्धे विचलति विक्षिप्ताङ्गैः समाहता ।३।
 शैलैराकान्तदेहोऽपि न ममार च यः पुरा ।
 त्वया चातीव माहात्म्य कथित यस्य घीमतः ।४।
 तस्य प्रभावमतुल विष्णोर्भक्तिमतो मुने ।
 श्रोतुमिच्छामि यस्यैतच्चरित दीप्ततेजसः ।५।
 किञ्चिन्मत्तमसो शस्त्रैर्विक्षिप्तो दितिर्जमुने ।
 किमर्थं चाव्विचलिते विक्षिप्तो धर्मतत्परः ।६।

आक्रान्तः पर्वतः कस्माद्दृष्ट्वैव महोरगं ।

क्षिप्तं विमद्विशिखराक्षि वा पात्रकसञ्चये ॥७॥

दिग्दन्तिना दन्तभूमिं स च कस्मान्निरूपितः ।

सदोपकोऽनिलश्चास्य प्रयुक्तः किं महासुरैः ॥८॥

श्री मंत्रेयजी न कहा—ह भगवन् । आपने महात्मा मनुष्यों को वृत्तान्त कहा और इस जगत् के समाप्तन कारण भगवान् विष्णु को बताया ॥१॥ परन्तु, आपने दैत्यवर प्रह्लाद को अग्नि द्वारा भस्म न होने और दक्षप्रार्थों के प्राघात से भी न मरने की जो बात कही ॥२॥ तथा यह भी कहा कि उनके पास में बंधकद समुद्र के जल में पड़े हुए हुए हिलने डुलने से पृथिवी भी हिलने लगी थी तथा पत्थरों की बाँधार से भी उनका प्राणान्त नहीं हुआ । इस प्रकार आपने उनकी बहुत ही महिमा का वर्णन किया ॥३॥ जिन अत्यंत तेजस्वी के ऐसे अद्भुत चरित्र आपने कहे हैं, मैं उन विष्णुभक्त महात्मा के प्रभाव को मुने का इच्छुक हूँ ॥४॥ हे मुनिश्रेष्ठ । ऐसे अत्यंत धर्म परायण वा दैत्यो ने दक्षप्रार्थ से क्यों सतप्त किया और समुद्र के जल में क्यों डाला ? ॥५॥ पर्वतों से किम लिये दबाया, सर्पों से क्यों डसवाया ? पर्वत शिखर से क्यों गिराया और अग्नि में क्यों जलाया ? ॥६॥ दिग्गजों के दातों से क्यों कँधवाया और सब शीघ्र वायु को भी उनके अहित के लिये क्यों नियुक्त किया ? ॥७॥

कुर्या च दैत्यगुरवो युमुञ्जुस्तत्र किं मुने ।

दाम्बरश्चापि मायाना सहस्र किं प्रयुक्तवान् ॥८॥

हालाहल विषमहो दैत्यसूदर्महात्मनः ।

कस्माद्वा विनाशाय यज्जीर्णं तेन धीमता ॥९॥

एतत्सर्वं महाभाग प्रह्लादस्य महात्मनः ।

चरितं श्रोतुमिच्छामि महामाहात्म्यसूचकम् ॥१०॥

न हि कीदृहल तत्र यद्वैत्यं हतो हि सः ।

अनन्यमनसो विष्णो कः समर्थो निपातने ॥११॥

तस्मिन्वर्मपरे नित्यं केशवाराधनोद्यते ।

स्ववशप्रमर्षदैत्यैः कृतो द्वेगोऽस्तिदुष्करः ॥१२॥

धर्मात्मनि महाभागे विष्णुभक्ते विमत्सरे ।
 देतेयैः प्रहृत कस्मात्तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥१४॥
 प्रहरन्ति महात्मनो विपक्षा अपि नेदृशे ।
 गुणैस्समन्विते साधो किं पुनर्यैः, स्वयत्तजः ॥१५॥
 तदेतन्कथ्यता सर्वं जिस्तरान्मुनिपुङ्गव ।
 दैत्येश्वरस्य चरितं श्रोतुमिच्छाम्यशेषतः ॥१६॥

हे मुने ! दैत्य पुरुषों ने उन पर कृपा क्यों चलाई ? दम्बरासुर ने अपनी गामाओं को क्यों प्रयुक्त किया ? ॥१४॥ दैत्यराज के रतोद्भयो ने उन्हें मारने को घोर विष क्यों दिया, जिसे ने पचा गये थे ? ॥१०॥ हे महाभाग ! महान् माहात्म्य के सूचक उस प्रह्लाद चरित्र को मैं पूर्ण रूप से सुनना चाहता हूँ ॥११॥ दैत्य उन्हें मारने में असमर्थ रहे, यह तो आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि जिसका मन भगवान् में अनन्य भाव से लगा है उसे मारने में सन्देह कौन हो सकता है ? ॥१२॥ नित्य धर्म परायण तथा अयबदारावक भक्त से उन्हीं के कुल वालों ने ऐसा भीषण द्वेष किया और उन धर्मात्मा, महाभाग, भमत्सर विष्णु भक्त को दैत्यों ने इतना घोर दुःख दिया, इसका कारण मेरे प्रति कहिये ॥१३-१४॥ साधुजन तो ऐसे गुणी पुरुषों के विपक्षी होने पर भी उन पर इस प्रकार प्रहार नहीं करते, जिसमें वह तो अपने ही पक्ष के थे ॥१५॥ इसलिये हे मुनिवर ! इस सम्पूर्ण वृत्तान्त को विस्तार से कहिये, क्योंकि मैं उन दैत्य-राज के चरित्र श्रवण का अत्यन्त इच्छुक हूँ ॥१६॥

सत्रहवाँ अध्याय

मैत्रेय श्रूयता सम्यक् चरितं तस्य धीमत ।
 प्रह्लादस्य सदोदारचरितस्य महात्मनः ॥१॥
 दितेः पुत्रो महावीर्यो हिरण्यकशिपु पुरा ।
 त्रैलोक्य वशमानिन्ये ब्रह्मणो वरदर्पित ॥२॥

इन्द्रत्वमकरोद्दंत्य स चासीत्सविता स्वयम् ।
 वायुरगिरिपा नाथ. सोमश्चाभून्महासुरः ।३।
 घनानामधिपः सोऽभूत्स एवासीत्स्वय यमः ।
 यज्ञभागानशेषास्तु स स्वय बुभुजेऽसुरः ।४।
 देवा स्वर्गं परित्यज्य तत्त्रासान्मुनिसत्तम ।
 विन्नेरुरवनी सर्वे विभ्राणा मानुषी तनुम् ।५।
 जित्वा त्रिभुवनं सर्वं त्रैलोक्यैश्वर्यदपितः ।
 उपगीयमानो गन्धर्वैर्बुभुजे विषयान्प्रियान् ।६।
 पातासक्त महात्मान हिरण्यवशिषुं तदा ।
 उपासात्स्वकिरे सर्वे सिद्धगन्धर्वपद्मगाः ।७।

श्री पराशरजी ने कहा—ह भैंसेपत्नी । अब तुम उन मेधावी की
 उदार चेता महात्मा प्रह्लाद के चरित्र की ध्यान से सुनी ॥१॥ प्राचीन का
 की बात है कि दिति-पुत्र हिरण्यवशिषु ने ब्रह्माजी से वर पाकर अत्यंत गर्व
 पूर्वक सीनो लोको को विजय किया था ॥२॥ वह दैत्य इन्द्र पक्ष पर बैठ
 स्वयं ही सूर्य, वायु, अग्नि, वरुण और चन्द्रमा बना हुआ था ॥३॥ वही कुबो
 भीर यमराज बन बैठ गया वही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता हो गया ॥४॥ हे मुनि
 श्रेष्ठ । उसके भय के कारण ममस्त देवता स्वर्ग का त्याग कर मनुष्य देश
 पृथिवी पर प्रमत्त लगे ॥५॥ इन प्रकार उसने तीनों लोकों को वश में कर लिए
 और इस गर्व से गर्विण होकर गंधर्वों से अपनी स्तुति कराता और इच्छित भोगों
 का उपभोग करता था ॥६॥ उक्त समय सभी सिद्ध, गंधर्व, नाग इत्यादि उक्त
 मद्यरान आदि म प्राणिक हिरण्यवशिषु की पूजा करने लगे थे ॥७॥

अयादयन् जगुश्चान्ये जपसावद तथापरे ।
 दंत्यराजस्य पुरतश्चक्रुः सिद्धा मुदान्विताः ।८।
 तत्र प्रनृत्ताप्सरसि स्फाटिकाध्रमयेऽसुरः ।
 पपी पानं मुदा युक्त प्रासादे सुमनोहरे ।९।
 तस्य पुत्रो महाभागः प्रज्ञादो नाम नामतः ।
 पपाठ बासपाठ्यानि गुह्येहद्गतोऽम्बः ।१०।

एकदा तु स धर्मात्मा जगाम गुरुणा सह ।
 पानासक्तस्य पुरतः पितुर्देत्यनतेस्तदा ॥११॥
 पादप्रणामावनत समुत्थाप्य पिता मुनम् ।
 हिरण्यकशिपुं प्राह प्रह्लादम मवीजसम् ॥१२॥
 पठ्यतां भवतां वत्स सारभूतं सुभाषितम् ।
 कालेनैतावता यतो सदोद्युक्तेन शिक्षितम् ॥१३॥

वह दैत्यराज हिरण्यकशिपु के समझ कौई सिद्ध वाजे बजाने और कोई छंद उसका जयजयकार करते थे और वह असुर स्फटिक और अभ्रप्रक्षिता-निर्मित रम्य भवन में पड़ा हुआ मद्यपान करता रहता था ॥१५-१६॥ उसी हिरण्यकशिपु ने वह प्रह्लाद नामक अत्यंत भाग्यशाली पुत्र हुआ और वह घर के यहाँ जाकर अलौकिक शिक्षा ग्रहण करने लगा ॥१७॥ एक दिन वह धर्मात्मा वाचक अपने पिता दैत्यराज के पास आने गुह के साथ गया । वहाँ वह मद्यपान कर रहा था ॥११॥ उस समय उसका पुत्र उसके चरणों में झुक गया, जिसे उठाने हुए हिरण्यकशिपु ने कहा ॥१२॥ हिरण्यकशिपु बोला — हे पुत्र ! तुमने अध्ययन । लगे रहकर अब तक जो कुछ शिक्षा प्राप्त की है, उसे सार रूप में मुझे बताओ ॥१३॥

श्रूयतां ताव वक्ष्यामि सारभूतं तवाज्ञया ।
 समाहितमना भूत्वा यन्मे चेतस्यवस्थितम् ॥१४॥
 अनादिमध्यान्तमजमवृद्धिसयमच्युतम् ।
 प्रणतोऽस्म्यन्तसन्तान सर्वकारणकारणम् ॥१५॥
 एतन्निशम्य दैत्येन्द्रः सकोपो रक्तलोचनः ।
 विलोक्य तद्भुवं प्राह स्फुरिनाधरपल्लवः ॥१६॥
 ब्रह्मबन्धो किमेतरो विपक्षस्तुतिसंहितम् ।
 असारं ग्राहितो बालो मामवज्ञाय दुर्मुत्ते ॥१७॥
 दैत्येश्वर न कोपस्य वसामागन्तुमर्हसि ।
 समोपदेजजित्वा ताय वदति ते मत्त ॥१८॥

अनुशिष्टोऽसि केनेदम्वत्स प्रह्लाद कथ्यताम् ।

मयोपदिष्टं नेत्येष प्रब्रवीति गुरस्तव ॥१६॥

शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः ।

तमृते परमात्मानं तात कः केन शास्यते ॥२०॥

प्रह्लाद ने कहा—हे पिताजी ! मेरे मन में जो सार रूप से हैं, उसे मैं आपकी आज्ञा से सुनाता हूँ, आप ध्यान से सुनें ॥१४॥ आदि, मध्य और अन्त व रहित, वृद्धि और क्षय से परे, जन्महीन, अच्युत, सभी कारणों के कारण तथा ससार की सृष्टि, स्थिति और प्रलयकर्ता भगवान् विष्णु की मैं प्रणाम करता हूँ ॥१५॥ श्री पराशरजी बोले—प्रह्लाद की बात सुन कर दैत्यराज के नेत्र क्रोध से लाल हो गये और वह उसके गुरु की ओर देखता हुआ कपित घोड़ों से कहने लगा ॥१६॥ हिरण्यकशिपु ने कहा—भरे मतिहीन विप्र ! तुने मेरी आज्ञा की अवहेलना और तिरस्कार कर मेरे विपक्षी की स्तुति सहित सारहीन शिष्या दी है ॥१७॥ गुरु ने कहा—हे दैत्यराज ! आप क्रोधित न हो आपके इस पुत्र ने मेरे द्वारा सिखायी हुई बात आपसे नहीं कही है ॥१८॥ इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—हे पुत्र प्रह्लाद ! तुमको यह शिक्षा कितने दी है, तुम्हारे गुरुजी यह रहे हैं कि यह शिक्षा मेरी नहीं है ॥१९॥ प्रह्लाद ने कहा—हे पिताजी ! वही भगवान् सब हृदय में रह कर ससार को उपदेश देते हैं । उनके अतिरिक्त अन्य कौन किसी को कोई सीख दे सकता है ? ॥२०॥

कोऽयं विष्णुः सुदुर्बुद्धे य ब्रवीषि पुनः पुनः ।

जगतामीश्वरस्येह पुरतः प्रसममम ॥२१॥

॥ शब्दगोचर यस्य योगिध्येयं परपदम् ।

यतो यश्च स्वयं विश्वं स विष्णुः परमेश्वरः ॥२२॥

परमेश्वरसंज्ञोऽज्ञ किमन्यो मय्यवस्थिते ।

तथापि मतुं कामस्त्वं प्रब्रवीषि पुनः पुनः ॥२३॥

न केवलं तात मम प्रजानां

स ब्रह्मभूतो भवतश्च विष्णुः ।

धाता विधाता परमेश्वरश्च

प्रसीद वोप कुर्ये किमयम् ॥२४॥

प्रविष्टः कोऽप्य हृदये दुर्बुद्धेरतिपापकृन् ।
येनेहशान्तसाधूनि वदत्याविष्टमानस ॥२१॥
न केवलं भद्रवृद्धयं स विष्णु-
राक्रम्य लोकानखिलानवस्थितः ।
स मां त्वदादीश्वर पितस्तमस्ता-
न्मस्तचेष्टासु युनक्ति सर्गिनः ॥२२॥
निष्कास्यतामस पापः शास्यता च गुरोगृहे ।
योजितो दुर्मतिः केन विपक्षविषयस्तुनी ॥२३॥

हिरण्यकशिपु ने कहा — रे मूर्ख ! तू जिस विष्णु का मुक्त संसार के ईश्वर के समान पृथक्ता पूर्वक वर्णन कर रहा है, वह कौन है, यह मुझे बता ? ॥२१॥ प्रह्लाद ने कहा — जिसका परमपद योगियों द्वारा चिंतन योग्य है और वाणी से जिसका वर्णन समझ नहीं है तथा जिसमें ससार उत्पन्न हुआ है और जो स्वयं विश्व रूप है, वह भगवान् विष्णु ही परमेश्वर हैं ॥२२॥ हिरण्यकशिपु ने कहा — भरे मूर्ख ! मेरे प्रतिरिक्त और कौन परमेश्वर हो सकता है ? परंतु तू बारबार किसी अन्य का गुण गाकर मीन के मुख में जाना चाहता है ॥२३॥ प्रह्लाद ने कहा — हे पिताजी ! वह ब्रह्म भूत विष्णु मेरा ही नहीं सम्पूर्ण प्रजा का और आपका भी सहा, नियन्ता और ईश्वर है । ऐसा जान कर आप भ्रमन हो, निरर्थक क्रोध न करें ॥२४॥ हिरण्यकशिपु ने कहा — इस दुर्बुद्धि बालक के हृदय में कौन पापी प्रविष्ट हो गया है, जो इसे दवा कर इससे ऐसे कुवाक्य कहला रहा है ॥२५॥ प्रह्लाद ने कहा — हे पिताजी ! वह विष्णु भगवान् ही मेरे हृदय में बसा, सभी लोकों में आराम रूप से स्थित हैं, वहीं सर्वगायों मुक्तों, आपको और ससार के सभी जीवों को सचेष्ट करते हैं ॥२६॥ हिरण्यकशिपु ने कहा — इस पापी को तुरंत यहाँ से ले जाकर गुरु के शासन में भले प्रकार रखो । न जाने किसने इस खोटी बुद्धि वाले को मेरे विपक्षी की प्रशंसा में लगा दिया है ॥२७॥

इत्युक्तोऽसौ तदा दैत्यैर्नीतो गुरुगृह पुनः ।

जग्राह विद्यामनिशं गुरुमुत्थपणोद्यतः ॥२८॥

कालेऽस्तीति भवति प्रह्लादमसुरेश्वरः ।

सगाह्यान्नवीद्गाथा काचित्पुत्रक गीयताम् ॥२६॥

यत प्रधानपुरुषो यतश्चैतच्चराचरम् ।

कारण सकलस्यास्य स नो विष्णुः प्रसीदतु ॥३०॥

दुरात्मा वध्यतामेव नानेनार्थोऽस्ति जीवता ।

स्वपक्षहानिकर्तृत्वाद्यः कुलाङ्गारता गतः ॥३१॥

इत्याज्ञप्तास्ततस्तेन प्रगृहीतमहायुधाः ।

उद्यतास्तस्य नाशाय दैत्याः शतसहस्रशः ॥३२॥

विष्णुः शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ व्यवस्थितः ।

दैतेयास्तेन सत्येन माक्रमन्त्वायुधानि मे ॥३३॥

ततस्तैश्शतशो दैत्यैः शस्त्रैर्घराहतोऽपि सन् ।

नावाप वेदनामल्पामभूच्चैव पुनर्नवः ॥३४॥

श्रीपराशरजी ने कहा—दैत्यराज के आदेश से दैत्यों ने उन्हें पुनः गुरूजी के यहाँ पहुँचा दिया, जहाँ वह दिन-रात गुरूजी की सेवा-मुश्रूपा करते हुए विद्या पढ़ने लगे ॥२८॥ बहुत दिन बीतने पर हिरण्यकशिपु ने उन्हें फिर अपने पास बुलाकर कहा—हे पुत्र ! आज कोई गाथा कहो ॥२९॥ प्रह्लाद बोले—जिनसे प्रधान, पुरुष और इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है, उस सकल प्रपञ्च के कारण रूप भगवान् विष्णु हम पर प्रसन्न हो ॥३०॥ हिरण्यकशिपु ने कहा—घरे, यह बालक तो अत्यन्त दुरात्मा प्रीति होता है । इसके जीवित रहने से कोई लाभ नहीं है इसलिये इसका वध कर दो क्योंकि यह अपने पक्ष के लिए हानिकारक और कुल के लिए भ्रंशार रूप ॥३१॥ श्रीपराशरजी ने कहा—दैत्यराज की आज्ञा सुनकर सैकड़ों हजारों दैत्य प्रभावशाली शस्त्रास्त्रों से उन्हें मारने लगे ॥३२॥ तब प्रह्लाद ने कहा—हे दैत्यगण ! भगवान् तो तुम में, गुरू में और इन दास्यास्त्रों में भी विद्यमान हैं, इतने सत्य के कारण इन दास्यास्त्रों का प्रभाव गुरू पर नहीं हो सकता ॥३३॥ श्रीपराशरजी ने कहा—फिर तो उन असह्य दैत्यों ने शस्त्र-समूह से उन पर आघात किये, परन्तु उन्हें विचित्र भी वेदना न हुई और वे जैसे वे तैसे बल से परिपूर्ण रहे पाये ॥३४॥

दुर्वृद्धे विनिवर्तन्व धैरिपक्षस्तवादृतः ।
अथ ते प्रयच्छामि नातिमूढमतिर्भव ॥३५॥

भय भयानामपहारिणि स्थिते
मनस्यन्ते मम कुत्र तिष्ठति ।

यस्मिन्मृते जन्मजरान्तकादि

मयानि सर्वाण्यपयान्ति तात ॥३६॥

भो भो सर्पाः दुराचारमेवमत्यन्तदुर्मतिम् ।
विपज्वा गकुलैर्वक्त्रैः सद्यो नयत सटक्षयम् ॥३७॥

इत्युक्तास्ते तत सर्पा कुहकास्तक्षकावयः ।
अवशन्त समस्तेषु गात्रेऽतिविषोत्क्षणाः ॥३८॥

स त्यामक्तमतिः कृष्णे दृश्यमानो महोरगैः ।
न त्रिवेदात्मनो गात्र तत्स्मृत्याह्लादनुस्थितः ॥३९॥

दष्ट्रा विशीर्णा मणायः स्फुटन्ति
फलेषु तापो हृदयेषु कम्प ।

नास्य त्वचः स्वल्पमपीह भिन्ना
प्रगापि दैत्येश्वर कार्यमन्यन् ॥४०॥

हे दिग्गजाः नङ्कटदन्तमिथा
घ्नतैनमस्मद्विपुलभिन्नम् ।

तज्ज्वा विनाशाय भवन्ति तस्य

यथाखण्डे प्रज्वलितो हूताशः ॥४१॥

हिरण्यकशिपु ने कहा—हे सोटी मति वाले पुत्र ! अब मैं विपत्ती की
पुति करना छोड़ दे, इस समय मैं तुझे अथवा प्रदान करना हूँ, नविष्ट मे
को मूर्खता न करना ॥३५॥ प्रह्लाद ने कहा—ह विपत्ती ! त्रिनके स्मरण
।।३६॥ जरा धीर मृत्यु के सभी भय भाग खड़े होने हैं, तन मरहारी
।।३७॥ के हृदय मे विराजमान होते हुए, मेरे लिए, भय कहाँ
हेगा ? ॥३८॥ हिरण्यकशिपु ने कहा—हे सर्पों ! यह वाचक यदि सोटी
।।३९॥ की बाग धीर दुराचारी है, तुम इसे विनाशित मुक्त मुखों से जीत ही दण्ड

पर डालो ॥३७॥ श्रीपराशरजी ने कहा—आज्ञा मिलते ही अत्यन्त क्रूर और विषाग्नि युक्त तलवारों ने प्रह्लाद के सब शरीर को दग्ध किया । परन्तु भगवान् ने आसक्त चित्त होने के कारण उन्हें उन महासर्पों के काटने का कुछ भी आभास नहीं हुआ ॥३८-३९॥ सर्पों ने कहा—हे दैत्यराज ! ऐसे काटने से हमारी दाढ़े बिगड़ीं होगई । मणियों में दरार पड़ गई, पंखों में दर होने लगा और हृदय कम्पायमान हो उठा, फिर भी इस बालक की त्वचा कहीं से किंचित् भी न कट सकी । इसलिये अब आप हमें कोई और आज्ञा दीजिये ॥४०॥ हिरण्यकशिपु ने कहा—हे दिग्गजो ! मेरे शत्रुओं द्वारा बहुशय हुए इस बालक को अपने सकीर्ण दाँतों को मिलाकर उनके प्रहार द्वारा मार डालो । जैसे धरणी से उत्पन्न अग्नि धरणी को ही भस्म कर देता है, वैसे ही कोई कोई जिससे उत्पन्न होते हैं, उसी के नाशक हो जाते हैं ॥४१॥

तत स दिग्गजैर्बालो भूभृच्छिवरसन्निभः ।
पातितो धरणीपृष्ठे विपाणैर्विपीडित ॥४२॥
स्मरतस्तस्य गोविन्दमिभदन्ताः सहस्रम् ।
शीर्णा वक्ष स्थल प्राप्य च प्राह पितर तत ॥४३॥
दन्तागजानाकुलिशाग्रनिष्ठुरा

शीर्णा यदेते न बल ममैतत् ।

महाविपत्तापविनाशनोऽयं

जनार्दनानुस्मरणानुभाव ॥४४॥

उत्थाल्यतामसुरा वह्निरपसंपत दिग्गजाः ।
वायो समेधयाग्निं त्व दह्यतामेव पापकृत् ॥४५॥
महाकार्ठचयस्य तमसुरेन्द्रसुत तत ।
प्रज्वाल्य दानवा वह्निं ददहु स्वामिनोदिता ॥४६॥
तातैव वह्निं पवनैरितोऽपि

न मा दहत्यत्र समन्ततोऽहम् ।

पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि

शीतानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि ॥४७॥

श्री पराशरजी ने कहा—यह सुन कर पर्वत की शिखर के समान विस्तार देह वाले दिग्गजों ने उस बालक को पृथिवी पर हात कर अपने दाँतो से रोंदने की बहुत चेष्टा की ॥४२॥ परन्तु भगवान् का स्मरण करते रहने के कारण उनकी देह से टकरा-टकरा कर दिग्गजों के दाँत टूट गये । तब उन श्रापियों को हृत्प्रभ देखकर ब्रह्मा ने अपने पिता से कहा कि दिग्गजों के वध जैसे दाँतो के टूटने में मेरा कोई बल नहीं है, यह केवल भगवान् के विपत्ति और क्लेश नाशक स्मरण का प्रभाव ही है ॥४३-४४॥ हिरण्यकशिपु ने कहा—भरै दिग्गजों ! अब सुम टूट जाओ । हे बँस्यो ! तुम अग्नि जलाओ और हे वायो ! तुम उस अग्नि को लोहण वेग वाला एव प्रवर्धित करो, जिससे यह पापी शीघ्र ही भस्म हो सके ॥४५॥ श्री पराशरजी बोले—भरने स्वामी के आदेशानुसार उन बानसों ने काष्ठ का एक विस्तार डेर लगाया और उसमें अग्नि प्रवर्धित करके ब्रह्मा के भस्म करने की चेष्टा करने लगे ॥४६॥ ब्रह्मा ने कहा—हे पिताजी ! वायु के प्रयत्न करने पर भी यह अग्नि भस्म करने में समर्थ नहीं हो रही है । मुझे सभी दिशाओं ऐसी शीतल और सुहावनी लग रही है, जैसे मेरे चारों ओर नमन के पुष्प बिछ रहे हों ॥४७॥

अथ दैत्यैश्चरं प्रोचुर्भगिबस्यात्मजा द्विजाः ।
 पुरोहिता महात्मानःसाम्ना संस्तूय वग्मिनः । ८।
 राजप्रियम्यतां कोषो बालेऽपि तनये निजे ।
 कोषो देवनिर्कायेषु तेषु ते सफलो यतः । ९।
 तपातयैन बाल ते शासितारो वय नृप ।
 यथा विपक्षनाशाय विनोतस्ते भविष्यति । १०।
 बालत्व सर्वदीपाणा दैत्यराजास्पद यतः ।
 ततोऽत्र कोपमत्यर्थं योक्तुमर्हसि नामके । ११।
 न त्यक्ष्यति हरेः पक्षमस्माकं यचनाद्यदि ।
 ततः कृत्यां वधायास्य करिष्यामोऽनिवृत्तिनीम् । १२।
 एवमभ्यर्चिस्तंस्तु दैत्यराजः पुरोहितैः ।
 दैत्यैर्निष्वासयामास पृथं पावकसञ्चयान् । १३।

ततो गुरुगृहे वाल स वसन्वाल्दः नवान् ।

षष्ठ्यापयामास गुरुरुपदेशा-न्तरे गुरो ॥५८॥

श्री पराशरजी ने कहा—इसके पश्चात् भुवाचार्य जी ने पुनः वाम्प्री महात्मा और पुरोहितगण दैत्यराज को सान्त्वना देते और उनकी प्रशंसा करते हुए बोले ॥५८॥ पुरोहितो ने कहा—हे राजन् ! आप अपने इस बालक पुत्र पर क्रोध मत कीजिये, आपको तो उन देवताओं पर ही क्रोध करना खचित है ॥५९॥ हम आपके इस बालक को आपके विपदा का नाशक और आपके प्रति विनम्र होने की सीख देंगे ॥६०॥ हे दैत्येन्द्र ! बाल्यावस्था तो सभी दीर्घों की आश्रय स्थली है, इसलिये इस बालक पर क्रोध न करिये ॥६१॥ यदि यह हमारे कहने से भी विपत्ती के वश का त्याग न करेगा, तो हम इसे नष्ट करने के लिये किसी प्रकार भी व्यर्थ न होने वाली कृत्या का प्रयोग करेंगे ॥६२॥ श्रीपराशरजी ने कहा—पुरोहितो के ऐसे आश्वासन पर दैत्यराज ने प्रह्लाद को अग्नि से बाहर निकालने की आज्ञा दी ॥६३॥ इसके पश्चात् उन्हें गुरुजी के यहाँ भेजा गया, जहाँ वे दैत्य बापको को बारम्बार उपदेश करते सगे ॥६४॥

श्रूयता परमार्थो मे दैतेया दितिजात्मजा ।

न चान्यथैतन्मन्त्रं नान सोमादिकारणम् ॥६५॥

जन्म बाल्य तत सर्वो जन्तु प्राप्नोति यौवनम् ।

अश्माहतैव भवति ततोऽनुदिवस जरा ॥६६॥

ततश्च मृत्युमभ्येति जन्तुर्दैत्येश्वरा मजा ।

प्रत्यक्ष दृश्यते चैतदस्मिन् भवता तथा ॥६७॥

मृतस्य च पुनर्जन्म भवत्येतच्च नान्यथा ।

आगमोऽयं तथा यच्च नोपादानं त्रिनोद्भव ॥६८॥

गर्भवासादि यावत् पुनर्जन्मोपपादनम् ।

समस्तावस्थक तावद्दुःखमेवावगम्यताम् ॥६९॥

क्षुत्पिण्डोपशम तद्वच्छीताद्युपशमं सुखम् ।

मन्यते बालबुद्धित्वाद् खमेव हि तत्पुनः ॥७०॥

अत्यन्तस्तिमिताङ्गानां व्यायामेन सुखं पिणाम् ।

भ्रान्तिज्ञानावृताक्षाणां दुःखमेव सुखायते ॥६१॥

प्रह्लाद ने कहा—हे दैत्य बालवो ! मैं तुम्हें परमार्थ की सीख देता हूँ । तुम इसे गिख्या न जानना, क्योंकि इस उपदेश में मेरा कोई लोभादि स्वायं नहीं है ॥५५॥ सभी प्राणी जन्म लेकर वान्यावस्था और यौवनावस्था प्राप्त करने हैं, फिर धीरे-धीरे बुढ़ापे की प्राप्ति भी अनिवार्य ही है ॥५६॥ इसके बाद यह प्राणी श्रुत्यु मुक्त में चला जाता है । ऐसा होते हुए हम सभी प्रत्यक्ष देखते हैं ॥५७॥ मर कर फिर जन्म लेना पड़ता है, यह नियम भी भटल है । प्राण भी यही कहते हैं कि उपादान के बिना कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती ॥५८॥ पुनर्जन्म को प्राप्त कराने वाली गर्भ में रहने आदि की जितनी भी अवस्थायें हैं, वह सभी दुःख रूप ही समझनी चाहिये ॥५९॥ मूर्खता के वश में पड़े हुए मगुव्य भूल, ध्यास और शीतादि की शान्ति को सुख समझते हैं, परन्तु यथार्थ में वह दुःख मात्र ही हैं ॥६०॥ जिनके देहादि शिथिल हो जाते हैं । उन्हें जैसे व्यायाम पुलकायक लगता है, वैसे जिनकी दृष्टि भ्रान्ति से आच्छा-दिन हो चुकी है, उन्हें दुःख ही सुख प्रतीत होता है ॥६१॥

ए शरीरमदीपाणां श्लेष्मादीनां महाचयः ।

ए भ्रान्तिशोभासौन्दर्यरमणीयादयो गुणा ॥६२॥

भासासृक्पूयविष्मूत्रस्नायुमज्जास्त्यसंहृती ।

देहे चैत्थीतिमान् मूढो भविता नरकेऽप्यसौ ॥६३॥

अग्नेः शीतेन तोयस्य तृषा भवतस्य च क्षुवा ।

क्रियते सुखं । त्वं त्व तद्विलोमस्य चेतरेः ॥६४॥

करोति हे दैत्यसुता यावन्मात्रं परिग्रहम् ।

तविन्मात्रं स एवास्य दुःखचेतसि यच्छति ॥६५॥

यावत्कुरुते जन्तुः सन्ध्यान्मनसः क्रियात् ।

तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्खवः ॥६६॥

यद्यद्गृहे तन्मनसि यत्र तत्रावतिष्ठतः ।

नाशदाहोपकरणं तस्य तत्रैव तिष्ठति ॥६७॥

जमन्यत्र महद्दुःखं त्रियमाणस्य चापि तत् ।

यातनासु यमस्योन्नत गमसङ्क्रमणेषु च ।६८।

देखो, वहाँ तो कफ आदि घट्यन्त घृणित पदार्थ रूप यह देह और कष्टों कान्ति, शोभा, सौन्दर्य एवं रमणीयतादि गुण ? ॥६२॥ यदि कोई मूर्ख इस मांस, रक्त, पीव, बिछा, मूत्र, म्नायु, मज्जा और हृदिबिणो के ढाँचे रूपी इस देह से प्रीति कर सबता है तो वह मरक से भी प्रेम कर सबता है ॥६३॥ शीत के शमनार्थ अग्नि, पिपासा की शान्ति के लिये जल और धुधा की शान्ति के लिये भात सुख देने वाला होता है तथा इनके प्रतिपक्षी जलारि भी अपने विलोम अग्नि आदि के कारण ही सुख देने वाले होते हैं ॥६४॥ विषयो का जितना सचय किया जाय, उतना ही मनुष्य के चित्त को दुःखदायी होता है ॥६५॥ मनुष्य अपने को अच्छे सगने वाले जितने सम्बन्धों की वृद्धि करता है, वह उसके लिये उतने ही अधिक हृदय-कटक सिद्ध होते हैं ॥६६॥ घर की सभी सामग्री परदेस में कहीं रहने पर भी चित्त में स्थिर रहती है तथा उसी में उन्हें नष्ट करने और भस्म करने के साधन भी स्थित रहते हैं ॥६७॥ इस प्रकार अपने जीवन में तो घोर दुःख की प्राप्ति होती ही है, भरणोपरान्त भी यम-यातनार्थ और गर्भवास की यत्रणार्थ भोगनी पड़ती हैं ॥६८॥

गर्भेषु सुसलेशोऽपि भवद्भिरनुमीयते ।

यदि तत्कथ्यतामेव सर्वं दुःखमय जगत् ।६९।

तदेवमतिदुःखानामास्पदेऽत्र भवार्णवे ।

भवता कथ्यते सत्यं विष्णुरेकः पराशरः ।७०।

माजानीत वयं वाला देही देहेषु शाश्वतः ।

जरायोवनजन्माद्या घर्मा देहस्य नात्मनः ।७१।

वालोऽहं तावदिच्छातो यत्तिष्ठे श्रेयसे युवा ।

युवाह वार्द्धके प्राप्ते करिष्याम्यात्मनो हितम् ।७२।

वृद्धोऽहं मम कार्याणि समस्तानि न शोचरे ।

किं करिष्यामि मन्दात्मा समर्थेन न यत्कृतम् ।७३।

एवं दुराशया क्षिप्तमानसः पुरुषः सदा ।

श्रेयसोऽभिमुखं याति न कदाचित्तिपासितः ॥७४॥

बाल्ये क्रीडनकासक्तो यौवने विषयोन्मुखा ।

अज्ञा नयत्यशक्त्या च वार्द्धके समुपस्थितम् ॥७५॥

तस्माद्बाल्ये विवेकात्मा यतेत श्रेयसे सदा ।

बाल्ययोननवृद्धाद्यवैहभावैरसंयुतः ॥७६॥

गर्म में रहने के समय क्या तुम्हें सुझाया है ? सम्पूर्ण विद्वद्भी प्रकार बुझी रहता है ॥६६॥ इसलिये दुःखों के परमभार इस भव-सागर में केवल एक भगवान् विष्णु ही सब की परमगति है, मेरा यह वचन निताम्न सत्य है ॥७०॥ यदि तुम कहो कि अभी तो हम बालक ही हैं तो माता सभी अवस्थाओं में समान रहता है, बूढ़ावस्था, युवावस्था भगवा जन्मादि तो छीर के घर्म हैं, आत्मा के नहीं हैं ॥७१॥ जो मनुष्य इन दुराशाओं में मत्त रहता है कि अभी मैं बालक हूँ मेरे खेलने के दिन हैं, यौवनवस्था प्राप्त होने पर कल्याण-साधन करूँगा, फिर सोचता है कि अभी तो मेरी युवावस्था ही है, बुढ़ापा आने पर कुछ करूँगा और जब बुढ़ापा आ जाता है तब सोचता है कि मेरी पर्मद्विपा सिपिल हो चुकी हैं, इन्द्रिया कर्मों में प्रवृत्त हो नहीं होती, तो क्या करूँ ? पहिले ही सतत रहने पर कुछ किया था वृत्ता था । इस प्रकार वह अपने कल्याण मार्ग पर कभी नहीं चलता, केवल भोग की दृष्टि में ही लगा रहता है ॥७२-७३॥ मूर्ख मनुष्य बाल्यावस्था में खेलते-कूदते, यौवनावस्था में विषयों में फँसे रहते और बुढ़ावस्था में असमर्थ हो जाते हैं । इसलिये विवेकी मनुष्य को बाल, युवा या बुढ़ावस्था का विचार न करके, बाल्यावस्था से ही अपने कल्याण कार्य में लग जाना चाहिये ॥७४-७६॥

तदेतदो मयास्पातं यदि जानीत नानृतम् ।

तदस्मत्प्रीतये विष्णुः स्मर्यता बन्धमुक्तिदः ॥७७॥

प्रयासः स्मरणे कोऽस्य स्मृतो यच्छ्रुति शोभनम् ।

पायस्यत्र भवति स्मरता तमहनिशम् ॥७८॥

सर्वभूतस्थिते तस्मिन्मतिर्मेव दिवानिशम् ।
 भवता जायतामेव सर्वधर्मेभ्योऽप्यस्य ॥७६॥
 तापत्रयेणाभिहत यदेतदखिल जगत् ।
 तदा शोच्येपु भूतेषु द्वेष प्राज्ञ करोति कः ॥७७॥
 अथ भद्राणिभूतानि हीनशक्तिरह परम् ।
 मुद तदापि कुर्वन्त हानिर्द्वेषफल यत ॥७८॥
 वद्वैराणि भूतानि द्वेष कुर्वन्ति चेत्ततः ।
 सुशोष्याम्यतिमोहेन व्याप्नानीति मनीषिणाम् ॥७९॥
 एते भिन्नहृता दैत्या विवरूपा कथिता मया ।
 कृत्वाभ्युपगम तत्र सक्षेप श्रूयता मम ॥८०॥

यदि तुम मेरी बात को मिथ्या नही समझते तो मेरी सन्तुष्टि के लिये
 ही मोक्षदायक भगवान् विष्णु का स्मरण करो ॥७७॥ उस कार्य में कोई परिश्रम
 भी नहीं है तथा स्मरणमात्र से ही वे अत्यन्त शुभ फल प्रदान करते हैं और
 जो उनका दिन-रात स्मरण करते हैं, उनके पापों का भी क्षय हो जाता है
 ॥७८॥ सब भूतों में स्थित उन भगवान् में तुम्हारी बुद्धि दिन-रात लगी रहे और
 उनमें निरन्तर प्रेम-बुद्धि हो तो इससे सभी कष्ट दूर हो जाएंगे ॥७९॥ जब
 यह सम्पूर्ण बिन्दु मिताप से जल रहा है तो इन सोचनीय प्राणियों से कौन
 द्वेष करना चाहेगा ? ॥८०॥ यह सोच कर कि दूसरे तो आनन्द में हैं, मैं ही
 अशक्त हूँ, दुःख न माने, क्योंकि द्वेष का परिणाम भी दुःख ही है ॥८१॥ यदि
 कोई बंद भाव के कारण द्वेष करता ही हो, तो यह महामोह में फँसा हुआ
 प्राणी विचारवानों की दृष्टि में सोचनीय ही है ॥८२॥ हे दैत्य बालक ! मैंने
 विभिन्न दृष्टिकोण तुम्हारे सामने रखे हैं, अब उनका सक्षिप्त समर्थन
 सुनो ॥८३॥

विमृता सर्वभूतस्य विष्णोः सर्वामिदं जगत् ।
 दृष्टव्यमात्मवत्तस्मादमेदेन विचक्षणैः ॥८४॥
 समुत्सृज्यासुर भाव तस्माच्छून्य तथा वयम् ।
 तथा यत्नवरिष्यामोयथा प्राप्स्याम निर्वृतिम् ॥८५॥

या नाग्निना न चाकेण नेन्दुना च न वायुना ।
 पर्जन्यवरुणाभ्या वा न मिद्धेनं च राक्षसः ॥८६॥
 न यक्षेनं च दैत्येन्द्रं नोरगेनं च क्रिद्भरः ।
 न मनुष्येनं पशुभिर्दोषेनैवात्मसम्भवः ॥८७॥
 ज्वराक्षिरोगातीतारुह्यहगुन्मादिकस्तथा ।
 द्वेपेर्ष्यामत्तराद्ये वा रागलोभादिभिः क्षयम् ॥८८॥
 न चान्धैर्नोपते कैश्चिन्नित्या वात्यन्तनिर्मला ।
 तामाप्नोत्यमले न्यस्य केशवे हृदय नरः ॥८९॥
 असारमसारविवर्तनेषु मा यात तोष प्रसम ब्रवीमि ।
 सर्वत्र दैत्यास्तमतामुपेत समत्वगाराधनमच्युतस्य ॥९०॥
 तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यनभ्य धर्मर्यिकामेरलमल्पकान्ते ।
 समाश्रिताग्रह्यतरोरनन्ताग्निःसकृद्य प्राप्स्यथ वै महत्फलम् ॥९१॥

इस विद्वत् को सब भूत, तपन भगवान् का विस्तार ही समझो । क्योंकि विचक्षण पुरुष इसमें अभेद मानते हुए आत्म रूप ही देखते हैं ॥८४॥ इसलिये हम-तुम को भी वै-व-भाव का त्याग करके शान्ति लाभ करने का यत्न करना चाहिये ॥८५॥ क्योंकि जो शान्ति अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ, वरुण, विद्ध, ऐश्वर्य, यश, दैत्येन्द्र, उरग, क्रिद्भर, मनुष्यों और पशुओं के करने मन से तपन दोषों से, ज्वर, नेत्ररोग, अतिशय, शीघ्रा और गुन्मादि रोगों ॥ तथा द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर, राग, लोभ और किसी भी धन्य भाव से नष्ट नहीं हो सकती, वह अत्यन्त निर्मल परम शान्ति भगवान् केशव में मन लगाने से ही प्राप्त हो सकती है ॥८६-८८॥ हे दैत्यपुत्रो ! मेरा धाम है कि इन सासारिक विषयों से कभी प्रसम मत होओ, तुम सबके प्रति समान दृष्टि रखो, क्योंकि सब समानता ही भगवान् प्रच्युत को परम पारायना है ॥९०॥ उन प्रच्युत के प्रसम होने पर ससार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है, धर्म, धर्म और काम तो अत्यन्त ही तुच्छ हैं, इस ब्रह्म रूप महावृक्ष के छाये से तो अत्यन्त ही तुम महावन को प्राप्त करोगे ॥९१॥



अठारहवाँ अध्याय

तस्यैता दानवाश्चेष्टा दृष्ट्वा दैत्यपतेर्मयात् ।
 आचक्षुः स चोवाच सूदानाहूय सत्वरः ॥१॥
 हे सूदा मम पुत्रोऽसावप्यपामपि दुर्मतिः ।
 कुमार्यदेशिको दुष्टो हन्यतामबिलम्बितम् ॥२॥
 हालाहल विष तस्य सर्वभक्ष्यं दीयताम् ।
 अविज्ञातमसौ पापो ह-यना मा विचार्यताम् ॥३॥
 ते तथैव ततश्चक्रुः प्रह्लादाय महत्माने ।
 विषदानं यथाज्ञप्तं पित्रा तस्य महात्मनः ॥४॥
 हालाहल विषं घोरमन-तोच्चारणेन सः ।
 अभिमन्युं सहान्तेन मंत्रेण बुभुजे तदा ॥५॥
 अविकारं सतश्च कृत्वा प्रह्लादः स्वस्थमानसः ।
 अनन्तर्यामिनिर्वायं जरयामास तद्विषम् ॥६॥
 ततः सूदा भयत्रस्ता जीर्णं दृष्ट्वा महद्विषम् ।
 दैत्येश्वरगुणामयं प्रणिपत्येवमब्रुवन् ॥७॥

श्री पराशरजी ने कहा — दैत्यो ने प्रह्लाद की ऐसा चेष्टा देख कर दैत
 राज के भय के कारण उन्होंने वहाँ जाकर सब बातें सबसे कही घोर तब
 हिरण्यकशिपु ने अपने रसोदयो को बुला कर उनसे कहा ॥१॥ हिरण्यकशिपु
 बोला—हे रसोदयो ! मेरा यह पुत्र इतना दुष्ट और दुर्मति है कि दूसरों को भी
 कुमार्य को उपदेश करता है इसलिये तुम इसका शीघ्र ही विनाश करो ॥२॥
 तुम उसे बिना बताए उसके सब साथ पदार्थों में हालाहल विष डाल कर उसे
 बिना कुछ सोचे विचारे भक्षण करा दो, जिससे वह पापी मर जाय ॥३॥ श्री
 पराशरजी ने कहा—दैत्यराज की आज्ञानुसार उन रसोदयो ने महात्मा प्रह्लाद
 को विष दे दिया ॥४॥ हे मंत्रवती ! वह उस घोर विष को भगवान् का नाम
 लेकर भक्षण कर गय ॥५॥ जो विष भगवद्धाम के प्रभाव से तेजहीन होगया
 था. उसे वह बिना विचार के पचा गये घोर स्वस्थ चित्त रहे ॥६॥ उस महान्

पिता च मम सर्वस्मिञ्छात्युत्कृष्टचेष्टितः ।
 एतदप्यवगच्छामि सत्यमत्रापि नानृतम् ॥१३॥
 गुरूणामपि सर्वेषां पिता परमको गुरुः ।
 यदुक्तं भ्रान्तिस्तत्रापि स्वत्यापि हि न विद्यते ॥१४॥
 पिता गुरुरनं सन्देहः पूजनीयः प्रयत्नतः ।
 तत्रापि नापराध्यामीत्येव मनसि मे स्थितम् ॥१५॥
 यत्त्वेतत्किमनन्तेनेत्युक्तं द्युष्माभिरौघशम् ।
 को ज्ञेय इति यथान्वयायं किं तु न तद्वचोऽर्थवत् ॥१६॥
 इत्युक्त्वा सोऽभवन्मोहो तेषां गौरवयन्त्रितः ।
 प्रहस्य च पुनः प्राह किमनन्तेन साध्विति ॥१७॥
 साधु भो किमनन्तेन साधु भो गुरवो मम ।
 श्रूयतां यदनन्तेन यदि सिद्धं न यास्यथ ॥१८॥

ब्रह्मा ने कहा— हे महाभागो ! आपका कथन ब्यर्थ है । मगर
 'मरीचि का यह कुल सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्ध है, इसमें शङ्कना नहीं है ॥१३॥ मुझे
 यह भी ज्ञात है कि मेरे पिताजी भी सम्पूर्ण विश्व में अत्यंत पराक्रमी
 हैं, इसमें भी कुछ संदेह नहीं है ॥१४॥ सभी दुश्मनों
 में पिता ही परम गुरु है, आपके इस बयान में भी मुझे शङ्का नहीं
 है ॥१५॥ पिताजी परम गुरु एवं पूजनीय हैं, यह भी निःसंदेह सत्य है तथा
 भी उनके प्रति किसी अपराध में प्रवृत्त नहीं हूँ ॥१६॥ परंतु, आपके यह कथन
 कि अनन्त से क्या प्रयोजन है, क्या कभी व्याप्योहित माना जा सकता है ? तो
 मैं ठीक नहीं मानता ॥१७॥ यह कह कर उन पुरोहितों का मान रखने के निमित्त
 पहिले सा यह चुप हो गये और फिर हँसते हुए बोले—अनन्त से क्या प्रयोजन ?
 आपके इस विचार को साधुवाद है ॥१८॥ हे गुरुभो ! मुझे अनन्त के निमित्त
 प्रयोजन ? आपके इस विचार को धन्यवाद । यदि आप बुरा न मानें तो परम
 से जो प्रयोजन है, उसे कहता हूँ, कृपया सुनिये ॥२०॥

धर्मायकाममोक्षाश्च पुरुषार्था उदाहृताः ।

चतुष्टयमिदं यस्मात्तस्मात्किं विमिदं वच. ॥२१॥

सबके अन्त करण में स्थित हैं ॥२७॥ वे ही मोक्षा तथा मोक्ष्य हैं, वही जगदीश्वर हैं । हे गुरुदेवो ! यदि बान्धवस्वभाव वश मैंने कुछ अनुरोधित कह दिया हो तो आज कृपया क्षमा करें ॥२८॥

दह्यमानस्त्वमस्माभिरग्निना बाल रक्षितः ।
 भूयो न वक्ष्यसीत्येव नैव ज्ञातोऽयमुद्धिमान् ॥२९॥
 यवास्मद्वचनान्मोहप्राह न त्यज्यते भवान् ।
 ततः कृत्या विनाशाय तव सृक्ष्याम दुर्मते ॥३०॥
 कः केन हन्यते जन्तुर्जन्तुः कः केन रक्ष्यते ।
 हन्ति रक्षति चैवात्मा ह्यसत्साधु समाचरन् ॥३१॥
 कर्मणा जायते सर्वं कर्मैव गतिसाधनम् ।
 तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साधुकर्म समाचरेत् ॥३२॥
 ह्युत्तास्तेन ते क्रुद्धा दैत्यराजपुरोहिताः ।
 कृत्यामुत्पादयामासुर्ज्वालामालोज्ज्वलाकृतिम् ॥३३॥
 अतिभीमा समागम्य पादग्यासक्षतक्षितिः ।
 शूलेन साधुसङ्क्रुद्धा त जघानाशु वक्षसि ॥३४॥
 तत्तस्य हृदय प्राप्य शूल बालस्य दीप्तिमत् ।
 जगाम खण्डित मूर्ध्नी तत्रापि शतधा गतम् ॥३५॥

पुरोहितो ने कहा—हे बालक ! हम तो समझते थे कि तू हमारी बात मान कर ऐसी बात न कहेगा, इसीलिये तुझे भस्म होने से बचाया था । हर्ष वश मानुष था कि तू ऐसा मतिहीन है ? ॥२९॥ अरे खोटी बुद्धि वाले ! यदि तू अपने इस मोहमय दुराग्रह का त्याग न करेगा तो हम तुझे मारने के लिये कृत्या उत्पन्न करेंगे ॥३०॥ ब्रह्माद ने कहा—कौन किसके द्वारा मारा जाता या रक्षित होगा ? पुमानुष आचरणों से यह आत्मा स्वयं अपनी रक्षा अपना विनाश में समर्थ है ॥३१॥ कर्मों से बारण ही सब का जन्म तथा पुमानुष गतियाँ होती हैं, इसलिये सदा शुभ कर्म करने का ही प्रयत्न करना उचित है ॥३२॥ श्री पराशर जी ने कहा—ब्रह्मा जी बात मुन कर दैत्यराज ने वे पुरोहित शीघ्र में मर गये

प्राप्त करें ॥४०॥ यदि ॥ उन सर्वंगत भगवान् को अपने विपत्तियों में भी स्थित देखता हूँ तो यह पुरोहितगण अवश्य ही जीवन को प्राप्त हो ॥४१॥

ये हन्तुमागता दत्त यैर्विष यैर्दुःताशन ।

यैदिग्गजैरह शृणुणो दष्ट सर्पैश्च यैरपि ।४२।

तेष्वह पित्रभावेन सम.पपोऽस्मि न कश्चित् ।

यथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः ।४३।

इत्युक्तास्तेन ते सर्वे सस्पृष्टाश्च निरामया ।

समुत्तस्थुर्द्विजा भूयस्तमूचुः प्रशयान्विनम् ।४४।

दीर्घायुरप्रतिहतो बलवीर्यसमन्वित ।

पुनर्पौत्रघनैश्चर्यैर्युक्तो वत्स भवोत्तमः ।४५।

इत्युक्त्वा त ततो गत्वा यथावृत्त पुरोहिता ।

दैत्यराजाय सकलमाचक्षुर्महामुने ।४६।

जो मेरी हत्या के लिये आये, जिन्होंने मुझे विष मिलाया कराया, जिन्होंने मुझे अग्नि में दग्ध किया, जिन्होंने दिग्गजों से घेरेबाया मारवा जिन्होंने सर्पों से दशित कराया, मैं उन सब के प्रति समान मंत्री और सदा निष्पाप बुद्धि से रहा हूँ तो मेरे उस सत्य के कारण इन दैत्य-पुरोहितों को जीवन प्राप्त हो ॥४२-४३॥ श्री पराशरजी ने कहा—ऐसा कहते हुए उन्होंने पुरोहितों को स्पर्श किया, जिससे वे सब तुरन्त ही स्वस्थ होकर उठ बैठे और बिनप से भुक्त हो गए उस बालक से बोले ॥४४॥ पुरोहितों ने कहा—हे वत्स ! तू परम धेड़ है । तू दीर्घायुष्य, द्वन्द्व रहित, बल-वीर्य युक्त एवं पुत्र, पौत्र, घन वैभव से सम्पन्न होगा ॥४५॥ श्री पराशरजी बोले—हे महामुने ! यह वह वर वे पुरोहित दैत्य राज हिरण्यकशिपु के पास गये और उसे सब समाचार यथावत् पुनः दिया ॥४६॥



को स्थित मान कर किसी की बुराई न तो सोचता, न कहता और न करता है ॥७॥

शारीरं मानसं दुःखं देव भूतभवं तथा ।
 सर्वत्र शुभचित्तस्य तस्य मे जायते कुतः ॥८॥
 एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी ।
 कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम् ॥९॥
 इति श्रुत्वा स दैत्येन्द्रः प्रसादशिखरे स्थितिः ।
 क्रोधान्धकारितमुखः प्राह दैतेयकिङ्करान् ॥१०॥
 दुरात्मा क्षिप्यतामस्मात्प्रसादाच्छतयोजनात् ।
 गिरिपृष्ठे पतत्यस्मिन् शिलाभिन्नाङ्गसंहतिः ॥११॥
 ततस्तं चिक्षिपुः सर्वे बालं दैतेयदानवाः ।
 पपात सोऽप्यघः क्षिप्तो हृदयेनोद्धहन्हरिम् ॥१२॥
 पतमान जगद्धात्री जगद्धातरि केशवे ।
 भक्तियुक्तं दधारैनमुपसङ्गम्य मेदिनी ॥१३॥
 ततो विनोयय त स्बन्धमविशीर्णस्थिपञ्जरम् ।
 हरिण्यकशिपुः प्राह बाम्बरं मायिनां वरम् ॥१४॥

इस प्रकार थोड़ा चित्त बाला होने से मुझे दैहिक, दैविक, मानसिक अथवा भौतिक दुःख कैसे मिल सकता है ? ॥८॥ इस प्रकार भगवान् को सर्वभूतारमक जानकर सभी प्राणियों में विचलित न होने वाली प्रीति करनी चाहिये ॥९॥ श्रीवराहचरजी ने कहा—अपने भवन की उच्च घट्टालिका पर स्थित उस दैत्यराज ने प्रह्लाद की बात सुनी तो क्रोधान्ध हो उठा और अपने अनुचर दैत्यों से कहा ॥१०॥ हिरण्यकशिपु ने कहा—इस घट्टाल पर दुरात्मा की सौ योजना ऊँचे भवन से नीचे गिराओ, जिससे पर्यंत शिलाओं पर गिर कर इसका शरीर चूर-चूर हो जाय ॥११॥ यह सुनकर उन दानवों ने प्रह्लाद की ऊँचे भवन से गिराया, उस समय वह हरि-स्मरण करते हुए गिरे ॥१२॥ भगवद्भक्त प्रह्लाद के गिरते समय संसार को धारण करने वाले [प्यी ने ऊँचे उठकर उन्हें अपनी गोद में ले लिया ॥१३॥ उन्हें इस प्रा

बिना किसी खोट के स्वयं देखकर हिरण्यकशिपु ने घोर मायावी शम्बरामुर से कहा ॥१४॥

नास्मानिः शक्यते हन्तुमसौ दुर्बुद्धिबालकः ।
 मायां वेत्ति श्वांस्तस्मान्माययैर्न निपूदय ॥१५॥
 मूढयाम्येव दैत्येन्द्र पश्य मायायल मम ।
 सहस्रमत्र मायानां पश्य कोटियत्तं तथा ॥१६॥
 ततः स ससृजे मायां प्रह्लादे शम्भरोऽमुरः ।
 बिनाशमिच्छद्दुर्बुद्धिः सर्वत्र समदर्शित्वा ॥१७॥
 समाहितमतिभूत्वा शम्भरेऽपि विभत्सरः ।
 मैत्रेय सोऽपि प्रह्लादः सस्मार मधुनूदनम् ॥१८॥
 ततो भगवता तस्य रक्षार्थं चक्रमूतमम् ।
 आजगाम समाज्ञप्तं ज्ञानामालि मुदर्शनम् ॥१९॥
 तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना ।
 बालस्य रक्षता देहमेकैकं च विगोधितम् ॥२०॥
 संशोषकं तथा वायुं दैत्येन्द्रस्त्विदमब्रवीन् ।
 शीघ्रमेव ममादेशाद् दुरात्मा नीयतां क्षयम् ॥२१॥
 तथैत्युक्त्वा तु शीघ्येन विवेश पवनो लघु ।
 शीतोऽतिरुलः शोषाय तद्देहस्यातिदुःसहः ॥२२॥

हिरण्यकशिपु ने कहा—मह खोटी बुद्धि वाला बालक हमारे द्वारा नहीं माया जा मवा, धान माया के ज्ञाना हैं, अतः अपनी माया से ही इसका सहार कर डालो ॥१५॥ शम्बरामुर ने कहा—हे दैत्यराज इस बालक की मैं अपनी समाप्त जिये देता हूँ, तुम मेरा प्रभाव देखना, मैं आपको कौंसो मद्भुत हजारों-हजारों मायाएँ दिखाऊँगा ॥१६॥ श्री पराशरजी ने कहा—तब उस मूढमति शम्बर ने सबको समान भाव से देखने जाने प्रह्लाद को नष्ट करने के लिये अनैक मायाओं की रचना की ॥१७॥ परन्तु, हे मैत्रेयजी ! प्रह्लाद उस शम्बरामुर के प्रति भी निरंतर भाव से रहते हुए केवल भगवान् का ही स्मरण करते रहे ॥१८॥ उस समस्त प्रभु-प्राज्ञा से ज्ञान-माताओं से युक्त

को स्थित मान कर किसी की बुराई न तो सोचता, न कहता और न करता है ॥७॥

शारीर मानस दुःख देव भूतभव तथा ।
 सर्वत्र शुभचित्तस्य तस्य मे जायते कुत ॥८॥
 एष सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी ।
 कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमय हरिम् ॥९॥
 इति श्रुत्वा स दैत्येन्द्र प्रसादशिखरे स्थिति ।
 क्रोधान्धकारितमुख प्राह दैत्यकिङ्करान् ॥१०॥
 दुरात्मा क्षिप्यतामस्मात्प्रासादाच्छतयोजनात् ।
 गिरिपृष्ठे पतत्वस्मिन् शिलाभिश्चाङ्गसहति ॥११॥
 ततस्तच्चिक्षिपु सर्वे बाल दैत्यदानवा ।
 पपात सोऽप्यघः क्षिप्तो हृदयेनोद्वहन्हरिम् ॥१२॥
 पतमान जगद्धात्री जगद्धातरि केशवे ।
 भक्तियुक्त दधारैनमुपसङ्गम्य मेदिनी ॥१३॥
 ततो विनोक्य तस्वस्यमविशीर्णास्त्रिपञ्जरम् ।
 हरिण्यवशिषु प्राह शम्बर मायिना वरम् ॥१४॥

इस प्रकार श्रेष्ठ वित्त वाला होने से मुझे दैहिक, दैविक, मानसिक
 अथवा भौतिक दुःख कैसे मिल सकता है ? ॥८॥ इस प्रकार भगवान् को
 सर्वभूतात्मक जानकर सभी प्राणियों में विचलित न होने वाली प्रीति करती
 पाहिये ॥९॥ श्रीपराशरजी ने कहा—अपने भवन की उच्च अदृष्टान्ता पर
 स्थित उस दैत्यराज ने ब्रह्माद की बात सुनी तो क्रोधान्ध हो उठा और
 अपने अनुषर दैत्यो से कहा ॥१०॥ हरिण्यवशिषु ने कहा—इस अरज
 दुरात्मा को भी योजन ऊँचे भवन से नीचे गिराओ, जिससे पर्वत गिरावों
 पर गिर कर हमका लीर लूर-लूर हो जाय ॥११॥ यह सुनकर उन दानवों
 ने ब्रह्माद की ऊँचे भवन से गिराया, उस समय यह हरिश्चरण करने हुए
 गिरे ॥१२॥ भगवद्भक्त ब्रह्माद ने गिरने समय सत्तार को धारण करने वाली
 पत्नी ने ऊँचे उदर उठें अपनी गोद में ले लिया ॥१३॥ उन्हें इस प्रकार

विना किसी चोट के स्वस्थ देखकर हिरण्यकशिपु ने घोर मायावी शम्बरामुर से कहा ॥१४॥

नास्माभिः शक्यते हन्तुमसौ दुबुद्धिबालकः ।
 माया वेत्ति भवास्तस्मान्माययेनं निपूढय ॥१५॥
 सूदयाम्येव दैत्येन्द्र पश्य मायावल गम ।
 सहस्रमत्र मायानां पश्य कोटिशतं तथा ॥१६॥
 ततः ॥ ससृजे मायां प्रह्लादे शम्बरोऽमुरः ।
 विनाशमिच्छन् दुबुद्धिः सर्वत्र समदर्शिनं ॥१७॥
 समाहितमतिभूत्वा शम्बरेऽपि विमत्सरः ।
 मैत्रेय सोऽपि प्रह्लादः सस्मार मधुसूदनम् ॥१८॥
 ततो भगवता तस्य रक्षार्थं चक्रमृत्तमम् ।
 आञ्जयाम समाज्ञप्तं पञ्चालामालि सुदर्शनम् ॥१९॥
 तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना ।
 बालस्य रक्षता देहमेककं च विशोधितम् ॥२०॥
 सशोपकं तथा वायु दैत्येन्द्रस्त्विदमब्रवीत् ।
 शीघ्रमेव ममादेशाद् दुरात्मा नीयता क्षमम् ॥२१॥
 तपेत्युक्त्वा तु सोऽप्येन विवेश पवनो लघु ।
 शीतोऽतिरूक्षः शोषाय तद्देहस्यातिदुःसहः ॥२२॥

हिरण्यकशिपु ने कहा—पह छोटी बुद्धि वाला बालक हमारे द्वारा नहीं मारा जा सका, आप माया के ज्ञाता हैं, अतः अपनी माया से ही इसका सहार कर डालो ॥१५॥ शम्बरामुर ने कहा—हे दैत्यराज इस बालक को मैं अभी समाप्त किये देता हूँ, तुम मेरा प्रयास देखना, मैं आपको कौसी भद्रमुल हनारो-करोडो मायाएँ दिखाऊँगा ॥१६॥ श्री पराशरजी ने कहा—तब उस भूडमति शम्बर ने सबको समान भाव से देखने वाले प्रह्लाद को नष्ट करने के लिये अनेक मायाओं की रचना की ॥१७॥ परन्तु, हे मैत्रेयजी ! प्रह्लाद उस शम्बरामुर के प्रति भी निर्वैर भाव से रहने हुए केवल भगवान् का ही स्मरण करते रहे ॥१८॥ उस समय प्रभु-आज्ञा से उवाच-मालाओं से मुक्त

सुदर्शन चक्र उनकी रक्षा के लिये भा उपस्थित हुआ ॥१६॥ उस शीघ्र गति वाले चक्र ने बालक की रक्षा करते हुए, असुर की हजारों मायामों को द्रिप्त भिन्न कर दिया ॥२०॥ यह देखकर दैत्यराज ने सर्वशोषक वायु को उस बालक को शीघ्र ही नष्ट कर देने की आज्ञा दी । इसलिये उस अत्यन्त शीघ्र हस्त असहनीय वायु ने प्रह्लाद के देह को सुखाने के लिये उसमें प्रवेश किया ॥२१-२२॥

तेनाविष्टमथात्मानं स बुद्ध्वा दैत्यबालक ।
 हृदयेन महात्मानं दधार धरणीधरम् ॥२३॥
 हृदयस्थस्ततस्तस्य त वायुमतिभीषणम् ।
 पपी जनार्दनः क्रुद्ध स ययौ पवनं क्षयम् ॥२४॥
 क्षीणामु सर्वमायामु पवने च क्षय गते ।
 जगाम सोऽपि भवनं गुरोरेव महामति ॥२५॥
 अहन्यहन्यथाचार्यो नीति राज्यफलप्रदाम् ।
 ग्राह्यामास त बाल राजामुक्षनसा कृताम् ॥२६॥
 गृहीतनीतिशास्त्रं त विनीतं च यदा गुरुः ।
 मेने तत्रैनं तत्पित्रे कथयामास शिक्षितम् ॥२७॥
 गृहीतनीतिशास्त्रं पुत्रो दैत्यपते कृत ।
 प्रह्लादस्तत्त्वतो वेत्ति भार्गवेण यदीरितम् ॥२८॥

जब प्रह्लाद ने अपने देह में वायु को प्रविष्ट हुआ जाना, तब उन्होंने उही भगवान् को हृदय में धारण किया ॥२३॥ उनके हृदय स्थित भगवान् ने क्रोध पूर्वक उस भीषण वायु का पान करके उसे क्षीण कर दिया ॥२४॥ इस प्रकार सब मायामों और वायु के नष्ट होने पर बुद्धिमान प्रह्लाद अपने गुरु गृह को गये ॥२५॥ फिर गुरुजी ने उन्हें धुक्काचार्य प्रणीत राज्यफल देने वाली नीति का अध्ययन प्रारम्भ कराया ॥२६॥ और जब उन्हें नीतिशास्त्र पारगट तथा विनय युक्त हुआ देखा तब उनके पिता दैत्यराज के पास जाकर गुरुजी ने कहा—अब यह गुणशिक्षित हो चुका है ॥२७॥ आचार्य ने कहा—

दत्तपते । तुम्हारे पुन को हमने पूर्योत्तमा नीति-निरुप वर दिया है, अब वह गुणधायकी के बयन का तत्त्वपूर्णक ज्ञाता है ॥२८॥

मित्रेषु वर्तते कथमरिष्वर्गेषु भूपतिः ।

प्रह्लाद त्रिषु लोकेषु मध्यस्थेषु कथं चरेत् ॥२९॥

कथं मन्त्रिष्वमात्येषु बाह्येष्वाम्बन्तरेषु च ।

चारेषु पौरवर्गेषु शङ्खिनेष्वितरेषु च ॥३०॥

कृत्याकृत्यविधानञ्च दुर्गाटविकसावनम् ।

प्रह्लाद कथ्यता सम्यक् तया कण्टकशोधनम् ॥३१॥

एतच्चान्यञ्च सकलमघोतं भवता यया ।

तथा मे कथ्यता जानुं तवेच्छामि मनोगतम् ॥३२॥

प्रतिपत्त्यं विंतुः पादौ तदा प्रथमभूपणः ।

प्रह्लादः ग्राहं दंत्येन्द्रं कृताञ्जलिपुटस्तया ॥३३॥

गमोपदिष्टं सकलं गुरुणा नात्र संशयः ।

गृहीतुं मया विंतु न सदेतन्मतम्मम ॥३४॥

सामं चोपप्रदानं च भेददण्टी तथापरी ।

उपायाः कथिताः सर्वमित्रादीनां च साधने ॥३५॥

हिरण्यकशिपु ने कहा—हे पुत्र प्रह्लाद ! राजा की अपने मित्रों के प्रा-
पञ्चा व्यवहार करना। बाह्ये घोर शत्रुओं के प्रति कैसा ? तथा तीनों लो-
क में जो मध्यस्थ हों, उनसे कैसा व्यवहार करना उचित है ? ॥२९॥ मन्त्रि-
या प्रमात्रों से कैसा व्यवहार करे, बाह्ये सेवकों, अन्तर्ग-
के शूर्यों, गुप्तजनों, नागरिकों, शङ्खिओं भयका अन्धान्ध व्यवस्थियों के प्रा-
विश-विश प्रकार का व्यवहार करे ॥३०॥ करने योग्य और न करने योग्य-
कार्यों का विधान कैसे हो ? दुर्गे घोर घाटविक आदि को कैसे बल से क-
ठपा गुप्तजन्म रूप कटक को विश्व प्रकार दूर करे ? ॥३१॥ यह सब तब
इनके भवितविश को जो मूले मीचा है, यह मुझे मुना, क्योंकि तेरे मनो-
गत को मैं जानना चाहता हूँ ॥३२॥ उपपद्यरको ने कहा—यह मुनवर विश-
रूप आभूषण वाते प्रह्लाद ने अपने मित्रों को प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए

कहा ॥३३॥ प्रह्लाद बोले—हे पिताजी ! गुरुजी ने मुझे सभी विषयों की शिक्षा दी है और मैंने उन्हें हृदयगत भी कर लिया है, परन्तु मैं उन नीतियों को ठीक नहीं समझता ॥३४॥ साम, दान, दण्ड, भेद, यह चार उपाय मित्रादि को बरा में करने के लिये कहे गये हैं ॥३५॥

तानेबाह न पदयामि मित्रादीस्तात मा क्रुध. ।
 साध्याभावे महाबाहो साधनैः किं प्रयोजनम् ॥३६॥
 सर्वभूतात्मके तात जगन्नाथे जगन्मये ।
 परमात्मनि गोविन्दे मित्रामित्रकथा कुतः ॥३७॥
 त्वय्यस्ति भगवान् विष्णुर्मयि चान्यत्र चास्ति सः ।
 यतस्ततोऽयं मित्र मे शत्रुश्चेति पृथक्कुनः ॥३८॥
 तदेभिरलमत्यर्थं दुष्टारम्भोक्तिविस्तरैः ।
 अविद्यान्तर्गतं यत्नः कर्तव्यस्तात शोभने ॥३९॥
 विद्याबुद्धिरविद्यायामज्ञानात्तास जायते ।
 बालोऽग्निं किं न खद्योतमसुरेश्वर मन्यते ॥४०॥
 तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये ।
 आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनंपुणम् ॥४१॥
 तदेतदवगम्याहमसारं सारमुत्तमम् ।
 निशामय महाभाग प्रणिपत्य ब्रवीमि ते ॥४२॥

परन्तु हे पिताजी ! आप क्रोधित न हों, मुझे न कोई शत्रु दिखाई देता है न मित्रादि ही दिखाई देते हैं । हे महाबाहो ! साध्य के अभाव में इन साधनों से लाभ ही क्या है ? ॥३६॥ जो सर्वभूतात्मक, जगन्मय एवं जगन्नाथ हैं, उन परमात्मा गोविन्द में शत्रु-मित्र का भेद ही नहीं है ? ॥३७॥ वह भगवाद् तो आप में, मुझमें, सब में तथा सर्वत्र स्थिति हैं, फिर मित्र-शत्रु के भेद को स्थापन ही नहीं होगा ? ॥३८॥ इसलिए अविद्या ॥ उत्पन्न इस निरर्थक साजिश को त्याग कर अपने भले के लिये ही यत्नशील होना चाहिये ॥३९॥ अज्ञानवश ही मनुष्य की बुद्धि अविद्या में सगती है, क्या अज्ञान की वशीभूत दुष्ट बातक खद्योत की ही अग्नि नहीं मान लेता ? ॥४०॥ बन्धन

का कारण न हो, वही कर्म है और मोक्ष को सिद्ध करने वाली हो वही विद्या है । इससे निम्न कर्म अर्थात् परित्यक्त रूप और निम्न विद्याओं केवल कत्ता-कीर्तन रूप ही है ॥४१॥ हे महानाथ ! इस प्रकार मैं इन सब को भ्रमर समझता हूँ और अब आपको प्रणाम करके यंत्र सात का वर्णन करता हूँ, उसे सुनिये ॥४२॥

नचिन्दयति को राज्यं धनं नानिवाञ्छति ।
तथापि भावमेवंतदुभयं प्राप्यते नरः । ४० ।
सर्वं एव महानाथ महत्त्वं प्रति सोद्यमाः ।
तथापि पुंसां भाग्यानि नोद्यमा भूतहेतवः । ४१ ।
जडानामविवेकानामनूराणामपि प्रभो ।
भाग्यभोग्यानि राज्यानि सत्त्वनीतिमतामपि । ४२ ।
तस्माद्यतेन पुण्येषु य इच्छेन्नहो धियम् ।
यत्तित्वं समत्वे च निर्वाणमपि चेच्छता । ४३ ।
देवा मनुष्याः पशवः पक्षिवृक्षपरोमृगाः ।
तपमेतदनन्तस्य विष्णोर्भित्तमिव स्थितम् । ४४ ।
एतद्विनाशता सर्वं जगत्स्यावरजंङ्गमम् ।
द्रष्टव्यमात्मनवद्विष्णुयन्तोर्ध्वं विश्वरूपधृक् । ४५ ।
एवं ज्ञाते न नगवाननादिः परमेश्वरः ।
प्रमोदयत्युत्तस्त्वस्मिन्प्रसन्ने क्लेशसंक्षयः । ४६ ।

कौन राज्य प्राप्त करना नहीं चाहता ? किसे धन प्राप्ति की इच्छा नहीं होती ? फिर भी इनकी प्राप्ति कर्तव्य की होती है, जिन्हें यह प्राप्त होने वाले होते हैं ॥४३॥ महत्त्व की सभी प्राप्ति करना चाहते हैं, परन्तु वेनव प्राप्त कराने वाला उद्यम नहीं, भाग्य ही होता है ॥४४॥ हे प्रभो ! धन, विवेकहीन, बलहीन, नीतिज्ञान-रूप को भी भाग्य से विविध प्रकार के योग और राज्यादि की प्राप्ति सहसा हो जाती है ॥४५॥ इन्निसे जो महान् वेनव का आकाशी हो, उसे पुण्यों का संभव करना चाहिये तथा जो मोक्ष की प्राप्ति करना हो उसे सत्त्व साम में लगना चाहिये ॥४६॥ देवता, मनुष्य

पशु, पक्षी, वृक्ष, सरीसृपादि भगवान् से भिन्न होते हुए भी यथार्थ में उन्हीं अन्तर्गत भगवान् के स्वरूप हैं ॥४७॥ इस बात के ज्ञाता पुरुष को सम्पूर्ण विश्व आत्मन् देखना चाहिये, क्योंकि यह सब विश्व रूप धारण किये हुए भगवान् स्वयं ही हैं ॥४८॥ ऐसा ज्ञान हो जाने पर भगवान् प्रसन्न होते हैं और उनके प्रसन्न होने पर सभी क्लेशों का नाश होता है ॥४९॥

एतच्छ्रुत्वा तु कोपेन समुत्थाय वरासनात् ।
 हिरण्यकशिपुः पुनः पदा बक्षस्यताडयत् ॥५०॥
 उवाच च स कोपेन सामथः प्रज्वलन्निव ।
 निष्पिष्य पाणिना पाणिं हन्तुं कामो जगद्यथा ॥५१॥
 हे विप्रचित्ते हे राहो हे वल्लभ महारण्वे ।
 नागपाशैर्हर्षं बद्ध्वा क्षिप्यता मा विलम्ब्यताम् ॥५२॥
 अन्यथा सकला लोकास्तथा दंतेयदानवाः ।
 अनुयास्यन्ति मूढस्य मतमस्य दुरात्मनः ॥५३॥
 बहुशो वारितोऽस्माभिरय पापस्तथाप्यरेः ।
 स्तुतिं करोति दुष्टानां वध एवोपकारकः ॥५४॥
 ततस्ते सत्परा दैत्या वद्ध्वा त नागबन्धनैः ।
 भर्तुं राज्ञा पुरस्कृत्य चिक्षिपुः सलिलारण्वे ॥५५॥
 ततश्च चाल चलता प्रह्लादेन महारण्वः ।
 उद्धेलोऽभूत्पर क्षौभमुपेत्य च समततः ॥५६॥

श्रीपराशरजी ने कहा—इतना सुनते ही हिरण्यकशिपु अपने सिंहासन से उठे और उत्तान अपने पुत्र के हृदय पर पदाघात किया ॥५०॥ तब क्रोध और क्रोध से दग्ध होता हुआ, जैसे सम्पूर्ण विश्व को नष्ट कर देगा, वैसे हाथ मजबूत हुए करने लगा ॥५१॥ हिरण्यकशिपु बोला—हे विप्रचित्ते ! हे राहो ! हे वल्लभ ! हे वल्लभ ! हे नागपाश में भरे प्रकार बांध कर महासागर में डुबा दो, इस कार्य विलम्ब मत करो ॥५२॥ ऐसा न करने से सभी लोक तथा दैत्य-दानव आदि इस अविवेका दुरात्मा के मत या अनुसरण करने लगेंगे ॥५३॥ हमारे इस बार-बार निषेध करने पर भी यह दुष्ट हमारे पास ही प्रसन्न रह

हृता है । इसलिये ऐसे दुष्टों का वध कर देना ही उचित है ॥१५॥ श्रीरामारजो । कहा—हिरण्यकशिपु ने अपने स्वामी की आज्ञा के अनुसार प्रह्लाद को जो समय नगपान में बाँधकर महासागर में डाल दिया ॥१६॥ उठते महा-
सागर में मनुवनी मच गई थीर समस्त नीर के कारण उसमें बनी ऊँची
रों उठन लगी ॥१७॥

भूतैर्ममवित्त दृष्ट्वा प्लाव्यमान महाम्भसा ।
हिरण्यकशिपुर्देवानिदमाह महामते ॥१७॥
देतेयाः सर्वान् शैवैर्गर्भं वक्ष्याम्यस्ये ।
निदिष्टद्वैः सर्वं च सर्वश्रीः नामप दुर्मतिः ॥१८॥
नाग्निर्दहति नैवाप मर्त्यं पित्रो न चोर्गैः ।
स्य नीलो न घातेन न विषेण न कृत्स्नया ॥१९॥
न स्यादग्निर्न वैकोट्युत्पानिर्न च दिग्गजैः ।
वाताग्निदुष्टचित्तोऽप्य नानेनायोज्यैर्जीवता ॥२०॥
तदेव तोयमध्ये तु समाकालो महोदरैः ।
तिष्ठन्नग्निर्न सहस्रान् प्राणान्हास्यति दुर्मतिः ॥२१॥
ततो दत्त्वा दानवाश्च पर्वतैस्त महोदरैः ।
आक्रम्य चयनं चक्रुर्बोवनानि सहस्रशः ॥२२॥
स चित्तः पर्वतरत्नः समुद्रस्य महामतिः ।
सुष्टावाह्निस्त्रेनायामेवाग्नमतिरच्युतम् ॥२३॥

हे महामते ! महासागर के समस्त पान में धूम्रुने पृथिवी की
सी हुई देवधर देवों ने हिरण्यकशिपु कहल लगा ॥१७॥ हिरण्यकशिपु
ग—हे देवों ! तुम इस दुर्बुद्धि की समुद्र के नीचे की कहों ने भी मुना
। रहने दो थीर सब थीर से पर्वतों से दबा डालो ॥१८॥ सहो, यह न तो
मि में बना, न प्लाव्यमानों में क्या न सर्पों के दश से मर, न वायु, विष या
ता से ही नष्ट हुआ, न ऊपर से राने, दिग्गजों के लोहने प्रपदा मायाओं
द्वारा ही इसका कुछ बिगडा, परन्तु इस दुष्ट हृदय दानक के जीवन में कोई
न नहीं है ॥१९-२०॥ इसलिये यह पर्वतों के चार से दबा हुआ सहस्रों वर्ष

तब समुद्र के जल में ही पड़ा रह कर कभी तो अपने प्राण का त्याग करेगा ॥६१॥ ऐसी आशा पाकर दैत्यो ने उन बालक के ऊपर पर्वतो का हजारों योजन निस्तुत ढेर कर दिया ॥६२॥ परन्तु वह महामति पर्वतों से लदे हुए समुद्र में पड़े रह कर केवल एकाग्र मन से भगवान् की स्तुति हो करते रहे ॥६३॥

नमस्त पुण्डरीवाक्ष नमस्ते पुरुषोत्तम ।

नमस्ते सवलोवात्मन् नमस्ते तिग्मचक्रिणे ।६४।

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।

जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ।६५।

ब्रह्मत्वे सृजते विश्व स्थितौ पालयते पुनः ।

रुद्ररूपाय वलन्ते न प्रस्तुम्य निमूर्तये ।६६।

देवा यक्षासुरा सिद्धा नागा गन्धर्वकिन्नरा ।

पिशाचा राक्षसाश्चैव मनुष्या पशवस्तथा ।६७।

पक्षिण स्थावराश्चैव पिपीलिकारामृपा ।

भूम्यापोऽग्निर्नभो वायुः शब्द स्पर्शस्तथा रसः ।६८।

रूप गन्धो मनो बुद्धिरात्मा कालस्तथा गुणा ।

एतेषा परमार्थश्च सर्वमेतत्त्वमच्युत ।६९।

विद्याविद्यो भवान्सत्यमसत्य त्व विद्यामृते ।

प्रवृत्ता च निवृत्ता च कर्म वेदोदित भवान् ।७०।

प्रह्लाद ने कहा — हे पुण्डरीकाक्ष ! हे पुरुषोत्तम ! हे सर्व लोकारम्भ !

हे तीक्ष्णचक्रधर ! आपको नमस्कार है, नमस्कार है ॥६४॥ गो-ब्राह्मण के हितैषी ब्रह्मण्यदेव भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है, जगत् का हिन करने वाले भगवान् गोविन्द को नमस्कार है ॥६५॥ ब्रह्मा रूप विश्व के स्रष्टा, विष्णु रूप से पालक और रुद्र रूप से सहारक त्रिमूर्तिधारी भगवान् को नमस्कार है ॥६६॥ हे अच्युत ! आप ही देवता, यक्ष, असुर सिद्ध, नाग, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावा चीटी, सरीसृप, पृथिवी, जल, अग्नि, नभ, वायु, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मन, बुद्धि, आत्मा, काल और गुण

के परमाधिक स्वरूप है, यथार्थ में यह सब घाप ही हैं ॥६७-६८॥ घापही विद्या, अविद्या, सत्य, असत्य, विष, अमृत तथा वेदों में बहे गये प्रवृत्त और निवृत्त कर्म हैं ॥७०॥

गमस्तकर्मभोक्ता च कर्मोपकरणानि च ।

स्वमेव विष्णो सर्वाणि सर्वकर्मफलं च यन् ॥७१॥

मत्पयस्य तयान्येषु भूतेषु भुवनेषु च ।

तदेव व्याप्तिरेश्वर्यगुणसमूचिको प्रभो ॥७२॥

त्वां योगिनश्चिन्तयन्ति त्वां यजन्ति च याजकाः ।

हृद्भवव्यभुगेकस्त्वं पितृदेवस्वरूपधृक् ॥७३॥

रूपं महती स्थितमत्र विद्वं

ततश्च सूक्ष्म जगदेतदीश ।

रूपानि सर्वाणि च भूतभेदा-

स्तेष्वन्तरात्माश्रयमतीव सूक्ष्मम् ॥७४॥

हस्माच्च सूक्ष्मादिविशेषणानामगोचरे यत्परमात्मरूपम् ।

विमृष्यचिन्तय तव रूपमस्ति तस्मै नमस्ते पुरुषोत्तमाय ॥७५॥

मवभूतेषु सर्वात्मन्या शक्तिरपरा तव ।

गुणाश्रया ननस्तस्यै साश्र्वतार्यं सुरेश्वर ॥७६॥

मातीतगोनरा वाचां मनसां चाविशेषणा ।

शान्तिशानपरिच्छेदा तां वन्दे त्वेश्वरीं पराम् ॥७७॥

हे विष्णो ! घाप ही सब कर्मों के भोक्ता तथा भोग हैं और सब कर्मों के जितने भी फल हैं, वह सभी घाप हैं ॥७१॥ मृच्छ यन्ति सभी प्राणियों और मोर्षों में घाववा हो गुण तथा ऐश्वर्य व्याप्त है ॥७२॥ मोक्षीजन घाववा ही स्थान करने और शान्तिजन्य घाववा हो यत्न करने हैं, घावही वितरों के रूप में बह्य और देवताओं के रूप में ह्य के भोक्ता हैं ॥७३॥ हे प्रभो ! यह प्रज्ञाण ही घाववा स्थान देर है उनसे सूक्ष्म यह नगर और गंगार में भी सूक्ष्म यह विविध लक्षणा प्रणी है, प्राणियों से भी अत्यन्त सूक्ष्म उनका अन्तरात्मा है ॥७४॥ स्वमे भी पदे जो सूक्ष्मादि विशेषणों से रहित घाववा

अचिन्त्य रूप है, उस पुरुषोत्तम रूप आप प्रभु को नमस्कार है ॥७५॥ हे सर्वात्मन् ! सब भूतो मे स्थित आपने गुण की आधिता जो पराशक्ति है, उस नित्यरूपिणी शक्ति को भी नमस्कार है ॥७६॥ जो मन, वाणी और विवेकपूर्ण से परे तथा ज्ञानियों के ज्ञान से परिशिष्ट है, उस परम स्वतन्त्र पराशक्ति की मैं वन्दना करता हूँ ॥७७॥

ॐ नमो वासुदेवाय तस्मै भगवते सदा ।
 व्यतिरिक्तं न यस्मास्ति व्यतिरिक्तोऽखिलस्य यः ।७८।
 नमस्तस्मै नमस्तस्मै नमस्तस्मै महात्मने ।
 नाम रूप न यस्यैको योऽस्ति त्वेनोपलभ्यते ।७९।
 यस्यावताररूपाणि समर्चन्ति दिवौ न सः ।
 रूपदन्तः पर रूपं नमस्तस्मै महात्मने ।८०।
 योज्जस्तिष्ठन्नक्षेत्रस्य पश्यतीश शुभाशुभम् ।
 त सर्वसाक्षिणं विश्व नमस्ये परमेश्वरम् ।८१।
 नमोऽस्तु विष्णवे तस्मै यस्याभिघ्नमिदं जगत् ।
 ध्येयः स जगतामाद्यः स प्रसीदतु मेऽव्ययः ।८२।
 यत्रोत्तमेतन्प्रोक्तं च विश्वमक्षरमव्ययम् ।
 आधारभूतं सर्वस्य स प्रसीदतु मे हरिः ।८३।
 ॐ नमो विष्णवे तस्मै नमस्तस्मै पुनः पुनः ।
 यत्र सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वसंश्रयः ।८४।
 सर्वगतत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः ।
 मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं समातते ।८५।
 अहमेवाक्षयो नित्यः परमात्मात्मसंश्रयः ।
 ब्रह्मसंज्ञोऽहमेवाग्रं तथान्ते च पराः पुमान् ।८६।

उन वासुदेव भगवान् को सदा नमस्कार है, जिनके बिना कोई वस्तु नहीं है, तथा जो सभी से परे हैं ॥७८॥ भिनका न कोई रूप है, न नाम है, केवल अपनी ही सत्ता से उपलब्ध होते हैं उन महात्मा को बारम्बार नमस्कार है ॥७९॥ जिनके परस्वरूप वा ज्ञान न होने से ही देवगण उनके अवतरित

देहो का भले प्रकार पूजन करते हैं, उन महान् प्राप्ता को नमस्कार है ॥८०॥
जो सभी के अन्तःकरण में रह कर सभी के शुभाशुभ कर्मों के दृष्टा हैं, उन सर्व
साक्षी विदेवरूप को मैं प्रणाम करता हूँ ॥८१॥ जिनमें यह विश्व सर्वथा अभिन्न
है, उन विष्णु को नमस्कार है । वह योगियों के ध्यान योग्य, विश्व के आदि
कारण तथा अखण्ड भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों ॥८२॥ जिनमें यह जगत् ओन्-
प्रोन है और जो अक्षर, अव्यय और सर्वोधार हैं वह श्रीहरि मुझ पर प्रसन्न
हो ॥८३॥ जिनमें सर्व प्रपञ्च स्थित है, जिनसे सब कुछ प्रकट हुआ है तथा
जो सर्वोन्नत हैं, उन भगवान् विष्णु को नमस्कार है ॥८४॥ ये सर्वगत भगवान्
अनन्त हैं, मेरे हृदय में भी वही स्थित हैं, इसलिए इन संपूर्ण विदेव की उत्पत्ति
मुझ से होने के कारण मैं ही सब कुछ हूँ और यह सब मुझ सनातन में ही
स्थित है ॥८५॥ मैं ही अक्षर, नित्य और प्राप्ताथय रूप परमेश्वर
हूँ तथा मैं ही विश्व के आदि अन्त में स्थित ब्रह्म नाम से विस्मृत परम
गुण्य हूँ ॥८६॥



चौसवाँ अध्याय

एव सश्रित्तयविष्णुमभेदेनात्मनो द्विज ।
सत्त्वमस्वमवाप्यभ्यं मेने चात्मानमच्युतम् ॥१॥
यिसस्मार तयान्मानं नान्यत्किञ्चिदजानत ।
अहमेवाव्ययोजन्तः परमात्मेत्यचिन्तयत् ॥२॥
तस्य तद्भावनयोगात्क्षीणपापस्य वै क्रमान् ।
गुदं जन्तःकरो विष्णुस्तस्मै जानमयोऽनुनः ॥३॥
योगप्रभावात्प्रज्ञादे जाते विष्णुमयेऽमुरे ।
पयसुरगन्धर्वास्तैर्मन्त्रेण त्रुटित दायान् ॥४॥
भ्रान्तप्राह्मणः सोमिर्ययौ द्यौर्न महार्णवः ।

चचाल च मही सर्वा सशैलवनकानना ।५।
 स च त शैलसङ्घात दैत्यैर्न्यस्तमथोपरि ।
 उत्क्षिप्य तस्मात्सलिलान्निश्चक्राम महामतिः ।६।
 दृष्ट्वा च स जगद्भूयो गगनाद्युपलक्षणम् ।
 प्रह्लादोऽस्मीति सस्मार पुनरात्मानमात्मनि ।७।
 तुष्टाव च पुनर्धीमाननादि पुरोपत्तमम् ।
 एकाग्रमतिरव्यग्रो यत्तवावकायमानसः ।८।

श्रीपराशरजी ने कहा—हे ब्रह्मण ! इस प्रकार भगवान् को धपने से अभिन्न विचलन करते रहने और पूर्ण तन्मयता प्राप्त होने से ब्रह्माव ने धपने को ही अच्युत स्वरूप माना ॥१॥ उस समय वे स्वयं की भूच गये और ग्हे भगवान् के अतिरिक्त और किसी की भी अनुभूति न होनी थी, केवल मैं ही अनाय अनन्त परमेश्वर हूँ यही भावना उनके मन में भर गई ॥२॥ उसी भावना के कारण वह पाप-रहित हो गये और उनके अन्तःकरण में ज्ञान रूप भगवान् साक्षात् रूप से प्रतिष्ठित हो गये ॥३॥ हे मनेषजी ! इस प्रकार के योगबल से जब वह विष्णुमय हो गये तब नागपाश टूट गई ॥४॥ उनके विचलित होने से भ्रमणशील ग्राही और तरल-तरंगों से महासागर क्षुब्ध हो गया, इससे धनोपवन मुक्त एवं पर्वतमयी सम्पूर्ण पृथिवी खोज उठी ॥५॥ तब दैत्यों द्वारा लादे गये सप्त पर्यंतों को दूर फेंक कर ब्रह्माद समुद्र से बाहर निकले ॥६॥ और आकाशादि मुक्त ससार की देख कर उन्हें पुनः यह आभास हुआ कि मैं दैत्यमृत प्रह्लाद हूँ ॥७॥ तब उन्होंने मन, वाणी और शरीर को समर्पित करके धर्म और एकाग्र धारण करके अनादि पुरुष भगवान् विष्णु की स्तुति की ॥८॥

ॐ नमः परमार्थैः स्थूलसूक्ष्म क्षराक्षर ।
 व्यक्ताव्यक्त बलातीत सकलेश निरञ्जन ।१।
 गुणाञ्जन गुणाधार निर्गुणात्मन् गुणस्थित ।
 मूर्तामूर्तसहामूर्ते सूक्ष्ममूर्त स्फुटास्पृष्ट ।२।
 बरालसौम्यरूपात्मन्विद्याविद्यामयाच्युत ।

सदसद्रूपसद्भाव सदमद्भावभावन । १११

नित्यानित्यप्रपञ्चात्मन्निष्प्रपञ्चामलाश्रित ।

एकानेक नमस्तुभ्य वामुदेवाधिकारण । ११२

य म्यूनमूढम् प्रकटप्रकाशो यः सर्वभूतो न च सहभूत ।

विश्व यतश्चैदविश्वहेतोर्नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय । ११३

तस्य नञ्चेतसो देव स्तुतिमित्य प्रकुर्वन् ।

आविशभूत्र भगवान् पीताम्बरधरो हरि । ११४

प्रह्लाद ने कहा — हे परमायं । हे अयं । हे स्थूल-सूक्ष्म । हे धराशर
भूष । हे व्यक्ताव्यक्त । हे कास से परे परमेश्वर । हे निरजन । मैं आपकी नमस्कार
करता हूँ ॥११॥ हे गुरु । छत्र । गुणाकार । निर्गुणात्मन् । गुणस्थित । मूर्तिमूर्त
रूप । महाशून्य । सूक्ष्मभूत । प्रकाशाप्रसाद्य रूप । विकराल और सौम्य रूप ।
विद्या अधिष्ठास्य अश्रुत । सदसत् रूप । जगत् के उत्पत्तिस्थान । सदसत्विश्व
य पाननकर्ता । नित्य अनित्य प्रपञ्चात्मन् । प्रपञ्च से परे एवं ज्ञानियो के आश्रय ।
एवमेव रूप आदि कारण वास्तुदेव । ॥१०-१२॥ ओ स्थूल-सूक्ष्म रूप, स्फुट
प्रकाशमय, अधिष्ठाता से सर्वभूत रूप परन्तु सभी भूतो से परे, कारण रहित
होने पर भी जिनसे इस विश्व की उत्पत्ति हुई है, उन भगवान् ओ पुरुषोत्तम
की नमस्कार है ॥१३॥ श्रीपराशर जी ने कहा — इस प्रकार तन्मयतापूर्वक
स्तव करने पर देव देव भगवान् श्रीहरि साक्षात् रूप में प्रकट हुए ॥१४॥

ससम्भ्रमस्तमालोक्य समुत्थावाकुलाशरम् ।

नमोऽस्तु विष्णवेत्येतद् ध्याजहारामकृद् द्विज । ११५

देव प्रपन्नार्तिहर प्रताप कुरु केशव ।

श्रवलोचनदानेन भूयो मा पावयाच्युत । ११६

कुर्वन्तस्ते प्रसन्नोऽहं भक्तिमव्यभिचारिणीम् ।

मयागिनपितो मत्तं प्रह्लाद त्रियता वर । ११७

नाथ योनिस्सहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।

तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि । ११८

या प्रीतिरविवेकाना विषयेष्वनपायिनी ।

त्वामनुस्मरत सा मे हृदयान्मापसर्पतु । १२१।

मयि भक्तिस्तवास्त्येव भूयोऽप्येव भविष्यति ।

वस्तु मत्तः प्रह्लाद त्रियता यस्तवेप्सितः । १२२।

हे विप्र भगवान् को इस प्रकार प्रकट हुए देखकर प्रह्लाद खड़े हो गये और उन्होंने गद्गद कंठ से बारम्बार कहा—भगवान् विष्णु को नमस्कार है ॥१२१॥ प्रह्लाद ने कहा—हे शरणागन का दुःख हरण करने वाले श्री केशव ! प्रसन्न हृत्विधे । मुझे अपने पुण्य दर्शनों से पुनः पुनः पवित्र करते रहिये ॥१२१॥ श्रीभगवान् बोले—हे प्रह्लाद ! तेरी मनन्य भक्ति से मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ, तू अपना इच्छित वर माँगले ॥१२२॥ प्रह्लाद ने कहा—हे नाथ ! हवारी योनियो मे से मैं जिस-जिस योनि को प्राप्त होऊँ, उस-उप मे ही मेरी भक्ति आपमे सदैव अक्षुण्ण रूप से बनी रहे ॥१२३॥ जैसे भविवेकी जन विषयो मे अविवल प्रीति रखते हैं, जैसे ही आप मेरे हृदय से कभी भी पृथक् न हो ॥१२४॥ श्री भगवान् ने कहा—हे प्रह्लाद ! मेरे प्रति तो तेरी अद्भुत भक्ति है ही सदा भविष्य मे भी रहेगी । इसके अतिरिक्त भी तुझे जिस वर की अभिलाषा हो, वह मुझसे माँग ले ॥१२५॥

मयि द्वेषानुबन्धोऽभूत्सस्तुताबुधते तव ।

मत्पितुस्तत्कृत पाप देव तस्य प्रणश्यतु । १२१।

शस्त्राणि पातितान्यङ्गे क्षितो यच्चाग्निसहती ।

दशितश्चोरगैर्दनं यद्विष मम भोजने । १२२।

बद्ध्वा समुद्रे यत्क्षिप्तो यच्चितोऽस्मि क्षितोन्वये ।

अन्यानि चाप्यपाधूनि यानि पित्रा कृतानि मे । १२३।

त्वयि भक्तिमतो द्वेषादधं तत्सम्भव च यत् ।

त्वत्प्रसादात्प्रभो सद्यस्तेन मुच्येत मे पिता । १२४।

प्रह्लाद सर्वमेतत्ते मत्प्रसादाद्भविष्यति ।

अन्यच्च ते वरं दधि त्रियतामसुरात्मज । १२५।

कृतकृत्योऽस्मि भगवन्वरेणानन यत्त्वयि ।

भवित्री त्वत्प्रसादेन भक्तिरव्यभिचारिणी । १२६।

धर्मार्थकामैः किं तस्य मुक्तिस्तम्य करे स्थिता ।

समस्तजगता मूले यस्य भक्ति स्थिरा त्वयि ॥२७॥

प्रह्लाद ने कहा हे देव । आपकी मूर्ति करने के कारण जो मेरे पिता के चित्त में द्वेष उत्पन्न हुआ और उससे जो पाप उन्हें लगा है, वह दूर हो जाय ॥२१॥ तथा मेरे देह पर शस्त्राघात करने, अग्नि में जलाने, गर्शों से कटवाने, भोजन में विष देने, पाशबद्ध कर समुद्र में डालने, तिलामो से दवाने तथा अग्न्याग्न्य दुर्व्यवहार मेरे साथ करने के कारण जो पाप मेरे पिता की लगा है, उस पाप से मेरे पिता की छूट जायें ॥२२-२५॥ भगवान् बोले हे प्रह्लाद । तेरी यह सभी कामनाएँ मेरी कृपा से पूर्ण होंगी । मैं तुम्हें एक बार मार देना चाहता हूँ, तेरी जो इच्छा हो, वही माँग ले ॥२५॥ प्रह्लाद ने कहा—हे प्रभो ! मैं तो आपके इत्नी बार से घबरा चुका कि आप में मेरी निरन्तर भक्ति रहेगी ॥२६॥ जब आप सम्पूर्ण विश्व के कारण रूप में जिसकी अविनाश भक्ति है तो मोक्ष उसके हाथ में ही स्थित रहेगी, फिर उसे धर्म, धर्म और काम से प्रयोजन हो क्या है ? ॥२७॥

यथा ते निश्चल चेतो नपि भक्तिमनि-नतम् ।

तथा त्व मत्प्रसादेन निर्वाणम्परमाप्स्यसि ॥२८॥

इत्युक्त्वा-तदधे विष्णुस्तस्यमंत्रेण पश्यत ।

रा चापि पुनरागम्य बध्न्दे चरणी पितुः ॥२९॥

तं पिता मूढ्युं पापाय परिदृश्य च कीडितम् ।

जीवसीत्याह वत्सेति बाष्पादंनयनो द्विज ॥३०॥

प्रीतिमाश्वाभवत्तस्मिन्ननुतापी महासुरः ।

गुरुपित्रोश्चकारैवं श्रुत्वा साऽपि धर्मवित् ॥३१॥

पितर्युं परति नीते नरसिंहस्यग्निराणा ।

विष्णुना सीऽपि दैत्यानां मंत्रेयाभूत्पतिस्ततः ॥३२॥

ततो राज्यद्युतिं प्राप्य कर्मशुद्धिकरो द्विजः ।

पुत्रपौत्राश्च सुवहूनेवाप्यश्रयमेव च ॥३३॥

क्षीणाधिकार स यदा पुण्यपापविवर्जित ।

तदा स भगवद्धनानात्पर निर्वाणमाप्तवान् ॥३४॥

भगवान् ने कहा—हे प्रह्लाद ! तब चित मेरी भक्ति में अविवर्जित होने के कारण तुझे मेरी कृपा से परमनिर्वाण पद की प्राप्ति होगी ॥२८॥ श्रीपराशरजी ने कहा—हे मंत्रेयजी ! यह कह कर भगवान् तत्वास्तु मतार्थान् हो गये और प्रह्लाद ने भी अपने पिता के पास जाकर उनके चरणों में प्रणाम किया ॥२९॥ देव दैत्यराज ने अपने जिन पुत्रों को विभिन्न प्रकार से सन्तुष्ट किया था, उसका मन्तव्य सूँघ कर अशुभपूर्व मन्त्रा से कहा—हे पुत्र ! तू जीवित तो है ? ॥३०॥ वह महामुर अपने कर्म पर पश्चात्ताप करना हुआ प्रह्लाद से स्नेह करने लगा और धर्म प्रह्लाद भी अपने शुद्ध तथा माता पिता की सेवा सुश्रूषा में लग गये ॥३१॥ हे मंत्रेयजी ! फिर नृसिंह हथगारी भगवान् विष्णु द्वारा हिरण्यकशिपु का वध किये जाने पर वही दैत्यों के अधीश्वर हुए ॥३२॥ तब प्रारब्ध का क्षय करने वाली राज्यधी, अनेक पुत्र-पौत्रादि तथा परमैश्वर्य की प्राप्ति होकर कर्माधिकार की क्षीणता से पाप पुण्य क्षय होकर प्रभु स्मरणपूर्वक उन्होंने परम निर्वाणपद पाया ॥३३ २५॥

एव प्रभावा दत्योऽसौ मंत्रेयासोऽग्नमहामति ।

प्रह्लादो भगवद्भक्तो य त्व मामनुपृच्छसि ॥३५॥

यस्त्वेतच्चरित तस्य प्रह्लादस्य महात्मन ।

शृणोति तस्य पापानि सज्जो गच्छन्ति सङ्क्षयम् ॥३६॥

अहोरात्रकृत पाप प्रह्लादचरित नर ।

शृण्वन् पठश्च मंत्रय व्यपोहति न संशयः ॥३७॥

पीणमास्याममावास्यामष्टम्यामथ वा पठन् ।

द्वादश्या तदाप्नोति गोप्रदानफलं द्विज ॥३८॥

प्रह्लाद सबलापस्तु यथा रक्षितवान्ह्रि ।

तथा रक्षति यस्तस्य शृणोति चरितं सदा ॥३९॥

१ मंत्रेयजी ! तुमने जिनके विषय में प्रश्न किया था, वह भगवत्पराशर महाराज ऐसे प्रभावशाली हुए थे । उनके चरित्र की सुनने वाले के सब पापों

का शीघ्र ही लय हो जाता है ॥३१-३६॥ हे मैत्रेयजी ! इस प्रह्लाद चरित्र के श्रवण या पाठ करने से दिन-रात क्रिये गये पापों से भी मुक्ति होती है ॥३७॥ हे द्विज ! जो कोई इसे पूर्णिमा, अमावस्या अष्टमी अथवा द्वादशी को पढ़ता है, वह गोदान का फल पाता है ॥३८॥ जैसे भगवान् ने प्रह्लाद की सब संकटों से रक्षा की थी, वैसे ही वह उनके चरित्र सुनने वाले की भी रक्षा करते हैं ॥३९॥



इकौसवाँ अध्याय

सह्यादपुत्र आयुष्माञ्छिविर्वाण्डक एव च ।
विरोचनस्तु प्राह्लादिवर्नियंज्ञे विरोचनान् ॥१॥
बलेः पुनश्च त्वासीद्वाणज्येष्ठं महामुने ।
हिरण्यक्षमुनाश्चासन्सर्वे एव महाबलाः ॥२॥
चत्कुरः सकुनिश्चैव भूतसन्तापनस्तथा ।
महानाभो महाबाहुः कालनाभस्तथापरः ॥३॥
अभवन्दनूपुनाश्च द्विमूर्द्धा दम्बरस्तथा ।
अयोमुखः शङ्खुशिराः कपिलः शङ्कुरस्तथा ॥४॥
एकचक्रो महाबाहुस्तारकश्च महाबलः ।
स्वर्भानुर्ध्वपर्वो च पुलोमश्च महाबलः ॥५॥
एते दनो सुताः स्याता विप्रचित्तिश्च वीर्यवान् ।
स्वर्भानोस्तु प्रभा कन्या शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥६॥
उपदानो ह्यशिराः प्रह्याता वरकन्यकाः ।
वैश्रानरमुते चोभे पुलोमा कालका तथा ॥७॥

श्रीपराशरजी ने कहा—सह्याद के पुत्र आयुष्मान्, शिवि और वाण्डक
द्वारे तथा प्रह्लाद के पुत्र विरोचन हुए, उस विरोचना का पुत्र बल

हे महामुने ! बलि के सौ पुत्र हुए, जिनमें सबसे बड़ा बाणासुर था । हिर-
ण्याक्ष के उत्कुर, शकुनि, भूत सन्तापन, महानाम, महाबाहु तथा कालनाम
आदि पुत्र हुए, वे सब अत्यन्त बलवान थे ॥२-३॥ कश्यप-पत्नी दनु के पुत्र
द्विमूर्धा, शम्बर, अयोमुख शकुशिरा, कपिल, शंकर, एकवक्त्र, महाबाहु, तारक,
महाबल, स्वभानु, वृषपर्वा पुलोम और विप्रचित्ति नामक विख्यात पुत्र हुए ।
स्वभानु की कन्या प्रभा हुई और वृषपर्वा की अत्यन्त सुन्दरी कन्याएँ शमिष्ठा,
उपवानी और ह्यशिरा अत्यन्त प्रसिद्ध हुई । वैश्वानर की दो कन्याएँ पुलोमा
और कालका हुई ॥४-७॥

उभे सुते महाभागे मारीचेस्तु परिग्रहः ।

ताभ्यां पुत्रसहस्राणि पष्टिर्दिवसतमा ॥८॥

पौलोमाः कालकेयाश्च मारीचतनयाः स्मृताः ।

ततोऽपरे महावीर्या दारुणास्त्वितिनिर्धृणाः ॥९॥

सिंहिकायामयोत्पन्ना निप्रचित्तेः सुतास्तथा ।

व्यशः शल्यश्च बलवान् नभश्चैव महाबलः ॥१०॥

वातापी नमुचिरश्चैव इत्वलः खसृमस्तथा ।

अन्धको मरकटश्चैव कालनाभस्तथैव च ॥११॥

स्वभानुश्च महावीर्यो वक्त्रयोधी महासुरः ।

एते च दानवा श्रेष्ठा दनुवशविमर्दनाः ॥१२॥

एतेषां पुत्रपौत्राश्च शतशोऽप्य सहस्रशः ।

प्रह्लादश्च तु दैत्यस्य निवातकवचाः कुले ॥१३॥

समुत्पन्नाः सुमहता तपसा भावितात्मनः ।

पट् सुताः सुमहासत्त्वास्नाग्रायाः परिकीर्तिताः ॥१४॥

शुकी द्येनी च भासी च सुग्रीवोऽशुचिगृद्धिकाः ।

शुकी शुकानजनयदुल्लूः प्रयुल्लूकिवान् ॥१५॥

हे महाभाग ! वैश्वानर की वे दोनो कन्याएँ मरीचिपुत्र कश्यपजी
की परिग्र्या हुई, जिनके साठ हजार पुत्र हुए ॥८॥ मरीचिसुत कश्यपजी के
मभी पुत्र दो वंशों में पौलोम और कालवेय नाम से प्रसिद्ध हुए । इनके अतिरिक्त

विप्रचिति ने सिद्धिका के गर्भ से अन्य अनेक महाबली, अत्यन्त भयकर घोर क्रूर पुत्र उत्पन्न किये । वे अश, अक्ष, अलकानु, नम, वातापी, नमुचि, इन्वत्त, लगूम, अन्यत्र, नरर, बाल नाम, स्वर्मानु और वज्रशोषी नाम से प्रसिद्ध थे । यह सभी दानव दनु की वंश वृद्धि करने वाले हुए ॥६-१२॥ इनके अन्यान्य से सैकड़ों हजारों पुत्र-पौत्रादि उत्पन्न हुए थे । महा तप के द्वारा आत्मज्ञान से मुक्त प्रह्लाद के वध में निपातकृष्ण नामक एक देव हुए । कल्पव-वानी ताप्रा से मुक्ती दयेनी, मात्ती, मुषीनी, मुचि, मुद्धिवा । यह छः कन्याएँ अत्यन्त प्रभाव वाली हुईं । मुक्ती से मुक्, उठक और उठूको के प्रतिपक्षी वाक आदि हुए । १३-१५॥

दयेनी दयेनास्तथा भामो भामान्मुद्धाश्च मुद्धश्चपि ।

मुच्यौदवान्पक्षिगणा मुष्नीषी तु व्यजायत ॥६॥

अश्वानुह्नाग्दंभाश्च ताप्रावस प्रसीतित ।

विनतामातु द्वौ पुत्री विन्धातो गरुडारुणौ ॥७॥

मुपलं पतता श्रेष्ठो दारुणः पन्नगाशन ।

सुरमाया सहस्र तु मर्षणाममितोज्ज्वलम् । ८॥

अनेकधिरसा ग्रहान् येचराणा महात्मनाम् ।

वाद्रवेवास्तु बलिनः सहस्रममितोजसः ॥९॥

मुपलंवशया ग्रहान् जनिरे नैकमस्तथा ।

तैषा प्रधानभूतास्तु दैववागुक्तिक्षराः ॥१०॥

सहृदयेतां महापद्म नम्यताम्यतरो तथा ।

एतापुत्रस्तथा नाग वक्रोदवधनञ्जयो ॥११॥

एते चान्ये च बहवो दन्दमूवा दिधीत्वणा ।

गण क्रोधवस विद्धि तस्याः सर्वे च दष्टिणः ॥१२॥

स्थलजाः पक्षिणोऽज्जाश्च दारुणाः विनिताशनाः ।

क्रोधा तु जनयामास पिशाचाश्च महापत्नान् ॥१३॥

दयेनी के दये (बाज) हुआ, भामी से माय तथा मुद्धिवा में दूधों की उत्पत्ति हुई । मुचि से जव के पक्षी हुए तथा मुषीषी से घोंरे, जैट और

गंधे उत्पन्न हुए । इस प्रकार साँझा का वंश हुआ । विनता के दो पुत्र गरुड और अरुण नाम से अस्तित्व हुए ॥१६-१७॥ इनमें पक्षी श्रेष्ठ गरुड सर्पों के भक्षक तथा अत्यंत प्रभावशाली आकाशचारी, अनेक शीश और विशालकाय वाले हजारों सर्प उत्पन्न हुए और क्रद्रू के भी अनेक सिर वाले अत्यंत तेजस्वी हजारों ही सर्प उत्पन्न हुए जो गरुड के आगेन थे । उनमें से शेष, वासुकि, तक्षक, शङ्खदेव, महापथ, कम्बल, अश्वतर, एलापुत्र, भाग, कर्कोटक, धनञ्जय एवं अन्य अनेक उग्र विष वाले सर्प प्रधान कहे गये हैं । क्रीडवशा के क्रीडवश-गण हुए, वे सब विकराल दाढ़ वाले, भयंकर, बच्चे मारि ॥ आहार करने वाले जलचर, पलचर और नभचर हैं । क्रोधा से ही महाबली पिशाचों की उत्पत्ति हुई है । ॥१८-२३॥

गास्तु वे जनयामास सुरभिर्महिषास्तथा ।

इरावृक्षलतावल्लीस्तृणजातीश्च सर्वशः ॥२४॥

खस। तु यक्षरक्षासि मुनिरप्सरसस्तथा ।

भरिष्टा तु महासत्त्वान् गन्धर्वान्समजीजनत् ॥२५॥

एते कश्यपदायादाः कीर्तिना स्थाणुजङ्गमाः ।

तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च सतशोऽय सहस्रशः ॥२६॥

एष मन्वन्तरे सर्गो ब्रह्मन्वारोचिषे स्मृतः ।

वैवस्वते च महति वारुणे वितते कृनौ ॥२७॥

जुह्वानस्य ब्रह्मणो वै प्रजासर्ग इहोच्यते ।

पूर्वं यत्र तु सप्तर्षीनुत्पन्नास्तप्तमानसान् ॥२८॥

पितृत्वे कल्पयामास स्वयमेव पितामह ।

गन्धर्वभोगिदेवानां दानवानां च सत्तम ॥२९॥

दितिर्विजष्टपुत्रा वै तपयामास कश्यपम् ।

तया चाराधिनं सम्यक्कश्यपस्तपता वरः ॥३०॥

वरेण च्यन्दयामास तां च वध्रे ततो वरम् ।

पुत्रमिद्रवधार्याय समर्थममितीजसम् ॥३१॥

हुरनि से गी, भेस आदि उत्पन्न हुई और इसा से वृक्ष, लता, वेल तथा
मनो प्रकार के वृक्षादि उत्पन्न हुए ॥२४॥ खसा से यल और राखस हुए, मुनि
से अम्भराएँ हुई और अरिष्टा से गधर्व हुए ॥२५॥ यह सभी स्थावर जगम
देहधारी कश्यपजी से उत्पन्न हुए हैं । इनके अग्न्यान्व हवारी पुत्र-पौत्रादि
हुए ॥२६॥ हे ब्रह्मन् ! यह वर्तुन स्वारीचिप-मन्वन्तर की सृष्टि का है ।
वैवस्वत-मन्वन्तर के आरम्भ में वाष्ण नामक महापशु हुआ, उस में ब्रह्माजी
होता था, अब मैं प्रजा के विषय में कहता हूँ । पहिले के मन्वन्तर में ब्रह्माजी
के मानस पुत्र रूप से जो सप्तपि हुए थे, ब्रह्माजी इस कल्प में उन्हें गधर्व,
नाग, देवता और दानवादि के पितृ रूप से कल्पित किया ॥२७-२८॥ पुत्रों के
मष्ट होने पर विति ने कश्यपजी को प्रसन्न किया, तब सन्तुष्ट हुए । कश्यपजी
ने उस पर प्रदान द्वारा प्रसन्न किया । उस समय उसने इन्द्र को मारने में समर्थ
एक अत्यन्त तेजस्वी पुत्र की याचना की ॥३०-३१॥

स च तस्मै वरं प्रादाद्भार्यायै मुनिसत्तमः ।
वत्सा च वरमत्पुत्रं कश्यपस्नामुवाच ह ३२।
शक्रं पुत्रो निहन्ता ते यदि गर्भं शक्नोति सत्तम ।
समाहितातिप्रयता शौचिनी धारयिष्यति ॥३३॥
इत्येवमुक्त्वा तां देवी सङ्गतः कश्यपो मुनिः ।
दधार सा च तं गर्भं सम्यक्छीवत्समन्विता ॥३४॥
गर्भमात्मवधार्थं ज्ञात्वा तं भगवानपि ।
मुत्थू पुस्तामथ गच्छद्दिनयादमराधिपः ॥३५॥
तस्याश्चैवान्तरप्रेप्सुरतिष्ठत्पाकशासनः ।
ऊने वर्षशते चास्या ददर्शान्तरमात्मना ॥३६॥
अकृत्वा पादयोः शौचं दितिः शयनमाविशत् ।
निद्रा च हारयाभास तस्या कुक्षिं प्रविश्य सः ॥३७॥
वज्रपाणिर्महागर्भं निच्छेदाय स सक्तवा ।
सर्पीकृत्मानो वज्रेण स रुदोदातिदारुणम् ॥३८॥
मा रोदीरिति तं शक्रः पुनः पुनरभाषत ।

सोऽभवत्सप्तधा गर्भस्तमिन्द्र. कुपितः पुनः ॥३६॥

एकैक सप्तधा चक्रे वज्रेणारि वदारिणा ।

मरुतो नाम देवास्ते चमूवुरतिवेगिनः ॥४०॥

यदुक्तं वै भगवता तेनैव मरुतोऽभवन् ।

देवा एकोनपञ्चाशत्सहाया वज्रपाणिनः ॥४१॥

हे मुनिवर ! कश्यपजी ने अपनी पत्नी दिति को भस्मयुग वर देते हुए उससे कहा ॥३२॥ यदि तुम भगवान् के ध्यान में लगी रह कर अपने गर्भ को शीघ्र एवं समय पूर्वक सौ वर्ष तक धारण कर लोगी तो तुम्हें इन्द्र के नाशक पुत्र की प्राप्ति होगी ॥३३॥ यह कह कर कश्यपजी ने उससे भी सगति की और उसने अत्यंत पवित्रता से रहते हुए उस गर्भ को धारण किया ॥३४॥ जब देवराज इन्द्र को अपने वध के कारण रूप उस गर्भ के विषय में ज्ञात हुआ तो वह भी उसकी सेवा के लिये वहाँ आ उपस्थित हुए ॥३५॥ उसके शीचादि में कभी कुछ गड़बड़ी हो, यह देखने की इच्छा से इन्द्र वहाँ निरंतर उपस्थित रहते थे । अन्त में सौ वर्ष पूरे होने में कुछ ही समय शेष था, तब उन्होंने एक गड़बड़ी देखी ॥३६॥ एक दिन दिति पैर धोये बिना ही चट्या पर लेट गयी और उसे प्रगाढ़ निद्रा ने धीर लिया, तभी इन्द्र अपना वज्र लेकर उसकी कुक्षि में प्रविष्ट होगये और गर्भ के सात खण्ड कर डाले । जब वज्र की पीडा से व्याकुल हुआ गर्भ चीत्कार कर रोने लगा ॥३७-३८॥ इन्द्र ने गर्भ से बार-बार कहा कि मत रो, मत रो और जब वह सात भाग में विभक्त होकर भी चुप न हुआ तो इन्द्र ने अत्यंत क्रोध पूर्वक एक-एक खण्ड के भी सात-सात खण्ड कर दिये । वे अत्यंत वेगवान् मरुत् नामक देवता हुए ॥३९-४०॥ इन्द्र ने उस गर्भ से कहा — मा रोदी अर्थात् न रो, इसीलिये वे मरुत् कहे गये । यह उन-चास महद्गण इन्द्र के ही सहायक देवता हुए थे ॥४१॥



वाईसवाँ अध्याय

यदाभिषिक्तः स पृथुः पूर्वं राज्ये महर्षिभिः ।
ततः क्रमेण राज्यानि ददौ लोकपितामहः ॥१॥
नक्षत्रग्रहावप्राणां वीरुधां चाप्यशेषतः ।
सोमं राज्ये दधद्रुह्या यज्ञानां तपसामपि ॥२॥
राजा बन्धवस्य राज्ये जलानां वरुणं तथा ।
घाडित्यानां पतिं विष्णुं वसूनामथ पावकम् ॥३॥
प्रजापतीनां दक्षं तु वारुवं मरुतामपि ।
देत्यानां दानवानां च प्रह्लादमधिपं ददौ ॥४॥
पितृणां धर्मराजं तं यमं राज्येऽभ्यपेक्षयत् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणामशेषाणां पतिं ददौ ॥५॥
पतत्रिणां तु गरुडं देवानामपि वासवम् ।
उच्चैःश्रवसमश्वानां वृषभं तु गवामपि ॥६॥
मुगाणां चैव सर्वेषां राज्ये सिंहं ददौ प्रभुः ।
शेषं तु दन्द्शूकानामकरोत्पतिमश्वयः ॥७॥

श्री पराशरजी ने कहा—प्राचीन काल में जब महर्षियों ने पृथु को राज्यासन अभिषिक्त किया तब लोकपितामह ब्रह्मा ने क्रम पूर्वक राज्यों का विभाजन पर किया । ॥१॥ उन्होंने नक्षत्र, ग्रह, वाह्यण, वनरपति, मत्त और तपावि के राज्य पर सोम को नियुक्त किया ॥२॥ राजाओं का राजा विश्रवापुत्र भुवैर को बनाया, जलो का वरुण को, घाडित्यो का विष्णु को और वसुणो का अग्नि को बनाया ॥३॥ प्रजापतियों का दक्ष को, मरुतों का इन्द्र को तथा देव दानवों का राजा प्रह्लाद को नियुक्त किया । ४॥ पितरों का अधिपति यम को और हावियों का राजा ऐरावत को बनाया ॥५॥ पक्षियों के गरुड, देवानों के इन्द्र, अश्वों के उच्चैःश्रवा तथा गौधो के अधिपति वृषभ हुए ॥६॥ सब मृगों का सिंह राजा हुआ, सर्पों के स्वामी शेष हुए ॥७॥

हिमालय स्वावराणा मुनीना कपिल मुनिम् ।
 नखिना दक्षिणा चैव मृगाणा व्याघ्रमीश्वरम् ॥८॥
 वनस्पतीना राजान मूक्षमेवाभ्यपेचयत् ।
 एवमेवान्यजातीना प्राधान्येनात्रोत्प्रभून् ॥९॥
 एव चिञ्जय राज्यानि दिशा पालाननन्तरम् ।
 प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा स्वापयामास सर्वतः ॥१०॥
 पूर्वस्या दिशि राजान वैराजस्य प्रजापतेः ।
 दिशापाल सुपुत्रान सुत वै सोऽभ्यपेचयत् ॥११॥
 दक्षिणस्या दिशि तथा कदमस्य प्रजापतेः ।
 पुत्र शङ्खपद नाम राजान सोऽभ्यपेचयत् ॥१२॥
 पश्चिमस्या दिशि तथा रजस पुत्रमच्युतम् ।
 केतुमन्त महात्मान राजान सोऽभ्यपेचयत् ॥१३॥
 तथा हिरण्यरोमाण पर्जन्यस्य प्रजापते ।
 उदीच्या दिशि दुर्दधे राजानमभ्यपेचयत् ॥१४॥
 तैरिय पृथिवी सर्वा सप्तद्वीपा सप्ततना ।
 यथाप्रदेशमद्यापि धर्मतः परिपाटयते ॥१५॥

स्वावरो का स्वामित्व हिमालय को मिला, मुनियों का कपिल की
 तथा नख-दाढ़ वाले मृगों का अधिकार व्याघ्र को दिया गया ॥८॥ वनस्पतियों
 का स्वामी मूक्ष हुआ । इसी प्रकार अन्य-अन्य जीव-जातियों के स्वामित्व की
 भी ब्रह्माजी ने कल्पना की ॥९॥ इस प्रकार राष्म-विभाग करके उन्होंने
 सब दिशाओं में दिक्पालों को नियुक्त किया ॥१०॥ पूर्व में वैराज प्रजापति
 के पुत्र राजा सुषन्वा को दिक्पाल बनाया ॥११॥ दक्षिण में कदम प्रजापति
 के पुत्र राजा शङ्खपद, दिक्पाल नियुक्त हुए ॥१२॥ पश्चिम में रजस-पुत्र
 महात्मा केतुमान को नियुक्त किया ॥१३॥ तथा उत्तर में पर्जन्य प्रजापति के
 पुत्र राजा हिरण्यरोमा को दिक्पाल पद पर अनिष्ठित किया ॥१४॥ यह
 दिक्पाल सातों द्वीप और अनेक नगरों वाली इस सम्पूर्ण पृथिवी का आपने-
 धारने अधिकार के अनुसार आज तक धर्मपूर्वक पालन करते चले आ रहे
 हैं ॥१५॥

एते सर्वे प्रवृत्तस्य स्थितौ विष्णोर्महात्मनः ।
 विभूतिभूता राजानो ये चान्ये मुनिवृत्तम ॥१६॥
 ये भविष्यन्ति ये भूनाः सर्वे भूतेश्वरा द्विज ।
 ते सर्वे सर्वभूतस्य विष्णोरंशा द्विजोत्तम ॥१७॥
 ये तु देवाधिपतयो ये च दैत्याधिपास्तथा ।
 दानवानां च ये नाया ये नायाः पिगिताशिनाम् ॥१८॥
 पशूनां ये च पतयः पतयो ये च पक्षिणाम् ।
 मनुष्याणां च सर्पाणां नागानामधिपाश्च ये ॥१९॥
 वृक्षाणां पर्वशानां च ग्रहाणां चापि येऽधिपाः ।
 भूतौता वर्तमानाश्च ये भविष्यन्ति चापरे ।
 ते सर्वे सर्वभूतस्य विष्णोरंशसमुद्भवाः ॥२०॥
 न हि पालनसामर्थ्यमृते सर्वेश्वरं हरिम् ।
 स्थितं स्थितौ महाप्राज्ञ भवत्यन्यस्य कस्यचिन् ॥२१॥
 सृजत्येष जगत्सृष्टौ स्थितौ पाति सनातनः ।
 हन्ति चैवान्तकत्वेन रजःसत्त्वादिसंश्रयः ॥२२॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! यह तथा और सभी राजागण संसार पालक भगवान्
 भगु की ही विभूति हैं ॥१६॥ जो-जो राजा पूर्वजन्म में हो चुके हैं अथवा
 जो-जो भविष्य में होंगे, वे सब उन भगवान् के ही अंग रूप हैं ॥१७॥ देवता,
 दैत्य, दानव तथा अन्य सब आधिप बोधियों के स्वामी, पशु, पक्षी, मनुष्य,
 सर्प और नागादि के अधिनायक, वृक्ष, पर्वत और ग्रहों के अधिपति तथा अन्य
 सर्वभूत, भविष्यत् और वर्तमान के भूताधिपति हैं, वे सभी सर्वभूतात्मक
 भगवान् के अंग से ही उत्पन्न हुए हैं ॥१८-२०॥ सृष्टि के पालन-कार्य में
 प्रवृत्त भगवान् श्री हरि ही पालन-कार्य में समर्थ हैं, और किसी में ऐसी शक्ति
 नहीं है ॥२१॥ राजादि मुणों के आश्रय छ वे ही सनातन पुरुष विश्व के सगं काल
 में सृष्टि रचते हैं, स्थिति काल में पालन करते तथा अन्त में स्वयं ही काल
 स्वरूप होकर उसे नष्ट कर धरते हैं ॥२२॥

चतुर्विभागः समृष्टो चतुर्था सस्थितः स्थितो ।
 प्रलयं च करोत्यन्ते चतुर्भेदो जनार्दनः ॥२३॥
 एकेनाशेन ब्रह्मासी भवत्यव्यक्तभूतिमान् ।
 मरीचिमित्राः पतयः प्रजाना चाम्यभागशः ॥२४॥
 कालस्तृतीयस्तस्याशः सर्वभूतानि चापरः ।
 इत्य चतुर्धा समृष्टो वर्त्ततेऽसौ रजोगुणः ॥२५॥
 एवाशेनास्थितो विष्णुः करोति प्रतिपालनम् ।
 मन्वादिहपञ्चान्येन कालरूपोऽपरेण च ॥२६॥
 सर्वभूतेश चाम्येन सस्थितः कुरुते स्थितिम् ।
 सत्त्व गुण समाश्रित्य जगतः पुरपोत्तमः ॥२७॥
 आश्रित्य तमसो वृत्तिमन्तकाले तथा पुनः ।
 रुद्रस्वरूपो भगवानेकाशेन भवत्यजः ॥२८॥
 अग्न्यन्तकादिरूपेण भागेनान्येन वर्त्तते ।
 कान्तस्वरूपो भागो यस्तत्त्वंभूतानि चापरः ॥२९॥

वे भगवान् सृष्टि के समय चार विभाग से, स्थिति के समय भी चार विभाग से तथा प्रलय काल में भी चार विभाग से ही स्थित रहते हैं ॥२३॥ वह अपने ही एक अंश से ब्रह्मा तथा दूसरे से मरीच्यादि प्रजापति होते हैं, उनका तीसरा अंश काल तथा चौथा अंश समस्त जीव हैं । इस प्रकार रजोगुण विशिष्ट होकर वह अपने चार रूप धारण करते हैं ॥२४-२५॥ फिर वे सत्त्वगुण के आश्रय से विश्व की स्थिति करते हैं । उस समय एक अंश से विष्णु रूप होकर पृथिवी का पालन करते हैं और दूसरे अंश से मनु आदि एवं तीसरे से काय होते हैं तथा चौथे से सभी भूतों में स्थित होते हैं ॥२६-२७॥ अन्त काल में वे तमोगुण के आश्रय में एक अंश से रुद्र, दूसरे से अग्नि और अन्तकादि, तीसरे से काल तथा चौथे से समस्त भूत रूप होते हैं ॥२८-२९॥

विनाश कुर्वन्तस्तस्य चतुर्द्ध्व महात्मनः ।

विभागकल्पना ब्रह्मन् कथ्यते सार्वकालिकी ॥३०॥

ब्रह्मा दक्षादयः कालस्तथैवाखिलजन्तवः ।
 विभूतयो हरेरेता जगत्तः सृष्टिहेतवः ॥३१॥
 विष्णुर्मन्दादयः कालः सर्वभूतानि च द्विज ।
 स्थितेनिमित्तमुतस्य विष्णोरेता विभूतयः ॥३२॥
 रुद्रः कालान्तकाद्याश्च समन्ताश्चैव जन्तवः ।
 चतुर्धा प्रलयायेता जनादेनविभूतयः ॥३३॥
 जगदादौ तथा मध्ये सृष्टिराप्रलयाद् द्विज ।
 घात्रा मरीचिमिश्रंश्च क्रियते जन्मुमिस्तथा ॥३४॥
 ब्रह्मा सृजत्यादिकाले मरीचिप्रमुखास्ततः ।
 उत्पादयन्त्यपत्यानि जन्तवश्च प्रतिक्षरोम ॥३५॥
 कालेन न विना ब्रह्मा सृष्टिनिष्पादको द्विज ।
 न प्रजापतयः सर्वे न चैवाखिलजन्तवः ॥३६॥

हे ब्रह्मन् ! बिनाम करने के हेतु उनकी इन प्रकार चार रूपों में साव-
 कानिक विभाग कल्पना कही गई है । ३०॥ ब्रह्मा, दक्षादि प्रजापति, काल
 एवं सर्व सृजण, यह सभी भगवान् की विभूतियाँ विश्व सृष्टि में कारण रपा
 है ॥३१॥ हे द्विज ! विष्णु मनु आदि, काल और सभी जीव, स्थिति के
 कारण रूप भगवान् की ही विभूति हैं । ३२॥ रुद्र, रुच्य, अश्वकारि और सब
 जीव-ये भगवान् जनादेन की चार विभूतियाँ प्रलय की कारण रूपा कही गई हैं
 ॥३३॥ हे विप्र ! विश्व के आदि, मध्य तथा प्रथम तक ब्रह्मा, मरीचि आदि
 विभिन्न प्राणियों से ही सृष्टि होती रहती है ॥३४॥ सर्गारम्भ में प्रथम ब्रह्माजी
 सृजन करते हैं फिर मरीचि आदि प्रजापति और उनके पश्चात् सब प्राणी
 सण-क्षण में प्रजोत्पादन करते रहते हैं ॥३५॥ काल के बिना न तो ब्रह्मा ही
 पुद्गल रहते हैं और न प्रजापति या अन्य जीव ही प्रजोत्पत्ति में समर्थ हो
 सकते हैं ॥३६॥

एवमेव विभागोऽयं स्थितावप्युपदिश्यते ।
 चतुर्धा तस्य देवस्य मंत्रेण प्रलये तथा ॥३७॥
 यत्किञ्चित्पूज्यते येन सत्त्वजातेन वै द्विज ।
 तस्य सृज्यस्य सम्भूतो तत्सर्वं वै हरेस्तनुः ॥३८॥

हन्ति यावच्च यत्किञ्चित्मत्स्व स्थावरजङ्गमम् ।

जनार्दनस्य तद्वीर्यं मंत्रेयान्तकरं वपुः ॥३६॥

एवमेव जगत्स्रष्टा जगत्पाता तथा जगत् ।

जगद्भक्षयिता देवः समस्तस्य जनार्दनः ॥४०॥

सृष्टिस्थित्यन्तकालेषु त्रिर्धनं सम्प्रवर्तते ।

गुणप्रवृत्त्या परमपदं नस्यागुणं महद् ॥४१॥

तच्च ज्ञानमयं व्यापि स्वसंवेद्यमनौपमम् ।

चतुःप्रकारं तदपि स्वरूपं परमात्मनः ॥४२॥

हे मंत्रेयजी ! विश्व की स्थिति और प्रलय में भी उन भगवान् के चार-चार विभाग बहे जाते हैं ॥३७॥ जित जीव द्वारा जो कुछ भी उत्पत्ति होती है, उस सब में भगवान् विष्णु का देह ही एक मात्र कारण है ॥३८॥ इसी प्रकार स्थावर-जगम प्राणियों में से यदि कोई किसी का भ्रन्त करता है, तो वह भ्रन्त करने वाला भी भगवान् का भ्रन्त करने वाला रौद्र रूप होता है ॥३९॥ इस प्रकार वह भगवान् ही समस्त विश्व के सृजन, पालन और सहार-कर्त्ता हैं तथा वे स्वयं ही जगद्रूप हैं ॥४०॥ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश बाल में वे इसी प्रकार तीनों गुणों के द्वारा प्रवृत्त होते हैं, तो भी उनका परमपद सर्वथा गुण-रहित है ॥४१॥ उनका वह स्वरूप ज्ञानमय, व्यापक, स्वसंवेद्य, अनुपम एवं चार प्रकार का है ॥४२॥

चतुःप्रकारता तस्य ब्रह्मभूतस्य हे मुने ।

ममावक्ष्ये यथान्यायं यदुक्तं परमं पदम् ॥४३॥

मंत्रेय कारणं प्रोक्तं साधनं सत्यवस्तुषु ।

साध्यं च वस्तुभिमतं यत्साधयितुमात्मनः ॥४४॥

योगिनो मुक्तिकामस्य प्राणायामादिसाधनम् ।

साध्यं च परमं ब्रह्म पुनर्नावर्तते यतः ॥४५॥

साधनालम्बनं ज्ञानमुक्तये योगिना हि यत् ।

स भेदः प्रथमस्तस्य ब्रह्मभूतस्य वै मुने ॥४६॥

मुञ्चतः श्लेशमुक्त्यर्थं साध्यं यद्ब्रह्मयोगिनः ।

तदालम्बनविज्ञानं द्वितीयोऽंशो महामुने ॥४७॥

उभयोस्त्वविभागेन साध्यसाधनयोहि यत् ।

विज्ञानमद्वैतमयं तद्भूयोऽन्यो मयादितः ॥४८॥

श्री मेनेपजी ने कहा—हे मुने ! आपने भगवान् के परमपद को चार प्रकार का कहा है, वह किस प्रकार है ? यह आप मुझे विस्तार सहित बताते की हुपा करिये ॥४३॥ श्री पराशरजी ने कहा—हे मेनेपजी सभी वस्तुओं का जो कारण है, वही उनका साधन कहा जाता है । अपनी जिस अभिमित वस्तु की सिद्धि करते हैं, वही साध्य होती है ॥४४॥ मोक्षान्निवापी योगियों के लिये प्राणायाम आदि साधन तथा परब्रह्म ही साध्य है, जहाँ से कभी पुनरागमन नहीं होता ॥४५॥ योगी की मोक्ष कारण साधनात्मक ज्ञान ही उस ब्रह्ममूक परमपद का प्रथम भेद समझो ॥४६॥ क्लेश से मुक्त होने के लिये योगाभ्यास करने वाले योगी के साध्य रूप ब्रह्म का ज्ञान आत्मस्वतन्त्र विज्ञान कहा गया है, यह उसका द्वितीय भेद है ॥४७॥ साध्य तथा साधनों के अभेद वाले अद्वैत मुक्त ज्ञान को ही मैं उसका तृतीय भेद कहता हूँ ॥४८॥

ज्ञानत्रयस्यैवं तस्य विशेषो यो महामुने ।

तन्निराकरणद्वारा दर्शितात्मस्वरूपवत् ॥४९॥

निर्व्यापारमनाख्येयं व्याप्तिमात्रमनूपमम् ।

आत्मसम्बोधविषयं सत्तामात्रमलक्षणम् ॥५०॥

प्रज्ञान्तममयं शुद्धं दुर्विभाव्यमसंशयम् ।

विष्णोर्ज्ञानमयस्योक्तं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥५१॥

तत्र ज्ञाननिरोधेन योगिनो यान्ति ये समयम् ।

संसारकर्षणोभो ते यान्ति निर्बीजतां दिव ॥५२॥

एवंप्रचारममलं नित्यं व्यापकमक्षयम् ।

समस्तहेयरहितं विष्णुकाय परमं पदम् ॥५३॥

तद्वत्त्वा परमं योगो यतो नाशयेत्तत्तत् ।

अनारब्धेय, अनुपम, व्याप्तिमात्र, सत्तामात्र आत्मबोधरूप, अलक्षण, अमय, शान्त, शुद्ध, भावना से परे तथा आश्रय से भी परे है, वही 'ब्रह्म' नामरु ज्ञान है ॥४६-५१॥ जो योगिजन लक्ष अन्य ज्ञानों को छोड़ कर इस चतुर्थ ज्ञान में ही लीन हो जाते हैं, वे इस समार रूपी क्षेत्र में बीजारोपण रूप कर्म के लिये निर्बीज होते हैं ॥५२॥ इस प्रकार का अमल नित्य, व्यापक, अक्षय और सब हेतु गुणों से परे वह विष्णु सज्जक परमपद है ॥५३॥ पुरण-पाप के निर्मूल और क्लेशों की निवृत्ति से मर्यदा निर्मल हुआ योगी ही उस परब्रह्म के आश्रय में जाकर पुनरावर्तन चक्र में नहीं पड़ता ॥५४॥

द्वे रूपे ब्रह्माणस्तस्य मूर्तं चामूर्तमेव च ।
 क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेष्ववस्थिते ॥५५॥
 अक्षर तत्पर ब्रह्म क्षर सर्वोपमद जगत् ।
 एकदेशस्थितस्याग्नेज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा ।
 परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिल जगत् ॥५६॥
 तत्राप्यासन्नदूरत्वाद्वहुत्वस्वरूपतामयः ।
 ज्योत्स्नाभेदोऽस्ति तच्छक्तेस्तद्वैमैत्रेय विद्यते ॥५७॥
 ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मप्रधाना ब्रह्मशक्तयः ।
 ततश्च देवा मैत्रेय न्यूना दक्षादयस्ततः ॥५८॥
 ततो मनुष्याः पशवो मृगपक्षिसरीसृपाः ।
 न्यूनान्यूनतराश्चैव वृक्षगुल्मादयस्तथा ॥५९॥
 तदेतदक्षर नित्य जगन्मुनिवराखिलम् ।
 आविर्भावतिरोभावजम्पनाशविकल्पवत् ॥६०॥

उक्त ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त, वे ही क्षर तथा अक्षर रूप से सभी प्राणियों में स्थित रहते हैं ॥५५॥ क्षर रूप यह विद्व है तथा अक्षर रूप यह परब्रह्म है । जैसे एक स्थान पर प्रग्वलित हुए अग्नि वा प्रकाश सर्वत्र रहता है, वैसे ही यह सम्पूर्ण विद्व एक परब्रह्म ही ही शक्ति है ॥५६॥ हे मैत्रेयजी ! जैसे अग्नि के समीपस्थ और दूरस्थ भेद से प्रकाश में अविद्यता और न्यूनता हो

जाती है वैसे ही ब्रह्म की शक्ति में समझो ॥५७॥ हे ब्रह्मन् ! ब्रह्मा, विष्णु, शिव यह तीनों, ब्रह्म की प्रधान शक्तियाँ हैं, उनमें न्यून देवता और उनसे भी न्यून दक्ष आदि उपासित हैं ॥५८॥ उनमें भी न्यून। कर्मज मनुष्य पशु पक्षी, मृग एवं सरीसृपादि तथा उनसे भी न्यून वृक्ष, मुल्ल, लता आदि हैं ॥५९॥ इसलिये हे मुनि श्रेष्ठ ! प्राविमणि, तिरोभाव, जन्म, नाश आदि विकल्प वाला यह विश्व यथार्थ में तो नित्य और प्रसर ही है ॥६०॥

सर्वशक्तिमयो विष्णुः स्वरूप ब्रह्मणः परम् ।
मूर्तं यद्योगिनि. पूर्वं योगारम्भेषु चिन्तयते ॥६१॥
सालम्बनो महायोग. सञ्जीवो यत्र सस्थितः ।
मनस्यव्याहृते सभ्यगुञ्जना जायते मुने ॥६२॥
स पर. परशक्तीनां ब्रह्मणः समनन्तरम् ।
मूर्तं ब्रह्म महाभाग सर्वब्रह्मणो हरिः ॥६३॥
तत्र सर्वमिदं प्रोतमोक्षं चैवाखिलं जगत् ।
ततो जगत्प्रगच्छस्मिन्स जगत्त्राखिलं मुने ॥६४॥
क्षराक्षरमयो विष्णुर्विभक्त्यस्ति तमोश्चरः ।
पुरुषा-याकृतमयं भूषणाखस्वरूपवत् ॥६५॥

सर्व शक्तिमय भगवान् विष्णु ही ब्रह्म के परम स्वरूप एवं मूर्त रूप हैं, योगारम्भ के पूर्व योगिजन उन्हीं का चिन्तन किया करते हैं ॥६१॥ हे मुने ! जिन भगवान् में मन की भले प्रकार तन्मय करने वालों को आलम्बन युक्त सञ्जीव महायोग की सिद्धि होती है, वे सब ब्रह्मणो विष्णु ही सब पर शक्तियों में प्रधान तथा ब्रह्म के समीपतम मूर्त ब्रह्म स्वरूप हैं ॥६२-६३॥ हे मुने ! यह सम्पूर्ण विश्व उन्हीं में ओत प्रोत, उन्हीं से उत्पन्न और उन्हीं में स्थित है तथा वे स्वयं ही सम्पूर्ण विश्व हैं ॥६४॥ क्षराक्षरमय विष्णु ही इस प्रकृति-पुरुषात्मक विश्व को अपने आभूषण तथा आयुष के रूप में धारण करते हैं ॥६५॥

भूषणाखस्वरूपस्य यत्प्रोतदखिलं जगत् ।
विभक्तिं भगवान्विष्णुस्नन्ममास्वानुमर्हसि ॥६६॥

नमस्तृत्याप्रमेयाय विष्णवे प्रभविविष्णवे ।
 पथयामि यथाख्यात वसिष्ठेन ममानवत् ॥६७॥
 आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणामलम् ।
 विभक्तिं कौस्तुभमणिस्यञ्जनं भगवान्ह्रि ॥६८॥
 श्रीवत्सलस्यानन्तरमनन्तं समाश्रितम् ।
 प्रधानं बुद्धिरप्यास्ते गदाख्येण माधवे ॥६९॥
 भूतादिमिन्द्रियदि च द्विषाहृद्धारमोश्वरः ।
 विभक्तिं वाक्छरूपेण क्षाप्नोत्येव च स्थितम् ॥७०॥
 चलत्स्वरूपमत्यन्तं जवेनान्तर्गतानि नृप ।
 चक्रस्वरूपं च मनो घटो विष्णुकरे स्थितम् ॥७१॥
 पञ्चरूपा तु या माला नैजयन्ती गदाभूत ।
 सा भूतहेतुसङ्घाता भूतमाला च वै द्विज ॥७२॥

श्री नैजयन्ती घाते—भगवान् विष्णु इस उपपन्न विद्वत् को आश्रय
 और आश्रय के रूप में कैसे धारण करते हैं, यह मुझे बताने की कृपा करिये
 ॥६९॥ श्री पराशरजी ने कहा—उन विद्वत् वासक आश्रय भगवान् विष्णु
 को तमस्कार करके अब मैं तुम्हें वह सब सुनाता हूँ जो वसिष्ठजी ने मुझे
 सुनाया था ॥७०॥ इस विद्वत् के निर्लेप, निर्गुण और निर्दल आत्मा को
 भगवान् विष्णु कौस्तुभ मणि के रूप में धारण करते हैं ॥६८॥ उन अनन्त
 भगवान् ने प्रधान को श्रीवत् रूप से तथा बुद्धि को गदा रूप से धारण किया
 है ॥६९॥ भूतो के कारण रूप तामस अहंकार और इन्द्रियों के कारण रूप
 राजस अहंकार को उन्होंने शब्द और शार्ङ्गधनुष के रूप में धारण किया हुआ
 है ॥७०॥ पवन को भी अपने वेब से हारने वाला अत्यन्त चञ्चल और सात्विक
 अहंकार रूपी मन भगवान् विष्णु के कर कमलों में चक्र रूप से स्थित है
 ॥७१॥ हे द्विज ! भगवान् गदाधर पञ्च रूपात्मक नैजयन्ती माला पञ्चतन्मात्रों
 और पञ्चभूतों का सघात है ॥७२॥

यानीन्द्रियाण्यशेषाणि बुद्धिबर्मात्मकानि च ।

धाररूपाण्यशेषाणि तानि घटते जनार्दन. ॥७३॥

विभक्ति यच्चातिरतनमच्युतोऽयन्तनिर्म नम् ।
 विशामय तु तज्ज्ञानमविद्याकोशसस्थितम् ॥७४॥
 इत्य पुमान्प्रमान च बुद्धचहङ्कारमेव च ।
 भूतानि च हृषीकेशे मन सर्वेन्द्रियाणि च ।
 विद्यविद्ये च मैत्रेय सर्वमेतत्समाश्रितम् ॥७५॥
 अक्षभूषणसस्यानस्वरूप रूपवर्जितः ।
 विभक्ति मायारूपोऽसौ श्रेयमे प्राणिना हरि ॥७६॥
 सविकार प्रधान च पुमासमक्षित जगत् ।
 विभक्ति पुण्डरीकाक्षस्तदेव परमेश्वर ॥७७॥
 या विद्या या तपाविद्या यत्सद्यच्च सदैव्ययम् ।
 तत्सर्वं सर्वभूतेशे मैत्रेय मधुसूदने ॥७८॥
 कलाकाष्ठाग्निमेघदिदिनत्वयनहायनः ।
 कालस्वल्पो भगवानपापा हरिरव्यय ॥७९॥

समस्त ज्ञान कर्मात्मिका इन्द्रियो ह्री भगवान् जनार्दन बाण रूप में धारण करते हैं ॥७३॥ भगवान् प्रच्युत का निर्मन खट्वा ही अविद्यात्मक कोश में दहा हुआ विशामय ज्ञान है ॥७४॥ हे मैत्रेयजी ! इस प्रकार पुष्य, प्रपान, बुद्धि, महत्कार पचभूत, मन, इन्द्रियाँ और विद्या अविद्या सब उन्ही हृषीकेश में आश्रित हैं ॥७५॥ भगवान् श्रीहरि रूप-रहित होते हुए भी माया मय रूप से जीवों के कल्याणार्थ इन सब वस्तुओं को अक्षभूषण के रूप में धारण करते हैं ॥७६॥ इन प्रकार वे पुण्डरीकाक्ष परमेश्वर सविकार प्रधान, पुण्य और सम्पूर्ण विश्व को धारण करते हैं ॥७७॥ हे मैत्रेयजी ! विद्या अविद्या, सदैव्य और अव्यय स्वरूप जो कुछ भी हैं, वह सब सर्व भूतेश्वर भगवान् में ही स्थित है ॥७८॥ कला, काष्ठा, निमेष, दिन, ऋतु, अयन तथा वर्ष आदिकाल के रूप में प्रपान, अव्यय श्रीहरि ही स्थित हैं ॥७९॥

भूलोकोऽयं भुवर्लोकः स्वर्लोको मुनिसत्तम ।
 महर्जनस्तप सत्य सप्त लोका इमे विभुः ॥८०॥
 लोकात्मभूतिः सर्वेषां पूर्वेषामपि पूर्वज ।
 आधार सर्वविद्यानां स्वयमेव हरिः स्थित ॥८१॥

देवमानुषपञ्चादिस्वरूपवद्भूमि स्थितः ।
 ततः सर्वेश्वरोऽनन्तो भूतमूर्तिरभूतिमान् ॥८२॥
 ऋचो यजूंषि सामानि तथैवाथर्वणानि वै ।
 इतिहासोपवेदाश्च वेदान्तेषु तयोक्तयः ॥८३॥
 वेदज्ञानि समस्तानि मन्त्रादिगदितानि च ।
 शास्त्राण्यशेषाण्यास्यानान्यनुवाकाश्च ये कश्चित् ॥८४॥
 काव्यालापाश्च ये केचिन्दीतकान्पद्मिलानि च ।
 शब्दमूर्तिधरस्येति तद्वदुविष्णोर्महात्मनः ॥८५॥
 यानि मूर्त्तान्यमूर्त्तानि यान्यत्रान्यत्र वा कश्चित् ।
 सन्ति वै यस्तु जाता न तानि सर्वाणि तद्वपुः ॥८६॥

हे मुनि सत्तम ! भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, मह जन, तप श्रीर सत्य
 आदि सत्तलोक भी स्वयं सर्वव्यापक प्रभु ही हैं ॥८०॥ सब पूर्वजों के पूर्वज
 श्रीर सभी विद्याओं के आध्य भगवान् श्रीहरि लोकरूप रूप से स्वयं ही स्थित
 हैं ॥८१॥ देवता, मनुष्य और पशु आदि विभिन्न भूत रूपों में निराकार श्री अनन्त
 ही स्थित हैं ॥८२॥ ऋक्, यजुः साम, अथर्व-यह चारों वेद, इतिहास, उपवेद
 वेदान्त, वेदाङ्ग मनु आदि धर्मशास्त्र पुराणादि, आख्यान अनुवाक, काव्यवर्चा
 और रागरागिनी आदि सब उन विष्णु का ही देह समझो ॥८३-८५॥ इस लोक में
 प्रपवा सर्वत्र जितने भी भूत, अभूत पदार्थ हैं, वह सभी उन भगवान् के
 शरीर ही हैं ॥८६॥

अहं हरिः सर्वमिदं जनादेनो नान्यत्ततः कारणकार्यजातम् ।
 ईदृग्मनो यस्य न तस्य भूयो भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति ॥८७॥
 इत्येष तैऽशः प्रथमः पुराणस्यास्य वै द्विज ।
 यथावत्कथितो यस्मिञ्छ्रुते पापैः प्रमुच्यते ॥८८॥
 कार्तिकर्या पुष्करस्नाने द्वादशब्देन यत्फलम् ।
 तदस्य श्रवणात्सर्वं मैत्रेयाप्नोति मानवः ॥८९॥
 देवपितृगन्धर्वयक्षादीनां च सम्भवम् ।
 भवन्ति शृण्वतः पुंसो देवाद्या वरदामुने ॥९०॥

मैं और यह सम्पूर्ण विश्व भी जनार्दन हरि ही हैं, उनमें भिन्न कोई भी कार्य-कारण आदि नहीं है, जिसके चित्त में इन प्रकार की भावना है, उसे शरीर से उत्पन्न रोग तथा शय, द्वेषादि नहीं रहते ॥८७॥ हे द्विज ! इस प्रकार मैंने इस पुराण के प्रथमांश का जैसा या वैसा वर्णन किया है, इसे सुन कर मनुष्य सभी पापों से छूट जाता है ॥८८॥ हे धर्मयुक्ती ! बारह वर्ष तक कार्तिक के महोत्सव में पुष्कर में स्नान करने से जिस पल प्राप्ति होती है, वह फल इसके सुनने मात्र से प्राप्त हो जाता है ॥८९॥ हे मुनि ! देव, ऋषि, गणेश, विष्णु तथा यक्षादि की उत्पत्ति के सुनने वाले पुरुष को वे देवादि वर देने वाले होते हैं ॥९०॥



द्वितीय अंश

पहला अध्याय

भगवन्सम्यगाख्यात ममैनद्रखिल त्वया ।
जगत सर्वसम्यग्नि यत्पृष्टोऽसि गुरो मया ॥१॥
योऽयमशो जगत्सृष्टिसम्बन्धो गदितस्त्वया ।
तत्राह श्रोतुमिच्छामि भूयोऽपि मुनिसत्तम ॥२॥
प्रियव्रतोत्तानपादो सुतो स्वायम्भुवस्य यो ।
तयोत्तानपादस्य ध्रुवः पुत्रस्त्वयोदितः ॥३॥
प्रियव्रतस्य नैवोक्ता भवता द्विज सन्ततिः ।
तामह श्रोतुमिच्छामि प्रसन्नो वक्तुमर्हसि ॥४॥
कर्दमस्यात्मजा कन्यामुपयेमे प्रियव्रतः ।
स भ्रातृ कुक्षिश्च तत्कन्ये दशपुत्रास्तथापरे ॥५॥
महाप्रज्ञा महावीर्या विनीता दयिताः पितुः ।
प्रियव्रतसुताः ख्यातास्तेषा नामग्नि मे शृणु ॥६॥
धार्मनीध्रश्चाग्निबाहुश्च वपुष्मान्द्युतिमास्तथा ।
मेधा मेधातिथिर्भैष्यः सवनः पुत्र एव च ॥७॥
उवोतिष्मान्दशमस्तेषा सत्यनामा सुतोऽभवत् ।
प्रियव्रतस्य पुत्रास्ते प्रख्याता बलवीर्यतः ॥८॥

श्री मंत्रेणजी ने कहा—हे गुरु ! हे भगवन् ! सृष्टि विषयक मेरे प्रश्न की आपने मुझे गले प्रवार बता दिया ॥१॥ हे मुनिवर ! आपने जो विश्व-रचना विषयक प्रथम अध्याय कहा है, उसमें एक बात और जानने की मेरी इच्छा है ॥२॥ स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्रों में से उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव का वृत्तांत आपने कहा ॥३॥ परन्तु, प्रियव्रत की संतान

ने विषय में आपने कुछ भी नहीं बचनाया, इसलिये उनके विषय में मेरी
जिज्ञासा का समाधान आप हर्षवर्क करिये ॥४॥ श्रीनरहरजी ने कहा -
प्रियव्रत का दिवाह नंदनजी की पुत्री से हुआ, जिससे सम्राट् और शुद्धि नाम्नी
पुत्रियां तथा दस पुत्र उत्पन्न हुए ॥५॥ प्रियव्रत के पुत्र अत्यन्त मेरावी, बली,
विनयी तथा नाता-रिता के अत्यन्त प्रिय हुए, जब उनके नानों की मुनी ॥६॥
आग्नीध्र, धन्विबाहु, वसुधामा, शुक्तिमा, मेघा, मेघातिथि, नभ्य, सवन, पुत्र
और दसवीं ज्योतिष्मात् नामक हुए । प्रियव्रत के सभी पुत्र अपने वन और
पराक्रम से विख्यात थे ॥७-८॥

मेघाग्निबाहुपुत्रास्तु त्रयो योगपरायणाः ।
जातिन्मरा महानागा न राज्याय मनो दधुः ॥९॥
निर्मलाः सर्वकासन्तु समस्तार्थेषु वं मुने ।
चक्रुः क्रियां यथान्यायमफलाकाङ्क्षिणो हिते ॥१०॥
प्रियव्रतो ददौ तेषां सप्तानां मुनिसत्तम ।
सप्तद्वीपानि भैश्वमे विभज्य सुमहात्मनाम् ॥११॥
जम्बूद्वीपं महानाग आग्नीध्राय ददौ पिता ।
मेघातिथेऽप्यया प्रादात्पल्लवद्वीपं तयापरम् ॥१२॥
धात्मले च वसुधामन्त नरेन्द्रमभिषिक्तवान् ।
ज्योतिष्मन्तं कुशद्वीपे राजानं कृतवान्मनुः ॥१३॥
शुक्तिमन्तं राजानं क्रौञ्चद्वीपे समादिसन् ।
पाण्डुद्वीपेऽथैव चापि भव्यं चक्रुः प्रियव्रतः ॥१४॥

उनमें मेघा, धन्विबाहु और पुत्र नामक तीन पुत्र ही योग पराए
और पूर्व जन्म का हास जानने वाले हुए, वे राज्यादि भोगों में बिरक्त रहे ॥९॥
क्योंकि निर्मल चित्त और कर्मफल की कामना से परे होने के कारण जब
विषयों में सर्वत्र न्यायानुसृत रहने से ॥१०॥ हे मुनि सत्तम ! राजा प्रियव्रत
ने इनके प्रतिरिक्त देव सात पुत्रों की सात द्वीप दिये ॥११॥ आग्नीध्र की
जम्बूद्वीप तथा मेघातिथि की पल्लव नाम द्वीप प्रदान किया ॥१२॥ वसुधामा
को नाम्यव द्वीप और ज्योतिष्मान् को कुश द्वीप का अधिपति बनाया ॥१३॥

द्युतिमान् को क्रीच द्वीप और भव्य को घाक द्वीप वा राजा नियुक्त किया ॥१४॥

पुष्कराधिपति चक्रं सवनं च पि स प्रभु ।
जम्बूद्वीपेश्वरो यस्तु आग्नीध्रो मुनिसत्तम ॥१५॥
तस्य पुत्रा बभूवुस्ते प्रजापतिसमा नव ।
नाभि किम्पुषश्चैव हरिर्गर्ग इलावृत् ॥१६॥
रम्यो हिरण्यवान्पृष्ठश्च कुरुभद्राश्च एव च ।
केतुमालेस्तथवान्य साधुचेष्टोऽभवन्पुत्रः ॥१७॥
जम्बूद्वीपविभागाश्च तेषां विप्र निशामय ।
पित्रा दत्त हिमाह्वं तु वर्षं नाभेस्तु दक्षिणाम् ॥१८॥
हेमकूट तथा वर्षं ददौ किम्पुरुषाय सः ।
तृतीय नैपथ्य वर्षं हरिवर्षाय दत्तवान् ॥१९॥
इलावृताय प्रददौ मेरुर्गर्ग तु मध्यम ।
नीलाचलाश्रित वर्षं रम्याय प्रददौ पिता ॥२०॥
श्वेत तदुत्तर वर्षं पित्रा दत्ता हिरण्वते ।
यदुत्तर शृङ्गवतो वर्षं तत्कुरवे ददौ ॥२१॥
मेरो पूर्वैण तद्वर्षं भद्राश्वाय प्रदत्तवान् ।
गन्धमादनवर्षं तु केतुमालाय दत्तवान् ॥२२॥

सवन को पुष्कर द्वीप का राजा बनाया । इनमें जम्बू द्वीप के राजा आग्नीध्र के प्रजापति तुन्य भी पुत्र हुए । उनके नाम नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत्त रम्य, हिरण्यवान्, कुरु, भद्राश्व और सत्कर्मा राजा केतुमाल थे ॥१५-१७॥ हे ब्रह्मन् ! अब जम्बू द्वीप के जो विभाग हुए, उन्हें सुनो—आग्नीध्र ने दक्षिण की ओर वा हिमवर्ष नाभि को प्रदान किया ॥१८॥ किम्पुरुष को हेमकूट वर्ष और हरिवर्ष को नैपथ्यवर्ष दिया ॥१९॥ मध्य में मेरुपर्वत युक्त इलावृत्तवर्ष इलावृत्त को तथा नीलाचल का समीपस्थ वर्ष रम्य को दिया ॥२०॥ उसका उत्तर वर्षी श्वेत वर्ष हिरण्यवान् को और शृङ्गवान् पर्वत के उत्तर वाला

वर्ष कुर को दिया ॥२१॥ मेर के पूर्व वाला वर्ष मद्राक्ष को और गवपादन
वर्ष केतुमाल को प्रदान किया ॥२२॥

इत्यतानि ददौ तेभ्य पुत्रेभ्य स नरेश्वरः ।
वर्षेष्वेतेषु तान्पुत्रानभिपिच्य स भूमिप ॥२३॥
शालग्राम महापुण्य मंत्रेय तपसे यमी ।
यानि किम्पुरुषादीनि वर्षारियष्टो महामुने ॥२४॥
तेषा स्वभाविकी सिद्धि सुवप्राया ह्यग्रन्त ।
विपर्ययो न तेष्वास्ति जरानृत्युमय न च ॥२५॥
धमविमौ न तेष्वास्ता नोत्तमाधममध्यमाः ।
न तेष्वास्ति युगाध्या स्रेष्ठेष्वष्टसु सर्वदा ॥२६॥
हिमाह्वय तु वै वर्ष नाभेरासीन्महात्मनः ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुनो मेरुदेव्या महाद्युनि ॥२७॥
ऋषभाद्वरतो जज्ञे ज्येष्ठ पुष्यतस्य च ।
कृत्वा राज्य स्वधर्मेण तयेष्टा विधिधान्मवान् ॥२८॥
अभिपिच्य सुत धीर भरत पृथिवीपति ।
तपसे स महाभागः पुलहस्याश्रम ययौ ॥२९॥

हे मंत्रेयजी ! राजा भ्रातृपुत्र ने अपने पुत्रों को इस प्रकार इन वर्षों
का राज्य दिया स्वयं तप करने के लिये शालग्राम नामक अत्यन्त पवित्र क्षेत्र
को चले गये । किम्पुरुषादि जो आठ वर्ष हैं, उनमें मृत्यु की इतनी अधिकता है
कि बिना किसी प्रकार का यत्न किये, स्वभाव से ही सब भोग-सिद्धि की
प्राप्ति होती है । उनमें किसी प्रकार के विपर्यय अथवा वृद्धावस्था या मृत्यु
आदि का डर उपस्थित नहीं होता ॥२३-२५॥ वहाँ धर्म, अधर्म, ज्येष्ठ, मध्यम
या अधम का भी भेद नहीं है तथा उनमें कभी युग-परिवर्तनादि भी नहीं होता
॥२६॥ महात्मा नामि द्विष नामक वर्ष के स्वामी थे, उनकी पत्नी मेरुदेवी
से अत्यन्त वान्छित वाला ऋषभ नामक एक पुत्र हुआ ॥२७॥ ऋषभ के सौ
पुत्र हुए, जिसमें गतः, अयस्, च्ये, ये, पुरुष, नाम, सत्य, मृत्यु, देव, धर्म, पूर्व, राज्य,

धलाते हुए घनेक यज्ञो के अनुष्ठान करके अन्त में भरत को राज्य देकर तब करने के लिये पुलहाश्रम को गये ॥२८-२९॥

वानप्रस्थविधानेन तत्राणि कृतनिश्चयः ।
 तपस्तेषु यथान्यायमियाज स महोपतिः ॥३०॥
 तपसा कर्पितोऽत्यर्थं कृशो धमनिसम्पतः ।
 नाम्नी वीटा मुष्टे कृत्वा वीराध्वान ततो गतः ॥३१॥
 ततश्च भारत वर्षमेतत्सलोवेपु गीयते ।
 भरताय यतः पित्रा दत्तं प्रातिष्ठता वनम् ॥३२॥
 सुमतिर्भरतस्याभूत्पुत्रः परमधार्मिकः ।
 कृत्वा सम्यग्ददौ तस्मै राज्यमिष्टमखः पिता ॥३३॥
 पुत्रसङ्क्रामितश्चीस्तु भरतः स महोपतिः ।
 योगाम्यासरतः प्राणान्शालग्रामेऽत्यजन्मुने ॥३४॥
 अजायत च विप्रोऽसौ योगिना प्रवरे कुले ।
 मंत्रेय तस्य चरितं कथयिष्यामि ते पुनः ॥३५॥

पुलहाश्रम में रहकर ऋषभदेव ने वानप्रस्थ पालनपूर्वक हठ तपस्या और यज्ञो के अनुष्ठान किये ॥३०॥ वे घोर तप के कारण अत्यन्त मूख गये और उनकी रक्त बाहिनी नादियाँ स्पष्ट दिखाई देने लगीं । अन्त में तपनावस्था में अपने मुख में पत्थर की एक बटिका रख कर जीवन त्याग दिया ॥३०-३१॥ ऋषभदेव ने वनगमन करते समय अपना राज्य भरत को दिया, तभी से यह हिमवर्ष भारतवर्ष कहा जाने लगा ॥३२॥ राजा भरत के सुमति नामक एक अत्यन्त धार्मिक पुत्र हुआ । उन्होंने यज्ञो केन करते हुए जब अनुष्ठा तक इच्छा रही, राज्य, सुख भोग और फिर अपने पुत्र सुमति को राज्य दे दिया ॥३३॥ हे मुने ! राजा भरत अपने पुत्र को राज्य देकर योगाम्यास-वरायण हुए और अन्त में उन्होंने शालग्राम क्षेत्र में अपने प्राण त्याग दिये ॥३४॥ पहले जन्म में यह योगियों के पवित्र कुल में उत्पन्न हुए । हे मंत्रेयजी ! इनके उस चरित्र को तुम्हें फिर सुनाऊँगा ॥३५॥

सुमतेस्तेजसस्तस्मादिन्द्रद्युम्नो व्यजायत ।
 परमेष्ठी ततस्तस्मात्प्रतिहारस्तदन्वयः । ३६।
 प्रतिहर्तेति विख्यात उत्पन्नस्तस्य चात्मजः ।
 भवस्तस्मादयोदयोगः प्रस्तावस्तत्पुत्रो विभुः । ३७।
 पृथुस्ततस्ततो नत्तो नत्तस्यापि गयः सुतः ।
 तरो गयस्य तनयस्तत्पुत्रोऽनूद्विषद् ततः । ३८।
 तस्य पुत्रो महावीर्यो यीमांस्तस्मादजायत ।
 महान्तस्तत्पुत्रश्चाभून्मनस्युस्तस्य चात्मजः । ३९।
 त्वष्टा त्वष्टुश्च विरजो रजस्तस्याप्यभूत्पुतः ।
 द्वात्रिंशजसस्तस्य जज्ञे पुत्रदत्तं मुने । ४०।
 विष्वग्ज्योतिः प्रधानास्तो यैरिमा वद्विताः प्रजाः ।
 तैरिदं भारतं वर्षं नवभेदमलङ्कृतम् । ४१।
 तेषां वंशप्रसूतंश्च मुक्तेयं भारतो पुरा ।
 इत्तत्रेतादिसर्गेण युगाद्यामेकसप्ततिम् । ४२।
 एष स्वायम्भुवः सर्गो येनेद पूरित जगत् ।
 वाराहे तु मुने कल्पे पूर्वमन्वन्तराधिपः । ४३।

मनु का यही वश है, जिसने उस समय सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर लिया था ॥४३॥

दूसरा अध्याय

कथितो भवता ब्रह्मन्सर्गं स्वायम्भुवश्च मे ।
 श्रोतुमिच्छाम्यहं त्वत्तत् सक्तमण्डलभुवः ॥१॥
 यावन्तः सागरा द्वीपास्तथा वर्षाणि पर्वताः ।
 वनानि सरितः पुन्यो देवादीनां तथा मुने ॥२॥
 यत्प्रमाणमिदं सर्वं यथाधारं यदात्मकम् ।
 सस्थानमस्य च मुने यथाबद्धं महंसि ॥३॥
 मैत्रेय व्यूयतामेतत्सङ्क्षेपाद्गदतो मम ।
 नास्य वर्षशतेनापि वक्तुं शक्यो हि विस्तरः ॥४॥
 जम्बूप्लक्षाह्वयो द्वीपो शात्मलश्चापरो द्विजः ।
 कुशः कौश्वस्तथा शाकः पुष्करश्चैव सप्तमः ॥५॥
 एते द्वीपाः समुद्रं स्तु सप्त सप्तभिरावृताः ।
 लवणैश्च सुगन्धिभिश्च दुग्धजलैः समम् ॥६॥

श्री मैत्रेयजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपने स्वायम्भुव मनु के वश का वृत्तान्त मुझमें बहा है । अब मुझे भूमण्डल का विवरण सुनने की इच्छा है ॥१॥ हे मुने ! सागर, द्वीप, वर्ष, पर्वत, वन, नदियाँ, देवादि भी पुष्टियाँ आदि जो भी हैं, उनका परिमाण, आधार, उपादान, आधार आदि का यथावत् वर्णन करिये ॥२-३॥ श्री पराशर जी ने कहा—हे मैत्रेयजी ! इन सबको मैं सक्षेप में बड़े देवा है, क्योंकि इनका पूरा वर्णन तो तो वर्ष में भी पूर्ण नहीं होगा ॥४॥ हे द्विज ! जम्बू, प्लक्ष, शात्मल, कुश, शौच, शाक और पुष्कर यह सातों द्वीप सब ओर से सारो जल, ईश-रत्न, यदिः, पी, दही, दूध और मीठे जल के साथ समुद्रों से घिर हुए हैं ॥५-६॥

जम्बूद्वीपः समस्तानामेतेषां मध्यसंस्थितः ।
 तस्यापि मेरुर्मेरुय मध्ये कनकपर्वतः ॥७॥
 चतुराशीतिसाहस्रो योजनैरस्य चोच्छ्रयः ।
 प्रविष्टः षोडशाधस्ताद्द्वात्रिंशन्मूर्ध्नि विस्तृतः ॥८॥
 मूले षोडशसाहस्रो विस्तारस्तस्य सर्वशः ।
 भूपचस्यास्य दालोऽसौ कर्णिकाकारसंस्थितः ॥९॥
 हिमवान्हेमकूटश्च निपथश्चास्य दक्षिणे ।
 नोत्तः श्वेतश्च शृङ्गो च उत्तरे वपंपर्वताः ॥१०॥
 लक्षप्रमाणा द्वी मर्ष्या दशहोनास्तथापरे ।
 सहस्रद्वितयोच्छ्रयास्तावद्विस्तारिणश्च ते ॥११॥
 भारतं प्रथमं वर्षं ततः किम्पूरुपं स्मृतम् ।
 हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोदंक्षिणतो द्विज ॥१२॥
 रम्यकं चोत्तरं वर्षं तस्यैवानु हिरण्यमम् ।
 उत्तराः कुरवश्चैव यथा वै भारतं तथा ॥१३॥

हे मंत्रपति ! जम्बूद्वीप सब द्वीपों के मध्य में है और उसके ठीक मध्य में मेरु पर्वत है ॥७॥ यह पर्वत चौरासी हजार योजन ऊँचा तथा सोलह हजार योजन पृथ्वी में भँसा हुआ है । इसका ऊपरी विस्तार दक्षिण हजार योजन है ॥८॥ उसका मूमि पर विस्तार सोलह हजार योजन है । इस प्रकार यह पर्वत इस पृथ्वी रथी कमल की कणिका तुल्य समझी ॥९॥ इसके दक्षिण में हिमवान्, हेमकूट और निपथ, उत्तर में नील, दक्षत और शृंगी नामक वर्ष पर्वत हैं ॥१०॥ उनके मध्य के दो पर्वत एक एक लाख योजन विस्तार वाले हैं, उनसे दूसरे-दूसरे पर्वत दस-दस हजार योजन कम हैं वे सभी दो-दो हजार योजन ऊँचे तथा उत्तरे ही विस्तृत हैं ॥११॥ मेरु पर्वत के दक्षिण ओर प्रथम भारत, द्वितीय किम्पूरुप और तृतीय हरि नामक वर्ष हैं ॥१२॥ उत्तर में क्रमशः रम्यक, हिरण्यमम् और उत्तर कुरु हैं, जो भारतवर्ष के समान ही हैं ॥१३॥

नवसाहसमेकैकमेतेषां द्विजसत्तम ।
 इलावृत च तन्मध्ये सौवर्णो मेरुश्छिन्नः ॥१४॥
 मेरोश्चतुर्दिश तत्तु नवसाहसविस्तृतम् ।
 इलावृत महाभाग चत्वारश्चात्र पर्वताः ॥१५॥
 विष्कम्भा रचिता मेरोर्योजनायुतमुच्छ्रिताः ।
 पूर्वेषा मन्दरो नाम दक्षिणे गन्धमादन' ॥१६॥
 विपुलः पश्चिमे पाद्वे सुपाद्वश्चोत्तरे स्मृतः ।
 कदम्बस्तेषु जम्बुश्च पिप्पलो वट एव च ॥१७॥
 एकादशशतायामाः पादया गिरिकेतवः ।
 जम्बूद्वीपस्य सा जम्बूनामहेतुर्महामुने ॥१८॥
 महागजप्रमाणानि जम्बवास्तस्या फलानि वै ।
 पतन्ति भूभृतः पृष्ठे क्षीर्यमाणानि सर्वतः ॥१९॥
 रसेन तेषां प्रख्याता तत्र जाम्बूनदीति वै ।
 सरित्प्रवर्तते चापि पीयते तन्निवामिभिः ॥२०॥

हे द्विजवर ! इनमें से प्रत्येक नौ-नौ हजार योजन विस्तार वाला है, इन सब के मध्य में इलावृत वर्ष है, जिसमें स्वर्णमय सुमेरु पर्वत स्थित है ॥१४॥ यह इलावृत वर्ष सुमेरु के सब ओर नौ नौ हजार योजन तक विस्तृत है, इसके चारों ओर चार पर्वत स्थित हैं ॥१५॥ यह चारों पर्वत सुमेरु को घारण करने वाली कीनियाँ- सी प्रतीत होती हैं । इनमें से मँदरावल पूर्व में, गन्धमादन दक्षिण में, विपुल पश्चिम में और सुपाद्व उत्तर में है । इनकी ऊँचाई दस हजार योजन है । इन पर ग्यारह ग्यारह सौ योजन ऊँचे कदम्ब, जामुन, पीपल और वट के वृक्ष ध्वजाओं के समान खड़े हैं । इनमें जामुन के वृक्ष से जम्बूद्वीप नाम पड़ा ॥१६-१८॥ उसके फल गजराज के समान महान होते हैं और जब वे पर्वत पर गिरते हैं तो फट कर सर्वत्र फैल जाते हैं ॥१९॥ उनके रस के एकत्र होने से जम्बु नाम की प्रसिद्ध नदी प्रवाहित होती है, वहाँ के निवासी उसी नदी का जल पीते हैं ॥२०॥

न स्वेदो न च दीर्घमध्य न जरा नेन्द्रियक्षयः ।
 तत्पानात्स्वच्छमनसा जनानां तत्र जायते ॥२१॥
 तीरमृतद्रुस प्राप्य सुखवायु विशोषिता ।
 जाम्बूनदार्यं भवति सुवर्णं सिद्धभूषणम् ॥२२॥
 भद्राश्व पूर्वतो मेरोः केतुमालं च पश्चिमे ।
 वर्षे द्वे तु मुनिश्रेष्ठ तयोर्भ्यमिलावृतः ॥२३॥
 वनं चैत्ररथ पूर्वं दक्षिणे गन्धमादनम् ।
 वैभ्राजं पश्चिमे तद्वदुत्तरे नन्दनं स्मृतम् ॥२४॥
 धरणीदं महामद्रमसितोद समानसम् ।
 सरास्येतानि चत्वारि देवभोग्यानि सर्वदा ॥२५॥
 शीतरन्मश्रु बुमुन्वश्च कुरुरी मात्यवास्तथा ।
 वैष्णवमुक्ता मेरोः पूर्वतः केसरचलाः ॥२६॥
 त्रिकूटः शिशिरश्चैव पतङ्गो रुचकस्तथा ।
 निपदाद्या दक्षिणतस्तस्य केसरपर्वताः ॥२७॥

उस जन के पीने से वहाँ के शुद्ध पित्त वाले मनुष्यों में स्वेद, दुर्गन्ध, वृद्धापस्था अपवा इन्द्रियक्षय नहीं होता ॥२१॥ उस नवी के तट की मिट्टी उस रस से मिल कर जब वायु से शुष्क हो जाती है, तब वह जाम्बूनद नामक स्थल हो जाती है, जिसे सिद्ध पुष्प धारण करते हैं ॥२२॥ मुमेद के पूर्व में भद्राश्व वर्ष और पश्चिम में केतुमाल वर्ष है, इन दोनों के मध्य में इनावृत नामक वर्ष स्थित है ॥२३॥ इसी प्रकार उसने पूर्व में चैत्ररथ, दक्षिण में गन्धमादन पश्चिम में वैभ्राज और उत्तर में नन्दनवानन है ॥२४॥ देवताओं द्वारा सर्वदेवसेवनीय, धरणीद, महामद्र, मसितोद और मानस नाम के चार शरोवर भी यहाँ स्थित हैं ॥२५॥ हे मनेयजी ! शीताम्ब, बुमुन्व, कुरुरी, मात्यवान् और वैष्णवादि पर्वत मेरु के पूर्व में केसरचल है ॥२६॥ त्रिकूट, शिशिर, पतङ्ग, रुचक, और निपाद नामक केसरचल उसने दक्षिण में हैं ॥२७॥

शिशिरवासाः सर्वहर्म्यः कपिलो गन्धमादन ।

जराधिप्रमुखास्तद्वत्पश्चिमे वैमराधताः ॥२८॥

मेरोरनन्तराङ्गेषु जठरादिष्ववस्थिताः ।
 शङ्खकूटोऽथ ऋषभो हसो नागस्तथापरः ।
 कालझाद्याश्च तथा उत्तरे वसराचला ॥२६॥
 चतुर्दशसहस्राणि योजनाना महापुरी ।
 मेरोरुपरि मंत्रेय ब्रह्माण प्रथिता दिवि ॥३०॥
 तस्यास्समन्ततश्चाष्टौ दिशासु विदिशासु च ।
 इन्द्रादिलोकपालानां प्रख्याताः प्रवरा पुर ॥३१॥
 विष्णुपादविनिष्क्रान्ता प्लावयित्वेन्दुमण्डलम् ।
 समन्ताद् ब्रह्माणः पुर्या गङ्गा पतति वै दिवः ॥३२॥
 सा तत्र पतिता दिक्षु चतुर्धा प्रतिपद्यते ।
 सीता चालकनन्दा च चक्षुर्भद्रा च वै क्रमान् ॥३३॥
 पूर्वेण शैलात्सीता तु शैलं यात्यन्तरिक्षगा ।
 ततश्च पूर्ववर्षेण भद्राश्वेनैति सायां वम् ॥३४॥
 तथैवालकनन्दापि दक्षिणेनेत्य भारतम् ।
 प्रयाति सागरं भूत्वा सप्तभेदा महामुने ॥३५॥

सुमेरु के पश्चिम में शिखिवासा, बँडूयं, कपिल, गन्धमादन, और
 जाहनि भावि वसराचल हैं ॥२६॥ मेरु के निषादवर्ती इलानृत वर्ष में और
 जठरादि देशों में स्थित शङ्खकूट, ऋषभ, हस, नाग और कालजादि पर्वत
 उत्तर के केसराचल हैं ॥२६॥ हे मंत्रेयजी ! उसी सुमेरु के ऊपर अन्तरिक्ष में
 ब्रह्माजी की महापुरी है, जिसका विस्तार चौदह हजार योजन है ॥३०॥ उसके
 सब ओर इन्द्रादि लोकपालों के अत्यन्त रमणीक और प्रसिद्ध नगर दिशा विदि-
 शाओं में स्थित हैं ॥३१॥ विष्णु भगवान् के चरणों से उद्भूत हुइ गंगाजी चन्द्र-
 मण्डल को सब ओर से आग्लावित करती हुई स्वर्ग से ब्रह्मपुरी में गिरती है
 ॥३२॥ वहाँ गिर कर वह चार भागों में विभक्त होती हुई सीता, अलकनन्दा,
 चक्षु और भद्रा नाम ॥ चारों दिशाओं में प्रवाहित होती हैं ॥३३॥ उनमें से
 सीता नदी पूर्वीय भागों के मार्ग से एक पर्वत से दूसरे पर्वत को पार करती हुई
 समुद्र में जाकर मिल जाती है ॥३४॥ अलकनन्दा दक्षिण की ओर भारतवर्ष

में आकर सात भागों में विभक्त होती हुई समुद्र में मिलती है ॥३५॥

चक्षुश्च पश्चिमगिरीनतीत्य सकलास्ततः ।

पश्चिमं केतुमालास्थं वर्षं गत्वंति सागरम् ॥३६॥

भद्रा तयोत्तरगिरीनुत्तराश्च तथा कुरुम् ।

अतीत्योत्तरमम्भोधिं समभ्येति महामुने ॥३७॥

ग्रानीलनिपघायामौ माल्यवन्दगन्धमादनी ।

तयोर्मध्यगतो मेरुः कर्णिकाकारसंस्थितः ॥३८॥

भारताः केतुमालाश्च भद्राश्चाः कुरवस्तथा ।

पश्चाणि लोकपद्मस्य मर्यादाजलवाह्यतः ॥३९॥

जठरो देवकूटश्च मर्यादापर्वतावुभौ ।

तौ दक्षिणोत्तरायामावानीपघायतौ ॥४०॥

पश्चिम दिशा के पर्वतों को पार करती हुई चक्षु केतुमाल वर्ष में प्रवाहित होती हुई समुद्र में मिल जाती है ॥३६॥ हे महामुने ! उत्तर के पर्वतों को पार करके भद्रा उत्तर कुरु वर्ष में बहती हुई समुद्र में जा गिरती है ॥३७॥ माल्यवाद् और गन्धमादन पर्वत उत्तर और दक्षिण की ओर नील तथा निपघ पर्वत गत कहे हैं, उन दोनों के मध्य में मणिर्कणिका के आकार में मेरुपर्वतलक्ष है ॥३८॥ हे मन्नेवजी ! मर्यादा पर्वतों के बाहरी भाग में भारत, केतुमाल, भद्राश्च और कुरु नामक वर्ष लोक इषी कमल के पत्तों के समान लगते हैं ॥३९॥ जठर और देवकूट—यह दोनों मर्यादा पर्वत बहे गये हैं, यह उत्तर और दक्षिण में नीलाबल और निपघपर्वत तक फैले हैं ॥४०॥

गन्धमादनकलासी पूर्वपश्चायतावुभौ ।

अशीतिमोजनायामावर्णं वान्तव्यवस्थितौ ॥४१॥

निपघः पारियात्रश्च मर्यादापर्वतावुभौ ।

मेरोः पश्चिमदिग्भागे यथा पूर्वे तथा स्थितौ ॥४२॥

त्रिशुङ्गो जाह्नविर्धैव उत्तरो वर्षपर्वतौ ।

पूर्वपश्चायतावेतावर्णं वान्तव्यवस्थितौ ॥४३॥

इत्येते मुनिर्योक्ता मर्यादापर्वतास्तव ।

जठराद्याः स्थिता मेरोस्तेषां द्वौ द्वौ चतुर्दिशम् ॥४४॥

मेरोश्चतुर्दिश ये तु प्रोक्ताः केसरपर्वताः ।
 शीतान्ताद्या मुने तेषामतोव हि मनोरमाः ॥४५॥
 शैलानामन्तरे द्रोण्यः सिद्धचारणसेविता ।
 सुरम्याणि तथा तामु काननानि पुराणि च ॥४६॥
 लक्ष्मीविष्णवभिः सूर्यादिवाना मुनिसत्तम ।
 तास्वायतनवर्षाणि जुष्टानि वरकिन्नरैः ॥४७॥
 गन्धर्वयक्षरक्षासि तथा दैत्यदानवा ।
 क्रीडन्ति तामु रम्यासु शैलद्राणीष्यहर्निशम् ॥४८॥
 भौमा ह्येते स्मृताः स्वर्गा धर्मिणामाचया मुने ।
 नैतेषु पापकर्माणो यान्ति जन्मशतरपि ॥४९॥

पूर्व और पश्चिम की ओर जो गघमादन पार कैलास हैं, उनका विस्तार अस्सी योजन है और यह समुद्र के भीतर स्थित है ॥४१॥ पूर्व के समान ही मेरु के पश्चिम में भी निषध और परिधान नामक दो मर्यादा पर्वत हैं ॥४२॥ उत्तर में त्रिशूंग और जाह्नवि नाम के दो वर्षपर्वत हैं और यह दोनों ही पूर्व और पश्चिम के समुद्र-गर्भ में स्थित हैं ॥४३॥ इस प्रकार हे मुनिश्रेष्ठ ! तुम्हारे प्रति जठरादि मर्यादा पर्वतों के विषय में कहा गया, जिनमें से दो-दो पर्वत मेरु की चारों दिशाओं में स्थित हैं ॥४४॥ हे मुने ! मेरु के चारों ओर स्थित जिन विसराचलो के विषय में तुमसे कहा गया, उनके मध्य सिद्ध-चारण आदि द्वारा सेवन की गई प्रति रम्य कन्दराएँ हैं, उनमें सुरम्य उपवन तथा नगर तक बसे हुए हैं ॥४५-४६॥ तथा लक्ष्मी विष्णु, अग्नि, सूर्यादि देवताओं के प्रति सुन्दर मन्दिर हैं, जो सदा किन्नरों द्वारा पूजित होते हैं ॥४७॥ उन अत्यन्त सुन्दर गिरि-गुफाओं में गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और दैत्य-दानव आदि दिन-रात क्रीड़ा करते रहते हैं ॥४८॥ हे मुनि इन सब स्थानों को पृथिवी का स्वर्ग कहा गया है, इनमें धार्मिक पुरुष रहते हैं, पाप करने वाले तो यहाँ से भी नहीं पड़ेंगे राखते ॥४९॥

भद्राश्वे भगवान्विष्णुपुरास्ते ह्यशिरा द्विज ।

वराहः केतुमाले तु भारते कूर्मरूपधृक् ॥५०॥

मत्स्वरूपश्च गोविन्दः कुरुष्वस्ते जनादेनः ।
 विश्रम्पेण सर्वं च सर्वेः सर्वत्रगो हरिः ॥११॥
 सर्वस्याधारभूतोऽमो भर्त्रेयास्तेऽखिलात्मकः ॥१२॥
 यानि किम्बुस्थादीनि वर्पाण्यष्टौ महामुने ।
 न तेषु शोको नायासो नोद्वेगः शुद्ध्यादिकम् ॥१३॥
 स्वस्याः प्रजा निरातङ्गास्सर्वदुः सखिवर्जिताः ।
 दशद्विंशवर्पाणां सहस्राणि स्थिरायुषः ॥१४॥
 न तेषु वर्पंते देवो भौमान्यम्भासि तेषु वं ।
 कृतत्रेतादिकं न च तेषु स्थानेषु कल्पना ॥१५॥
 सर्वेष्वेतेषु वर्पेषु सप्त सप्त कुलाचलाः ।
 नद्यश्च दातशस्तेभ्यः प्रभूता या द्विजोत्तमा ॥१६॥

हे द्विज ! भद्राश्च वर्षं मे ह्यधीव रूपं मे, केतुमाल वर्षं मे
 वराह रूपं मे श्रीर नारद वर्षं मे कूर्म रूपं मे भगवान् विष्णु का निवास रहता
 है ॥१०॥ और वे भक्तो का पालन करने वाले भगवान् कुरुवर्षं मे मत्स्व रूप
 से रहते हैं । इस प्रकार वे सर्वात्मक एवं सर्वगत श्री हरि विश्व रूप से सर्वत्र
 निवास करते हैं ॥११॥ हे भर्त्रेयजी ! वे भगवान् विष्णु सब प्राणियों के
 आधारभूत तथा सर्वं अधीव मय हैं ॥१२॥ किम्बुस्थादि ओ घ्रात वर्षं हैं उनमें
 शोक, श्रम, उद्वेग एवं शुद्धादि का किंचित् भय नहीं होता ॥१३॥ वहाँ की प्रजा
 स्वल्प, निरातङ्ग सताप रहित होती है, वहाँ सब की आयु दम-आरह हजार
 वर्षों से कम नहीं होती ॥१४॥ उनमें वर्षा न होकर पाण्डित्य उत्पन्न ही बहुत
 होता है, तथा वहाँ सत्यगुणादि की कल्पना भी नहीं की जानी ॥१५॥ हे द्विज-
 वर ! इन सभी वर्षों में सप्त-सप्त कुलाचल हैं, जिनमें सैकड़ों नदियाँ उतरती हुई
 हैं ॥१६॥



तीसरा अध्याय

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
 वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ॥१॥
 नवयोजनसाहस्रो विस्तारोऽस्य महामुने ।
 कर्मभूमिरयं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम् ॥२॥
 महेन्द्रो मलय सहा शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
 विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः ॥३॥
 अतः सम्प्राप्यते स्वर्गो मुक्तिमस्मात्प्रयान्ति वै ।
 तिर्यक्तुं नरकं चापि यान्त्यतः पुरुषा मुने ॥४॥
 इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्य चान्तश्च गम्यते ।
 न खल्वभ्यत्र मर्त्यानां कर्म धूमी विधीयते ॥५॥

श्री पराशरजी ने कहा—ॐ मंत्रेयजी ! समुद्र के उत्तर ओर हिमालय के दक्षिण भूभाग के स्थित देश भारतवर्ष कहा गया है । उसमें भरतवशियो का निवास है ॥१॥ हे महामुने ! यह नौ हजार योजन विस्तार वाली स्वर्ग अथवा मोक्ष की कामना करने वाले सत्त्व की कर्म भूमि है ॥२॥ इसमें महेन्द्र, मलय, सहा, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य पारियात्र नामक पर्वत हैं ॥३॥ हे मुने ! भनुष्य को इसी देश में शुभ कर्मों के द्वारा स्वर्ग अथवा मोक्ष मिल सकता है तथा यही से वे नरक या तिर्यग्योनि की प्राप्ति हो सकते हैं ॥४॥ यही से स्वर्ग, मोक्ष अन्तरिक्ष या पातालादि लोकों को पाया जा सकता है । इस देश के प्रतिष्ठित पृथिवी के किसी भी अन्य देश में कर्म का विधान नहीं है ॥५॥

भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान्निशामय ।
 इन्द्रद्वीपः वसेरश्च ताम्रपर्णी गमस्तिमान् ॥६॥
 नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः ।
 अथ तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंबृतः ॥७॥
 योजनानां सहस्रं तु द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरात् ।
 पूर्वं विराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्थिताः ॥८॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये यूद्धाश्च भागशः ।

इज्यायुषवणिज्याद्यैर्वतंजन्तो व्यवस्थिताः ॥६॥

शतद्रूचन्द्रभागाद्या हिमवत्पादनिर्गताः ।

वेदस्मृतिमुखाद्याश्च पारियात्रोद्भवा गुणे ॥७॥

नर्मदा सुरसाद्याश्च नद्यो विन्ध्याद्रिनिर्गताः ।

तापेपयोप्सीनिर्विन्ध्याप्रमुखा ऋषसम्भवाः ॥८॥

गोदावरी नीमरयो कृष्णवेण्यादिकास्तथा ।

सह्यपादोद्भवा नद्यः स्मृताः पापमयापहाः ॥९॥

कृतमाला ताम्रपर्णीप्रमुखा मलयोद्भवाः ।

त्रिसामा चार्यकुल्याद्या महेन्द्रप्रभवाः स्मृताः ॥१०॥

श्रृङ्गिकुल्याकुमाराद्याः शुक्तिमत्पादसम्भवाः ।

प्रासां नद्यपनद्यश्च सन्तश्चान्याश्च सहस्रशः ॥११॥

१॥ इस भारत पर्व के इन्द्रजी, कठे, ताम्रपर्णी, गर्नातमा, नागरी, सोम्य, गरुड और वाहण नाम के आठ विभाग हैं तथा नवीं भाग यह समुद्र से घिरा हुआ द्वीप है ॥६॥ इस द्वीप का विन्दार उत्तर से दक्षिण पर्वत द्वारा घेर रखा है । इसकी पूर्वोप प्रदेश में किराण और पश्चिमीय प्रदेश में वन रहने हैं ॥७॥ यह, शम्भू मयवा प्यारार आदि में अपने-अपने नानाविध तरे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मध्य में निवास करते हैं ॥८॥ इसकी शतद्रू और चन्द्रभागा आदि नदियाँ हिमालय से, वेद और स्मृति आदि पारियात्र पर्वत से, नर्मदा और सुरमादि विन्ध्याचल से और तापी, पयोप्सी एवं निर्विन्ध्यादि शृङ्गानि से निर्गत हुई हैं ॥९-१०॥ गोदावरी, नीमरपी और कृष्णवेणी आदि पार्यों को नष्ट करने वाली नदियाँ सह्य पर्वत से निकली बहाई जाती हैं ॥११॥ कृतमाला और ताम्रपर्णी आदि मनवाचन से, त्रिसामा और चार्यकुल्या आदि महेन्द्र पर्वत से तथा श्रृङ्गिकुल्या और कुमारी आदि नदियों का निवास शुक्तिमात पर्वत से हुआ है । इसकी अन्य हजारों शाखायें नदियों और उपनदियों के रूप में प्रवाहित हैं ॥१२-१३॥

तास्विमे कुरपाञ्चाला मध्यदेशादयो जनाः ।
 पूर्वदेशादि तच्चैव कामरूपनिवासिनः ॥१५॥
 पुण्ड्रा कलिङ्गा मगधा दक्षिणाद्याश्च सर्वशः ।
 तथापरान्ता सौराष्ट्रा क्षूराभीराम्बुदाः ॥१६॥
 कारूपा मालवाश्चैव पारियात्रनिवासिनः ।
 सौवीरा संघवा हूणा साल्वा बोशलदासिनः ।
 माद्रागमास्तथा म्बळ्ठा पारसीकादयस्तथा ॥१७॥
 आसा पिवन्ति सलिल वसन्ति सहिता सदा ।
 समोपतो महाभाग हृष्टपुष्टजनाकुलाः ॥१८॥
 चत्वारि भारते वर्षे युगान्यत्र महामुने ।
 कृत श्रेता द्वापरश्च कलिश्चान्यत्र न क्वचित् ॥१९॥
 तपस्तप्यन्ति मुनयो जुह्वते चान यज्विनः ।
 दानानि चान दीयन्ते परलोकार्यमादरात् ॥२०॥
 पुरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपे सदेज्यते ।
 मर्जयज्ञमयो विष्णुरन्यद्वीपेषु चान्यथा ॥२१॥

इन नदियों के किनारे कुरु, पाञ्चाल और मध्य देशादि के निवासी,
 पूर्व देश और काम रूप में रहने वाले, पुण्ड्र, कलिङ्ग, मगध या दक्षिण के अथवा
 उपरान्त देश के लोग, सौराष्ट्रगण, क्षूर, आभीर, अम्बुदगण, का रूप, मालव पारिया
 पर रहने वाले, सौवीर, संघव, हूण, साल्व और बोशल देश के लोग, माद्र, ग्राम,
 अम्बळ और पारसी निवास करते हैं ॥१५-१७॥ हे महाभाग । यह परस्पर
 मेल से रहते और इन्हीं नदियों का जल पीते हैं, इन नदियों की निकटता से यह
 सदा हृष्ट-पुष्ट रहते हैं ॥१८॥ हे मुने । भारतवर्ष में ही सत्युग, श्रेता, द्वापर
 कलियुग हुआ करते हैं, इन चारों में से कोई भी युग कहीं अन्यत्र नहीं होता
 ॥१९॥ इसी देश में मुनिगण परलोक प्राप्ति के लिये तप करते हैं, याज्ञिकों के
 अनुष्ठान भी इसी लोक में होते हैं तथा यही दानी पुरुष दान करते हैं ॥२०॥
 जम्बूद्वीप में यज्ञमय एव यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु का सदा भजन किया जाता है
 तथा अन्यान्य द्वीपों में उनकी उपासना भी भिन्न भिन्न प्रकार से होती
 है ॥२१॥

अथापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने ।
 यतो हि वर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः ।२२।
 अत्र जन्मसहस्राणा सहस्रैरपि सत्तम ।
 वदाचित्तभक्ते जन्तुर्मानुष्य पुण्यसञ्चयात् ।२३।
 गायन्ति देवाः किल गीतकानि घन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
 स्वर्गापवर्गस्त्रिदशमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषा मुरत्यात् ।२४।
 कर्माण्यसङ्घत्पिततरफलानि सन्यस्य विष्णो परमात्मभूते ।
 अवाप्य ता कर्ममहोभनन्ते तस्मिंस्तलय ये त्यक्त्वाः प्रयान्ति ।२५।
 जानीम नैतत्पथं वयं विलीने

स्वर्गप्रदे कर्मणि देहवन्धम् ।

प्राप्स्याम घन्याः खलु ते मनुष्या
 ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः ।२६।
 तद्यवपं तु मैत्रेय जम्बूद्वीपमिदं मया ।
 लक्षयोजनविस्तारं सङ्क्षेपात्कथितं तव ।२७।
 जम्बूद्वीपं समावृत्य लक्षयोजनविस्तरः ।
 मैत्रेय वलयासारः स्थितः क्षारोदधिर्वहिः ।२८।

ह महामुने ! जम्बूद्वीप में भी यह भारत वर्ष कर्मभूमि होने के कारण श्रेष्ठ है, क्योंकि अग्न्याय्य देश तो भोग भूमि मात्र है ।॥२२॥ हमारे जन्मों की पत्रणा भोग लेने के पश्चात् वही महार् पुण्य फल का उदय हो तो ही इस देश में मनुष्य-देह की प्राप्ति होती है ।॥२३॥ देवता भी यही कहते रहते हैं कि जो स्वर्ग और मोक्ष के मार्गभूत भारतवर्ष में उत्पन्न हुए हैं तथा जिन्होंने इस कर्मभूमि में उत्पन्न होकर फल प्राप्ति की कामना से रहित अपने कर्मों की परमात्म रूप भगवान् विष्णु की अर्पण कर दिया है तथा इसमें मल-रहित होकर घन में उन्ही अनन्त भगवान् में लीन हो जाते हैं, वे मनुष्य हम देवताओं से भी अधिक भाग्यवान् हैं ।॥२४-२५॥ अपने स्वर्ग प्राप्त कराने वाले पुण्य कर्मों के शीघ्र होने पर हम कहाँ जाकर उत्पन्न होंगे, यह हम नहीं जानते । वे मनुष्य अग्न्या हैं, जिन्होंने भारतवर्ष की कृपिणी-रत उत्पन्न होकर अग्निपरी की प्राप्ति की

नही छोड़ा है ॥२६॥ हे मंत्रेयजी ! इस प्रकार मैंने लाख योजन विस्तृत इस जम्बूद्वीप का वरुण सक्षिप्त रूप से किया है ॥२७॥ हे मंत्रेयजी ! यह जम्बू द्वीप बाहर से लाख योजन विस्तार वाले क्षारी जल के बलयाकार समुद्र से घिरा हुआ है ॥२८॥



चौथा अध्याय

क्षारोदेन यथा द्वीपो जम्बूमज्ञोऽभिवेष्टित ।
 सवेष्ट्य क्षारमूर्द्धा प्लक्षद्वीपस्तथा स्थित ॥१॥
 जम्बूद्वीपस्य विस्तार शतसाहस्रसम्मित ।
 स एव द्विगुणो ब्रह्मन् प्लक्षद्वीप उदाहृत ॥२॥
 सप्त मेघातिथे पुत्रा प्लक्षद्वीपेश्वरस्य नै ।
 ज्येष्ठ शान्तहयो न म शिशिरस्तदनन्तर ॥३॥
 सुखोदयस्तथान द शिव क्षेमक एव च ।
 ध्रुवश्च सप्तमस्तेषा प्लक्षद्वीपेश्वरा हि ते ॥४॥
 पूर्वं शान्तहय वर्षं शिशिर च सुख तथा ।
 श्रागन्द च शिव चैव क्षेमक ध्रुवमेव च ॥५॥
 मर्यादाकारकास्तेषा तथान्ये वर्षपवता ।
 सप्तैव तेषा नामानि शृणुष्व मुनिसत्तम ॥६॥
 गामेदश्चैव चन्द्रश्च नारदो दु दुभिस्तथा ।
 सोमक गुमनाश्चैव वैभ्राजश्चैव सप्तम ॥७॥

श्रीपरमेश्वरजी ने कहा—जैसे जम्बूद्वीप क्षारे जन के समुद्र से घिरा हुआ है, वैसे ही उस क्षारे जल वाले समुद्र को प्लक्ष द्वीप ने घेर रखा है ॥१॥ जम्बू द्वीप का विस्तार एक लाख योजन है और प्लक्ष द्वीप का विस्तार उससे दुगुना बतलाते हैं ॥२॥ प्लक्षद्वीपेश्वर मेघातिथि के सात पुत्र हुए थे उनमें ज्येष्ठ पुत्र शान्तहय और उससे छोटा शिशिर हुआ ॥३॥ उन दोनों के पश्चात्

सुखोदय, आनन्द, शिव, क्षेमक और ध्रुव क्रमशः हुए ॥५॥ पृथ्वी शान्तहय वर्ष, रूसरा सिधिर वर्ष, फिर सुखोदय वर्ष, आनन्द वर्ष, शिव वर्ष, क्षेमक वर्ष और ध्रुव वर्ष हुए ॥५॥ उनकी मर्यादा बनाने वाले सात अन्य पर्वत हैं, उनके नाम सोमद, चन्द्र, नारद, दुन्दुभि, सोमक, सुपना और बभ्राज हैं ॥६-७॥

वर्षाचलेषु रम्येषु वर्षेष्वेतेषु ज्ञानवाः ।
वसन्ति देवगन्धर्वसहिताः सततं प्रजाः ॥८॥
तेषु पुण्या जनपदाभिराञ्च भ्रियते जनः ।
नाभयो व्याधयो वापिसर्वकालसुखं हि तन् ॥९॥
तेषां नद्यस्तु सप्तैव वर्षाणां च समुद्रगाः ।
नामसस्ताः प्रवक्ष्यामि श्रुताः पारं हरन्ति याः ॥१०॥
अनुतप्ता शिखी चैव विषाशा त्रिदिवावलमा ।
अमृता सुकृता चैव मप्तेतास्तत्र निम्नगाः ॥११॥
एते शीलास्तथा नद्यः प्रधानाः कथितास्तव ।
क्षद्रवौलास्था नद्यस्तत्र सन्ति सहस्रशः ॥१२॥
ताः पिबन्ति सदा हृष्टा नदीजंनपदान्तु ते ।
अपसर्पिणी न तेषां वै न चैवोत्सर्पिणी द्विज ॥१३॥
न त्वेवास्ति युगावस्था तेषु स्थानेषु सप्तसु ।
भेतायुगसमः कालः सर्वदैव महामते ॥१४॥
एनक्षद्वीपादिषु ग्रहाञ्छाकद्वीपान्तिकेषु वै ।
एव च वर्षासहस्राणि जना जीवन्त्यनामयाः ॥१५॥

इन प्रत्यन्त रमणीय वर्ष पर्वतों तथा वर्षों में देवताओं और गंधर्वों
हेन पाप रहित प्रजा रहती है ॥-॥ वहाँ के रहने वाले पुण्यवान् और विरायु
ने हैं, उन्हें किसी प्रकार के रोमादि में पमित नहीं होना होता वे सदा सुखी
होते हैं ॥९॥ उन वर्षों में सात ही नदियाँ हैं, जो समुद्र में गिरती हैं । मैं
उनके नाम तुमसे कहता हूँ, जिनके सुनने मात्र से ही वे नदियाँ पानी से छुटा
जाती हैं ॥१०॥ अनुतप्ता, शिखी, विषाशा, त्रिदिवा, अवनमा, अमृता और

सुत्रता—यह उन सातों के नाम हैं ॥११॥ प्रमुख प्रमुख नदियों और पर्वतों का मैंने तुमसे यह वर्णन किया है वैसे छोटे-छोटे पर्वत और नदियाँ तो दहाँ हजारों ही होगी ॥१२॥ उस देश के दृष्ट पृष्ठ मनुष्य सर्वत्र उन नदियों का ही जल पीते हैं, इसलिये उनमें ह्यास अथवा वृद्धि का अभाव रहता है ॥१३॥ उन सात वर्षों में युग की भी अवस्था नहीं है । हे ब्रह्मन् ! प्लक्ष द्वीप से शाक द्वीप पर्यन्त छोटे द्वीपों में सर्वत्र भेता युग जैसा समय रहता है । इन द्वीपों के निवासी रोग रहित रहते हुए पाच हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं ॥१४-१५॥

धर्मा पञ्च तथैतेषु वर्णाश्रमविभागश्च ।
 वर्णाश्रम तत्र चत्वारस्ताम्रबोष यदामि ते ।१६।
 आर्यका कुरराश्चैव विदिश्या भाविनश्च ते ।
 विप्रक्षत्रियवैश्यास्ते शूद्राश्च मुनिःतम ।१७।
 जम्बूवृक्षप्रमाणस्तु तन्मध्ये सुमहास्तरु ।
 प्लक्षस्तन्नामसशोऽयं प्लक्षद्वीपो द्विजोत्तम ।१८।
 इज्यते तत्र भगवास्तोर्वर्णैरायकादिभिः ।
 सोमन्पी जगत्स्त्रष्टा सर्वं सर्वेश्वरो हरिः ।१९।
 प्लक्षद्वीपप्रमाणेन प्लक्षद्वीप समावृतः ।
 तथैवैक्षुरसोदेन परिवेपानुकारिणा ।२०।
 इत्येव तत्र मैत्रेय प्लक्षद्वीप उदाहृतः ।
 सङ्क्षेपेण मया भूय शास्त्रमल मे निशामय ।२१।

वर्णाश्रम के विभागानुसार इनमें पाँचों धर्म की विद्यमानता रहती है । अथ यहाँ के चार वर्णों का तुमसे वर्णन करता हूँ ॥१६॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! उस द्वीप में आर्यक, कुरर, विदिश्य और भावी सज्जन जातियाँ हैं, वही क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समझो ॥१७॥ उसी द्वीप में जम्बू वृक्ष के समान ही प्लक्ष का एक वृक्ष है, उसी के नाम पर वह प्लक्षद्वीप कहा गया है ॥१८॥ वहाँ आयक आदि जातियाँ ही जनस्त्रष्टा, सर्वेश्वर, सर्वेश्वर श्रीहरि का धीम रूप से यजन करती हैं ॥१९॥ यह प्लक्ष द्वीप अपने सुलभ परिमाण

के बलयाकार ईश्वरस्य के समुद्र से घिरा है ॥२०॥ हे मंजयेजी ! इस प्रकार मैंने प्लक्षद्वीप का संक्षिप्त वर्णन किया, अब धान्यल द्वीप का वृत्तान्त सुनो ॥२१॥

शात्मलस्येश्वरो वीरो वपुष्मास्तत्सुताञ्छणु ।
 तेषां तु नामसंज्ञानि सप्तवर्षाणि तानि वै ॥२१॥
 श्वेतोऽथ हरितश्चैव जीमूता रोहितस्तथा ।
 वैद्युतो मानसश्चैव सुप्रभश्च महामुने ॥२३॥
 'शात्मलेन समुद्रोऽमौ द्वोपेनेक्षुरसोदक ।
 विस्तारद्विगुणेनाय सर्वतः संवृतः स्थितः ॥२४॥
 तत्रापि पर्वताः सप्त विज्ञेया रत्नयोनयः ।
 वर्षाभिर्व्यस्तका ये तु तथा सप्त च निम्नगाः ॥२५॥
 कुमुदश्चोन्नतश्चैव तृतीयश्च बलाहकः ।
 द्राणो यत्र महीपथ्यः स चतुर्थो महीधरः ॥२६॥
 फल्गुस्तु पञ्चमः षष्ठौ महिषः सप्तमस्तथा ।
 ककुप्थान्पर्वणवर सर्वाधामानि मे शृणु ॥२७॥
 यानिस्तोया वितृण्णा च चन्द्रामुक्ता विमोचनी ।
 निवृत्तिं सप्तमी तासां स्मृतास्ताः पापशान्तिदाः ॥२८॥
 श्वेतश्च हरितश्चैव वैद्युत मानस तथा ।
 जीमूत रोहितश्चैव सुप्रभश्चापि शोभनम् ।
 सप्तानि ते वर्षाणि चातुर्वर्ष्यमुतानि वै ॥२९॥

शात्मल द्वीप के अधिनति वपुष्मान् ये । अब उनके पुत्रों के नाम ब्रवण करो—श्वेत, हरित, जीमूत, वैद्युत, मानस और सुप्रभ यह सात पुत्र ये, इन्हीं के नाम पर उनके सात वर्ष हुए ॥२०-२३॥ यह ईश्वरस्य का समुद्र अपने से द्विगुण विस्तार वाला शात्मल द्वीप से घिरा है ॥२४॥ वहाँ भी रत्नों को उत्पन्न करने वाले सात पर्वत उन सातों धन्य का विभाग करते हैं और सात नदियाँ भी हैं ॥२५॥ पर्वतों में प्रथम कुमुद, द्वितीय उन्नत, तृतीय बलाहक तथा चतुर्थ द्राण है, जिसमें विभिन्न प्रकार की भूधनियाँ उत्पन्न होती हैं ॥२६॥ पंचम

पथंत कंक, पशु महिष एव सप्तम कबुचान है, शब नदियों के नाम सुनो ॥२७॥
वे योनि, तोया, विनृष्णा, चन्द्रा, मुक्ता, विमोचनी घोर त्रिवृत्ति नाम की है
घोर स्मरण करते ही सब पापों का क्षमन करने वाली है ॥२८॥ श्वेत, हरित,
वैद्युत, मानस जीमूत, रोहित और सुप्रभ, उसके यह सात वर्ण चारों मणों
से युक्त हैं ॥२९॥

शात्मते ये तु वर्णाश्च वसन्त्येते महामुने ।
कपिलाश्चारुणाः पीताः कृष्णाश्चैव पृथक् पृथक् ॥३०॥
ग्राह्याः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव यजन्ति तम् ।
भगवन्तं समस्तस्य विष्णुमात्मानमव्ययम् ॥३१॥
वायुभूतं मलभ्रे ष्ठीर्षज्वानो मङ्गरास्थितिम् ।
देवानामत्र सान्निध्यमतीव सुमनोहरे ॥३२॥
शात्मलिः सुमहान्वृक्षो नाम्ना निर्वृत्तिकारकः ।
एष द्वीपः समुद्रेण सुरोदेन समावृतः ॥३३॥
विस्ताराच्छात्मलस्यैव समेन तु समन्ततः ।
सुरोदकः परिवृतः कुञ्जद्वीपेन सर्वतः ॥३४॥
शात्मलस्य तु विस्ताराद् द्विगुणेन समन्ततः ।
ज्योतिष्मतः कुञ्जद्वीपे सप्त पुत्राश्चन्द्रगुण्व ताम् ॥३५॥
उद्भिदो वेणुमादिवैव वैरथो लम्बनो घृतिः ।
प्रभाकरोऽय कपिलस्तन्नामा वर्षपद्धतिः ॥३६॥

हे महामुने ! उस शात्मल द्वीप में कपिल, अरुण, पीत और कृष्ण यह
जातियाँ रहती हैं जो क्रमशः ग्राह्या, क्षत्रिय, वैश्या और शूद्र हैं । यह धर्म
करने वाले ध्येति सर्वाध्या, अव्यय और यज्ञाध्या वायुवृक्ष विष्णु का भेद
योगी ॥ यजन-यजन करते हैं तथा यहाँ देवताओं का सदा निवास रहता है
॥३०-३२॥ इस द्वीप में शात्मल का महान् वृक्ष होगे से ही इस द्वीप का यह
नाम पड़ा है । यह द्वीप अपने जंठे परिमाण वाले मंदिर से समुद्र से घिरा है
तथा मंदिर का यह भग्नुक शात्मल द्वीप से त्रिगुण विस्तार वाले कुञ्ज द्वीप से
चारों ओर से घिरा हुआ है । उस कुञ्ज द्वीप में अग्निपति ज्योतिष्मान् के सात

पुत्र थे, उनके नाम कहता है, सुनो ॥३३-३५॥ उद्दिमद, वेणुपाद्, वैरप, सम्बन, धृति, प्रभाकर और कपिल नामक इन सबपुत्रों के नाम पर ही वही ये वर्षों के नाम पड़ गये ॥३६॥

तन्मिन्वसन्ति मनुजाः सह देतेषदानवैः ।

तत्रैव देवमन्धर्वयक्षकिम्पुष्पादयः ॥३७॥

वरास्तित्रापि चत्वारो निजानुष्ठानतत्पराः ।

दमिन शुष्मिणः स्नेहा मन्देहाश्च महामुने ॥३८॥

प्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या शूद्राश्चानुक्रमोदिता ।

ययोक्तकर्मकर्तृत्वात्स्वाधिकारक्षयाय ते ॥३९॥

तत्रैव स कुशद्वीपे ब्रह्मरूप जनार्दनम् ।

मजन्तः क्षपयन्त्युग्रमधिकारफलप्रबम् ॥४०॥

विद्रुमो हेमशैलश्च द्युतिमान् पुष्पवास्तया ।

कुशेक्षयो हरिश्चैव सप्तमो मन्दराचलः ॥४१॥

वर्षाचलास्तु सप्तैते तत्र द्वीपे महामुने ।

नद्यश्च सप्त तासां तु शृणु नामान्यनुक्रमान् ॥४२॥

धूनपापा क्षिवा चैव पवित्रा सम्मतिस्तया ।

विद्युदम्भा मही खान्या सर्वपापहरास्तिवमाः ॥४३॥

उस द्वीप में ईश्वर-दानकों सहित मनुष्य, देवता, गणक, यक्ष और किन्नर प्रादि रहते हैं ॥३७॥ अपने अपने कर्मों में लगी हुई चार जातियाँ दम्भो, द्युम्भो, स्नेह और मन्देह सप्तक हैं ॥३८॥ जो क्रमशः प्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं । अपने प्रारब्ध की सीख करने के निमित्त शास्त्र सम्मत कर्म करते हुए ब्रह्म रूप जनार्दन की उपासना से अपने प्रारब्ध फल के दाता उस परमेश्वर उग्र महानार को सीख करते हैं ॥३९-४०॥ हे महामुने ! उस द्वीप में सात वर्ष पर्वत हैं, जिनके नाम विद्रुम, हेमशैल, द्युतिमान् पुष्पवान्, कुशेक्षय, हरि और मंदरा-चल हुए । वही सात नदियाँ हैं, उनके भी नाम धवण करो ॥४१-४२॥ धून-पाप, क्षिवा, पवित्रा, सम्मति, विद्युत् अम्भा और मही नाम की यह सातों नदियाँ सब पापों को नष्ट करने वाली हैं ॥४३॥

अग्न्याः सहस्रशस्तत्र क्षुद्रनद्यस्नथाचला ।
 कुशद्वीपे कुशस्तम्ब सङ्गमा तस्य तत्समृतम् ॥४४॥
 तत्प्रमाणेन स द्वीपो घृतोदेन समावृतः ।
 घृतोदश्च समुद्रो वै क्रौञ्चद्वीपेन सवृतः ॥४५॥
 क्रौञ्चद्वीपो महाभाग श्रूयताञ्चागरो महान् ।
 कुशद्वीपस्य विस्ताराद् द्विगुणो यस्य विस्तरः ॥४६॥
 क्रौञ्चद्वीपे द्युतिमतः पुत्रास्तस्य महात्मनः ।
 तन्नामानि च वर्षाणि तेषां चक्रं महोपतिः ॥४७॥
 कुशलो मन्दगङ्गोष्णः पीवरोऽग्न्यान्धकारकः ।
 मुनिश्च दुन्दुभिश्चैव सप्तैते तत्सुता मुने ॥४८॥
 तत्रापि देवगन्धर्वरोचिताः सुमनोहराः ।
 वर्षाचला महाबुद्धे तेषां नामानि मे शृणु ॥४९॥
 क्रौञ्चश्च वामनश्चैव तृतीयश्चान्धकारकः ।
 चतुर्थो रत्नशैलश्च स्वाहिनी हयवक्त्रिणः ॥५०॥
 दिवावृत्पञ्चमश्चात्र तथान्यः पुण्डरीकवान् ।
 दुन्दुभिश्च महाशीलो द्विगुणास्ते परस्परम् ॥५१॥

उस द्वीप में छोटी-छोटी नदियाँ और क्षुद्र पर्वत तो हजारों ही हैं ।

वहाँ कुश का एक महान् भाड़ है, उसी के कारण उसका नाम कुशद्वीप हुआ ॥४४॥ यह अपने ही जैसे पश्चिमाण वाले घृत के समुद्र से सब ओर से घिरा है और वह घी का समुद्र कौंच द्वीप से घिरा हुआ है ॥४५॥ हे महाभाग ! अब इससे आगे के कौंच नामक महाद्वीप के विषय में कहता हूँ, उसे मुनी । वह कुश द्वीप से द्विगुण विस्तार वाला है ॥४६॥ उस कौंच द्वीप में महाराज द्युतिमान् के सात पुत्रों के नाम पर ही उनके वर्ष नियत किये गये ॥४७॥ हे मुने ! कुशल, मन्दग, उष्ण, पीवर, गन्धवारक, मुनि और दुन्दुभि यह उनके नाम थे ॥४८॥ वहाँ भी देवताओं और गंधर्वाँ से सेवित ग्रात वर्ष पर्वत अत्यंत मुरम्य हैं, अब उनके भी नाम मुनी ॥४९॥ उनमें प्रथम कौंच, द्वितीय वामन, तृतीय अन्धकारक, चतुर्थ घोड़ी ने मुख जैसा रत्नमय स्वाहिनी पर्वत, पंचम दिवावृत्, षष्ठ पुण्डरीकवान् और सप्तम दुन्दुभि नामक महापर्वत हैं ॥५०-५१॥

द्वीपा द्वीपेषु ये शैला यथा द्वीपेषु ते तथा ।
 वर्षेभ्यस्तेषु रम्भेषु तथा शैलवरेषु च ।
 निवसन्ति निरातङ्गाः सह देवगणैः प्रजाः ॥१२॥
 पुष्कराः पुष्कला धन्यास्तिष्यास्याश्च महामुने ।
 ब्राह्मणाः सन्ध्या बंश्या शूद्राश्चानुक्रमोदिताः ॥१३॥
 नदीर्मथेय ते तत्र याः पिबन्ति शृणुष्व ताः ।
 समप्रधानाः शतशस्तनान्या क्षुद्रनिम्नगाः ॥१४॥
 गौरी कुमुद्वती चैव सन्ध्या रात्रिमनोजवा ।
 क्षान्तश्च पुण्डरीका च सप्तंता वर्षनिम्नगाः ॥१५॥
 तत्रापि विष्णुर्भगवान्पुष्कराद्यैर्जनादेनः ।
 यामै रुद्रस्वरूपश्च इज्यते यज्ञसंस्थितौ ॥१६॥
 क्रौञ्चद्वीपः समुद्रेण दक्षिमण्डोदकेन च ।
 आवृतः सर्वतः क्रौञ्चद्वीपतुल्येन मानतः ॥१७॥
 दक्षिमण्डोदकश्चापि शाकद्वीपेन सवृतः ।
 क्रौञ्चद्वीपस्य विस्ताराद् द्विगुणेन महामुने ॥१८॥

उन्ही के समान उनके पर्वतो का उत्तरोत्तर बुगुना परिमाण है । इन सभी वर्षों और क्षेत्र पर्वतो में देवताओं के सहित सब प्रजा भय-रहित होकर निवास करती है ॥१२॥ वहाँ के पुष्कर, पुष्कल, धन्य और तिष्य सत्रय वर्षों ही क्रमशः ब्राह्मण, सन्ध्या, बंश्य और शूद्र हैं ॥१३॥ हे मैत्रेयजी ! वहाँ जिन नदियों का जन पिया जाता है, उन नदियों का वर्णन तुमों । उस द्वीप में सात प्रधान नदियाँ और छोटी नदियाँ हैं ॥१४॥ उन भाव वर्ष नदियों के नाम गौरी कुमुद्वती, सन्ध्या, रात्रि, मनोजवा, क्षान्ति तथा पुण्डरीका हैं ॥१५॥ वे पुष्करादि वर्षों वहाँ रुद्र रूपी भगवान् विष्णु का यज्ञादि से पूजन करते हैं ॥१६॥ गृह क्रौञ्च द्वीप चारों ओर से अपने ही बराबर परिमाण के मट्टा के समुद्र से घिरा है ॥१७॥ हे महामुने ! मट्टा का यह समुद्र भी चारों ओर से शाकद्वीप से घिरा है । वह शाकद्वीप क्रौञ्चद्वीप से द्विगुण परिमाण बड़ा है ॥१८॥

शाकद्वीपेश्वरस्यापि भव्यस्य सुमहात्मन ।
 सप्तैव तनयास्तेषा ददौ वर्षाणि सप्त स ॥५६॥
 जलदश्च सुकुमारश्च सुकुमारो मरीचक ।
 कुमुमोदश्च मौदाकि सप्तमश्च महाद्रुम ॥६०॥
 तत्सज्जान्येव तत्रापि सप्त वर्षाण्यनुकृमात् ।
 तत्रापि पर्वता सप्त वर्षविच्छेदकारिण ॥६१॥
 पूवस्तत्रोदयगिरिर्जलाघास्तथापर ।
 तथा रैवतक इयामस्तथवास्नगिरिर्द्विज ॥६२॥
 आम्बिकेयस्तथा रम्य केसरी पवतोत्तम ।
 शाकस्तत्र महावृक्ष सिद्धगन्धर्वसेवित ॥६३॥
 यत्रत्यवातसस्पर्शाद्वाह्लादो जायते पर ।
 तत्र पुण्या जनपदाश्चानुर्वर्ण्यसमन्विता ॥६४॥

शाकद्वीप के जो राजा भव्य थे, उनके भी सात पुत्र हुए थे । उनको भी भलग भलग सात वर्ष दिये गये ॥५६॥ जलद, कुमार, सुकुमार, मरीचक, कुमुमोद, मौदाकि और महाद्रुम उनके नाम थे । उन्हीं के नाम पर उनके वर्ष हुए । उन वर्षों के विभाजक सात ही पर्वत हैं ॥६०-६१॥ हे द्विज ! उनमें पहला पर्वत उदयाचल दूसरा जलाधार और इसी प्रकार रैवतक, इयाम, पस्ता-पल, आम्बिकेय, तथा सातवाँ केसरी है । वहाँ सिद्ध-गन्धर्वों से सेवित एक विनाल शाक वृक्ष है ॥६२-६३॥ उसक स्पर्श से आगे वाली वायु भक्ष्यत आह्लाद को उत्पन्न करती है । वहाँ भी चारों बलों से युक्त अत्यन्त पवित्र देश है ॥६४॥

नद्यश्चात्र महापुण्या सर्वपापभयापहा ।
 सुकुमारी कुमारी च नलिनी घेनुका च या ॥६५॥
 दक्षुश्च वेणुका चैव गभस्ती सप्तमी तथा ।
 अग्न्याश्च क्षतशस्तत्र धुद्रनद्यो महामुने ॥६६॥
 महाधरास्तथा सति क्षतशोऽथ सहस्रश ।
 ता पिबन्ति मुदा युक्ता जलदादिषु ये स्थिता ॥६७॥
 यवेषु ते जनपदाः स्वर्गादभ्येत्य मेदिनीम् ।
 भर्भहानिर्न सेष्यस्ति न सङ्घर्षः परस्परम् ॥६८॥

मर्यादाव्युत्क्रमो नापि तेषु देशेषु सममु ।

वज्राश्च मागधाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा ।६६।

वज्रा ब्राह्मसभूयिषा मागधा क्षत्रियास्तथा ।

वैश्यास्तु मानसास्तेषा मूद्रास्तेषा तु मन्दगाः ।७०।

शाकद्वीपे तु तैविष्णुः सूर्यरूपधरो मुने ।

यथाक्ते रिज्यते सम्यक्कमभिनिपतात्मभिः ।७१।

वहाँ सात अत्यंत पुनीत नदियाँ हैं । उनके नाम नुबुमारी, नुबारी, नलिनी, वेनुका, इलु, वेणुका और गनस्ती हैं, वे नदियाँ सब पापों और भयों को नष्ट करती हैं । इन नदियों के प्रतिरिक्त वहाँ अन्य सैकड़ों ही छोटी-छोटी नदियाँ तथा हजारों झुंड पर्वत हैं । स्वर्ग के भोगों का भोग करने के पश्चात् जिन्होंने भूतल पर आकर जलद प्राप्ति वर्षों में जन्म लिया है, वे प्रसन्नता पूर्वक उन नदियों का जल पीते हैं । उन सातों वर्षों में वही भी वर्म का शय, पारस्परिक कलह अथवा मर्यादा का भाव कभी नहीं होता । वहाँ वग, मागध, मानस और मंदग नामक चार वर्ण कमलः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और मूद्र हैं ।६५-७०। हे मुने ! उस शाकद्वीप में शाक-सम्यक् कर्म करने वाले उभ चतुर्वर्ण द्वारा सूर्य कपी भगवान् विष्णु की आराधना की जाती है ।७१।

शाकद्वीपस्तु मैत्रेय क्षीरोदेन समानृत ।

शाकद्वीपप्रमाणेन बलयेनेव वेष्टिन ।७२।

क्षीराब्धिः सर्वतो ब्रह्मन्पुष्कराक्ष्येन वेष्टिनः ।

द्वीपेन शाकद्वीपात् द्विगुणेन समन्ततः ।७३।

पुष्करे सवनस्यापि महावीरोऽभवत्सुतः ।

घातविश्र तयोस्तत्र द्वे वर्षे नामचिह्निते ।७४।

महावीर तथैवान्यद्घातकोखएदयजितम् ।

एकश्चान महाभाग प्रख्यातो वर्षपर्वतः ।७५।

मानसोत्तरस्रजो वै मध्यतो बलयाकृतिः ।

योजनाना सहस्राणि ऊर्ध्वं पश्चादादूर्च्छितः ।७६।

तावदेव च विस्तीर्णः सर्वतः परिमण्डलः ।

पुष्करद्वीपवलयं मध्येन विभजन्निव ॥७१॥

स्थितोऽसौ तेन चिच्छिन्नं जात तद्रूपवद्वयम् ।

वलयकाकारमेकैकं तयोर्वर्षं तथा गिरिः ॥७२॥

दशवपसहस्राणि तत्र जीवन्ति मानवाः ।

निरामया विशोकाश्च रागद्वेषादिवर्जिताः ॥७३॥

अधमोत्तमौ न सेष्वास्तां न वध्यवधकौ द्विज ।

नेष्यसूया भय द्वेषो दोषो लोभादिको न च ॥७४॥

हे मैत्रेयजी ! वह धातुद्वीप अपने ही समान परिमाण वाले वलयका

द्वीप (शीर) के समुद्र में घिरा है । वह शीर सागर-शावद्वीप से दुगुने परिमाण के पुष्कर द्वीप से चारो ओर से घिरा हुआ है ॥७३॥ पुष्कर द्वीप के राजा सवन के दो पुत्र हुए, जिनके नाम महावीर और घातकी थे । इन्हीं दोनों के नाम पर महावीर-खण्ड और घातकी खण्ड नामक वर्ण हुए । इसमें मानसोत्तर नामक एक ही वर्ष पर्वत मध्य में स्थित है वह पचास हजार योजन ऊँचा और उतना ही सब ओर से फैला हुआ है । इससे ऐसा लगता है जैसे यह पर्वत पुष्कर द्वीप रूपी को मध्य में से विभाजित कर रहा है तथा इसके विभाग से ही दो वर्ष हो गये हैं । उनमें से प्रत्येक वर्ष तथा वह पर्वत गोलाकार के ही हैं ॥७४७५॥ वहाँ के निवासी रोग शोक, राग-द्वेषादि से परे रह कर दस हजार वर्ण तक जीवन धारण करते हैं ॥७६॥ उनमें ऊँच-नीच, गरने-भारने आदि जैसे भाव नहीं हैं और ईर्ष्या, असूया, भय, द्वेष तथा लोभादि का भी अभाव है ॥७७॥

महावीर बहिर्वर्षं घातकीखण्डमन्ततः ।

मानसोत्तरशैलस्य देवदैत्यादिसेवितम् ॥७८॥

सत्यानृते न तत्रास्तां द्वीपे पुष्करसजिते ।

न तत्र नद्यः सौ वा व द्वीपे वर्षद्वयान्विते ॥७९॥

तुल्यवेपास्तु मनुजा देवास्तत्रैकरूपिणः ।

वर्णाश्रमाचारहीन धर्माचिरगुर्वजितम् ॥८०॥

त्रयी वार्ता दण्डनीतिशुश्रूषारहितश्च यत् ।
 वपेद्वय तु मैत्रेय भीमः स्वर्गोऽयमुत्तमः ॥८४॥
 सर्वतु सुखदः कालो जरारोगादिवर्जिनः ।
 घातकीखण्डसंज्ञेऽय महावीरे च वै मुने ॥८५॥
 न्यग्रोधः पुष्करद्वीपे ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम् ।
 तस्मिन्निवसति ब्रह्मा पूज्यमानः सुरासुरैः ॥८६॥
 स्वाद्बकेनोदधिना पुष्करः परिवेष्टितः ।
 समेन पुष्करस्यैव विस्तारान्मण्डलं तथा ॥८७॥

पर्वत के बाहर की ओर महावीर खण्ड तथा भीतर की ओर घातकी खण्ड है । इनमें देवता और देव्य रहते हैं ॥८४॥ दो खण्डों वाले उस पुष्कर द्वीप में सत्य प्रपञ्च भस्मरूप कुछ भी नहीं है और न वहाँ पर्वत और नदी ही हैं ॥८५॥ वहाँ के समुद्र और देवता समान रूप तथा समान वैद्य-भूषण वाले हैं । हे मैत्रेयी ! वहाँ न तो वर्णाश्रम व्यवस्था है, न बाम्भ कर्म हैं और न वेदनी, हृषि, दण्डनीति का सुश्रूपादि हो हैं । इन प्रकार के दोनों पृथिवी के अतिश्रेष्ठ स्वर्ग ही हैं ॥८६-८७॥ हे मुने ! उन दोनों वर्षों में स्थित काल सब शत्रुओं में समान सुख देने वाला तथा बुद्धि और रोगादि से शुन्य रहता है ॥८४॥ उस द्वीप में ब्रह्माजी के श्रेष्ठ स्थान रूप एक बट वृक्ष है, जहाँ देव-दानवों द्वारा पूजित हुए श्री ब्रह्माजी विराजमान रहते हैं ॥८६॥ यह पुष्कर द्वीप अपने ही बराबर परिमाण-विस्तार वाले सीठे पानी के समुद्र से चारों ओर से बलवान्कार घिरा हुआ है ॥८७॥

एव द्वीपाः समुद्रं च सम समभिरावृताः ।
 द्विपश्चैव समुद्रं च समानो द्विभुजो परी ॥८८॥
 पयासि सर्वदा सर्वममुद्रेषु समानि वै ।
 न्यूनातिरिक्ता तथा कदाचिन्नैव जायते ॥८९॥
 स्थालीस्यमग्निसंयोगादुद्रेकि सलिलं यथा ।
 तथेन्दुवृद्धौ सलिलमम्भोघो मुनिसत्तम ॥९०॥
 अन्धुनानतिरिक्ताश्च वर्धन्त्यापो हसन्ति च ।
 उदयास्तमनेषिन्दोः पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ॥९१॥

दशोत्तराणि पञ्च व ह्यङ्गुलानां शतानि वै ।

अथा वृद्धिद्वयो दृष्टी सामुद्रोणा महामुने ।६२।

भोजन पुष्करद्वीपे तत्र स्वयमुपस्थितम् ।

पद्मरस भुञ्जते विप्र प्रजाः सर्वाः सदैव हि ।६३।

इस प्रकार सातों द्वीप सात समुद्रों से घिरे हैं । वे द्वीप घोर समुद्र परस्पर समान परिमाण वाले तथा उत्तरोत्तर द्विगुण होते चले गये हैं ॥६॥ सभी समुद्रों में जल सदैव एक-सा रहता है, कभी अधिक भयवा ग्यून नहीं होता ॥६॥ हे मुने ! अग्नि पर चढ़े हुए पात्र का जल जिस प्रकार उठता प्राप्त कर उबलने लगता है, वैसे ही चन्द्रमा की कला वृद्धि के साथ समुद्र के जल में भी वृद्धि होने लगती है ॥६०॥ चुक्कनपक्ष और कृत्तुपक्ष में चन्द्रमा के उदय और अस्त की सीमा से ग्यून या अधिक न होते हुए ही जल में बढ़ाव या उतराव होता है ॥६१॥ हे महामुने ! समुद्र का जल पाँच सौ दश अंगुल तक बढ़ता भयवा इतने ही परिमाण तक घटता हुआ देखा जाता है ॥६२॥ हे विप्र ! उस पुष्कर द्वीप में सम्पूर्ण प्रजा को बिना प्रयास ही प्राप्त हुआ पद्मरस भोजन सब प्राप्त होता रहता है ॥६३॥

स्वादूदकस्य परितो दृश्यतेऽलोकसंस्थिति ।

द्विगुणा काश्वनी भूमिः सर्वजन्तुविवर्जिता ।६४।

लोकालोकस्ततश्शैलो योजनायुतविस्तृतः ।

उच्छ्रायेणापि तावन्ति सहस्राण्यचलो हि सः ।६५।

ततस्तमः समावृत्य त शैल सर्वतः स्थितम् ।

तमश्चाण्डकटाहेन समन्तात्परिवेष्टितम् ।६६।

पञ्चाशत्कोटिविस्नारा सेयमुर्वी महामुने ।

सहैवाण्डकटाहेन मदीपाब्धिमहोदरा ।६७।

सेय धात्री विधात्री च सर्वभूतगुणाधिका ।

आधारभूता सर्वेषा मेत्रेय जगतामिति ।६८।

मीठे पानी के समुद्र के चारों ओर सोनी के आवास से रहित तथा सभी जीवों से शुन्य उससे द्विगुण परिमाण वाली स्वर्णिम पृथिवी दिखाई देती

है ॥६४॥ वहाँ दस हजार योजन विस्तार थापा लोकालोक पर्वत है, जिसकी ऊँचाई भी दस हजार योजन की ही है ॥६५॥ उसने थापे उस पर्वत को सब ओर से अक्षर घेरे हुए है तथा उस अक्षर को ब्रह्माण्ड-कटाह ने सब ओर से घेर रखा है ॥६६॥ हे महामुने ! अष्टकटाह के सहित द्वीप, समुद्र और पर्वतादि युक्त इस सम्पूर्ण पृथिवी मण्डल का विस्तार पचास करोड़ योजन है ॥६७॥ हे मैत्रेयी ! आकाशदि सभी भूतो से विविष्ट गुण थापी यह पृथिवी सम्पूर्ण विश्व की आश्रय तथा उसका पालन और उत्पत्ति करने वाली है ॥६८॥



पाँचवाँ अध्याय

विस्तार एष कथितः पृथिव्या भवनो मया ।
सप्ततिस्तु सहस्राणि द्विजोन्म्यायोऽपि कथ्यते ॥१॥
दशसाहस्रमेकं पाताल मुनिसत्तम ।
अतल वितलं च नितलं च गभस्तिमम् ।
महास्य सुतलं चाग्रयं पातालं चापि सप्तमम् ॥२॥
शुक्लकृष्णादृणाः गोताः शर्कराः शैवकाश्चनाः ।
भूमयो यत्र मैत्रेय वरप्रासादमण्डिताः ॥३॥
तेषु दानवर्षतेया यक्षाश्च दत्तसस्तथा ।
निवसन्ति महानागजानयश्च महामुने ॥४॥

श्री पराशरजी ने कहा — हे द्विज ! इस पृथिवी का विस्तार मैंने तुम्हें बताया है । कहते हैं कि इसकी ऊँचाई सत्तर हजार योजन है ॥१॥ हे मुनिये ! अतल, वितल, नितल, गभस्तिमम्, महातल, शुक्ल और पाताल इन सातों पातालों की पारम्परिक दूरी दस-दस हजार योजन है ॥२॥ हे मैत्रेयी ! अनेक भवनों से सुगोनिग वहाँ के वसतल शुक्ल, कृष्ण, अरुण,

पीत, शर्करामयी, सैली अथवा स्वर्णिम हैं ॥३॥ दानव, दैत्य, यक्ष और महा-
नाग आदि को संकष्टों जातियाँ उनमें रहती हैं ॥४॥

स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानोनि नारदः ।
प्राहु स्वर्गस्य मध्ये पातानेभ्यः गतो दिवि ॥५॥
आह्लादकारिणः शुभ्रा मणयो यत्र सृप्रभाः ।
नागाभरणभूपासु पानाल केन तत्समम् ॥६॥
दैत्यदानवकन्याभिरितश्चेतश्च शोभिते ।
पाताले न स्य न प्रीतिर्विमुक्तस्यापि जायते ॥७॥
दिवाकरंदमयो यत्र प्रभा तन्वन्ति मातपम् ।
शशिरश्मिनः शतं य निशि द्योनाय कंवलम् ॥८॥
भक्ष्यभाज्यमहापानशुदितराप भोगिभिः ।
यत्र न जायत फलो गतोऽपि दनुजा दभिः ॥९॥
यनानि मद्यो रम्याः सरासि कमलाकराः ।
पुष्पाविलासलापाश्च मनाजान्यभ्यराणि च ॥१०॥
भूषणान्यतिशुभ्राणि गन्धान्य चानुलेपनम् ।
वीणावेणुमृदङ्गानां स्वनास्तूर्याणि च द्विज ॥११॥
एतान्यन्यानि धातारभाग्यभोग्यानि दानवैः ।
दैत्यैरगैश्च भज्यन्ते पातालान्तरगाचरैः ॥१२॥

हुआ मालुम नहीं होता ॥६॥ जहाँ सुरम्य वन, सलिलाएँ, सरोवर और कमलों के उपवन हैं तथा जहाँ नर बोकिलों की सुमधुर ध्वनि बूँजती है, जहाँ का आकाश भी गन को हरण कर लेने वाला है ॥ ०॥ हे द्विज ! जिस पाताल में रहने वाले दैत्य, दानव और नाग मत्स्य स्वच्छ आभूषण, सुगन्धमय लेपन, बीजा, वेणु, मृदङ्ग, तूर्य आदि के मधुर स्वर से मुक्त हुए भाग्यवानों के भोगने योग्य अन्य अनेक भोग भोगे जाते हैं ॥११-१२॥

पातालानामपश्चास्ते विष्णोर्या तामसो तनुः ।
 शेपास्या यद्गुणान्वक्तुं न शक्ता दैत्यदानवाः ॥१३॥
 योजन्तः पठ्यते सिद्धदधो देवर्षिपूजितः ।
 स सहस्रशिरा व्यक्तस्वस्तिकामलभूषणः ॥१४॥
 फणानणिसहस्रेण यः स विद्योतयन्दिशः ।
 सर्वाङ्करोति निर्बोर्यान् हिताय जगतामुरान् ॥१५॥
 मदापूर्णतनेत्रोऽसौ यः तदैर्नैककुण्डलः ।
 किरीटी लग्नरो भाति साग्निः श्वेत इवाचलः ॥१६॥
 नीलवासा मदोत्सिक्तः श्वेतहारोपशाभिनः ।
 साभ्रमङ्गाप्रगोहोऽसौ कैलासाद्रिवापरः ॥१७॥
 लाङ्गलासक्तहस्ताग्रा विभ्रमुसलमुत्तमम् ।
 उपास्यते स्वर्ग कान्त्वा यो वारुण्या च मूर्त्त्या ॥१८॥
 कल्पान्ते यस्मिन् बभ्रेश्मो विद्यानसशिलोज्ज्वलः ।
 सद्गुणैरारमको रुद्रो निष्कम्पास्ति जगत्प्रियम् ॥१९॥
 स विभ्रच्छेखरोभूतमक्षेर्षं क्षितिमण्डलम् ।
 आस्ते पातालमूलस्थः शेपोऽसौपसुराचितः ॥२०॥

उन पातालों के नीचे भगवान् विष्णु का शेप नामक समीप विग्रह है, उसका गुण-वान दैत्य-दानवादि भी नहीं कर सकते ॥१३॥ देवर्षियों से पूजित त्रिज भगवान् को सिद्धयण मनन्य रहते हैं, वे अत्यन्त निर्मल, स्वस्तिज जिन्हों से भूषित तथा हजार शीत होते हैं ॥१४॥ जो अपने पलों की हजार मणियों से सब दिशाओं को प्रकाशित करते हुए लोक-व्यापारों सब समुत्तों

को निस्तेज करते रहते हैं ॥१५॥ मद से घटण नयन, एव कुण्डन, मुकुट एव माला आदि धारण किये हुए धूमिमय द्येव पवत के समान शोभायमान हैं ॥१६॥ मद मे उन्मत्त होकर नीलाम्बर और द्येव हारा के धारण से शोभायमान होकर मेघमाला और गङ्गा के प्रवाह वाले द्वितीय वंशात् के समान स्थित हैं ॥१७॥ जो अपने हाथो मे हन-मूशल धारण किये हुए हैं तथा शोभा और वाङ्मयी देवी स्वयं मूर्तिमती होकर जिनका स्तव करतो हैं । १८॥ कल्प के अन्त मे जिनके मुखो से विषाम्नि की ज्वाला के समान प्रकाशित सवर्ण नामक दह निकलता और सीनो लोको को उदरस्थ कर लेता है ॥१९॥ वे सब देवताओ से नमस्कृत भगवान् शेष अशेष पृथिवी मण्डल को मुकुट के समान धारण किये हुए पातालमूल मे विश्रज रहे हैं ॥२०॥

तस्य वीर्यं प्रभावश्च स्वरूप रूपमेव च ।

न हि वरुण्यितुं शक्यं ज्ञातुं च त्रिदशैरपि । २१।

यस्यैषा सकला पृथ्वी फणामणिशिखावणा ।

आस्ते फुसुममालेव कस्तद्वीर्यं वदिष्यति । २२।

यदा विजृम्भतेऽनन्तो मदाधूर्णितलोचन ।

तदा चलति भूरेषा राश्रिधितोया सकानना । २३।

गन्धर्वाप्सरस सिद्धा किन्नरोरगचारणा ।

नान्त गुणानां गच्छन्ति तेनान्नोऽयमव्यय । २४।

यस्य नागवधूहस्तैर्लेपित हरिचन्दनम् ।

मुहुः श्वासानिलापास्त याति दिक्षुदवासताम् । २५।

यमाराध्य पुराणपिंगर्गो ज्योतीषि तत्त्वतः ।

ज्ञातवान्सकल चैव निमित्तपठित फलम् । २६।

तेनेय नागवर्षेण शिरसा विवृता मही ।

त्रिभक्ति माला लोकानां सदेवासुरमानुषाम् । २७।

जिन शेष भगवान् का वल वीर्य, प्रभाव, स्वरूप, आकार आदि देवगण भी नहीं जान सकते और न वर्णन कर सकते हैं ॥२१॥ जिनके फणो मे स्थित मणियों की आभा से घटण बलें हुई यह सम्पूर्ण पृथिवी पुष्प माला के समान

रखी है, उनको बल-वीर्य का धारण करने में कौन समर्थ हो सकता है ? ॥२२॥
जब मरु से मत्त हुए भगवान् शेष जम्हाई लेते हैं तब समुद्रो क्षीर बर्षों से मुक्त
यह सम्पूर्ण पृथिवी होल उठती है ॥२३॥ गन्धर्व, अप्सरा, सिद्ध किन्नर,
नाग, चारण आदि कोई भी इनके गुणों का भक्त पाने में समर्थ नहीं है, इसी
से यह अविनाशी देव अनन्त बहे जाते हैं ॥२४॥ जिनके देह पर नागों द्वारा
सेवा गया चन्दन स्वांस लेने से छूट-छूट कर सब दिशाओं की सुगन्धमय बनाता
रहता है ॥२५॥ पूर्वकाल में महर्षि बर्ष ने जिनकी आराधना करके श्रौतिर्मेवत
और शक्तुनादि के नैमित्तिक फलों का तत्त्व ज्ञान प्राप्त किया था ॥२६॥ उन्हीं
भाग्यशेष ने इस पृथिवी को अपने शीत पर धारण कर रखा है, जो स्वयं
भी देवता, मनुष्य, मनुष्यादि के सहित सम्पूर्ण लोकमात्रा को धारे हुए हैं ॥२७॥

ॐ नमः शिवाय

छठा अध्याय

ततश्च नरका विप्र भुवोऽधः सलिसस्य च ।
पापिनो येषु पात्यन्ते ताञ्छृणुष्व महामुने ॥१॥
रौरवः सूकरो रोधस्तातो विशमनस्तथा ।
महाज्वालस्तप्तुम्भो लवणोऽयं वित्तोहितः ॥२॥
रुधिराम्भो वंतराणि कृमीशः कृमिभोजनः ।
असिपत्रवर्गं वृष्णो साप्ताभशश्च दारणः ॥३॥
तथा पूयवहः पापो वह्निज्वालो हासःशिराः ।
सन्दनः कालमूत्रश्च तमश्चायीचिरेव च ॥४॥
अमोजनोऽयाप्रतिश्रवाप्रचिश्च तथा परः ।
इक्ष्वेममादयश्चान्ये नरका भृशदारणाः ॥५॥
यमस्य धिपये घोराः दस्त्राग्निभयदायिनः ।
पतन्ति येषु पुरुषाः पापकर्मरतास्तु ये ॥६॥

कूटसाक्षी तथा सम्यक्पक्षपातेन यो वदेत् ।

यश्चान्यदनृतं वक्ति स नरो याति रौरवम् ॥७॥

यो पराशरजी ने कहा—हे विप्र ! पृथिवी घोर जल के नीचे नरक स्थित है, वन्ही में पापियों को गिराया जाता है, अब उनका वर्णन सुनो ॥१॥ रौरव, सूकर, रोध, ताल, विद्यसन, महाज्वाल, सप्तकुम्भ, लवण, विलोहित, रुधिराम्भ, वैतरणि, कुभीश, कृमि भोजन, अग्नि-पत्रवन, कृत्तु, लालामर्श, दाहण, पूगवह, पाप, बल्लिगशल, अघःशिरा, सदश, कालसूत्र, तमसू, भावीवि, हवभोजन, अप्रतिष्ठ और अप्रवि तथा इनके घतिरिक्त अन्य अनेकों घोर नरक हैं, जिनका शासन यमराज करते हैं । यह नरक अत्यन्त दारुण राक्षस और अग्नि का भय देने वाले हैं, इनमें पापी पुरुष ही गिराये जाते हैं ॥२॥ कूट साक्षी अर्थात् भिन्ना गवाही देने वाला यः यकार्य न बताने वाला मनुष्य रौरव नरक को प्राप्त होता है ॥७॥

अणुहा पुरहन्ता च गोघ्नश्च मुनिसत्तम ।

यान्ति ते नरक रोध यश्चोच्छ्वासनिरोधकः ॥८॥

सुरापो ब्रह्महा हर्ता सुवर्णस्य च सूकरे ।

प्रयान्ति नरके यश्च तैः ससर्गमुपैति च ॥९॥

राजन्मर्षद्वयहा ताते तथैव गुस्तल्पगः ।

तप्तकुण्डे स्वमृगामो हन्ति राजभटाश्च यः ॥१०॥

साध्वीविक्रयकृद्द्रव्यपालः कैसरिविकयी ।

सप्तनोद्रे पतन्त्येते यश्च भक्तं परित्यजेत् ॥११॥

• स्तुपा मुता चापि शरदा महाज्वाले निपात्यते ।

अयमन्ता गुरुणा यो रश्माकोष्टा नराधमः ॥१२॥

वेददूषयिता यश्च वेदविक्रयिवश्च यः ।

अगम्यगामी यश्च स्मारो यान्ति लवण द्विज ॥१३॥

श्रूण ह्यादि, शाप को नष्ट करने वाले घोर शो बधिव को रोध नामक नरक प्राप्त होगा है, यह नरक रक्षामोच्छ्वास को रोधता है ॥८॥ मद्यपायी, वस्त्रपायी, स्वर्ण-चोर अथवा इनकी समानि करने वाला पुरुष सूकर, नरक पापी

होता है ॥१॥ छत्रिय या वैश्य का हत्यारा छाल नरक में जाता है, गुल्फली-भोगी, भगिननीगामी और राजदूतों के हत्यारों को तप्तकुण्ड नरक मिलता है ॥१०॥ सती नारी का विक्रेता, बाखगार का रखरू, थोड़ों के बेचने वाला और भक्त पुरुष का त्याग करने वाला मनुष्य तप्तरोह नरक में गिराया जाता है ॥११॥ पुत्रवधू या पुत्री का धर्म नष्ट करने वाला महाज्वाल नरक में गिरता है और गृहजनों का तिरस्कार करने वाला, घुरे वचन बोलने वाला, बंद निन्दक, बंद का विक्रेता अथवा अगम्य से समागम करने वाला सबण नरक को प्राप्त होता है ॥१२-१३॥

चोरो बिसोहे पतति मर्यादाद्रूपकस्तथा ।
 देवद्विजपितृद्वेष्टा रत्नद्रूपयिता च यः ॥१४॥
 भ याति कृमिभक्षे च कुपीशे च दुरिष्टकृन् ।
 पितृदेवातिथीस्त्यक्त्वा पर्यश्रति नराधमः ॥१५॥
 लालाभक्षे स यात्युग्रं शरकर्त्ता च वैधके ।
 करोति वर्णिनो यश्च यश्च स ह्लादि कुम्भरः ॥१६॥
 प्रधान्येते विशमने नरके भृशदारणे ।
 असःप्रतिगृहीता तु नरके यात्यथोमुने ॥१७॥
 अयाज्ययाजवच्चैव तथा नक्षत्रमूचकः ।
 वैगी पूयवहे चैकी यानि मिष्टान्नमुद् नरः ॥१८॥
 लाक्षाभासरमाना च तिलाना सबलाम्य च ।
 विक्रेता ब्राह्मणो याति तमेव नरकं द्विज ॥१९॥
 भार्गवशुक्लकुटुम्बदागम्भवरारुविहङ्गमान् ।
 पोषयन्नरकं याति तमेव द्विजमत्तम ॥२०॥

घोर तथा मर्यादा नष्ट करने वाले को बिनोदित नरक मिलता है । देवता, द्विज और शिवरों का द्वेषी तथा रत्न की दूषित करने वाला कृमिभक्ष नरक में जाता है तथा घनिष्ट यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले को कृनीगर नरक मिलता है । निन्दक, देवता, घनिष्ठ का प्याज न कर उनके पहिच ही मोक्ष न कर लेने वाले को शत्रुय साभावय नरक ही मरणा भीखी होती है, बाण-

निर्माता वेध नरक में जाता है । कर्णों नामक बाण तथा सङ्गादि द्वात्रिंशत् के बनाने वाले लोग अत्यन्त दाक्षिण्य विश्वसन नरक को प्राप्त होते हैं । असद-
प्रमिग्रह से ग्रहण करने वाला, अयज्ञ का याजक, नक्षत्र विद्या से जीविका
पसाने वाला अधोमुख नरक में गिरता है । साहम (कूर) कर्म वाले मनुष्य
को पूयवह नरक मिलता है । भकेले ही सुस्वादु भोजन को खा लेने वाला या
लाल, मौस, रस, तिल या सबण बेचने वाला द्राह्मण भी उसी नरक में जाता
है ॥१४-१६॥ बिलाव, कुक्कुट, छाग, भस्व, शूकर या पक्षियों को पालने वाला
भी उसी पूयवह नरक को प्राप्त होता है ॥२०॥

रङ्गोपजीवी कंवर्याः कुण्डाशी गरदस्तथा ।
सूची माहिपकश्चैव पर्वकारी च यो द्विजः ॥२१॥
आगारदाही मित्रघ्नः शाकुनिर्ग्रामयाजकः ।
सधिरान्धे पतन्त्येते सोम विक्रीणते च ये ॥२२॥
मखहा ग्रामहन्ता च याति वंतरणी नरः ।
रेत.पातादिकर्तारो मर्यादाभेदिनो हि ये ॥२३॥
ते कृष्णो यान्त्यशीचाश्च कुहकाजीविनश्च ये ।
असिपत्रधन याति धनच्छेदी वृषैव यः ॥२४॥
औरभ्रिको मृगव्याधो वह्निज्वाले पतन्ति वै ।
यान्त्येते द्विज तत्रैव ये चापाकेषु वह्निदाः ॥२५॥
व्रतानां लोपको यश्च स्वाश्रमाद्विच्युतश्च यः ।
सन्दशयातनामध्ये पततस्तावुभापि ॥२६॥
दिवा स्वप्ने च स्कन्दन्ते ये नरा ब्रह्मचारिणः ।
पुनरिध्यापिता ये च ते पतन्ति श्वभोजने ॥२७॥

नट या मत्स्य वृत्ति वाला, धीवर कर्म करने वाला, कुण्ड का धन खाने
वाला, विष खिलाने वाला, चुगली करने वाला, स्त्री की वृत्ति से जीविकोपार्जन
करने वाला, धनादि के लोभ वश पर्व के बिना ही पूर्वकाल में होने वाले कार्य
का कराने वाला द्राह्मण, घर में अग्नि लगाने वाला, शकुल बताने वाला,
मित्र हत्यारा, ग्राम-पुरोहित और सोम का विक्रेता — इन सब को सधिरान्ध

नरक की प्राप्ति होती है ॥२१-२७॥ यज्ञ या दान को नष्ट करने वाले मनुष्य को वैतरणी नामक नरक की प्राप्ति होती है. रेतपातादि करने वाले, छेत की मेंढ तोड़ने वाले, अश्वत्थ और ध्रुववृत्ति से जीविका चलाने वाले कृष्ण नरक में और शर्व ही वनों के काटने वाले अश्वत्थ वन नरक में गिरते हैं ॥२१-२४॥ भेडादि से जीवनोंपार्जन करने वाले और सिंहादि बलिज्यात नरक की प्राप्ति होते हैं तथा कच्चे पर्व और ईंटों आदि को पकाने के लिये खनने जो अग्नि डालते हैं, उन्हें भी वही नरक मिलता है ॥२१॥ वृत्तों के नाशक और अपने आश्रय से पतित हुए मनुष्य सन्दर्भ नरक में जाते हैं ॥२६॥ जो ब्रह्मचारी दिन में या सोने समय में धीर्यपात करते हैं अथवा जो मनुष्य अपने पुत्रों से मित्राभ्यपन्न करते हैं, उन्हें स्वमोजन नामक नरक में जाना होता है ॥२७॥

एते चान्ये च नरकाः सप्तशोऽथ महत्स्रशः ।

येषु दुष्कृतकर्मिणः पच्यन्ते यातनागताः ॥२८॥

यथैव पापान्येतानि तथान्यानि सहस्रशः ।

भुज्यन्ते तानि पुरर्पनैरवान्तरगोचरैः ॥२९॥

वर्णाश्रमविरुद्धं च कर्म कुर्वन्ति ये नराः ।

कर्मणा मनसा वाचा निरयेषु पतन्ति ते ॥३०॥

अथ शिरोभिर्हस्यन्ते नारकैश्चि देवताः ।

देवाश्चापीमुक्त्वाऽसर्वानपि पश्यन्ति नारकान् ॥३१॥

म्यावराः कृशयोऽञ्जाश्च पक्षिणः पशवो नराः ।

घामिनाश्चिदशास्तद्वर्माक्षिणश्च यथाक्रमम् ॥३२॥

सहस्रभागप्रथमा द्वितीयानुक्रमस्तथा ।

सर्वे ह्येते महाभाग यावन्गुक्तिमग्नयथाः ॥३३॥

यावन्तो जन्तवः स्वर्गे तावन्तो नरकोक्तयः ।

पापदूयानि नरकं प्रायश्चित्तपराट् भुज्यः ॥३४॥

इस प्रकार यह तथा अन्य सहस्रों ही नरक हैं. जिनमें पक्षर दुष्कर्म करने वाले प्राणी विभिन्न प्रकार की यन्त्रणार्थ भोगते हैं ॥२८॥ उपरोक्त पापों के समान अन्य अनेक हजारों पाप कर्म हैं, उनके फल विभिन्न-विभिन्न नरकों में

जाकर भोगने होने हैं ॥२९॥ अग्ने यज्ञाश्रम धर्म के विरुद्ध जो मनुष्य मर्त, वाणी या कर्म से कोई कार्य करते हैं, उन्हें भी नरक की प्राप्ति होती है ॥३०॥ अधोमुख नरक को प्राप्त हुए प्राणियों को स्वर्गलोक में देवगण दिखाई देने हैं और वह देवाण भी नीचे के लोको में पड़े उन नारकी प्राणियों को देखने रहते हैं ॥३१॥ नरक की यन्त्रणा भोगने के पश्चात् पापियों का क्रमशः स्वावर, कुमि, जनवर, पक्षी, पशु, मनुष्य घामिक, देवता और मुमुक्षु के रूप में उत्पन्न होते हैं ॥३२॥ हे महाभाग ! मुमुक्षु तक इन सब प्राणियों में दूसरे से पहले जन्म वाले प्राणियों की संख्या हजार गुनी अधिक है ॥३३॥ स्वर्ग में जितने प्राणी हैं, नरक में भी उतने ही हैं, जो व्यक्ति अपने पापों का प्रापञ्चित नहीं करते उन्हें नरक की ही प्राप्ति होती है ॥३४॥

पापानामनुरूपाणि प्रायश्चित्तानि यद्यथा ।
 तथा तथैव सस्मृत्य प्रोक्तानि परमर्षिभिः ॥३५॥
 पापे गुरुणि गुरुणि स्वल्पान्यल्पे च तद्विदः ।
 प्रायश्चित्तानि भैत्रेय जगुः स्वायम्भुवादय ॥३६॥
 प्रायश्चित्तान्यनेपाणि तपः कर्मात्मकानि वै ।
 यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणम्परम् ॥३७॥
 कृते पापेऽनुतापो नै यस्य पुंसः प्रजायते ।
 प्रायश्चित्तं तु तत्पर्यंकं हरिसस्मरणं परम् ॥३८॥
 प्रातर्निशि तथा सन्ध्यामध्याह्नादिषु संस्मरन् ।
 नारायणमवाप्नोति सद्यः पापक्षयाक्षरः ॥३९॥
 विष्णुसस्मरणात्क्षीणसमस्तक्लेशसञ्चयः ।
 मुक्तिं प्रयाति स्वर्गमिस्तस्य विघ्नोऽनुमोयते ॥४०॥
 वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु ।
 तस्यान्तरायो भैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम् ॥४१॥
 फ नाकपृष्ठगमनं पुनरावृत्तिलक्षणम् ।
 फ जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम् ॥४२॥

विभिन्न पापों के अनुरूप विभिन्न प्रायश्चित्त हैं, जिन्हें महर्षियों ने वेदाव
के स्मरण पूर्वक कहा है ॥३५॥ हे मंथेयजी ! स्वायम्भुव मनु शादि स्मृतिकारों
ने पापों की अधिकता-बहुता की दृष्टि से महान् या यत्न प्रायश्चित्त कक्षि
निये हैं ॥३६॥ परन्तु तत्कालिक और कर्मात्मक प्रायश्चित्तों में भगवान् धौवृष्ण
का स्मरण करना सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है ॥३७॥ पाप करने के पश्चात् जो पुरुष
उत्तम लिये पश्चात्ताप करता है उसके लिये तो एक मात्र हरि स्मरण ही
परम प्रायश्चित्त है ॥३८॥ प्रातः, रात्रि, सायंकाल या मध्याह्नादि में भगवान्
को हरि के स्मरण से पापों का क्षय हो जाता है और भगवान् की प्राप्ति होती
है ॥३९॥ भगवान् के स्मरण से सभी पापों का समूह भस्म हो जाता है, जिससे
मनुष्य को मोक्ष पद की प्राप्ति होती है । जबकि लिये स्वर्ग की प्राप्ति तो विष्णु
स्वरूप समझी जाती है ॥४०॥ हे मंथेयजी ! जिस मनुष्य का चित्त जप,
स्वन, वृत्तादि करते रहने से निरन्तर भगवान् में लगा रहता है, उसके लिये
द्वन्द्ववत् जैसे वस्तु तो तुल्य एवं विष्णु ही हैं ॥४१॥ कहीं तो प्राणी को पुन-
र्जन्म के चक्र में गिराने वाली स्वयं-प्राप्ति और वहाँ मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ बीज
भगवान् वासुदेव के नाम का जप ॥४२॥

तस्मादहनिश विष्णु सस्मरन्पुरुषो मुने ।

न याति नृवं मर्त्यं सधीष्णाक्षितपातक ॥४३॥

मन प्रीतिकर स्वर्गो नरकस्तद्विपर्यय ।

नरकस्वर्गसंज्ञे च पापपुण्ये द्विजोत्तम ॥४४॥

यस्त्वेकमेव दुःपाय सुखायेर्णागमाय च ।

कोपाय च यतस्वस्माद्वस्तु बस्वात्मक वुत ॥४५॥

तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःपाय जायते ।

तदेव कोपाय यत प्रसादाय च जायते ॥४६॥

तस्माद्दुःखात्मक नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम् ।

मनस परिणामोऽयं सुखदुःखादितक्षण ॥४७॥

ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं वन्द्याय चैष्यते ।

ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम् ॥४८॥

विद्याविद्येति भैत्रेय ज्ञानमेवोपवास्य ॥४६॥

एवमेतन्मयारुपात् भवतो मण्डलं भुवः ।

पातालानि च सर्वाणि तथैव नरका द्विज ॥४७॥

समुद्रा पर्वताश्चैव द्वीपा वर्षाणि निम्नगाः ।

सक्षेपात्सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥४८॥

इसलिये भगवान् विष्णु के रात-दिन स्मरण से मनुष्य के सभी पापों का क्षय हो जाता है और उसे नरक की प्राप्ति नहीं होती ॥४३॥ स्वर्ग मन की प्रिय सगता है और नरक उसके विपरीत है । हे विप्रश्चेष्ट ! पाप ही नरक और पुण्य ही स्वर्ग है ॥४४॥ जब एक ही वस्तु से सुख, दुःख, ईर्ष्या, क्रोध आदि की प्राप्ति होती है, तब वह वस्तु निय स्वभाव वाली वहाँ हुई ? ॥४५॥ क्योंकि एक वस्तु ही कभी प्रिय लगने वाली होती है और वही वस्तु कभी दुःख देने वाली हो जाती है, यह कभी क्रोध और कभी प्रसन्नता प्रदान करती है ॥४६॥ इसलिये कोई भी पदार्थ दुःखमय अथवा सुखमय नहीं है । इन सुख दुःख को तो केवल मन का ही विकार समझो ॥४७॥ ज्ञान ही परब्रह्म है परन्तु अविद्या की उपाधि से वही अल्पमकारी हो जाता है । यह सम्पूर्ण जगत् ज्ञानमय है, ज्ञान से विभक्त कोई भी पदार्थ नहीं है । इसलिये हे भैत्रेयजी, तुम्हें भी विद्या और अविद्या दोनों को ज्ञान ही समझना चाहिये ॥४८-४९॥ हे द्विज ! इस प्रकार समस्त पृथिवी मण्डल, सम्पूर्ण पाताल-लोक और सभी नरकों का वर्णन मैंने तुमसे कर दिया है ॥५०॥ समुद्र, पर्वत, द्वीप, वर्ष और नदियों की भी संक्षिप्त रूप से व्याख्या कर चुका हूँ अब तुम्हें और क्या सुनने की इच्छा है तो मुझे बताओ ॥५१॥



सातवाँ अध्याय

अपिन भूतलं ग्रहान्ममंतदखितं त्वया ।

नृपसौवादिकांल्लोकान्छ्रोतुमिच्छाम्यहं मुने ॥१॥

तथैव ग्रहमस्थानं प्रमाणाणि यथा तथा ।
 समःचदश्च महाभाग तन्मह्य परिचृन्दते ॥२॥
 रविचन्द्रमसोर्वाङ्मण्डलैरवभास्यते ।
 सप्तमुद्रसरिच्छेना नावतो पृथिवी स्मृता ॥३॥
 यावत्प्रमाणा पृथिवी विस्तारमपिण्डतात् ।
 नभस्तावत्प्रमाणं वै व्यासमण्डलतो द्विज ॥४॥
 भूमेर्योजनलक्षे तु सौरं मेनेय मण्डलम् ।
 लक्षाद्दिवाकरस्यापि मण्डलं शशिनः स्थितम् ॥५॥
 पूर्णं क्षतनहस्ते तु योजनानां निशाकरम् ।
 नक्षत्रमण्डलं घृत्स्नमुपरिष्टात्प्रकाशते ॥६॥
 द्वे लक्षे चोत्तरे ग्रहान् बुधो नक्षत्रमण्डलान् ।
 तावत्प्रमाणभागे तु बुधस्याप्सुसनाः स्थितः ॥७॥

श्री मेनेयजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपने समस्त पृथिवी मण्डल के विषय में मुझे बताया । अब मैं भूवलोक प्रादि सब लोकों का वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥१॥ और उन ग्रहों की जो-जो स्थिति तथा परिमाण हैं, उन सभी की आप मेरे प्रति कहने की कृपा करिये ॥२॥ श्री पराशरजी ने कहा—सूर्य और चन्द्रमा की किरणों का प्रकाश जितनी दूर तक पहुँचता है, उतना परा मण्डल समुद्र, नदी और पर्वतादि से युक्त 'पृथिवी' कहा जाता है ॥३॥ हे द्विज ! पृथिवी का जितना विस्तार और बल्य है, उतना ही विस्तार तथा घेरा भुवलोक का है ॥४॥ हे मेनेयजी ! पृथिवी से एक लाख योजन की दूरी पर सूर्य मण्डल स्थित है और उस सूर्य मण्डल से भी एक लाख योजन दूर पर चन्द्र-मण्डल है ॥५॥ तथा चन्द्रमा से भी एक लाख योजन ऊपर समूहर्षं नक्षत्र मण्डल प्रकाशन है ॥६॥ उस नक्षत्र मण्डल से दो लाख योजन ऊपर बुध है और बुध से दो लाख योजन पर शुक की स्थिति है ॥७॥

अङ्गारकोऽपि शुकस्य तत्प्रमाणो व्यवस्थितः ।
 सप्तद्वये तु भीमस्य स्थितो देवपुरोहितः ॥८॥

दोरिवृंहस्पतेश्चोर्व्वं द्विलक्षे समवस्थितः ।
 सप्तपिमण्डल तस्माल्लक्षमेक द्विजोत्तम ॥६॥
 ऋषिभ्यस्तु सहस्राणां शतादूर्ध्वं व्यवस्थितः ।
 मेढीभूत समस्तस्य ज्योतिश्चक्रस्य वै ध्रुवः ॥७॥
 त्रैलोक्यमेतत्कथितमुत्सेधेन महामुने ।
 इज्याफलस्य भूरेषा इज्या चात्र प्रतिष्ठिता ॥८॥
 ध्रुवादूर्ध्वं महर्लोको यत्र ते कल्पवासिनः ।
 एतयोजनकोटिस्तु यत्र ते कल्पवासिनः ॥९॥
 द्वे कोटी तु जनो लोको यत्र ते ब्रह्मण सुताः ।
 सनन्दनाद्याः प्रथिता मैत्रेयामलचेतसः ॥१०॥
 चतुर्गुणोत्तरे चोर्ध्वं जनलोकास्तत्र स्थितम् ।
 वैराजा यत्र ते देवाः स्थिता दाहविर्वाजिताः ॥११॥

ध्रुव से दो लाख योजन दूर मगल और मगल से भी दो लाख योजन ऊपर बृहस्पति हैं ॥६॥ बृहस्पति से दो लाख योजन की ऊँचाई पर रवि और रवि से एक लाख योजन ऊँचा सप्तपि मण्डल है ॥६॥ उस सप्तपिमण्डल से एक लाख योजन ऊपर सम्पूर्ण ज्योतिःचक्र की नाभि के समान ध्रुव मण्डल है ॥७॥ हे महामुने । मैं तुम्हें तीनों लोकों की ऊँचाई का परिमाण बता दिया । यह तीनों लोक यज्ञपथ की भोग भूमि बहे हैं परन्तु यज्ञानुष्ठान की भूमि यह भारत-वर्ष ही है ॥८॥ ध्रुव से एक करोड़ योजन ऊँचा महर्लोको है, जहाँ ब्रह्म के अन्त तक रहने वाले भृगु आदि गिडगण निवास करते हैं ॥९॥ हे मंत्रप्रवी ! उगमे भी दो करोड़ योजन ऊँचाई पर जन लोको है, जिसमें ब्रह्माजी के प्रतिष्ठ पुत्र पुनर्वादि का निवास है ॥१०॥ जनलोको से आठ करोड़ योजन ऊपर तप-लोको स्थित है, जहाँ दाह-विर्वाजित वैराज नामक देवता वास करते हैं ॥११॥

भूमिसूर्यान्तरं दच्च सिद्धादिमुनिसेवितम् ।

भुवर्लोकस्तु सोऽप्युक्तो द्वितीयो मुनिसत्तम ॥१७॥

ध्रुवसूर्यान्तरं यच्च नियुतानि चतुर्दश ।

स्वर्लोकः सोऽपि गदितो लोकसंस्थानचिन्तकैः ॥१८॥

त्रैलोक्यमेतत्कृतकं मैत्रेय परिपठ्यते ।

जनस्तपस्तथा सत्यमिति ऋकृतकं त्रयम् ॥१९॥

कृतकाकृतयोर्मध्ये महर्लोक इति स्मृतः ।

शून्यो भवति कलान्ते योऽत्यन्तं न विनश्यति ॥२०॥

तपलोक से बारह करोड़ योजन ऊपर सत्यलोक है, उसी को प्राणालोक कहते हैं, इस लोक में पुनः मृत्यु को प्राप्त न होने वाले अमरगण रहते हैं ॥१४॥ परन्तु, पग सत्कार के योग्य पापिव धन्तु भूलोक ही है तमसा विस्तार में पहिले ही कह चुका हूँ ॥१६॥ पृथिवी और सूर्य के बीच में सिद्धो और मुनियो द्वारा सेवित स्थान ही भुवर्लोक है ॥१७॥ सूर्य और ध्रुव के मध्य में चौदह लाख योजन की दूरी है, उल्लेखलोकस्थित के विचारकोने स्वर्लोक कहा है ॥१८॥ हे मैत्रेयजी ! यही भूः, भुवः, स्वः, 'कृतक' त्रैलोक्य कहे गये हैं तथा जन, तप, और सत्य 'अकृतक' तीन लोक हैं ॥१९॥ इन कृतक और अकृतक त्रैलोक्यो के बीच में महर्लोक बताया जाता है, जो कल्प के अन्त में ही जन-शून्य होता है, उसका अत्यन्त नाश नहीं होता ॥२०॥

एने सप्त मया लोका मैत्रेय कथितास्तव ।

पातालानि च सप्तैव ब्रह्माण्डस्यैव विस्तरः ॥२१॥

एतदण्डकटाहेन तिथंक् चोर्ध्वमधस्तथा ।

कपित्थस्य यथा बीजं सर्वतो वै समावृतम् ॥२२॥

दशोत्तरेण पयसा मैत्रेयाण्डं च तदवृतम् ।

सर्वोऽभ्युपरिधानोऽग्री वह्निना वेष्टितो वह्निः ॥२३॥

वह्निश्च वायुना वायुर्मैत्रेय नभसा वृतः ।

भूतादिना नभः सोऽपि महता परिवेष्टितः ॥२४॥

दशोत्तराण्यधोपाणि मैत्रेयैतानि सप्त वै ।

महान्तं च समावृत्य प्रधानं समवस्थितम् ॥२५॥

अनन्तस्य न तस्यान्न. सख्यान् चापि विद्यते ।
 तदनन्तमसख्यातप्रमाणं चापि वै यत् ॥२५॥
 हेतुभूतमशेषस्य प्रकृति सा परा मुने ।
 अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुनानि च ॥२७॥

हे मैत्रेयजी ! इस प्रकार तुम्हारे प्रति दन सात लोको और सात पातालो का वर्णन मैंने तुमसे किया है । यह ब्रह्माण्ड इतने ही विस्तार वाला है ॥२१॥ तथा वह कपित्थ बीज के समान ऊपर, नीचे और सभी ओर से अण्डकटाह-द्वारा घिरा है ॥२२॥ हे मैत्रेयजी ! यह ब्रह्माण्ड अपने से दस गुने जल से ढका है और वह जलावरण अग्नि से घिरा हुआ है ॥२३॥ अग्नि वायु से और वायु आकाश से घिरा है । वह आकाश भूतो के कारण रूप तामस अहंकर से और अहंकार महत्तत्त्व से परिवेष्टित है ॥२४॥ हे मैत्रेयजी ! यह सातों उत्तरोत्तर एक दूसरे से दस गुने होते गये हैं । महत्तत्त्व को प्रधान ने आवृत्त किया हुआ है ॥२५॥ उस अनन्त का न कभी अन्त होता है और न उसकी कोई गणना ही है । क्योंकि, हे मुने ! वह अनन्त, असंख्येय अपरिमेय और सम्पूर्ण विश्व का कारण तथा परा प्रकृति है । उसमें ऐसे ऐसे सहस्रो, लाखो, करोड़ो ब्रह्माण्ड हैं ॥२६-२७॥

ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटिशतानि च ।
 दारुण्यग्निमयथा तैल तिले तद्वत्पुमानपि ॥२८॥
 प्रधानेऽवस्थितो व्यापी चेतनात्मात्मवेदनः ।
 प्रधानं च पुमाश्चैव सर्वभूतात्मभूतया ॥२९॥
 विष्णुशक्त्या महाबुद्धे चूतो सथयधर्मिणी ।
 तयोः संव पृथग्भावकारणं सथयस्य च ॥३०॥
 शोभकारणभूता च सर्गकाले महामते ।
 यथा सक्त जले वातोविभति यणिकाशतम् ॥३१॥
 शक्ति सापि तथा विष्णोः प्रधानपुरपात्मवत् ।
 यथा च पादपो मूलस्वल्पशालादिसमुत् ॥३२॥

आदिवीजात्प्रभवति बीजाभ्यानि च ततः ।

प्रभवन्ति ततस्तेभ्यः सम्भवन्त्यपरे द्रुमाः । ३३।

तेऽपि तल्लक्षणद्रव्यकारणानुगता मुने ।

एवमव्याकृतात्पूर्वं जायत महदादयः । ३४।

विशेषान्तास्ततस्तस्य सम्भवन्त्यसुरादयः ।

तेभ्यश्च पुत्रास्तथा च पुत्राणामपरे सुताः । ३५।

जैसे काष्ठ में अग्नि और तिल में तेल रहता है, वैसे ही अपने प्रकाश से ही प्रकाशित, चेतनात्मा व्यापक पुरुष की प्रधान में स्थिति है । ये परस्पर मिल हुए प्रधान और पुरुष सब भूतों की स्वरूप भूता विष्णु शक्ति से युक्त हैं । वही विष्णु शक्ति उन्हें पृथक् करने वाली और वही मिलाने वाली है । सग का आरम्भ होने के समय वही उनको धारण करती है । जैसे जल के ससग से वायु सँकड़ो जन कणों का धारण करने वाला होता है, वैसे ही विष्णु शक्ति प्रधान पुरुषात्मक विश्व की धारण करती है । हे मुने ! जैसे आदि बीज के ही द्वारा जड़, स्कन्ध, शाखा आदि से परिपूण वृक्ष की उत्पत्ति होती है और उन बीजों से दूसरे-दूसरे वृक्ष उत्पन्न हो जाते हैं ॥३८-३९॥ तथा वे भी उन्हीं लक्षणों, द्रव्यों और कारणों वाले होते हैं । वैसे ही प्रधान के द्वारा महत्त्व से पचभूत तक की उत्पत्ति होती है तथा उनसे ही देवता, असुर आदि उत्पन्न होते हैं और फिर उनके पुत्र अथवा पुत्री वे भी पुत्राद होते हैं ॥३४-३५॥

वाजाद् वृक्षप्ररोहेण यथा नापचयस्तरौ ।

भूतानां भूतसर्गेण नैवास्त्यपचयस्तथा । ३६।

सन्निधानाद्यथाकाशकालाद्या कारणतरोः ।

तथैवापरिणामेन विश्वस्य भगवान्हरिः । ३७।

ग्रीह्वीजे यथा मूलनालपत्राद्ग्रीतया ।

काण्डकोशस्तु पुष्पचक्षोरतद्वच्च तण्डुलाः । ३८।

तुषा-कणाश्च सन्तो वै यान्त्याविर्भावमात्मनः ।

प्ररोहहेतुसामग्रीमासाद्य मुनिसत्तम । ३९।

तथा कर्मस्वनेनेषु देवद्याः समवस्थिताः ।
विष्णुशक्तिं समासाद्यी प्ररोहमुपयान्ति वै ॥४०॥

स च विष्णुः पर ब्रह्म यत सर्वमिदं जगत् ।
जगच्च यो यत चेदं यस्मिंश्च लयमेव्यति ॥४१॥

तद्ब्रह्म तत्पर धाम सदसत्परम पदम् ।
यस्य सवमभेदेन यतश्चैतच्चराचरम् ॥४२॥

स एव मूलप्रकृतिर्व्यक्तरूपी जगच्च स ।
तस्मिन्नेव लय सर्वं याति तत्र च तिष्ठति ॥४३॥

कर्ता क्रियाणां स च इज्यते क्रतुः स एव तत्कर्मफल च तस्य ।
लूगादि यत्साधनमप्यशेषं हरेर्न किञ्चिद्व्यतिरिक्तमस्ति ॥४४॥

जिस वृक्ष के बीज से अन्य वृक्षों के उत्पन्न होने पर भी जिसका बीज था, उस वृक्ष को कोई हानि नहीं पहुँचती वैसे ही अन्य प्राणियों की उत्पत्ति से उनके जन्म के कारण बीजदाता प्राणियों को भी क्षति नहीं पहुँचती ॥३९॥ जैसे आकाश और कालादि निकटता से ही वृक्षादि के कारण होते हैं, वैसे ही भगवान् श्रीहरि भी बिना परिणाम के ही जगत् के कारण होते हैं ॥३७॥ हे मुनिवर ! जैसे घान के बीज में मूल, नाल, पत्र, अकुर, काण्ड, कोश पुष्प और छल्ल, गुप और बण स्थित रहते हैं और अकुर को उत्पन्न करने में हेतु वाली सामग्री को पाकर वे सब प्रकट हो जाते हैं ॥३८-३९॥ वैसे ही अपने पूर्व कर्मों में स्थित देवगण आदि विष्णु-शक्ति का आश्रय प्राप्त करके उत्पन्न हो जाते हैं ॥४०॥ जिस परब्रह्म से यह विश्व प्रकट हुआ है तथा जो स्वयं ही विश्व रूप से स्थित है और जिसमें इस विश्व को लीन होना है, वह विष्णु ही है ॥४१॥ यही ब्रह्म है, वही परमधाम है, वह पद मत् और असत् दोनों से ही अद्वितीय प्रकार का है । उससे अग्रे यह सम्पूर्ण चराचरात्मक विश्व उसी से उत्पन्न हुआ है ॥४२॥ तुम उसी को अव्यक्त मूल प्रकृति और उसी को व्यक्त स्वरूप विश्व समझो । यह सम्पूर्ण विश्व उसी के आश्रय में स्थित है और उसी में लीन हो जाएगा ॥४३॥ वही यज्ञादि का कर्ता है, वही यज्ञ-रूप और यजन क्रिया

जाने वाला है तथा वही यज्ञादि का फल स्वरूप घोर वही यज्ञ के साधन हैं ।
उन भगवान् के अतिरिक्त कही कुछ भी नहीं है ॥४४॥



आठवाँ अध्याय

व्याख्यातमेतद्ब्रह्माण्डमस्यानं तत्र मुञ्चत ।
ततः प्रमाणमस्याने मूर्याशीनां शृणुष्व मे ॥१॥
योजनानां सहस्राणि भास्करस्य रथो नव ।
ईषादण्डस्तथेवास्य द्विगुणो मुनिसत्तम ॥२॥
सार्धकोटिस्तथा सप्त नियुत्तान्यधिकानि वै ।
योजनानां तु तस्याक्षप्तत्र चक्रं प्रतिष्ठितम् ॥३॥
त्रिणाभिमति पञ्चारे षष्णेमित्यक्षयारम्भके ।
सदस्तरमये कृत्स्न कालचक्रं प्रतिष्ठितम् ॥४॥
हयाश्च सप्तच्छन्दासि तेषां नामानि मे शृणु ।
गायत्रि च वृहस्पृष्टिण्यजगती निष्टुवेव च ॥५॥
प्रनुष्टुप्पङ्क्तिरित्युक्ता छन्दासि हरयो रवेः ।
चत्वारिंशत्सहस्राणि द्वितीयोऽक्षो विवस्वतः ॥६॥
पञ्चान्यानि तु सार्धानि म्यन्दनस्य महामते ।
अक्षप्रमाणमुभयोः प्रमाणं तद्युगादयोः ॥७॥
ह्रस्वोऽक्षस्तद्युगादौ न ध्रुवाधारो रथस्य वै ।
द्वितीयेऽक्षे तु सच्चक्रं सत्स्थिता मानसाचने ॥८॥

श्री पराशरजी ने कहा—हे मुञ्चत ! मैंने तुम्हारे प्रति ब्रह्माण्ड का
वर्णन किया है, अब मूर्यादि की स्थिति और उनके परिमाण की गुणो ॥१॥ हे
मुनिवर ! सूर्यदेव का रथ भी योजन विस्तार वाला है तथा उसमें द्विगुण परि-
माण वाला उसका ईषा-दण्ड है ॥२॥ उसका मुख्य डेढ़ करोड़ सप्त सात

योजन का है जिसमें उसका पहिया लगा हुआ है ॥३॥ उस तीन नाभि, पाँच भरे घोर छ. नेमि वाले तत्परात्मक अक्षय शक्र में सम्पूर्ण वासवक विद्यमान है ॥४॥ गायत्री, वृद्धी, उष्णिक् जगती, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् और पङ्क्ति यह सप्त छन्द ही उस रथ में जोड़े जाने वाले अश्व हैं । उनके रथ का दूसरा घुरा सार्दे पैनालीम हजार योजन लम्बा है तथा दोनों घुरों के समान ही उसके जुओं का परिमाण है ॥५-७॥ एक जुए के सहित के उस रथ का छोटा घुरा ध्रुव पर और दूसरे घुरे का पहिया मानसोत्तर पवन पर स्थित है ॥८॥

मानसोत्तरशैलस्य पूर्वतो वासवी पुरी ।
 दक्षिणे तु यमस्यान्या प्रतीच्या वरुणस्य च ॥९॥
 उत्तरेण च सोमस्य तासा नामानि मे शृणु ।
 वस्वोक्तसारा शक्रस्य याम्या सयमनी तथा ॥१०॥
 पुरी सुखा जलेशस्य सोमस्य च विभावरी ।
 काष्ठा गतो दक्षिणत क्षिप्तोपुरिव सर्जति ॥११॥
 मैत्रेय भगवान्भानुज्योतिषा चक्रसमुत् ।
 अहोरात्रव्यवस्थानकारण भगवान्भविः ॥१२॥
 देवयान. पर. पन्था योगिना क्लेशक्षये ।
 दिवरस्य रविर्मध्ये सर्वकाल व्यवस्थित. ॥१३॥
 सर्वद्वीपेषु मैत्रेय निशार्द्धस्य च सम्मुखः ।
 उदयास्तमने चैव सर्वकाल तु मम्मुखे ॥१४॥

मानसोत्तर शैल के पूर्व में इन्द्र की, दक्षिण में यम की, पश्चिम में वरुण की तथा उत्तर में चन्द्रमा की पुरी है, उनके नाम सुनो । इन्द्र की पुरी का नाम वस्वोक्तसारा है यम की पुरी को सयमनी कहते हैं ॥९-१०॥ पण्डित की पुरी सुखा और चन्द्रमा की विभावरी ॥ हे भन्नेयजी ! ज्योतिषक वे सहित भगवान् सूर्य दक्षिण दिशा में प्रविष्ट होकर पशुपति से छोड़े हुए तीर में समान तीव्र वेग से गमन करते हैं । वही भगवान् सूर्य दिन और रात्रि का विभाग करते हैं ॥११-१२॥ तथा रागादि क्लेशों का खवन होने पर वे ही

मोक्ष प्राप्ति योगियों के लिये देवयान नामक सर्वश्रेष्ठ मार्ग है । हे मन्त्रेयजी ! सभी द्वीपों में सदा मध्याह्नकाल न टपा रा.त्र के मध्य में वे मध्य-भागात्त में सामने की ओर स्थित रहते हैं । वंश ही उदय श्रीः अस्त भी परस्पर सामने ही होते हैं ॥१३-१४॥

विदिनासु त्वशेषासु तथा ब्रह्मान् दिनासु च ।
 यैर्यत्र दृश्यते भास्वान्स तेपामुदयः स्मृतः ॥१५॥
 तिरोभाव च यत्र ति तत्र वास्तमन रवेः ।
 नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सत् ॥१६॥
 उदयास्तमनाद्य हि दर्शनादर्शन रवेः ।
 शक्रादीनां पुरे तिलन् स्पृशत्येष पुरनयम् ॥१७॥
 विकोणौ द्वौ विकोणस्यस्त्रीन् कोणान्ध्रे पुरे तथा ।
 उदितो बद्धमानाभिरामध्याह्नात्तपधविः ॥१८॥
 ततः परं ह्रस्वन्तीभिर्गोमिरस्तं नियच्छति ।
 उदयास्तमनाभ्या च स्मृते पूर्वपरे विधौ ॥१९॥
 यावत्पुरस्तात्तपति तावत्पृष्ठे च पार्श्वयोः ।
 ऋतेऽमरगिरेर्मरोरपरि ब्रह्मणः सभा ॥२०॥
 ये ये मरीचयोऽर्कस्य प्रयान्ति ग्रहाणाः सभा ॥
 ते ते निरस्तास्तद्भासा प्रतीपमुपयान्ति वै ॥२१॥

ह ब्रह्मन् ! सब दिना-विदिनाओं में जहाँ के निवासी जिस स्थान पर सूर्य को देखते हैं, उनके लिये वहीं सूर्योदय होता है ॥ १५ ॥ दिन की समाप्ति पर जहाँ सूर्य छिपता है वहाँ अस्त होना कहा जाता है । सदा एक ही रूप में स्थित रहने वाले सूर्य का कभी उदय, अस्त नहीं होता ॥ १६ ॥ उनका दिशाई देना या न देना ही उनका उदय या अस्त होना है । मध्याह्न समय में इन्द्रादि में से किसी की पुरी के ऊपर प्रकाशित होने हुए सूर्य तीन पुरियों और दो कोणों को प्रकाशित करते हैं । इसी प्रकार अग्नि आदि किसी कोण में प्रकाशित होकर वे तीन कोणों और दो पुरियों को प्रकाशित करते हैं । उदय होने के बाद मध्याह्न काल तक अपनी प्रवृद्ध होती हुई फिरलों

स्वयं तपते हैं ॥ १७-१८ ॥ इसके पश्चात् दीप्त होती हुई किरणों से ही धीरे-धीरे अस्त हो जाते हैं । उनके उदय और अस्त से ही पूर्व, पश्चिम आदि दिशाएँ कल्पित हुई ॥ १९ ॥ मघार्घ्य में वो वे जेमा पूर्व में प्रकाश करते हैं, वैसा ही पश्चिम या उसके इधर-उधर की दिशाओं में करते हैं । वे देवगिरि मुमेरु पर स्थित ब्रह्माजी की सभा को छोड़कर अन्य सभी स्थानों को प्रकाशित करते हैं ॥ २० ॥ उनकी जो रश्मियाँ ब्रह्माजी की सभा में पहुँचती हैं, वह उस सभा से निस्तेज होकर उल्टी लौटती हैं ॥ २१ ॥

तस्मादिश्युत्तरस्या वै दिवारात्रिः सदैव हि ।
 सर्वेषां द्वीपवर्षाणां मेरुस्तरतो यतः ॥ २२ ॥
 प्रभा विवस्वतो रात्रावस्त गच्छति भास्करो ।
 विशत्यग्निमतो रात्रौ बल्लिर्दूरात्प्रकाशते ॥ २३ ॥
 बल्लैः प्रभा तथा भानुदिनेष्वाविशति द्विज ।
 अतीव बल्लिरायोगादतः सूर्यः प्रकाशते ॥ २४ ॥
 तेजसो भास्कराग्नेये प्रकाशोष्णस्वरूपिणी ।
 परस्परानुप्रवेशादाप्यायेते दिवानिशम् ॥ २५ ॥
 दक्षिणोत्तरभूम्यर्द्धं समुत्तिष्ठति भास्करो ।
 अहोरात्रं विशत्यम्भस्तमः प्राकाश्यशीलवत् ॥ २६ ॥
 आताम्रा हि भवन्त्यापो दिवा नक्तप्रवेशनात् ।
 दिनं विशति चैवाम्भो भास्करोऽस्तमुपेयुषि ॥ २७ ॥
 तस्माच्छुबला भवन्त्यापो नक्तमह्नः प्रवेशनात् ।
 एवं पुष्करमध्येन यदा याति दिवाकरः ॥ २८ ॥
 त्रिशङ्कागन्तु मेदिन्यास्तदा मोहर्तकी गतिः ।
 कुलालचक्रपर्यन्तो भ्रमन्नेप दिवाकरः ॥ २९ ॥
 करोत्यहस्तथा रात्रि विमुञ्चन्मेदिनी द्विज ।
 अयनस्योत्तरस्यादौ भकर याति भास्करः ॥ ३० ॥

मुमेरु पर्वत सभी द्वीपों और वर्षों के उत्तर में है, इसीलिये उदा उत्तर दिशा में ही दिन और रात्रि रहते हैं ॥ २२ ॥ सूर्य के अस्त होने पर रात्रिवाला

में उनका तेज अग्नि में चला जाता है, इसीलिये अग्नि दूर से ही प्रकाशमान हो उठता है ॥ २३ ॥ हे द्विज ! दिन के समय अग्नि का तेज सूर्य में प्रविष्ट हो जाता है तब अग्नि का संयोग होनेसे सूर्य में भी प्रखरता आ जाती है ॥ २४ ॥ इस प्रकार सूर्य और अग्नि के प्रकाश और तेज दोनों ही परस्पर समुक्त होकर दिवस-रात्रि में बढ़ते रहते हैं ॥ २५ ॥ सुमेरु के दक्षिणोत्तर भूमध्य में जब सूर्य प्रकाशित होते हैं तब अन्धकार वाली रात्रि प्रकाशमान दिवस दोनों ही जल में प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ २६ ॥ दिन के समय रात्रि के जल-प्रवेश से ही जल में कुछ ताम्रवर्णत्व दिखाई पड़ता है और जब सूर्यास्त हो जाता है, तब दिवस चतुर्थांश प्रविष्ट होता है ॥ २७ ॥ तब रात्रिकाल में दिन के जल में प्रविष्ट होने के कारण उसका शुक्लवर्ण प्रतीत होता है । इस प्रकार सूर्य जब पुष्कर द्वीप के बीच में पहुँच कर पृथिवी के तीसरे भाग को साध जाता है तब उसकी गति एक मूर्त की हो जाती है । हे द्विज ! कुम्हार के चारु के चिर पर घूमते हुए समान भ्रमण करता हुआ वह सूर्य पृथ्वी के तीसरे भाग को पार करके एक दिन-रात्रि करता है । उत्तरायण के आरम्भ में वह सर्व प्रथम मकर राशि में पहुँचता है ॥ २८-३० ॥

तत कुम्भ च मीन च राशे राश्यन्तर द्विज ।
 त्रिप्लेतेष्वयं भुक्तेषु ततो वयुवती गतिम् । ३१
 प्रयाति सविता कुर्वन्प्रहोरात्र तत समम् ।
 ततो रात्रि क्षय याति बर्द्धतेऽनुदिन दिनम् । ३२
 ततश्च मिथुनस्यान्ते परा काष्ठा मुपागत ।
 राशि कर्कटक प्राप्य कुरुते दक्षिणायनम् । ३३
 कुन्तालचक्रपर्यन्तो यथा शीघ्रं प्रवर्तते ।
 दक्षिणप्रक्रमे सूर्यस्तथा शीघ्रं प्रवर्तते । ३४
 भतिवेगितया काल वायुवेगवलाच्चरन् ।
 तस्मात्प्रकृष्टा भूमि तु कालेनाल्पेन गच्छति । ३५

फिर वह कुम्भ और मीन राशियों में एक से दूसरी में जाता है । इन तीनों राशियों को छोड़कर रात्रि और दिन को समान करता हुआ सूर्य वयुवती

गति का आश्रय लेता है । फिर दिनो दिन रात्रि का क्षय होने लगता है और दिन की वृद्धि होने लगती है ॥ ३१-३२ ॥ फिर वह मिथुन राशि से निकलकर उत्तरायण की अन्तिम सीमा पर पहुँचता है और कक राशि में प्रविष्ट होकर दक्षिणायन का आरम्भ कर देता है ॥ ३३ ॥ जैसे कुम्हार के चाक के सिरे पर स्थित वस्तु घटायत द्रुत वेग से घूमती है वैसे ही सूर्य दक्षिणायन को पार करने की दिशा में द्रुतगति से गमन करता है ॥ ३४ ॥ इस प्रकार शीघ्र गति और वायु जैसे वेग से चलने के कारण वह अपने उल्टे मार्ग को अल्प समय में ही पार कर लेता है ॥ ३५ ॥

सूर्यो द्वादशभि शैघ्रचान्मुहूर्ते दक्षिणायने ।
 त्रयोदशाब्दं मृक्षाणामह्ला तु चरति द्विज ॥ ३६ ॥
 मुहूर्ते स्तावदक्षाणि नक्तमष्टादशैश्चरन् ।
 कुलालचक्रमध्यस्थो यथा मन्द प्रसर्पति ॥ ३७ ॥
 तथोदगयने सूर्यं सर्पते मन्दविक्रम ।
 तस्माद्दीर्घेण कालेन भूमिमल्पा तु गच्छति ॥ ३८ ॥
 अष्टादशमुहूर्तं यदुत्तरायणपश्चिमम् ।
 अहर्मवति तच्चापि चरते मन्दविक्रम ॥ ३९ ॥
 त्रयोदशाब्दं मह्ला तु मृक्षाणां चरते रवि ।
 मुहूर्ते स्तावदक्षाणि रात्रौ द्वादशभिश्चरन् ॥ ४० ॥
 अतो मन्दतर नाम्ना चक्रं भ्रमति वै यथा ।
 मृत्पिण्ड इव मध्यस्थो ध्रुवो भ्रमति वै तथा ॥ ४१ ॥
 कुलालचक्रनामिस्तु यथा तत्रैव वर्तते ।
 ध्रुवस्तथा हि मैत्रेय तत्रैव परिवर्तते ॥ ४२ ॥

हे द्विज ! दक्षिणायन में दिन के समय सूर्य इसनी शीघ्रता से चलता है कि उस समय में सारे तेरह नक्षत्रों को बारह मुहूर्तों में ही पार कर लेता है ॥ ३६ ॥ परन्तु रात्रि काल में उसकी गति इसनी मन्द हो जाती है कि उसने ही नक्षत्रों को छठारह मुहूर्तों में पार कर पाता है । जैसे कुम्हार के चक्र के मध्य में स्थित वस्तु धीरे-धीरे चलती है, वैसे ही उत्तरायण समय में सूर्य मन्दगामी

होता है और थोड़ा-सा मार्ग जो अत्यन्त दीर्घ समय में पार कर पाया है ॥३७-३८॥ इमलिंगे उत्तरायण का अन्तिम दिवस अठारह मूहूर्त का होता है, क्योंकि उस दिन सूर्य की गति अत्यन्त मन्द होती है ॥३९॥ ज्योतिर्वक्रादौ के साढ़े तेरह नक्षत्रों को वह एक दिन में पूरा करता है, परन्तु रात्रि के समय बृहत्तने ही नक्षत्रों को बारह मूहूर्तों में पूरा कर लेता है ॥ ४० ॥ इसीलिए जंमे नामि देग में चाक घीरे-घीरे घूमता है, जिससे वहाँ का मूर्तिह भी मन्द गति से घूमता है, वैसे ही ज्योतिर्वक्र के बीच में स्थित ध्रुव भी अत्यन्त धीमी गति से घूमता है ॥४१॥ हे मंत्रेयजो ! जंसे कुम्हार के चार की नामि अपने ही स्थान पर घूमती रहती है, वैसे ही ध्रुव भी अपने ही स्थान पर घूमता रहता है ॥४२॥

उभयोः काष्ठयोर्मध्ये भ्रमतो मण्डलानि तु ।
 दिवा नक्तं च सूर्यस्य मन्दा शीघ्रा च वै गतिः ॥४३॥
 मन्दाह्नि यस्मिन्नयने शीघ्रा नक्तं तदा गतिः ।
 शीघ्रा निशि यदा चास्य तदा मन्दा दिवा गतिः ॥४४॥
 एकप्रमाणमेवैव मार्गं याति दिवाकः ।
 अहोरात्रेण यो भुङ्क्ते समस्ता रात्रयो द्विज ॥४५॥
 षडेव रात्रीन् यो भुङ्क्ते रात्रावन्याम्र पट्दिवा ।
 रात्रिप्रमाणजनिता दीर्घं ह्रस्वात्मता दिने ॥४६॥
 तथा निशाया रात्रीनां प्रमाणैर्नपुदीर्घता ।
 दिनादेर्दीर्घं ह्रस्वत्वं तद्भोगेनैव जायते ॥४७॥
 उत्तरे प्रथमे शीघ्रा निशि मन्दा गतिर्दिवा ।
 दक्षिणे त्वयने चैव विपरीता विवस्वतः ॥४८॥ . .

इस प्रकार उत्तर दक्षिण की सीमाओं के बीच में पड़ता-बार घूमने से सूर्य की गति दिन या रात के समय मन्द या द्रुत हो जाती है ॥४३॥ दिन के समय सूर्य की गति जिस समय में धीमी होती है, उत समय में रात्रि के समय द्रुत हो जाती है और जब रात्रि के समय शीघ्र गति होती है सब दिन में धीमी हो जाती है ॥४४॥ हे द्विज ! सूर्य को सर्वत्र एक समान मार्ग ही पूरा करना

होता है, एक दिन-रात्रि में ही यह सभी राशियों का भोग करता है ॥४५॥ यह छ राशियों को रात्रि-काल में छः को दिन के समय भोगता है । राशियों के परिमाण से ही दिन की वृद्धि अथवा ह्रास होता है ॥४६॥ रात्रि का छोटा या बड़ा होना भी राशियों के परिमाण के अनुसार होता है । राशियों के भोग के अनुसार ही दिन या रात्रि का लघुत्व या दीर्घत्व होता है ॥४७॥ उत्तरायण में रात्रि के समय सूर्य की गति में वीर्यता और दिन के समय मन्दता होती है । परन्तु दक्षिणायन में उसकी गति इससे नितान्त विपरीत होती है ॥४८॥

उपा रात्रिः समाख्याता व्युष्टिश्चाप्युच्यते दिनम् ।
 प्रोच्यते च तथा सन्ध्या उपाव्युष्टघोर्यदन्तरम् ॥४९॥
 सन्ध्याकाले च सम्प्राप्ते रौद्रे परमदारुणे ।
 मन्देहा राक्षसा घोरा सूर्यमिच्छन्ति खादितुम् ॥५०॥
 प्रजापतिकृत शापस्तेषा मंत्रेण रक्षसाम् ।
 अक्षयत्व शरीराणा मरणं च दिने दिने ॥५१॥
 ततः सूर्यस्य तैर्युद्धं भवत्यत्यन्तदारुणम् ।
 नतो द्विजोत्तमास्तोमसङ्क्षिपन्ति महामुने ॥५२॥
 अवारत्रहसयुक्त गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् ।
 तेन दहन्ति ते पापा वज्रीभूतेन वारिणा ॥५३॥
 अग्निहोत्रे हूयते या समन्त्रा प्रथमाहुतिः ।
 सूर्यो ज्योतिः सहस्राद्युस्तया दीप्यति भास्करः ॥५४॥
 ओङ्कारो भगवान्विष्णुस्त्रिधामा वचसा पतिः ।
 तदुच्चारणतस्ते तु विनाशं यान्ति राक्षसाः ॥५५॥

रात्रि को उपा और दिन को व्युष्टि कहा गया है । इन उपा और व्युष्टि के मध्य बाग को ही सन्ध्या कहते हैं ॥ ४९ ॥ जब यह अत्यन्त दारुण और भयंकर सन्ध्या कास उपस्थित होता है तब मन्देहा संज्ञक घोर राक्षस गण सूर्य का मरण करने की इच्छा करते हैं ॥ ५० ॥ हे मंत्रेयजी ! उन राक्षसों को प्रजापति या यह पाप लगा हुआ है कि उनके शरीरों में अक्षयत्व होते हुए भी प्रति दिन उनकी मृत्यु हो ॥५१॥ हमलिये सन्ध्याकाल उपस्थित होने पर उनका

सूर्य से अत्यन्त दारुण संशय होता है, उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मणों द्वारा जो ब्रह्म रूप प्रणव एवं गायत्री में अभिमंत्रित जल छोड़ा जाता है, वह जल यज्ञरूप होकर उन दुष्ट राक्षसों को भस्म कर देता है ॥३२-३३॥ अग्निहोत्र में 'सूर्यो ज्योतिः' इत्यादि मन्त्र से बी जाने वाली प्रथमाहुति से सहस्ररदिम भगवान् मास्वर देदीप्यमान होते हैं ॥३४॥ ओंकार ही आश्रय, स्वप्न तथा सुषुप्ति रूप तीन धारों से परिपूर्ण भगवान् विष्णु और सभी प्राणियों का भवीश्वर है, उसका उच्चारण होने से ही राक्षसों का नाश हो जाता है ॥३५॥

यैष्णव्योऽस्तः परः सूर्यो योऽन्तर्ज्योतिरसम्भवम् ।
 अभिधायक ऋकारस्तस्य संप्रेरकः परः ॥३६॥
 तेन सम्प्रेरितं ज्योतिरोद्गारेणाप धीमिमत् ।
 दहत्यदोपरक्षांसि मन्देहाद्यान्यधानि वै ॥३७॥
 तस्माद्गोलक्ष्मणं कार्यं सन्ध्योपासनकर्मणः ।
 स हन्ति सूर्यं सन्ध्याया नोपास्ति क्रुद्धे तु यः ॥३८॥
 ततः प्रवाति भगवान्ब्राह्मणं रभिरक्षितः ।
 बाललित्यादिभिर्दधैव जगतः पालनोद्यतः ॥३९॥
 काष्ठा निमेषा दश पञ्च चंद त्रिदश च काष्ठा गणयेत्कलां च ।
 त्रिदशकलदधैव भवेन्मुहूर्तं स्तंखिद्यता रात्र्यहनी समेते ॥४०॥
 हासवृद्धी त्वहर्नागैर्दिवसानां ययाक्रमम् ।
 सन्ध्यामुहूर्तमात्रा वै हासवृद्धयोः समा स्मृता ॥४१॥
 रैलाप्रभृत्ययादित्ये त्रिमुहूर्तंगते रवी ।
 प्रातःस्मृतस्ततः कालो मायश्चाह्नः स पञ्चमः ॥४२॥
 तस्मात्प्रातस्तानात्कालात्त्रिमुहूर्तंस्तु सङ्गवः ।
 मध्याह्नस्त्रिमुहूर्तंस्तु तस्मात्कालात् सङ्गवात् ॥४३॥
 तस्मान्माध्याह्नात्कालादपराह्ण इति स्मृतः ।
 त्रय एव मुहूर्तास्तु कालभागः स्मृतो बुधैः ॥४४॥
 अपराह्णे व्यतीते तु कालः सायाह्न एव च ।
 दशपञ्चमुहूर्ता वै मुहूर्ताख्य एव च ॥४५॥

सूर्य भगवान् विष्णु का अश तथा विकार हीन अन्तर्गोनि है । प्रणव उसका वाचक होने से वह उसे उन राक्षसों के विनाशार्थ अत्यन्त प्रेरण करता है ॥५६॥ उसी प्रणव की प्रेरणा से वह ज्योति अत्यन्त प्रदीप्त होकर उन मन्देहा सज्जन सभी राक्षसों को भस्म करन में समर्थ होती है ॥५७॥ इसीलिये सन्ध्योपासन कर्म का कभी भी उल्लंघन करना अनुचित है । सन्ध्योपासन न करने वाला पुरुष सूर्यघाती माना गया है ॥५८॥ फिर भगवान् सूर्य बाल्य-खिल्यादि ऋषियो से रक्षित होते हुए जगत का पालन में प्रवृत्त होकर जाते हैं ॥५९॥ पद्म निमेष की एक काश और तीस काश की एक कला होती है । तीस कलाओं का एक मुहूर्त्त और तीस मुहूर्त्तों की दिन-रात्रि होती है ॥६०॥ दिनो का क्षय और वृद्धि शामश प्रातः, मध्याह्न आदि दिन के अंशों के क्षय अथवा वृद्धि के कारण है । परन्तु दिनो के घटने-बढ़ने पर सन्ध्या सदा एक समान एक मुहूर्त्त की ही होनी है ॥६१॥ उदय होने के पश्चात् सूर्य के तीन मुहूर्त्त गमन करने को प्रातः काल कहते हैं । यह पूरे दिन का पाँचवाँ भाग होता है ॥६२॥ इस प्रातः काल के अन्तीत होने पर तीन मुहूर्त्त के समय को यज्ञव कहा जाता है, और सञ्जव के समाप्त होने पर तीन मुहूर्त्त तक का समय मध्याह्न होता है ॥६३॥ मध्याह्न के पश्चात् अपराह्न काल होता है, ज्ञानियो ने इसे भी तीन मुहूर्त्त का ही बताया है ॥६४॥ जब अपराह्न बीत जाता है तब सायाह्न उपस्थित होता है । इस प्रकार पद्म मुहूर्त्त का दिन तथा तीन मुहूर्त्त का विवसाय होता है ॥६५॥

दशपञ्चमुहूर्त्त वै अहर्वैषुवत् स्मृतम् ।
 वर्द्धते ह्रसते चैवाप्ययने दक्षिणोत्तरे ।६६।
 अहस्तु प्रसते रात्रि रात्रिर्ग्रसति वासरम् ।
 शरदसन्तयोर्मध्ये विषुव तु विभाव्यते ।६७।
 तुषामेपगतं भानो समरात्रिदिव तु तत् । -
 कर्वाटावस्थिते भानो दक्षिणायनमुच्यते ।६८।
 उत्तरायणमप्युक्तं मकरस्थे दिवाकरे ।
 त्रिंशन्मुहूर्त्तं कथितमहोरात्र तु यन्मया ।६९।

तानि पञ्चदश ग्रहानु पक्ष इत्यभिधीयते ।
 मास पक्षद्वयेनोक्तो द्वौ मासौ चार्कजावृत्तु ॥७०॥
 ऋतुत्रय चाप्ययन द्वेऽयने वर्षसंज्ञिते ।
 सवत्सरादयः पञ्च चतुर्मासविकल्पिता ॥७१॥
 निश्चयः सर्वकालस्य युगमित्यभिधीयते ।
 सवत्सरस्तु प्रथमो द्वितीयः परिवत्सरः ॥७२॥
 इद्वत्सरस्तृतीयस्तु चतुर्यश्चावुत्तरः ।
 वत्सरः पञ्चमश्चान्वालोऽयं युगसंज्ञितः ॥७३॥

वैपुवत दिन पद्म मुहूर्त का कहा है, परन्तु उत्तरायण में उसकी वृद्धि और दक्षिणायन में ह्रास होता है ॥६८॥ इस प्रकार उत्तरायण में दिन, रात्रि को घसने लगता है और दक्षिणायन में रात्रि, दिन को घसने लगती है । पारद और वसन्त ऋतु के बीच में जब सूर्य तुला या मेष राशि पर जाता है तब दिन रात्रि के समान होने से 'वैपुव' होता है । जब सूर्य कर्क राशि में पहुँचता है तब दक्षिणायन कहा जाता है ॥६७-६८॥ तथा मकर राशि में पहुँचना है तब उसे उत्तरायण कहते हैं । हे ब्रह्मन् ! मैंने तीन मुहूर्त का जो महोरात्र कहा है, वैसे पद्म महोरात्र के समय को पञ्च कहते हैं । दो पक्ष का एक मास और दो मास की एक ऋतु होती है । तीन ऋतुओं का एक अयन और दो अयन का एक वर्ष कहा जाता है । चार प्रकार के मास बन्पना तथा पाँच प्रकार के सवत्सरादि वर्ष कहे गये हैं ॥६९-७१॥ यही युग सब प्रकार के कालों का निर्णायक है । प्रथम सवत्सर, द्वितीय परिवत्सर, तृतीय इद्वत्सर, चतुर्थ अनुवत्सर और पंचम वत्सर कहा है । यह समय ही युग के नाम से प्रसिद्ध है ॥७२-७३॥

म इवेतस्योत्तरं शैलं शृङ्गवानिति विधुतः ।
 ग्रीणि तस्य तु शृङ्गाणि यैरयं शृङ्गवान्स्मृतः, ॥७४॥
 दक्षिणोत्तरं चैव मध्यं वैपुवतं तथा ।
 मरुदसन्तयोर्मध्ये तद्गानु प्रतिपद्यते ॥७५॥

मेपादी च तुलादी च मंत्रेय विपुवत्स्थित ।
 तदा तुल्यमहोरात्र करोति तिमिरापह ॥७६॥
 दशपञ्चमुहूर्तं वै तदेतदुभय स्मृतम् ।
 प्रथमे कृत्तिकाभागे यदा भास्वास्तदा शशी ॥७७॥
 विशाखाना चतुर्थेऽंशे मुने तिष्ठत्यसशयम् ।
 विशाखाना यदा सूर्यश्चरत्यश तृतीयकम् ॥७८॥
 तदा चन्द्र विजानीयात्कृत्तिकाशिरसि स्थितम् ।
 तदैव विपुवाख्योऽय काल पुण्योऽभिधीयते ॥७९॥

श्वेतवर्ष के उत्तर में तीन शृङ्ग वाला एक पर्वत है जो उन शृङ्गों के कारण ही शृङ्गवान् नाम से विख्यात है ॥७४॥ उसका एक शृङ्ग उत्तर की ओर, एक दक्षिण की ओर तथा एक बीच में है । वह बीच वाला शृङ्ग ही 'विपुवत्' है । शरद् और वसन्त ऋतु के बीच में सूर्य इसी विपुवत् शृङ्ग पर स्थित होते हैं ॥७५॥ इसलिये हे मंत्रयजी ! मेष या तुला राशि के आरम्भ में ग्रह-कार नष्ट करने वाले सूर्य विपुवत् पर आकर दिन और रात को एक जैसे परिमाण का कर देते हैं ॥७६॥ उस समय दिन और रात बोगे ही पन्द्रह पन्द्रह दिन के होते हैं । हे मुने ! जब सूर्य कृत्तिका नक्षत्र के प्रथम भाग में और चन्द्रमा विशाखा नक्षत्र के चौथे भाग में हो अथवा जब सूर्य विशाखा के तीसरे भाग का और चन्द्रमा कृत्तिका के प्रथम भाग का भोग करते हो, तब यह विपुव नामक अत्यन्त पुनीत समय होता है ॥७७-७९॥

तदा दानानि देयानि देवेभ्य प्रयतात्मभि ।
 ब्राह्मणेभ्य पितृभ्यश्च मुखमेतत्तु दानजम् ॥८०॥
 दत्तदानस्तु विपुवे कृतकृत्योऽभिजायते ।
 अहोरात्रार्द्धमासास्तु बला काष्ठा क्षणास्तथा ॥८१॥
 पीणमासी तथा ज्ञेया अमावास्या तथैव च ।
 सिनीवाली कुहूदन्वं रावा चानुमतिस्तथा ॥८२॥
 तपस्तपस्यौ मधुमाघवौ च शुक्र शुचिश्चायनमुत्तर स्यात् ।
 नभोनभस्यौ च इपस्तथोर्ज स्मह सहस्याविति दक्षिण तत् ॥८३॥

लोकालोकश्च यश्चैलः प्रागुक्तो भवतो मया ।

लोकपालास्तु चत्वारस्तत्र तिष्ठन्ति सुव्रताः ॥८४॥

सुधामा गृह्णपाञ्चैव कर्दमस्यात्मजो द्विज ।

हिरण्यरोमा चैवान्यश्चतुर्थः केतुमानपि ॥८५॥

निद्वन्द्वा निरभिमाना निस्तन्द्वा निष्परिग्रहाः ।

लोकपालाः स्थिता ह्येते लोकालोके चतुर्दिगम् ॥८६॥

इस समय देवता, ब्राह्मण, पितर आदि के निमित्त मृत जिन से दानादि कर्म करे । दान ग्रहण करने के लिये यह काल देवताओं के खुले हुए मुख के तुरूप है ॥८०॥ इसलिये विपुल काल में जो दान करना है, वह भन्य हो जाता है । यज्ञादि का समय निश्चित करने के लिये दिन, रात, पक्ष, वना, वाशा और क्षण आदि कालों के विषय में भले प्रकार ज्ञान करना चाहिये । ॥८१॥ पूर्णमासी के दो भेद हैं :— राका और अनुमति और अमावस भी सिनीवासी और कुह के भेद में दो प्रकार की हैं ॥८२॥ उत्तरायण के मास, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ—यह छः मास होते हैं तथा आषण, भाद्र, वशाद, कार्तिक, अमहन, पौष—यह छः मास दक्षिणायन के कहे गये हैं ॥८३॥ पहिले मैं तुममें जिन लोकालोक पर्वत के विषय में कह चुका हूँ, उस पर चार व्रत परायण लोकपाल रहते हैं ॥८४॥ सुधामा, कर्दम-पुत्र गृहपाद, हिरण्यरोमा और केतुमान् नामक यह चारों लोकपाल द्वन्द्व, अभिमान, आलस्य और परिग्रह आदि से दूर रह कर लोकालोक पर्वत की चारों दिशाओं में निवास किये हुए हैं ॥८५-८६॥

उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीय्याश्च दक्षिणम् ।

पितृपानः स वै पन्था वंश्चानरण्यार्द्रहिः ॥८७॥

तत्रासते महात्मान अप्ययो येऽग्निहोत्रिणः ।

भूतारम्भकृत ब्रह्म दामन्तो ऋत्विगुद्यताः ।

प्रारमन्ते तु ये लोकास्तेषां पन्थाः स दक्षिणः ॥८८॥

चलितं ते पुनर्ब्रह्म स्यापयन्ति युगे युगे ।

सन्तत्या तपसा चैव मर्यादाभिः श्रुतेन च ॥८९॥

जायमानास्तु पूर्वे च पश्चिमाना गृहेषु वै ।
 पश्चिमाश्चैव पूर्वेषां जायन्ते निघनेष्विह ॥६०॥
 एवमावर्तमानास्ते तिष्ठन्ति नियतव्रता ।
 सवितुर्दक्षिण मार्गं श्रिता ह्याचन्द्रतारकम् ॥६१॥

अगस्त्य के उत्तर और अजवीषि के दक्षिण में जो वंशवानर मार्ग से भिन्न मार्ग है, वही विवृयान मार्ग कहा गया है ॥६०॥ उस मार्ग में ऋषि-महात्मा निवास करते हैं । जो अग्निहोत्र करने वाले होकर प्राणियों के सर्ग का भारम्भ करने वाले ब्रह्म की स्तुति सहित यजन करते हैं वह विवृयान उनका दक्षिण मार्ग है ॥६०॥ वे युगयुगान्तर में सन्तान, तप, वर्णाश्रम तथा विविध शास्त्रों और श्रुतियों के द्वारा पुनःस्थापन कार्य करते हैं ॥६१॥ पूर्व देह के धर्म प्रवर्तक अपनी सन्तान के यहाँ जन्म लेते और वे धर्म प्रचारक गए अपने यहाँ सन्तान रूप से उत्पन्न हुए उन पितरों के पुत्रों में उत्पन्न होते हैं ॥६०॥ इस प्रकार वे वत्-परायण ऋषिगण जब तक सोम और तारे स्थित रहते हैं, तब तक सूर्य के दक्षिण मार्ग में बारबार आवागमन करते रहते हैं ॥६१॥

नागवीप्युत्तर यच्च सप्तपिन्धुश्च दक्षिणम् ।
 उत्तर सविनु पन्था देवयानश्च स स्मृत ॥६२॥
 तत्र ते वसिन सिद्धा विमला ब्रह्मचारिणः ।
 सन्ततिं ते जुगुप्सन्ति तस्मान्मृत्युर्जितश्च तै ॥६३॥
 श्रष्टाशीतिसहस्राणि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
 उदयपन्थानमयंभ्यां स्थितान्याभूतसम्प्लवम् ॥६४॥
 तेषाम्प्रयोगाल्लोभस्य मैथुनस्य च वर्जनात् ।
 इच्छाद्वेषाप्रवृत्त्या च भूतारम्भविवर्जनात् ॥६५॥
 पुनश्च कामासयोगाच्छब्दादेर्दोषदर्शनात् ।
 इत्येभि चारणं शुद्धास्तेऽमृतत्व हि भेजिरे ॥६६॥
 आभूतसम्प्लव स्थानममृतत्व विभाव्यते ।
 श्रैलोक्यस्थितिकालोऽयमपुनर्मरि उच्यते ॥६७॥

ब्रह्महत्याश्वमेधाम्या पापपुण्यकृतो विधिः ।
आभूतसम्भ्रवान्तन्तु फलमुक्त तयोद्विज । ६८।

जो नागवाधि के उत्तर और सप्तपियों के दक्षिण में सूर्य का उत्तरीय पथ है, वही देवयान मार्ग कहा जाता है ॥६२॥ उसमें जिन स्वच्छ स्वभाव वाले जितेन्द्रिय ब्रह्मचारियों का निवास है, वे कभी सन्तान की कामना नहीं करते, इस प्रकार उन्होंने मृत्यु पर विजय प्राप्त करली है ॥६३॥ सूर्य के उस उत्तरीय मार्ग में अस्ती हजार ऊर्ध्वरेता ऋषियों का निवास है ॥६४॥ उन्होंने लोभ, मैथुन, इच्छा, द्वेष, कर्मानुष्ठान, वासना तथा लब्धादि विषयों के दोष-दर्शन आदि का पूर्णतया त्याग किया हुआ है । इसीलिये उन्होंने अमरत्व को प्राप्त कर लिया है ॥६५-६६॥ प्राणिबों का प्रलय काल तक स्थिर रहना ही अमरत्व कहा गया है । तीनों लोकों के स्थिर रहने तक के इस समय को अप्रुनर्मा कहते हैं ॥६७॥ हे द्विज ! ब्रह्म हत्या और अश्वमेध-यज्ञ के करने से जो पाप-पुण्य हो जाते हैं, उनका फल भी प्रलय काल की उपस्थिति तक ही कहा गया है ॥६८॥

यावन्मात्रे प्रदेशे तु मंत्रेयावस्थितो ध्रुवः ।
क्षयमायाति तावत्तु भूमेराभूतसम्भ्रवात् । ६९।
ऊर्ध्वोत्तरमृषिम्यस्तु ध्रुवो यत्र व्यवस्थितः ।
एतद्विष्णुपदं दिव्यं तृतीयं व्योम्नि भासुरम् । १००।
निर्धूतदोषपद्माना यनीना मयतात्मनाम् ।
स्थानं तत्परमं विप्रं पुण्यपापपरिक्षाये । १०१।
अपुण्यपुण्योपरमे क्षीणाशेषाभितेतव ।
यत्र गत्वा न शोचन्ति तद्विष्णो परमं पदम् । १०२।
परमं ध्रुवाद्यास्तिष्ठन्ति यत्र ते लोकसान्निधे ।
तत्साष्टयोर्यत्पन्नयोगेद्वास्तद्विष्णोः परमं पदम् । १०३।
यत्रोत्तमेतत्प्रोक्तं च यदभूतं सचराचरम् ।
नाद्व्यं च विश्वं मंत्रेयं तद्विष्णो परमं पदम् । १०४।

दिवीव चक्षुराततयोगिना तन्मयात्मनाम् ।

विवेकज्ञानदृष्ट च तद्विष्णो परम पदम् ॥१०५॥

हे मंत्रेयजी ! जितने प्रदेश मे ध्रुव की स्थिति है, पृथिवी से लेकर वह प्रदेश तक सब प्रलय काल मे विस्तीर्ण हो जाता है ॥१०६॥ वह ध्रुव सप्तर्षियों के उत्तर ओर तथा ऊपर अत्यन्त तेजोमय स्थान है, उसे आकाश में भगवान् विष्णु का तीसरा दिव्यघाम समझो ॥१०७॥ पुण्य पाप तथा दोष पक के नष्ट होने से सयत्तारमा हुए ऋषियों का परम स्थान यही है ॥१०८॥ पुण्य पाप के नष्ट होने तथा वेद-प्राप्ति के सब कारणों के क्षीण हो जाने पर जहाँ जाकर प्राणियों को शोक नहीं रहता, वही भगवान् विष्णु का परम पद है ॥१०९॥ जहाँ विष्णु के समान ऐश्वर्यवान् हुए और योग से तेजस्विता को प्राप्त हुए धर्म और ध्रुव लोक के साक्षि रूप से रहते हैं, वही उन भगवान् का परमपद है ॥११०॥ हे मंत्रेयजी ! जिसमे भूत, भविष्यत् वर्तमान मय यह चराचर विश्व ओत-प्रोत है, वही भगवान् विष्णु का परमपद है ॥ १०४ ॥ जो तन्मय हुए योगियों को आकाश मे प्रकाशित सूर्य के समान सबका प्रकाश करने वाला प्रसीत होता है, तथा जो निष्क द्वारा ही प्रत्यक्ष हो सकता है, वह भगवान् विष्णु का परमपद ही है ॥१०५॥

यस्मिन्प्रतिष्ठितो भास्वान्मेढीभूत स्वयं ध्रुव ।

ध्रुवे च सर्वज्योतीषि ज्योति ध्वम्भोमुचो द्विज ॥१०६॥

मेघेषु सङ्गता वृष्टिवृष्टे सृष्टेश्च पोषणम् ।

आप्यायन च सर्वेषां देवादीनां महामुने ॥१०७॥

ततश्चाज्याहुतिद्वारा पोषितास्ते हविर्भुज ।

वृष्टे वारणता यान्ति भूतानां स्थितये पुन ॥१०८॥

एवमेतत्पदं विष्णोस्तृतीयममलात्मकम् ।

आधारभूतं लोकानां त्रयाणां वृष्टिवारणम् ॥१०९॥

ततः प्रभवति ब्रह्मन्सर्वपापहरा सरित् ।

गङ्गा देवाङ्गनाङ्गानामनुलेपनपिञ्जरा ॥११०॥

यामपादाम्बुजाङ्गुलनस्रोतोविनिर्गताम् ।

विष्णोर्विभक्तिं या भक्त्या शिरसाहर्निशं ध्रुव ॥१११॥

हे द्विज ! उसी विष्णु पद में सबके आश्रयभूत अत्यन्त तेजस्वी ध्रुव की स्थिति है और ध्रुव में सब नक्षत्र स्थित हैं । नक्षत्रों में मेघ तथा मेघों में वृष्टि आश्रय लिये हुए है । उसी वृष्टि के द्वारा सृष्टि का पोषण होता है तथा वही सब देवता, मनुष्यादि प्राणियों को पुष्ट करती है ॥ १०६-१०७ ॥ फिर पृथ्वी प्राणियों से उत्पन्न ह्वय, धी प्राणियों की आहुतियों से सृष्ट हुए अग्नि ही प्राणियों का पोषण करने के लिये पुनः वृष्टिदायक होते हैं ॥ १०८ ॥ इस प्रकार भगवान् विष्णु का यह तीसरा श्लोक ही चीनी लोको का आधार भूत तथा वर्षा आदि का करने वाला है ॥ १०९ ॥ हे ब्रह्मन् ! इसी विष्णुपद से देवागनादी के भगवान् के मिश्रण से पारुष्य वस्तु की सी होकर सब पापों को नष्ट करने वाली सरिता श्रीगंगात्री प्रकट हुई हैं ॥ ११० ॥ भगवान् विष्णु के बाएँ चरण कमल में गुप्त मल रूपी स्रोत से निर्गम्य उन गंगाजी को ध्रुव महानिधि अपने घिर पर धारण किये रहता है ॥ १११ ॥

ततः सप्तपथो यस्याः प्राणायामपरायणाः ।

तिष्ठन्ति श्रीचिमातामिरुह्यमानजटा जले ॥ ११२ ॥

वामोर्ध्वं सन्ततैर्मस्या प्लावित शशिमण्डलम् ।

भूयोऽधिकतरा कान्ति बहुत्पेतदुह क्षये ॥ ११३ ॥

मेरुपृष्ठे पतत्युच्चैर्निष्क्रान्ता शशिमाडलात् ।

जगतः पावनार्थमि प्रयाति च चतुर्दिशम् ॥ ११४ ॥

सीता चालकनन्दा च चक्षुर्भद्रा च सस्थिता ।

एकैव या चतुर्भवा दिग्भेदगतिस्तक्षणा ॥ ११५ ॥

भेद चालकनन्दाख्य यस्याः सर्वोऽपि दक्षिणम् ।

दधार शिरसा प्रीत्या वर्षाणामधिक यतम् ॥ ११६ ॥

शम्भोर्जटाकलापाच्च विनिष्क्रान्तास्त्यक्षर्कराः ।

प्लावयित्वा दिव नित्ये या पापान्सगरात्मजान् ॥ ११७ ॥

फिर जिसके जल में स्थित हुए प्राणायाम परायण सप्तपथ उनकी तरफों से प्रतापों के कणित होते हुए श्री गङ्गा के का सर्वत्र बहने लगे सप्त को जपते रहते हैं और जिसकी महान् जल-राशि से आप्लावित हुआ चन्द्र भगदत्त क्षीण

होने के पश्चात् अधिक कान्तिवान् हो जाता है, वे गंगाजी सप्त चन्द्रमण्डल से निकलकर मेरु पर्वत पर गिरती हुई जगत् को पवित्र करने के लिये चारों दिशाओं को गमन करती है ॥११२-११४॥ चार दिशाओं में जाती हुई एक ही गङ्गाजी चार धाराओं के रूप में होकर सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा कही जाती हैं ॥११५॥ जिनकी अलकनन्दा नामक दक्षिणीय धारा को शिवजी ने सौ वर्ष से भी अधिक समय तक अपने मस्तक पर प्रीति सहित धारण किया था तथा जिसने उन शिवजी की अटाभा से निकलकर पाप कर्मात्मा पुत्रों की हड्डियों के चूरे को आप्लावित कर उन्हें स्वर्ग प्राप्त करा दिया था ॥ ११६-११७ ॥

स्नातस्य सलिले यस्या सद्यः पापं प्रणश्यति ।
 अपूर्य्यपुण्यप्राप्तिश्च सद्यो मंत्रेय जायते ॥११८॥
 दत्ता पितृभ्यो यत्रापस्तनयं श्रद्धयान्वितं ।
 समाशतं प्रयच्छन्ति तृप्तिं मंत्रेय दुर्लभाम् ॥११९॥
 यस्यामिष्टा महायज्ञैर्यज्ञैश्च पुरुषोत्तमम् ।
 द्विज भूषा परा सिद्धिमवाप्नुदिबि चेह च ॥१२०॥
 स्नानाद्विधूतपापाश्च यज्जलैर्यतयस्तथा ।
 वैशवासक्तमनसः प्राप्ता निर्वाणमुत्तमम् ॥१२१॥
 श्रुताभिलषिता दृष्टा स्पृष्टापीतावगाहिता ।
 या पावयति भूतानि कीर्तिता च दिने दिने ॥१२२॥
 गङ्गा गङ्गेति येनमि योजनानां शतेष्वपि ।
 स्थितं रक्षारितं हन्ति पापं जन्मत्रयाजितम् ॥१२३॥
 यतः सा पावनायाल त्रयाणां जगतामपि ।
 समुद्भूता पर तत्तु तृतीयं भगवत्पदम् ॥१२४॥

हे मंत्रेयजी ! जिसके जल में स्नान करने मात्र से पापों का शीघ्र ही नाश हो जाता है, तथा अपूर्य्य पूर्व पुण्य प्राप्त होता है ॥ ११८ ॥ पुत्रों के द्वारा अपने पितरों के लिये जिसने प्रवाह में एक दिन श्रद्धा पूर्वक किया गया तर्पण उन्हें भी सर्व दुर्भर्तृ तृप्ति प्राप्त कराता है ॥११९॥ हे द्विज ! राजाओं ने जिसके

विनारे पर यज्ञेश्वर भगवान् का महायज्ञो के द्वारा यजन करके इहलोह और परलोक दोनों को सिद्ध कर लिया ॥ १२० ॥ जिसमें स्नान करके निष्पाप हुए, यतियो ने भगवान् श्रीकृष्ण में प्राप्त चित्त रहकर श्रेष्ठ निर्वाण पद को प्राप्त किया ॥ १२१ ॥ जो श्रवण, दशन, इच्छा, स्पर्श, जलपान, स्नान और कीर्तन से ही प्राणियों को नित्य पवित्र करती रहती है ॥ १२२ ॥ जिसके 'गंगा' नाम को सौ योजन दूर से भी उच्चारण करने पर वह उसके तीन जन्म के एकत्र हुए पापों को भी विमूर्ल कर देगा है ॥ १२३ ॥ तीनो लोक को पवित्र करने वाली वह गङ्गा, जिससे धाविर्भूत हुई, वह भगवान् विष्णु का तृतीय परमपद ही है ॥ १२४ ॥

नवौ अध्याय

तारामय भगवत शिशुमाराकृति प्रभो ।
 दिवि रूप हरेयंतु तस्य पुच्छे स्थितो ध्रुव ॥१॥
 सैष भ्रमन् भ्रामयति चन्द्रादित्यादिकान् ग्रहान् ।
 भ्रमन्तमनु त यान्ति नक्षत्राणि च चक्रवत् ॥२॥
 सूर्याचन्द्रमसौ तारा नक्षत्राणि ग्रहै सह ।
 वातानीकमयैर्वन्धैर्ध्रुवे बद्धानि तानि वै ॥३॥
 शिशुमाराकृति प्रोक्त यद्रूप ज्योतिषा दिवि ।
 नारायणोऽयन धाम्ना तस्याधार स्वय हृदि ॥४॥
 उत्तानपादपुनस्तु तमाराध्य जगत्पतिम् ।
 स ताराशिशुमारस्य ध्रुव पुच्छे व्यवस्थित ॥५॥
 आधार शिशुमारस्य सर्वाध्यक्षो जनार्दन ।
 ध्रुवस्य शिशुमारस्तु ध्रुवे भानुर्व्यवस्थित ॥६॥
 तदाधार जगच्चेद सदेवासुरमानुषम् ।
 येन विप्र विधानेन तन्मर्मकमना शृणु ॥७॥

श्री पराशरजी ने कहा—शिशुमार की साकृति वाला भगवान् विष्णु का जो तारामय स्वरूप आकाश में देखने में आता है, उसी की पूँछ में ध्रुव स्थित है ॥१॥ यह ध्रुव स्वयं घूमता रहकर चन्द्रमा तथा सूर्यादि ग्रहों को घुमाता रहता है । उस घूमने वाले ध्रुव के साथ ही नक्षत्रमण भी चक्र के समान घूमते हैं ॥२॥ सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्र तथा अन्य सभी यह वायुमण्डल स्त्री उस ओर से ध्रुव के साथ बँधे हैं ॥३॥ ग्रहों का जो शिशुमार स्वरूप मैंने तुम्हें बताया है, उसके हृदय स्थित आश्रय अनन्त तेज वाले भगवान् विष्णु ही हैं ॥४॥ उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव ने ही उन अवस्थिति भगवान् विष्णु की धारा घना करके उस तारामय शिशुमार की पूँछ में स्थान प्राप्त किया है ॥५॥ शिशुमार के आघार स्वयं सर्वेश्वर जनादन हैं, वह शिशुमार ध्रुव का आश्रय है और ध्रुव सूर्य का आश्रय है ॥६॥ तथा हे द्विज । देव, असुर, मनुष्यादि युक्त यह सम्पूर्ण विश्व सूर्य का आश्रित है, उसका वृत्ता त सावधान विस से सुनो ॥७॥

विवस्वानष्टभिर्मासैरादायापो रसात्मिका ।
 वर्षत्यम्बु ततश्चाश्रमन्नादप्यखिल जगत् ॥८॥
 विवस्वानम्बुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतो जलम् ।
 सोम पुष्पात्ययेन्दुश्च वायुनाडीमर्यैर्दिवि ॥९॥
 नालैर्विक्षिपतेऽग्रेषु धूमाम्न्यनिलमूर्तिषु ।
 न भ्रमयन्ति यतस्तेभ्यो जलान्यभ्राणि तान्यत ॥१०॥
 श्रम्रस्था प्रपतन्त्यापो वायुना समुदोरिता ।
 सत्कार कालजनित मैत्रेयासाद्य निर्मला ॥११॥
 सरित्समुद्रभीमास्तु तथाप प्राणिसम्भवा ।
 चतुष्प्रकारा भगवानादत्ते सविता गुणे ॥१२॥
 आनाशगङ्गासलिल तथादाय गमस्तिमान् ।
 अनभ्रगतमेवोर्व्यां सद्य क्षिपति रश्मिमि ॥१३॥
 सस्य सस्पर्शनिर्धूतपापपङ्क्तौ द्विजोत्तम ।
 न याति नरव मर्त्यो दिव्य स्नान हि तत्स्मृतम् ॥१४॥

सूर्य घाट महीने तक अपनी किरणों के द्वारा रस रूप जल को ग्रहण करता और चार महीने उसे बरसाता है । उस जल वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है, जिस पर सम्पूर्ण विश्व का पोषण निर्भर है ॥ ८ ॥ सूर्य अपनी तीक्ष्ण किरणों के द्वारा विश्व से जल खींचकर उससे चंद्रमा का पोषण करता है और चंद्रमा वायुमयी नादियों से उसे घूम, अग्नि और मघ से गर्ववाता है । चंद्रमा द्वारा प्राप्त यह जल मेघों से दौघ्र हो भ्रष्ट होने के कारण, वे मेघ 'अन्न' कहे जाते हैं ॥ ९ १० ॥ हे मंत्रेयजी ! काल जनित सस्कार से यह मेघों में स्थित जल निर्मल होकर वायु द्वारा प्रेरित किय जाने पर पृथिवी पर बरसता है ॥ ११ ॥ हे मुने ! नदी, समुद्र, पृथिवी तथा प्राणियों से उत्पन्न इन चार प्रकार के जलों को भगवान् सूर्य अपनी ओर खींचते हैं ॥ १२ ॥ वे आकाशगता के जल को लेकर मेघादि के बिना, केवल अपनी किरणों के ही द्वारा पृथिवी पर बरसाते हैं ॥ १३ ॥ हे विप्र श्रेष्ठ ! उसके स्पर्श मात्र से पाप कपी कीचड़ धुल जाती है, जिससे मनुष्य नरक प्राप्ति से बच जाता है । इसीलिये इसे दिव्य स्नान कहा है ॥ १४ ॥

दृष्टसूर्यं हि यद्वारि गतत्यभ्रं विना दिव ।

आकाशगङ्गासलिल तद्रोमि क्षिप्यते रवे ॥१५॥

कृत्तिकादिषु ऋक्षषु विपमेषु च यद्विब ।

दृष्टाकंपतित ज्ञेय तद्वाङ्ग दिग्गजोन्मिमतम् ॥१६॥

युग्मर्शेषु च यत्तोय पतत्यर्कोन्मिमत दिव ।

तत्सूर्यरश्मिभि सर्वं समादाय निरस्यते ॥१७॥

उभय पुण्वमत्यर्थं नृणां पापभयापहम् ।

आकाशगङ्गासलिल दिव्य स्नान महामुने ॥१८॥

यत्तु मेघं समुत्सृष्ट वारि तत्प्राणिना द्विज ।

पुष्पात्योषधय सर्वा जीवनायामृत हि तत् ॥१९॥

तेन वृद्धि परा नीत सकलश्रीपक्षीगरा ।

साधक फलपाकान्त प्रजाना द्विज जायते ॥२०॥

तेन यज्ञान्यथाप्रोक्तान्मानवा शास्त्रचक्षुष ।

कुर्वन्त्यहरहस्तैश्च देवानाप्याययन्ति ते ॥२१॥

सूर्य के दिखाई देते हुए मेघों के बिना ही जो जल वृष्टि होती है, वह आकाशगंगा का जल सूर्य की किरणों द्वारा ही बरसाया हुआ होता है ॥१५॥ कृत्तिकादि विषम नक्षत्रों में बिना मेघों के तथा सूर्य के दिखाई देते हुए बरसने वाला जल भी आकाशगङ्गा का ही होता है, उसे दिग्गजों द्वारा बरसाया हुआ समझो ॥ १६ ॥ सम सव्यक नक्षत्रों में सूर्य द्वारा बरसाया जाने वाला जल सूर्य की किरणों द्वारा ग्रहण करके ही पृथिवी पर बरसाया जाता है ॥१७॥ हे महामुने ! आकाश गङ्गा के यह दो प्रकार के असमय दिव्य स्नान हैं, जिनसे मनुष्यों के पापादि भयों का उन्मूलन होता है ॥१८॥ हे द्विज ! मेघों के द्वारा बरसाया जाने वाला जल प्राणियों के जीवन के लिये अमृत तुल्य तथा औषधियों का पोषक है ॥१९॥ उस वृष्टि-जल से सब औषधियाँ परम वृद्धि को प्राप्त होती और पककर सूखने वाले तथा प्रजाओं के पापक होते हैं ॥ २० ॥ उनसे शास्त्रों के ज्ञाता विज्ञान प्रति दिन विधिवत् यज्ञों के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते हैं ॥ २१ ॥

एव यज्ञाश्च वेदाश्च वर्णाश्च वृष्टिपूर्वका ।

सर्वे देवनिकायाश्च सब भूतगणाश्च ये ॥२२॥

वृष्ट्या धृतमिदं सर्वमन्नं निष्पाद्यते यया ।

सापि निष्पाद्यते वृष्टि सवित्रा मुनिसत्तम ॥२३॥

आधारभूत सवितुर्ध्रुवो मुनिवरोत्तम ।

ध्रुवस्य शिशुमारोऽसौ सोऽपि नारायणात्मक ॥२४॥

हृदि नारायणस्तस्य शिशुमारस्य संस्थितः ।

विमर्ता सर्वभूतानामादिभूत सनातन ॥२५॥

इस प्रकार सब यज्ञ, वेद, ब्राह्मणादि ऋषयः, समस्त देवता तथा अन्यान्य प्राणी वर्षा के ही आश्रित हैं ॥२२॥ अन्न को उत्पन्न करने वाली वर्षा ही इन सबका धारण करने वाली है और वह वर्षा सूर्य से उत्पन्न होती है ॥२३॥ हे मुनिवरों ! श्रेष्ठ ! सूर्य का आधार ध्रुव है, ध्रुव का आधार शिशुमार है और उस शिशुमार के भी आधार गगनार्थी नारायण हैं ॥२४॥ उस शिशुमार के हृदय में श्रीनारायण का निवास है, जो सब प्राणियों के तब, आदिभूत एवं सनातन हैं ॥२५॥

दसवाँ अध्याय

साशीतिमण्डलगत काष्ठयोरन्तर द्वयोः ।
 आरोहणावरोहाम्या भानोरब्देन या गतिः । १।
 स रथोऽधिष्ठितो देवेरादित्यैष्टपिभिस्तथा ।
 गन्धर्वैरप्सरामिश्र ग्रामणीसर्वराक्षसैः । २।
 घाता क्रतुस्थला चैव पुलस्त्यो वासुकिस्तथा ।
 रथभृद्गामणीर्हेतिस्तुम्बुरुचैव सप्तमः । ३।
 एते वसन्ति वै चित्रे मधुमासे सदैव हि ।
 मैत्रेय स्यन्दने भानोः सप्त भासाधिकारिणः । ४।
 अयमा पुलहश्चैव रथोजाः पुञ्जिकस्थला ।
 प्रहेतिः कच्छवीरश्च नारदश्च रथे रवेः । ५।
 माघवे निवसन्त्येते मुनिसङ्गे निबोध मे । ६।
 मित्रोऽग्निस्तक्षको रक्षः पौरुषेयीऽथ मेनका ।
 हाहा रथस्वनश्चैव मैत्रेयैते वसन्ति वै । ७।

श्री पराशरजी ने कहा—आरोह अवरोह से एक वर्ष में सूर्य के रथ की कितनी गति है, उस पूरे मार्ग की दोनों काष्ठायो का अन्तर एक सौ अस्सी मण्डल होता है ॥ १ ॥ सूर्य का वह रथ ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, सर्प और राक्षसों से अधिष्ठित होता है ॥ २ ॥ मधुमास चित्र में घाता, क्रतुस्थला, अप्सरा, पुलस्त्य, वासुकि, रथभृत् यक्ष, हेति राक्षस और तुम्बुरु नामक गन्धर्व-यह सात भासाधिकारी सूर्य के रथ में निवास करते हैं ॥ ३-४ ॥ वैशाख मास में अयमा, पुलह, रथोजा, पुञ्जिकस्थला, प्रहेति, कच्छवीर और नारद सूर्य के रथ में रहते हैं । शव ज्येष्ठ मास में निवास करने वालों के नाम कृता हैं, मुनी ॥ ५-६ ॥ मित्र, अग्नि, तक्षक, पौरुषेय, मेनका, हाहा और रथस्वन यक्ष उस रथ में रहने हैं ॥ ७ ॥

वरणी वसिष्ठो नाभश्च सहजन्त्या हृद् रथः ।

रथचित्रस्तथा शुक्रे यमन्त्यापादमञ्जरे । ८ ।

इन्द्रो विश्वावसु स्रोत एतापुत्रस्तथाङ्गिरा ।
 प्रम्लोचा च नमस्येते सर्पिश्चाकं वसन्ति वै ॥१८॥
 विवस्वानुग्रसेनश्च भृगुरापूरणस्तथा ।
 अनुम्लोचा राह्वपालो व्याघ्रो भाद्रपदे तथा ॥१९॥
 पूषा वसुरचिर्वातो गौतमोऽय घनञ्जय ।
 सुपेणोऽन्यो घृताची च वसन्त्याश्वमुजे रवौ ॥२०॥
 विश्वायमुभंरहाज पर्जन्यैरावती तथा ।
 विश्वाची सेनजिष्चाप वार्तिवे च वसन्ति वै ॥२१॥
 मंशरादयपताक्ष्यास्तु महापद्मस्तथोर्वशी ।
 विप्रसेनस्तथा विद्युन्मागंशीर्ऽधिवारिण ॥२२॥
 वनुभंगस्तथोर्णायु स्पृजं यवोदयस्तथा ।
 अरिष्टनेमिदत्तेवान्मा पूर्वजित्तिर्वराप्तरा ॥२३॥
 गौपमाते वसन्त्येते रात्र भास्वरमण्डले ।
 सोमप्रवाणनार्वाय विप्रवर्याधिवारिण ॥२४॥

त्वष्टा जमदग्निश्च कस्वलोऽथ तिलोत्तमा ।
 ब्रह्मोपेतोऽय ऋतजिद् धृतराष्ट्रोऽय सप्तम ॥१६॥
 माधमासे वसन्त्येते सप्त मैत्रेय मास्वरे ।
 शूयता चापरे सूर्ये पात्सुने निवसन्ति ये ॥१७॥
 विष्णुरश्वतरो रम्भा सूर्यवर्चाश्च सत्यजित् ।
 विश्वामित्रस्तथा रक्षो यज्ञोपेतो महामुने ॥१८॥
 मासेष्वेतेषु मैत्रेय वसन्त्येते तु सप्तका ।
 मवितुमंशले ब्रह्मन्विष्णुः कश्यपश्च हित्वा ॥१९॥
 स्तुवन्ति मुनयः सूर्ये गन्धर्वगोयिते पुर ।
 नृत्पत्यन्वप्सरसो यान्ति सूर्यस्यानु निशाचराः ॥२०॥
 बहन्ति पद्मगा यक्षं क्रियतेऽभीपुसङ्ग्रह ।
 बालसित्यास्तर्षवैन परिवार्य समासते ॥२१॥
 सोऽय सप्तगणः सूर्यमण्डले मुनिसत्तम ।
 हिमोष्णवारिवृष्टीनां हेतुः स्वसमय गतः ॥२२॥

माध मे त्वष्टा, जमदग्नि, कस्वन् नामक सर्प, तिलोत्तमा अम्बर, ब्रह्मोपेत राक्षस, ऋतजिद् यज्ञ और धृतराष्ट्र गन्धर्व सूर्य के रथ में रहते हैं । अथ पात्सुन नाम में सूर्य-रथ पर निवास करने वाले मामाधिकारियों के नाम मुनो ॥१६-१७॥ विष्णु नामक आदित्य, अश्वतर सर्प, रम्भा, सूर्यवर्चा गन्धर्व, गरुडिन् यज्ञ, विश्वामित्र और यज्ञोपेत नामक राक्षस वक्षमे रहने हैं ॥१८॥ (हे ब्रह्मन् । इस प्रकार जगवान् विष्णु की शक्ति से क्षेत्रस्थिता प्राप्त कर यह मान-मान गण एक-एक महीने में सूर्य के रथ में रहने हैं ॥१९॥ उस समय मुनिगण स्तुति करते, गन्धर्व गण सूर्य का गुण-मान करते, अप्सराएँ नृत्य करती, राक्षसगण रथ के पीछे पीछे चलने, गणगण उस रथ को बहान योग्य मानने, अन्तरिक्ष उसकी आगडोर ग्रहण करने और बालसित्यादि उड़े गब और वे घेरे रहने हैं ॥२०-२१॥ हे मुनिगण । सूर्य मण्डल के बहो मान-मान गण अपने काम में जीन, जन्मता और वृष्टि आदि के हेतु होते हैं ॥२२॥)



ग्यारहवाँ अध्याय

यदेतद्भ्रूगवानाह गणः सप्तविधो रवेः ।
 मण्डले हिमतापादेः कारणं तन्मया श्रुतम् ।१।
 ध्यापारश्चापि कथितो गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
 षष्ठीणां बालगित्यानां तथैवाप्सरसां गुरो ।२।
 यक्षाणां च रथे भानोर्विष्णुशक्तिधृतात्मनाम् ।
 किं चादित्यस्य यत्स्वर्गं तन्नामोक्तं त्वया मुने ।३।
 यदि सप्तगणो यारि हिममुष्णं च वर्पति ।
 तत्स्विमन्नं रवेर्येन वृष्टिं सूर्यादित्यैर्धृते ।४।
 विवस्वानुदितो मध्ये यात्यस्तमिति किं जनः ।
 श्रवीण्येनन्ममं कर्म यदि सप्तगणस्य तत् ।५।
 मैत्रेय श्रूयतामेतच्चद्भुतान्परिपृच्छति ।
 यथा सप्तगणैर्येव प्राधान्येनाधितो रविः ।६।
 मयं शक्तिः परा विष्णोर्भूतजः साममक्षिता ।
 गंगा यदी मपरयद्गो जगतश्च हिनस्ति या ।७।

हे ॥३॥ भगवान् विष्णु की शक्त, यज्ञ, नाम नाम की सर्व शक्तिमयी त्रि
पराशक्ति है, वही वेदमयी सूर्य की ताप दनी है और वही जंगम क सब पारों
का नाश करती है ॥५॥

संप विष्णु स्थित स्थित्या जगत् पाननोद्यत ।

श्रम्यजु सामभूतोज्जत सवितुर्द्विज निष्ठनि ॥२॥

मासि मासि रविर्यो यस्तन तन हि मा पग ।

नयमयी विष्णुशक्तिरवस्थान करानि नै ॥६॥

श्रुच स्तुवन्ति पूवाह्ने मध्याह्ने ज्य यनृ पि नै ।

वृहदथन्तरादीनि सामान्यह्ण क्षये रविम् ॥७॥

अङ्गमेपा नयी विष्णोश्च श्रम्यजु सामभूतिना ।

विष्णुशक्तिरवस्थान मदादिय पगंति मा ॥८॥

न केनन रवे शक्तिर्वैष्णवी मा शरीरम् ॥

ग्रहाय पुरुषो रद्विषयमनस्त्रयीमन् ॥९॥

मर्गादी श्रुड् मया ग्रहा म्यिना निष्कृतिम् ॥

रद साममयाज्जाय तन्मानम् ॥१०॥

तया चाधिष्ठित सोऽपि जाज्वलीति स्वश्मिभि ।
 तम संमस्त जगता नाश नयति चाखिलम् ॥१५॥
 स्तुवन्ति चैन मुनयो गन्धर्वगोयते पुर ।
 नृत्यन्तोऽप्सरसो यान्ति तस्य चानु निशाचरा ॥१६॥
 वहन्ति पन्नगा यक्ष क्रियतेऽभीषुसङ्ग्रह ।
 बालखिल्यास्तथैवैन परिवार्य समासते ॥१७॥
 नोदेता नास्तमेता च काबचिच्छक्तिरूपधृक् ।
 विष्णुर्विष्णो पृथक् तस्य गणस्सप्तविधोऽप्ययम् ॥१८॥
 स्तम्भस्यदर्पणस्येव योऽयमासन्नता गत ।
 छायादर्शनसयोग स त प्राप्नोत्यथात्मन ॥१९॥
 एव सा वैष्णवी शक्तिर्नैवापैति ततो द्विज ।
 भासानुभास भास्वन्तमध्यास्ते तत्र सस्थितम् ॥२०॥

इस प्रकार वह तृतीयवी सात्विकी वैष्णवी शक्ति अपने सात गणों में
 स्थित सूर्य में ही अग्रस्थान करती है ॥१४॥ उससे अधिष्ठित हुए सूर्य भी अपनी
 रविमयो से और भी प्रखर होते हुए जगत के अक्षर को मिटा देते हैं ॥१५॥
 ऐसे उन सूर्य की मुनि स्तुति करते, गंधर्व यक्ष कीतन करते, अप्सराएँ नृत्य
 करतीं, राक्षस पीछे चमते, सप रथ की सजाते, यक्ष घोड़ों की बागडोर पकड़ते
 और बालखिल्यादि उस रथ की सब ओर से घेरे हुए चलते हैं ॥१६-१७॥ उन
 तृतीयवी शक्ति वाले भगवान् विष्णु का कभी उदयास्त नहीं होता और यह
 सात प्रकार के गण उनसे अलग ही हैं ॥१८॥ जैसे स्तम्भस्य दर्पण के पास
 जाने जाने की सदा उसकी छाया दिखाई देती है वैसे ही विष्णु की वह शक्ति
 सूर्य के रथ में सदा रहती है तथा प्रत्येक भास म सूर्य के पृथक् पृथक् रूप में
 स्थित होने यह वही शक्ति उनकी अधिष्ठानी होती है ॥२०॥

पितृदेवमनुष्यादीन्स रादाप्याययन्प्रभु ।
 परितस्तत्पहोरात्रवारण सविता द्विज ॥२१॥
 सूर्यरश्मि सुषुम्ना यस्तपितस्तेन चन्द्रमा ।
 मृष्यपक्षोऽमरं दृश्वत्पीयते वै सुधामय ॥२२॥

पीत तं द्विकलं सोमं वृष्णपक्षक्षये द्विज ।
 पिवन्ति पितरस्तेषा भास्करात्तर्पण तथा ॥२३॥
 आदत्ते रश्मिभिर्यन्तु क्षितिसस्थ रस रवि ।
 तमुत्सृजति भूतानां पुष्ट्यर्थं सस्यवृद्धये ॥२४॥
 तेन प्रीणात्यक्षेपाणि भूतानि भगवाच्चवि ।
 पितृदेवमनुष्यादीनेवमाप्याययत्यसौ ॥२५॥
 पक्षवृत्तिं तु देवानां पितृणा चैव मासिकीम् ।
 शश्वत्सृतिं च मर्त्यानां मैत्रेयाकं प्रयच्छति ॥२६॥

हे द्विज ! दिन और राति को उत्पन्न करने वाले सूर्य पितर, देवता और मनुष्यादि को सदा वृत्त करते हुए भ्रमण करते हैं ॥२३॥ सूर्य की सुपुम्ना मानी किरण मुखपक्ष के चन्द्रमा को पुष्ट करती है और वृष्ण पक्ष में देवगण उस अमृतनय चन्द्रमा की एक एक कला को पीते रहते हैं ॥२४॥ वृष्णपक्ष के क्षीण होने पर पितरगण दो कषा वाले चन्द्रमा का पान करते रहते हैं । इस प्रकार सूर्य के द्वारा पितरो का तर्पण किया जाता है ॥२५॥ अपनी किरणों के द्वारा सूर्य पृथिवी जितने जन को आर्कषित करता है, उसको प्राणिमो ने पोषण और भ्रम की वृद्धि के लिये पृथिवी पर ही बरसा देता है ॥२६॥ इस प्रकार सूर्य समस्त प्राणियों को प्रसन्न करते हुए देवगण, मनुष्य गण और पितरगण आदि सभी को वृत्त करते हैं ॥२७॥ हे मैत्रेयजी ! इस प्रकार से भगवान् सूर्य देवताओं की पाक्षिक, पितरो की मासिक और मनुष्यों की दैनिक वृत्ति के कारण हैं ॥२८॥

वारह्मि अर्थात्

रयस्विनाक सोमस्य कुन्दाभास्तस्य वाजिनः ।
 वामदक्षिणतो मुक्ता दश तेन चरत्यसौ ॥१॥

वीथ्याश्रयाणि ऋक्षाणि ध्रुवाधारेण वेणिना ।
 हासवृद्धिकमस्तस्य रश्मिना सवितुर्यथा ॥२॥
 अर्कस्येव हि तस्याश्वा सकृद्युक्ता वहन्ति ते ।
 कल्पमेक मुनिश्चष्ट वारिगर्भसमुद्भवा ॥३॥
 क्षीण पीत सुरै सोममाप्याययति क्षीप्तिमान् ।
 मंत्रेयंकल सन्त रश्मिर्नकेन भास्वर ॥४॥
 क्रमेण येन पीतोऽसौ देवैस्तेन निशाकरम् ।
 आप्याययत्यनुदिन भास्करो वारितस्कर ॥५॥
 सम्भृत चार्धमासन तत्सोमस्य सुधामृतम् ।
 पिबति देवा मंत्रेय सुधाहारा यतोऽमरा ॥६॥
 नयस्त्रिशत्सहस्राणि नयस्त्रिंशच्छतानि च ।
 त्रयस्त्रिंशत्तथा देवा पिबन्ति क्षणदाकरम् ॥७॥

श्री पराशरजी ने कहा—चंद्रमा के रश्मि में तीन पहिये हैं उसके बाएँ
 ओर दाँए ओर कुंद पुष्प के समान शकट रश्मि के दस घोड़े जुते हुए हैं। वह
 रश्मि ध्रुव के आधार पर स्थित है। चंद्रमा उसी वेगवान् रश्मि पर चढ़कर भ्रमण
 करते हैं तथा नागबीजि पर आश्रित भवित्री आदि नक्षत्रों को भोगते हैं। सूर्य
 के समान इनकी किरण भी मूलतः ओर वृद्धि को प्राप्त होती रहती हैं ॥२॥
 हे मुनिवर ! सूर्य के समान उनके घोड़े भी समुद्र के गर्भ से उत्पन्न होकर एक
 बार जोते जान पर एक कल्प तक रश्मि को खींचते रहते हैं ॥३॥ हे मंत्रेयजी !
 देवताओं द्वारा पान किये जान के कारण क्षीण हुए तथा माय चंद्रमा को सूर्य
 अपनी किरणों से पुनः पुष्ट करते हैं ॥४॥ जिस क्रम से देवता उनका पान
 करते हैं उसी क्रम से पुनः पक्ष की प्रतिपदा से जल का अपहरण करने वाले
 सूर्य उन्हें तिस्र प्रति पोषित करते हैं ॥५॥ इस प्रकार अधमास में संचित
 हुए चंद्रमा के उस अमृत का दवगण पुनः पान करने लगते हैं क्योंकि उन
 देवताओं का आहार वही अमृत है ॥६॥ तृतीया सहस्र, तृतीया शतीत
 तथा चंद्रमा के उस अमृत को पीते रहते हैं ॥७॥

कलाद्वयावशिष्टस्तु प्रविष्ट सूर्यमण्डलम् ।
 अमात्यरश्मौवसति अमावास्या तत स्मृता ॥८॥
 ग्रप्सु तस्मिन्नहोरात्रे पूर्वं विद्यति चन्द्रमा ।
 ततो वीरुत्सु वसति प्रयात्यकं तत क्रमात् ॥९॥
 छिनन्ति वीरुधो यस्तु वीरुत्सस्थे निशाकरे ।
 पनं वा पातयत्येक ब्रह्महत्या स विन्दति ॥१०॥
 सोम पञ्चदशे भागे विश्विच्छिद्ये कलात्मके ।
 अपराह्णे पितृगणा जघन्य पर्युपासते ॥११॥
 पिबन्ति द्विकलावार क्षिष्टा तस्य कला नु या ।
 सुधामृतमयी पुण्या तामिन्दो पितरो मुने ॥१२॥
 निस्पृत तदमावास्या गभस्तिम्य सुधामृतम् ।
 मासं तृप्तिमवाप्यग्राया पितर सन्ति निर्वृता ।
 सौम्या बर्हिपदश्चैव अग्निप्वात्ताश्च ते निधा ॥१३॥
 एव देवान् सिते पक्षे कृष्णपक्षे तथा पितृन् ।
 योदधश्चामृतमयैः शीतैरप्परमाशुभिः ॥१४॥
 वीरुधोपधिनिष्पत्त्या मनुष्यपशुकीटवान् ।
 आप्यायमति शीतागु प्राकाश्याह्लादनेन तु ॥१५॥

जब चन्द्रमा कला-मात्र रह जाता है और सूर्य मण्डल में प्रविष्ट होकर
 उसकी अमा नाम की किरण में रहता है, तब उस दिन को अमावस्या कहते हैं
 ॥८॥ इस दिन यह रात्रि काल में प्रथम जल में प्रविष्ट होता, फिर धृश-
 लतादि में रहता और फिर क्रम से सूर्य में पहुँच जाता है ॥९॥ जब चन्द्रमा
 वृष और जतादि में रहता है तब उस अमावस्य निधि को यदि कोई उसका एक
 पत्ता भी तोटना है तो उसे ब्रह्म हत्या का भागी होना होता है ॥१०॥ केवल
 पन्द्रहवीं कला के बच रहने पर उस क्षीणकाय चन्द्रमा को अध्याह्नोत्तर काल में
 पितरगण सब ओर में आ घेरते हैं ॥ १॥ उस समय उस चन्द्रमा की एक
 मण्डल सुधामयी बना की ये पितरगण पीते हैं ॥१२॥ अमावस्य के दिन
 चन्द्रमा की किरण से निबले हुए उस घमून की पीकर तृप्त हुए वे सौम्य,

वह्निपद्म और अग्निष्वात्त पितरगण एक महीने तक वृत्त रहते हैं ॥१३॥ इस प्रकार चन्द्रमा से शुक्ल पक्ष में देवताओं की और कृष्ण पक्ष में पितरों की पुष्टि होती है तथा यह चन्द्रमा अपने शीतल जल-कणों से सता, वृक्ष औपनि मृदि को उत्पन्न और अपनी चन्द्रिका द्वारा आह्लादित करके मनुष्य, पशु, कीटादि प्राणियों को परिपुष्ट करते हैं ॥ १४-१५ ॥

वाय्वग्निद्रव्यसम्भूतो रथश्चन्द्रमुतस्य च ।
 पिशङ्गस्तुरगैर्युक्तोऽष्टाभिर्वायुवेगिभि ॥१६॥
 सबन्ध सानुवर्षो युक्तो भूतसम्भवैर्हयै ।
 सोपासङ्गपताकस्तु शुक्रस्यापि रथो महान् ॥१७॥
 अष्टाद्व काञ्चन श्रीमान्भौमस्यापि रथो महान् ।
 पद्मरागारुणैरक्षौ सयुक्तो वह्निसम्भवं ॥१८॥
 अष्टाभि पाण्डुरैर्युक्तो वाजिभि काञ्चनो रथ ।
 तस्मिंस्तिष्ठति वर्षान्ते राशौ राशौ बृहस्पति ॥१९॥
 आवाशसम्भवैरद्वै शवलै स्पन्दन युतम् ।
 तमारुह्य शनैर्याति मन्दगामी शनैश्चर ॥२०॥

चन्द्रमा का पुत्र बुध है । उसका रथ वायु और अग्नि से बना है, वायु-वेग वाले पिशङ्ग वर्ग आठ भद्रव उसमें जुते हैं ॥१६॥ लौह आवरण, रथ का निचला भाग, दक्ष-स्थान, पताका तथा पृथिवी से उत्पन्न हुए भरवों के सहित बुध का रथ भी बहुत बड़ा है ॥१७॥ मङ्गल का रथ आठ घोड़ों से युक्त अत्यन्त घोभामान, स्वर्ण से बना हुआ है, उसमें अग्नि से उत्पन्न हुए पराण-मणि जैसे भरव वर्णों के छोटे जुत हैं ॥१८॥ पाण्डुरवर्णों के आठ भरवों वाले स्वर्ण रथ में वर्षों के अन्तिम काल में प्रत्येक राशि में बृहस्पतिजी बैठते हैं ॥१९॥ जिस रथ में आवाश से उत्पन्न हुए घटभुत धातु वाले भरव जुते हैं, उस पर अक्षर शनैश्चरजी मन्दगति से चलते हैं ॥२०॥

स्वर्भनोस्तुरगा त्वष्टी भृङ्गाभा धूमर रथम् ।
 सृष्टस्तु मंत्रेय वहन्त्यविरत सदा ॥२१॥

आदित्याभिस्सृतो राहु सोम गच्छति पर्वसु ।
 आदित्यमेति सोमाच्च पुन सीरेषु पर्वसु ॥२२॥
 तथा केतुरथस्यास्वा अप्यष्टौ वातरहम् ।
 पलातधूमवर्णाभा लाक्षारसनिभारुणा ॥२३॥
 एते मया ग्रहाणां वै तवाख्याता रथा नव ।
 सर्वे ध्रुवे महाभाग प्रवद्धा वायुरग्निभि ॥२४॥
 ग्रहर्क्षं ताराधिष्ण्यानि ध्रुवे बद्धान्यदीपत ।
 भ्रमन्त्युचितचारेण मंत्रयानिलरदिभि ॥२५॥
 यावन्त्यश्चैव तारास्तास्तावन्तो वातरश्मय ।
 सर्वे ध्रुवे निबद्धास्ते भ्रमन्तो भ्रामयन्ति तम् ॥२६॥
 तैलपीडा यथा चक्र भ्रमन्तो भ्रामयन्ति वै ।
 तथा भ्रमन्ति ज्योतीषि वातविट्टानि सर्वथ ॥२७॥
 अलातचक्रवद्भ्रान्ति वातचक्रे रितानि तु ।
 यस्माज्ज्योतीषि वहति प्रवहस्तेन स स्मृत ॥२८॥

राहु का रथ घूमर वर्ण वाता है । उसमें औरो के समान जाले रंग के पाठ पशव जुते हैं । उन घोड़ों को एक बार जोड़ दिया जाय तो वे निरन्तर प्रवास गति से चलने रहते हैं ॥२२॥ चन्द्रमा के पर्वों पर यह राहु से निबल-नर चन्द्रमा में जाता और सूर्य के पर्वों पर चन्द्रमा में निबलनर सूर्य में स्थित होता है ॥२२॥ ऐसे ही के रथ में जुटे हुये वायुवेग वाले घाठ पीठे पलात धूम वर्ण जैसी माभा और लास जैसे लात वर्ण के हैं ॥२३॥ हे महाभाग । यह नवग्रह के रथों का चलन मैंने तुम से बिगा है यह सभी ग्रह वायुमयी रस्ती के साथ घूम स रेंगे हैं ॥२४॥ हे मनेवर्मा । सभी ग्रह, मत्स्य और तारे वायुमयी डोर से ध्रुव के साथ बँधकर भ्रमण करते रहते हैं ॥२५॥ रितने तारे हैं, उतनी ही वायुमयी रस्तियाँ हैं, उनसे बँधकर यह घूमते हुए घूम की भी घुमाने रहते हैं ॥२६॥ जैसे तेली स्वय घूमने हुये बौन्द की घुमाते रहते हैं, वैसे ही सब ग्रह वायु के बचन में घूमते रहते हैं ॥२७॥ इस पातमय चक्र के प्रेरण से समस्त ग्रह घायल चक्र के समान घूमने के कारण इसे 'प्रवह' कहा गया है ॥२८॥

शिशुमारस्तु य प्रोक्त स ध्रुवो यत्र तिष्ठति ।
 सन्निवेश च तस्यापि शृणुष्व मुनिसत्तम ॥२६॥
 यदह्ना कुरुते पाप त दृष्ट्वा निशि भुज्यते ।
 यावन्त्यश्चैव तारास्ता शिशुमाराश्रिता दिवि ॥२७॥
 तावन्त्येव तु वर्षाणि जीवत्यभ्यधिकानि च ।
 उत्तानपादस्तस्याथो विज्ञेयो ह्य तरो हनु ॥२८॥
 यज्ञोऽधरश्च विज्ञेयो धर्मो मूर्धानमाश्रित ।
 हृदि नारायणश्चास्ते अश्विनौ पूर्वपादयो ॥२९॥
 वरुणश्चायंमा चैव पश्चिमे तस्य सवित्री ।
 शिशन सवत्सरस्तस्य मित्रोऽपान समाश्रित ॥३०॥
 पुच्छेऽग्निश्च महेन्द्रश्च वस्यपोऽय ततो ध्रुव ।
 तारका शिशुमारस्य नास्तमेति चतुष्टयम् ॥३१॥
 इत्यपसन्निवेशोऽय पृथिव्या ज्योतिषा तथा ।
 द्वीपानामुदधीना च पर्वताना च कीर्तित ॥३२॥
 वर्षाणा च नदीना च ये च तेपु यतन्ति वै ।
 तेषा स्वरूपमाख्यात सक्षेप श्रूयता पुन ॥३३॥

पहले जित शिशुमार चक्र का वरुण किया जा चुका है और वहाँ ध्रुव
 स्थित है, अब उसकी स्थिति व विषय में कहता है, मुनो ॥२६॥ दिन में जित
 मनुष्य या पाप कर्म होगये हों, वह मनुष्य रात्रि वान उनका दण्ड करन से उ
 पापा में घुट जाता है तथा आकाश में उड़ता मनुष्य म जितन ताराएँ इस चक्र के
 आश्रित हैं, उतना मनुष्य अधिक यप तक जीवित रहता है उत्तानपाद उसकी
 ऊपर की टोरी गमनी जाती है ॥२७॥ यज्ञ उगन नीचे की टोरी है
 धर्म उगन मातृक पर स्थित है नारायण उगन हृदय दण्ड में है तथा सवित्री
 कुमार उगन दोनों पूर्वोक्त चरणों में हैं ॥२८॥ आका में वरुण और सयमा,
 शिशा म सवत्सर तथा अपान दण्ड में स्थित हैं ॥२९॥ पुच्छ भाग में अग्नि
 महेंद्र, वायव्य और ध्रुव है । यह अग्नि आदि चारों तार सभी सरत मही होते
 ॥३०॥ इस प्रकार शिवकी, ब्रह्मा, विष्णु, शक्र, वरुण, यम और मरीचिका

अध्याय जो भी वहाँ है, उन सबका स्वरूप मैंने तुम से कह दिया । इसे अब सकल रूप से फिर मुन का ॥३५ ३६॥

यदम्बु वंष्णव कायस्ततो विप्र वसुन्धरा ।

पद्माकारा समुद्रभूता पर्वताद्यादिसमुना ॥३८॥

ज्यानीपि विष्णुर्मुवनानि विष्णुर्वनानि विष्णुर्गिरयो दिग्धरा ।

नद्य ममुद्राश्च स एव सर्वे यदस्ति यत्रास्ति च विप्रवर्य ॥३९॥

ज्ञानम्बरूपो भगवान्यतोऽनावरोपमूर्तिर्न तु वस्तुभूत ।

ततो हि शैलाग्निधरादिभेदाङ्गानां हि विज्ञानविजृम्भितानि ॥४०॥

यदा तु शुद्ध मिज्जपि सर्वं नमंज्ञये ज्ञानमपान्मदोपम् ।

तदा हि सङ्कल्पतरो वनानि भवन्ति नो वस्तुषु वस्तुभेदा ॥४०॥

वस्त्वन्ति किं कुत्रचिदादिमध्यपर्यन्तहीन मनतं वस्तुम् ।

यद्यान्यथात्वं द्विज याति भूयो न तत्तया तत्र कुतो हितत्त्वम् ॥४१॥

महो घटत्व घटन कपालिका कपालिका चूर्णरजस्ततोऽग्नौ ।

जनं स्वकर्मस्तिमितात्मनिश्चरं रामक्ष्यते व्रूहि किमत्र वस्तु ॥४२॥

तस्मान् विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित्क्वचित्कदाचिद्द्विज वस्तुज्ञानम् ।

विज्ञानमेकं निजकर्मभेदविभिन्नचित्तं वंदुषाम्युपेतम् ॥४३॥

ज्ञानं चिद्गुणं विमलं विशोकमदोपलोभादिनिरन्तसङ्गम् ।

एकं मदेकं परमं परेण स वामुदेचो न यतोऽन्यदस्ति ॥४४॥

हे विप्र ! भगवान् विष्णु के रहस्य जल से पर्वत और समुद्रादि से युक्त पद्माकार वाली यह पृथिवी उत्पन्न हुई है ॥३८॥ हे विप्रश्रेष्ठ ! तारे, भूवन, वन, पर्वत, शिखा, नदी और समुद्र यह सभी भगवान् विष्णु हैं तथा अध्याय जो शुद्ध भी है, अथवा नहीं है वह भी सब केवल भगवान् ही हैं ॥३९॥ भगवान् विष्णु ज्ञानरूप होने से सर्वात्मक हैं, परिच्छिन्न पदार्थों के समान नहीं हैं । इसलिये इन पर्वत, समुद्र, पृथिवी आदि भेदों को केवल विज्ञान या विलास ही समझो ॥४०॥ जब आत्मज्ञान पक्कर निर्दोष रूप प्राणी सभी कर्मों का शय हो जान पर अपने गुण स्वरूप को धारण कर लेता है, तब पाप वस्तु में सबतर तर के वनस्वरूप पदार्थ-भेद दिखाई नहीं देता ॥४०॥ कोई

भी वस्तु कहाँ है ? आदि, मध्य और अन्त से परे, एव रूप, नित्य एव चिद् स्वरूप ही तो सर्वव्याप्त है । जो वस्तु बारम्बार परिवर्तित होती रहती है वह गमार्थ रूप वाली वहाँ रही ? ॥४१॥ मिट्टी ही घट हो जाती है, घट से कपाल, कपाल से चूरा, चूरे से रज और रज से घण्टा रूप होकर पुन मिट्टी बन जाती है, तो फिर अपने धर्म-व्यपन के आश्रित हुए मनुष्य आत्म स्वरूप को भूषकर किस सत्य वस्तु का दर्शन करते हैं ? ॥४२॥ विज्ञान के सिक्काम कहीं पृथक् नहीं है । यही एक विज्ञान अपने-अपने धर्मों के भेद से विभिन्न नितों द्वारा अनेक भेद वाला मान लिया है ॥४३॥ परन्तु वह विज्ञान अत्यन्त शुद्ध, मल रहित, तथा शोक लोभादि सभी दोषों से शून्य केवल एक सत्यरूप, बामु-देव, परमेश्वर है, उससे पृथक् कुछ नहीं है ॥४४॥

सद्भाव एव भवतो मयोक्तो ज्ञान यथा सत्यमसत्यमन्यत् ।
एतत्तु यत्सर्वव्यवहारभूत तत्रापि चोक्तं भुवनाश्रितं ते ॥४५॥
यज्ञ पशुर्वह्निरशेषश्चैव सोम सुरा स्वर्गमयश्च काम ।
इत्यादिकर्माश्रितमार्गदृष्ट भूरादिभोगाश्च फलानि तेषाम् ॥४६॥
यच्चैतद्भुवनगतं मया तवोक्तं सर्वत्र ब्रजति हि तत्र कर्मवश्यम् ।
ज्ञात्वा ध्रुवमचलं सदैकरूपं तत्कुर्याद्विद्यति हि येन वासुदेवम् ॥४७॥

इन प्रकार तुम्हारे प्रति यह परमार्थ-विषय मैंने कहा है, एकमात्र ज्ञान ही सत्य और उससे भिन्न जो कुछ है, वह सब असत्य समझो । जो केवल व्यवहार भूत है, उस भुवन विषयक वृत्तान्त को भी तुमसे कह चुका हूँ ॥४५॥ यज्ञ, पशु, अग्नि, ऋत्विक्, सोम, देवगण और स्वर्गमय अभिलाषा आदि विषय भी बता दिया । पृथिवी आदि लोको के सब भोग इन कर्मों के ही आश्रित हैं ॥४६॥ यह जो भुवनगत लोको के विषय मैंने कहा है, उन्हीं में यह प्राणी अपने कर्म के वशीभूत हुआ घूमता रहता है, यह जानकर वही करता उचित है जिससे ध्रुव, अचल और सदैव एक रूप वाले भगवान् वासुदेव की प्राप्ति हो सके ॥४७॥

तेरहवाँ अध्याय

भगवन्सम्यगाख्यातं यत्पृष्टोऽसि भग्न किल ।
 भूतमुद्रादिररितां संस्थानं ग्रहसंस्थितिः ॥१॥
 विष्णवाधारं यथा चैतत्त्रैलोक्य समवस्थितम् ।
 परमार्थस्तु ते प्रोक्तो यथा ज्ञानं प्रधानतः ॥२॥
 यत्त्वेतद्भगवानाह भरतस्य महीपतेः ।
 श्रोतुमिच्छामि चरितं तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥३॥
 भरतः स महीपालः शालग्रामेऽवसत्किल ।
 योगयुक्तः समाधाय दासुदेवे सदा मनः ॥४॥
 पुण्यदेशप्रभावेन ध्यायतश्च सदा हरिम् ।
 कथं तु नाभवन्मुक्तिर्यदभूत्स द्विजः पुनः ॥५॥
 विप्रस्ये च वृत्तं तेन यद्भूयः सुमहात्मना ।
 भरतेन मुनिश्रेष्ठ तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥६॥

श्री मंत्रेयजी ने कहा—हे भगवन् ! पृथिवी, समुद्र, नदी, प्रहृष्टिपति आदि विषयक मेरे सब प्रश्नों को आपने कह दिया ॥१॥ यह त्रैलोक्य भगवान् विष्णु के किस प्रकार प्राप्ति है और परमार्थ रूप ज्ञान ही किस प्रकार प्रधान है, यह सब भी आपने कह दिया ॥२॥ परन्तु, भगवन् ! आपने जिस राजा भरत के विषय में पहले कहा था, उनके चरित्र को सुनने की मेरी इच्छा है, उसे कृपापूर्वक कहिये ॥३॥ कहा जाना है कि वह राजा भरत निरन्तर योग-मग्न रहकर भगवान् में ध्यान लगाये शालग्राम क्षेत्र में निवास करते रहते थे ॥४॥ परन्तु, पुण्य देश के वास और हरि-चिन्तन से भी वह मोक्ष को प्राप्त नहीं हुए, उन्हें ब्राह्मण रूप में पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ा ॥५॥ हे मुनिवर ! उन महारामा भरत ने ब्राह्मण होकर क्या-क्या किया वह सब कृपापूर्वक बताइये ॥६॥

शालग्रामे महाभागो भगवन्त्यस्तमानसः ।
 स उवास चिरं कालं मंत्रेय पृथिवीपतिः ॥७॥

अहिंसादिष्वशेषेषु गुरोषु भुणिना वरः ।
 अवाप परमा काष्ठा मनसाश्चापि समये ॥८॥
 यज्ञेशाच्युत गोविन्द माघवानन्त केशव ।
 कृष्ण विष्णो हृषीकेश वासुदेव नमोऽस्तुते ॥९॥
 इति राजाह भरतो हरेर्नामानि केवलम् ।
 नान्यञ्जगाद मंत्रेय किञ्चित्स्वप्नान्तरेऽपि च ।
 एतत्पदन्तदर्थं च विना नान्यदचिन्तयत् ॥१०॥
 समित्पुष्पकुशादान चक्रे देवक्रियावृत्ते ।
 नान्यानि चक्रे वर्माणि निस्तङ्गो योगतापसः ॥११॥
 जगाम सोऽभिषेकायमेवदा तु महानदीम् ।
 सस्ती तत्र तदा चक्रे स्नानस्यानन्तरक्रिया ॥१२॥
 अथाजगाम तत्तीरं जलं पातुं पिपासिता ।
 आसन्नप्रसवा ब्रह्मन्नेर्वय हरिणी यनात् ॥१३॥
 ततः समभवत्तत्र पीतप्राये जले तथा ।
 सिहस्य नादः सुमहान्सर्वप्राणिभयङ्करः ॥१४॥

श्री पराशरजी ने कहा—हे मंत्रेयजी ! उन महाभाग राजा भरत ने
 भगवान् का प्यान करते हुए फिर बाल तक शालग्राम दोष में निश्चाय दिया
 ॥७॥ गुणियों में श्रेष्ठ उन भरत ने अहिंसादि गुणों के पालन पूर्वक मन की
 मयम रसकर परम श्रेष्ठता प्राप्त की ॥८॥ हे मंत्रेय ! अच्युत ! गोविन्द !
 माघव ! अनन्त ! केशव ! कृष्ण ! विष्णो ! हृषीकेश ! वासुदेव ! आरक्षो
 भगन्धार है ॥९॥ इस प्रकार राजा भरत ने वसु धीहरि के नामों का उच्चारण
 करते रहते थे । स्वप्न में भी वह इसी पद की जागते रहते और इसने अतिरिक्त
 कुछ भी चिन्तन न करते थे ॥१०॥ यह योग-रहित, योगी और तपस्वी राजा
 प्रमु-मूखन के निमित्त मणिक, पुष्प और कुशा मात्र एकत्र करते और इसने
 अतिरिक्त अन्य कोई कर्म नहीं करते थे ॥११॥ एक दिन की बात है—उन्होंने
 नदी पर जाकर स्नान किया और फिर स्नान के बाद की श्रिताई की ॥१२॥
 इसने ही वे उस नदी के तट पर एक प्यासी हरिणी जल पीने के लिये आई,

वह हरिणी घासन्न प्रसवा थी ॥१३॥ वह जैसे ही जल थी पुत्री, वैसे ही सब जीवों को भयभीत करने वाला भयकर सिंहनाद सुनाई दिया ॥१४॥

ततः सा सहसा त्रासादाप्लुता निम्नगातटम् ।
 अतपुष्पारोहणेनास्या नद्या गर्भः पपात ह ॥१५॥
 तमूह्यमान देवेन वीचिमालापरिप्लुतम् ।
 जग्राह स नृपो गर्भस्त्वितितं मृगपोतकम् ॥१६॥
 गर्भप्रच्युतिदोषेण प्रोत्तुङ्गाक्रमणेन च ।
 मैत्रेय सापि हरिणी पपात च भमार च ॥१७॥
 हरिणी ता विलोषयाय विपन्ना नृपतापसः ।
 मृगपोत ममादाय निजमाश्रममागतः ॥१८॥
 चकारानुदिन चासी मृगपोतस्य वै नृपः ।
 पोषण पुष्यमाणश्च स तेन चवृधे मुने ॥१९॥
 चचारायमपर्यन्ते तृणानि गहनेषु सः ।
 दूरं गत्वा च दार्दूलत्रासादभ्याययी पुनः ॥२०॥
 प्रातर्गत्वातिदूरं च मायमायात्यथाश्रमम् ।
 पुनश्च भरतस्याभूदाश्रमस्थोऽजार्जरे ॥२१॥

इसमें वह घासन्न भयभीत हुई थीर उद्यत कर नदी तट पर आ गई । बहुत ऊँचे स्थान पर उछलने के कारण उसका गर्भ नदी के जल में जा गिरा ॥१५॥ नदी की तरंगों में बहते हुये उस गर्भ से गिरे मृगशावक को राजा भरत ने पकड़ लिया ॥१६॥ हे मैत्रेयी ! गर्भपात होने थीर बहुत ऊँची छत्राग मारने के कारण वह हरिणी भी धृषिकी पर गिर गई ॥१७॥ उस हरिणी की मरी देखकर तपस्वी भरत उस मृग शावक की सेनार अपने आश्रम पर आ गये ॥१८॥ हे मुने ! राजा भरत उस मृगशावक का पोषण करने लगे, जिससे वह उनसे पोषित हुआ निम्न प्रति मृद्धि की प्राप्ति होने लगा ॥१९॥ वह जानक अभी उनके आश्रम के निकटवर्ती प्रदेश में चला करता थीर कभी मुदूर जंगल में चला जाता थीर फिर सिंहनाद के डर से सीट जाता ॥२०॥ प्रातःकाल

होने पर यदि दूर चला जाता तो भी सायंकाल होने पर आश्रम में लौटकर पक्ष-
शाला के भौगन में लेट जाता ॥२१॥

तस्य तस्मिन्मृगे दूरसमीपपरिवर्तिनि ।
आसीच्चेत समासक्त न यथावन्यतो द्विज ॥२२॥
विमुक्तराज्यतनय प्रोज्झिताशेषवान्धव ॥
ममस्य स चकारोच्चैस्तस्मिन्हरिणवातके ॥२३॥
किं वृकभक्षितो व्याघ्रं किं सिंहेन निपातित ।
चिरायमाणो निष्क्रान्ते तस्यासीदिति मानसम् ॥२४॥
एषा वसुमती तस्य खुराग्रक्षतवर्चुरा ।
प्रीतये मम जातोऽसी क मर्मणकबालक ॥२५॥
विपाणाग्रण मद्बाहु वण्ड्यनपरो हि स ।
क्षमेणाभ्यागतोऽरण्यादपि मा सुखयिष्यति ॥२६॥
एते मूनश्चिन्वास्तस्य दशनैरचिरोद्भूत ।
कुशा बासा विराजन्ते घटव सामगा इव ॥२७॥
इत्य चिरगते तस्मिन्स चन्द्रे मानस मुनि ।
प्रीतिप्रसन्नप्रयदन पार्श्वस्थे चाभवन्मृगे ॥२८॥
गमाधिभङ्गस्तस्यासीत्तन्मयत्वादृतास्मा ।
सन्त्यक्तराज्यभोगाद्विस्वजनस्यापि भूपते ॥२९॥
अपन चपने तस्मिन्दूरग दूरगागिनि ।
मृगपोऽभवच्चित्त स्पर्धयत्तस्य भूपते ॥३०॥
वालेन गच्छता सोऽय वान चक्रे महीपति ।
पितृव माय्य पुत्रेण मृगपातेन योक्षित ॥३१॥
मृगमय तदाऽप्यसीत्यजनप्राणानमावपि ।
सन्मयत्वेन मैत्रेय नान्यत्विचिदचिन्तयत् ॥३२॥

इस प्रकार कभी निकट और कभी दूर चला जाते बाभे उस मृग के प्रति
राजा का माहृमन तथा और वह राज्य विपक्षों में विभक्त होगये ॥२२॥ फिर ये
अपना राज्य, वैभव, पुत्र वल्लभ, व पुत्रीपक्ष सब कुछ त्याग दिया था, वही

द्वितीय अंग-अ० १३]

भरत उस मृग-शावक के मोह में भर गये ॥२३॥ जब वह बाहर जाकर देर से लौटता, सब उन्हें निन्ता होती कि कहीं उसे कोई भेड़िया तो नहीं खा गया ? किसी सिंह ने तो नहीं घेर दबाया ? ॥२४॥ प्रहा, उसके खुरो के चिह्न बनने से यह भूमि कैसी चितवबरी लगती है । मेरा प्रसन्नता के लिये ही प्रकट हुआ यह मृग-शावक आज न जाने किधर चला गया ? ॥२५॥ क्या वह वन से सकुशल लौटेगा और अपने सींगों के अग्र भाग से मेरे बाहुओं को छुजाकर मुझे मुक्त देगा ? ॥२६॥ उसके अभी उत्पन्न हुए दाँतों से त्रिनकी निखाएँ बट गई हैं, ऐसे यह कुछ सिखा रहित ब्रह्मचारियों के समान कैसे विराज रहे हैं ॥२७॥ उस मृग शावक को गये हुए अधिक देर होने पर भरत इस प्रकार चिन्ता ग्रिवा करते और जब वह लौटकर उनके पास आ जाता, तब उसे देख-कर स्नेह वर उनका मुख लिल उठता था ॥२८॥ इस प्रकार उठी मैं ऐसी प्रासक्ति रहने से राग, भोग, क्रुद्धि और स्वजनो ने भी झोझकर आने वाले राजा भरत की समाधि में विघ्न उपस्थित हो गया ॥२९॥ मृग के चल होने पर राजा का स्थिर चित्त भी तन्मय हो उठता और जब वह दूर चला जाता, तब उनका चित्त भी उनके पास नहीं रहता था ॥३०॥ कालान्तर में जब राजा भरत ने अपने प्राण का त्याग किया, तब वह मृग बालक, जैसे मरते हुए पिता को पुत्र सजल नयनों से देखता है, वैसे ही उन्हें देखता रहा ॥३१॥ हे मन्त्रेयजी ! प्राण त्याग करते समय राजा भी उस मृग को ही स्नेह पूर्वक देखते रहे और उसी में तन्मय चित्त रहने के कारण, उससे कुछ धन्य चिन्तन नहीं हो सका ॥३२॥

ततश्च तत्कालकृता भावना प्राप्य तादृशीम् ।
जम्बूमागं महारण्ये जातो जातिस्मरो मृगः ॥३३॥
जातिस्मरत्वादुद्विग्न ससारस्य द्विजोत्तम ।
विहाय मातरं भूय शालग्राममुपाययौ ॥३४॥
नुपकंस्तृणंस्तया परौ. स नुबंशात्मपोषणम् ।
मृगत्वहेतुभूतस्य वर्मणो निष्कृति ययौ ॥३५॥
तत्र चोत्पृष्टदेहोज्ञौ जज्ञे जातिस्मरो द्विजः ।
सदाचारवता गुदं योगिना प्रवरे कुले ॥३६॥

सर्वविज्ञानसम्पन्नः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ।

अपश्यत्स च मंत्रेय आत्मानं प्रवृत्तेः परम् ॥३७॥

आत्मनोऽधिगतज्ञानो देवादीनि महामुने ।

सर्वभूतान्यभेदेन स ददर्श तदात्मनः ॥३८॥

उस समय उनकी जो भावना थी, उससे वह जन्म द्वीप के एक महात्न में जाकर मृग रूप में जन्मे । इस जन्म में भी उन्हें पूर्व जन्म की याद बनी रही ॥३७॥ उस पूर्व स्मृति के बने होने से वह ससार से विरक्त हो रहे और अपनी माता का त्यागकर शालग्राम क्षेत्र में निवास करने लगे ॥३८॥ वही शुष्क वृक्ष-पत्रादि के भक्षण द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते हुए वह अपने मृग-धोनि प्राप्ति करने के कारण भूत कर्मों का शय करने लगे ॥३९॥ फिर अपने उस देश को त्यागकर उन्होंने सदा चाररत योगियों के पावन वन में ग्राह्य रूप में जन्म लिया ॥३९॥ हे मंत्रेयजी । उस समय वह सर्व विज्ञानों के ज्ञाता और सभी शास्त्रों के मर्मज्ञ हुए और अपने आत्मा को प्रवृत्ति से सर्वथा परे देखने लगे ॥३७॥ हे महामुने । वह आत्मज्ञानों होने के कारण देवतादि सब जीवों को अपने से भिन्न नहीं देखते थे ॥३८॥

न पपाठ गुरुप्रोक्तं कृतोपनयनं श्रुतिम् ।

न ददर्श च कर्माणि शास्त्राणि जगृहे न च ॥३९॥

उक्तोऽपि बहुशः किञ्चिज्जडवाक्यमभाषत ।

तदप्यसत्कारगुणं ग्राम्यवाक्योक्तिवधितम् ॥४०॥

अपध्वस्तवपुः सोऽपि मलिनान्बरधृग्निजः ।

विलग्नदन्तान्तरं सर्वे परिभूतः स नागरैः ॥४१॥

सम्मानना परा हानिं योगद्धं कुस्ते यतः ।

जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥४२॥

तस्माच्चरेत् योगी सता धर्ममदूषयन् ।

जना यथावमन्येरन्गच्छेद्युर्नैव सङ्गतिम् ॥४३॥

हिरण्यमभंवचनं विचिन्त्येत्य महामप्तिः ।

आत्मानं दर्शयामास जडोन्मत्ताकृतिं जने ॥४४॥

भुङ्क्ते कुल्माषव्रीह्यादिशाक वन्य फल वणान् ।
यद्यदाप्नोति सुबहु तदत्ते कालसयमम् ॥४१॥

जब उपनयन सम्कार हो गया, जब गुरु ने पढ़ाने पर भी वेद अध्ययन प्रायः शास्त्रों को नहीं पढ़ता और न किसी को ही दखना था ॥३६॥ जब उसने कोई कुछ प्रदान करता, सब वह स्वकारहीन, सारहीन अथवा ग्रामीण वास्य निज हृदये क्षरपुट वचन कहना था ॥४०॥ अवच्छेदशरीर, मंत्रे वन्धन और मलीन शक्तों वाले उन ब्राह्मणों को नागरिकों से सदा अपमानित होना पड़ता था ॥४१॥ हे मंत्रेयजी । योग सिद्धि में सबसे बड़ी बाधा सम्मान है, सदा अपमानित होने वाला योगी हीन ही निद्रि को प्राप्त होता है ॥४२॥ इसलिये समार्ग को निर्दोष रखना हुआ योगी ऐसा आचरण करता रहे, जिससे बारण लोग उसका अपमान करें और भगति से वंचन रहें ॥४३॥ हिरण्यवर्ग के इन पंचना का स्मरण करते हुए वह महामति ब्राह्मण लोगों के सामने जब और उन्मत्त जैसे रहते थे ॥४४॥ कुल्माष, व्रीहि आदि, शाक, वन व फल या घस्रण आदि जो कुछ भी मिल जाता, यदि वह थोड़ा भी होता तो उसे अधिक मानकर आहार करते हुए अपना समय व्यतीत करने लग ॥४५॥

पितर्युपरते सोऽय भ्रातृभ्रातृव्यवान्धवै ।
धारित शत्रवर्मादि वदन्नाहारपोषित ॥४६॥
स तूदापीनाययवो जडवारी च वमंणि ।
सर्वलोभोपकरण बभूवाहारचेतन ॥४७॥
त तादृशममस्वार विप्रावृत्तिविचेष्टितम् ।
क्षत्ता शृपतराजस्य काल्यं पशुमवन्पयत् ॥४८॥
रात्री स समलङ्कृत्य वैशसस्य विधानतः ।
अभिहित महाकाली ज्ञात्वा योगेश्वर तथा ॥४९॥
ततः सद्गुण समादाय निशित निशित सा तथा ।
क्षत्तार क्रूरवर्माणमन्दिनत्वष्टमूनतः ।
स्वपापंदयुता देवी पपो रधिरमुत्पणम् ॥५०॥

जब उनके पिता की मृत्यु हो गई, तब उनके भाई, भतीजे और दाधव-
गण निकृष्ट अन्न से उनका पोषण करते हुए, उनसे कृषि कार्य कराने लगे
॥४६॥ वह भी बैल के समान पुष्ट देह वाले और कम मे जठ के समान चेश-
रहित होने के कारण आहार मात्र प्राप्त करने सबका कार्य यत्र के समान करते
थे ॥४७॥ पृथ्वराज के सेवकों ने उन्हें ब्राह्मण वेश के विरुद्ध आचरण बोला
तथा सस्कारहीन देखकर महाकाली की बलि के लिये विधिवत सजाया परन्तु
एक परम योगी को बलि रूप में उपस्थित देखकर स्वयं महाकाली ने अपने
तीक्ष्ण खड्ग से उस क्रूर कर्म वाले राजसेवक का वरुण मूल सहित काटकर
अपने पार्षदों सहित उसका रक्त पी लिया ॥४८-५०॥

ततस्सीवीरराजस्य प्रयातस्य महात्मन ।
विष्टिर्ताथ मन्येत विष्टियोग्योऽप्यमित्यपि ॥५१॥
त तादृश महात्मान भस्मच्छन्नमिवानलम् ।
क्षत्ता सीवीरराजस्य विष्टियोग्यममन्यत ॥५२॥
स राजा शिविकारूढो गन्तु कृतमतिद्विज ।
वभूवैक्षुमतीतीरे कपिलपर्वराश्रमम् ॥५३॥
श्रय किमत्र ससारे दुःखप्राये नृणामिति ।
प्रष्टु त मोक्षधर्मं कपिलास्य महामुनिम् ॥५४॥
उवाह शिविका तस्य क्षतुर्वचनचोदित ।
नृणां विष्टिगृहीतानामन्येषां सोऽपि मध्यग ॥५५॥
गृहीतो विष्टिना विप्र सर्वज्ञानैकभाजन ।
जातिस्मरोऽसौ पापस्य क्षयकाम उवाह ताम् ॥५६॥
ययौ जटमतिं सोऽथ युगमानावलोकनम् ।
बुवन्मतिमता श्रेष्ठस्तदन्ये त्वरित ययु ॥५७॥

फिर एक दिन सीवीर नरेश कहीं जा रहे थे, उनके बेगारियों ने उन्हें
बेगार के योग्य समझा ॥५१॥ राख में धिरे हुए अग्नि के समान उनकी घावों
आदि देखा कर राज सेवकों ने भी उन्हें बेगार करने के लिये उपयुक्त समझ लिया
॥५२॥ डा सीवीर नरेश मोल धर्म के जानने वाले महर्षि कपिल से 'दुःखमय

सगर में येय कहाँ है' इस जिज्ञासा के समाधान पाने के विचार से, पालकी पर चढ़कर उन महर्षि के आश्रम पर इक्षुमती नदी के तट पर जाने का निश्चय किया था ॥५३-५४॥ उस समय राजसेवक के कहने से अन्य दगारियों के साथ लग कर वह ब्रह्माण भी उनकी पालकी को उठा कर चले ॥५५॥ अपने पूर्व जन्म की याद रखने वाले, सम्पूर्ण विज्ञान के एक ही भाजन वह ब्रह्माण इस प्रकार बेकार द्वारा अपने पापमय प्रारब्ध का क्षय करने के निचे उस पालकी के बहम-चार्य लगे ॥५६॥ यह जडमति ब्रह्माण तो चार हाथ पृथिवी देखत हुए धीमी गति से चलते थे, परन्तु उनके अन्य सब साथी शीघ्रता पूर्वक चल रहे थे ॥५७॥

विलोक्य नृपति सोऽथ विहमा शिविकागतिम् ।
 किमेतदित्याह सम भूम्यता शिविकावहा ॥५८॥
 पुनस्तथैव शिविका विलोक्य निपमा हि स ।
 नृप किमेतदित्याह भवद्भिर्गम्यतेऽन्यथा ॥५९॥
 भूपतेर्वदतस्तस्य श्रुत्वेत्य बहुशो वच ।
 शिविकावात्वा प्रोचुरय यातीत्यतत्त्वरम् ॥६०॥
 किं श्रान्तोऽस्यत्पमध्वान त्वयोटा शिविका मम ।
 किमायासमहो न त्व पीवानमि निरीक्ष्यसे ॥६१॥
 नाह पीवान्न चैयोटा शिविका भवतो मया ।
 ■ श्रान्तोऽस्मि न चायामो मोढव्योऽस्ति महीपते ॥६२॥
 प्रत्यक्ष दृश्यसे पीवानयापि शिविका त्वयि ।
 श्रमश्च भारोढहने भवत्येव हि देहिनाम् ॥६३॥

इस प्रकार उस पालकी की समान गति न देख कर राजा बोले—घरे पालकी चलाने वालों ! यह क्या कर रहे हो, एक-सी चाल से चलो ॥५८॥ उसके बाद भी उसकी वैसी ही विपम गति देखकर राजा ने कहा—घरे क्या करते हो ? इस प्रकार विपम भाव ने क्यों चल रहे हो ? ॥५९॥ इस प्रकार राजा द्वारा बारबार टोने जाने पर पालकी चलाने वाले ने कहा—हममें यद एक व्यक्ति बहुत मदगति से चलता है ॥६०॥ राजा बोले—अरे, तुम्हारे तो इस

पालकी को अभी थोड़ी दूर ही बोया है, क्या इतने में ही श्रान्त हो गया ? देखने में तो तू इतना मोटा ताजा है, फिर क्या तू इतना परिश्रम भी नहीं कर सकता ? ॥६१॥ तब उन ब्राह्मण ने कहा— हे राजन् ! मैं न तो मोटा ताजा हूँ और न मैंने आपकी पालकी ही उठाई हुई है, न मैं थका हूँ और न मुझे परिश्रम करने की ही आवश्यकता है ॥६२॥ राजा ने कहा—भरे, तू तो प्रत्यक्ष ही मोटा-ताजा दिख रहा है, इस समय भी यह पालकी तेरे कंधे पर रखी है, और भार वहन करने से परिश्रम भी होता ही है ॥६३॥

प्रत्यक्ष भवता भूप यद्दृष्ट मम तद्गद ।
 वलवानवलश्चेति वाच्य पञ्चाद्विसेपणम् ॥६४॥
 त्वयोद्धा शिविका चेति त्वय्यद्यापि च संस्थिता ।
 मिथ्यैतदत्र तु भयान्ज्युणोतु वचनं मम ॥६५॥
 भूमौ पादयुग त्वास्ते जङ्घे पादद्वये स्थिते ।
 ऊर्वोर्जङ्घाद्वयावस्थौ तदाधारं तथोदरम् ॥६६॥
 वक्ष स्थल तथा बाहू स्वन्धौ चोदरसंस्थितौ ।
 स्वन्धाश्रितेय शिविका मम भारोऽत्र किं कृतः ॥६७॥
 शिविकाया स्थित चेद यपुस्त्वदुपलक्षितम् ।
 तत्र त्वमहमप्यत्र प्रोच्यते चेदमन्यथा ॥६८॥
 अहं त्वं च तयान्ये च भूतैरहाम पाधिय ।
 गुणप्रवाहपतितो भूतवर्गोऽपि मात्ययम् ॥६९॥
 परमं यस्या गुणाश्चेते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते ।
 भविष्यामिच्छत परमं तत्तादोषेषु जन्तुषु ॥७०॥

इस पर ब्राह्मण ने कहा—हे राजन् ! तुम प्रत्यक्ष क्या देख रहे हो ? यही मुझे लगता है । उनसे बलवान् या निर्बल विशेषणों की बात तो फिर कहना ॥६४॥ तुम्हारा यह कहना मिथ्या है कि मुझे मेरी पालकी उठायी है, इस समय भी वह तेरे कंधे पर रखी है । अब तुम मेरा वचन सुनो ॥६५॥ पृथिवी पर दोनों पर्व, पर्वों पर पर्व, पर्वों पर उद और ऊर्ध्वों पर उदर स्थित हैं ॥६६॥ उदर पर वक्ष, वक्ष बाहू और कंधे हैं और उन कंधों पर महपानकी

रखी है तो इसका भार मेरे ऊपर कहाँ है ? ॥६७॥ इस पालकी में तुम्हारा बसाया जाने वाला देह रखा है । यथार्थ में तो तुम वहाँ हो और मैं यहाँ हूँ । ॥६८॥ हे राजन् । तुम अथवा अन्त्या-य सब प्राणी पंचभूतों द्वारा ही बहन किये जाते हैं और यह भूतवग भी गुणों के द्वारा प्रवाहित हो रहा है । ६९। ह भूपते । यह सत्त्वादि गुण कर्मों के आधीन हैं और सब प्राणियों में कम की उत्पत्ति प्रविष्टा से हुई है ॥७०॥

आत्मा शुद्धोऽक्षर शान्तो निगुण प्रकृते पर ।
प्रवृद्धपचयौ नास्य एकस्याखिलजन्तुषु ॥७१॥
यदा नोपचयस्तस्य न चंचापचयौ नृप ।
तदा पीवानसीतीत्य क्या युक्त्या त्वयैरितम् ॥७२॥
भूपादजङ्घाकटचू रूजठरादिषु सस्थिते ।
शिविकेय यथा स्कन्धे तथा भार समस्त्वया ॥७३॥
तथान्यैर्जन्तुभिर्भूष शिविकोठा न केवलम् ।
शैलद्रुमगृहोत्थोऽपि पृथिवी सम्भवोऽपि वा ॥७४॥
यदा पु स पृथग्भाव प्राकृते कारणं नृप ।
सोढव्यस्तु तदायास कथं वा नृपते मया ॥७५॥
यद्द्रव्या शिविका चेय तद्द्रव्यो भूतसंग्रह ।
भवतो मेऽखिलस्यास्य ममत्वेनोपवृ हित ॥७६॥
एवमुक्त्वाभवन्मीनी स बह्विधशिविका द्विज ।
सोऽपि राजावसीर्योऽप्यां तत्पादौ जगृहे त्वरन् ॥७७॥

परन्तु आत्मा शुद्ध, अक्षर, शान्त, गुण रहित तथा प्रकृति से परे है तथा सब प्राणियों में एक ही वह घोट प्रोत है, इसलिये उसका न कभी धृष्टि है और न शय है ॥७१॥ हे राजन् । जब उसके उपचय या अपचय ही नहीं होते तो तुमने यह किस आधार पर कहा कि तू तो मोटा ताजा है ॥७२॥ यदि भूमि, पानि, जल, कटि, ऊरु और उदर पर स्थित कबो पर रखी हुई यह पालकी मेरे वीर्य रूप हो सकती है तो यह तुम्हारे लिये भी उसी प्रकार हो सकती है ॥७३॥ इसी मुक्ति से अन्य सभी प्राणियों ने केवल यह पालकी ही

नही, सम्पूर्ण पर्वत, वृक्ष, घर और भूमि आदि का बोझ उठा रखा है ॥७४॥
हे नृप ! जब प्रकृति द्वारा उत्पन्न होने वाले कारणों से पुरुष का पृथक् भाव है,
तो मुझे उसमें थकान भी कैसे हो सकती है ? ॥७५॥ जिस जिन द्रव्य से यह
पालकी बनी है, उसी-उसी से तुम्हारा, मेरा और अन्य सभी का शरीर बना
है, जिसमें ममता का आरोप मात्र है ॥७६॥ श्री पराशरजी न कहा—यह कह
कर वह ब्राह्मण उस पालकी को कंधे पर रखे हुए ही मौन हो गये और राजा
तत्काल भूमि पर उतर आये और उन्होंने ब्राह्मण के चरण पकड़ लिये ॥७७॥

भो भो विसृज्य शिथिका प्रसाद कुरु मे द्विज ।
वक्ष्यता को भवानन जाल्मरूपधर स्थित ॥७८॥
यो भवान्यन्निमित्त वा यदागमनकारणम् ।
तत्सर्वं कथ्यता विद्वन्मह्य शुश्रूपवे त्वया ॥७९॥
श्रूयता सोऽहमित्येतद्वक्तुं भूप न शक्यते ।
उपभोगनिमित्तं च सर्वत्रागमनक्रिया ॥८०॥
सुखदुःखोपभोगौ तु तौ देहाद्युपपादकौ ।
धर्माधर्मोद्भूवौ भोक्तुं जन्तुर्देहादिमृच्छति ॥८१॥
सर्वस्यैव हि भूपाल जन्तो सर्वत्र कारणम् ।
धर्माधर्मौ यत कस्मात्कारणं पृच्छयते त्वया ॥८२॥
धर्माधर्मौ न सन्देहस्सर्वकार्येषु कारणम् ।
उपभोगनिमित्तं च देहादेहान्तरागम ॥८३॥
यस्त्वेतद्भुवता प्रोक्तं सोऽहमित्येतदात्मन ।
वक्तुं न शक्यते श्रोतुं तन्ममेच्छा प्रवर्तते ॥८४॥
योऽस्ति सोऽहमिति ब्रह्मन्वथ वक्तुं न शक्यते ।
आत्मन्येव न दोषाय शब्दोऽहमिति यो द्विज ॥८५॥

राजा ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आप इस पालकी को छोड़ने की कृपा
करिये । हे भगवन् ! आप इस छद्मवेश में कौन हैं, यह मुझे बताइये ॥७८॥
हे विद्वन् ! बताइये आप कौन हैं ? यहाँ किस कारण आये हैं ? मुझे आपके
विषय में जानने की बड़ी इच्छा हो रही है ॥७९॥ ब्राह्मण ने कहा—हे राजन् !

मैं बीन हूँ यह कह नहीं सकता । इसके अतिरिक्त मेरे यहाँ आने का कारण पूछा, तो आवागमनादि क्रियाएँ कर्म-फल भोग के लिये होती ही हैं ॥८०॥ सुख-दुःख का भोग शरीरादि को प्राप्त कराता है और धर्म-अधर्म से उत्पन्न सुख-दुःख का भोग बरन के लिये ही प्राणी को देहादि ग्रहण करने होते हैं ॥८१॥ हे राजन् । यह धर्म-अधर्म ही सब चीजों की मूलतः अवस्थामो के कारण है, फिर मेरे ही आने के कारण को पूछने में क्या विशेषता है ? ॥८२॥ राजा ने कहा—सब कार्यों में धर्म-अधर्म ही कारण है तथा कर्मफल का भोग करने के निमित्त ही जीव का देहान्तर होता है, इसमें संदेह नहीं है ॥८३॥ परन्तु आपने कहा कि मैं बीन हूँ यह नहीं कह सकता, इसी को गुनने की मेरी इच्छा है ॥८४॥ हे ब्राह्मन् । जो है वही मैं हूँ, यह क्यों नहीं कह सकते ? यह अहं शब्द तो आत्मा को दूषित करने का कारण नहीं है ॥८५॥

शब्दोऽहमिति दोषाय नात्मन्येष तथैव तत् ।

अनात्मन्यात्मविज्ञान शब्दो वा भ्रान्तितक्षण ॥८६॥

जिह्वा प्रवीत्वहमिति दन्तोष्ठो तालुके नृप ।

एते नाहं यत् सर्वे वाङ्निष्पादनहेतवः ॥८७॥

किं हेतुभिर्वदत्येषा वागेवाहमिति स्वयम् ।

अन पीवानसीत्येतद्वक्तुमित्य न युज्यते ॥८८॥

पिण्ड पृथग्यत् पुंसि धिर पाण्यादिसक्षण ।

ततोऽहमिति कुर्वता सज्ञा राजन्करोम्यहम् ॥८९॥

यद्यन्योऽस्ति पर कोऽपि मत्तं पार्थिवसत्तम ।

तदैपोऽहमय चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते ॥९०॥

यदा समस्तदेहेषु पुमानेको व्यवस्थित ।

तदा हि को भवान्सोऽहमित्येनद्विफलं वच ॥९१॥

ब्राह्मण ने कहा—हे राजन् । यह शब्द से आत्मा में दोष नहीं आता, यह कहना तो यथार्थ है, परन्तु यह शब्द अनात्म में आत्मत्व की भ्रांति कराने वाला होने से दोष का कारण हो जाता है ॥८६॥ हे राजन् । यह शब्द जिह्वा, दाँत, ओष्ठ और तालु से उच्चारण किया जाता है परन्तु यह सब उसने उच्चारण

के कारण तो हैं, परंतु स्वयं ही अहं नहीं हैं ॥८७॥ तो क्या जिह्वादि कारणों के द्वारा बाणी ही अपने आप को अहं कहती है ? यदि नहीं तो फिर 'तू मोटा-ताजा है' ऐसा कहना भी ठीक नहीं है ॥८८॥ मस्तक, हाथ, पाँव आदि रूप वाला यह देह भी आत्मा से भिन्न ही है । इसलिए इस अहं शब्द को प्रयुक्त किया जाय ? ॥८९॥ हे राजाओं मे खेच ! यदि मुझ से भिन्न कोई अन्य सजातीय ही आत्मा होता तो भी 'यह मैं हूँ' यह भिन्न है ऐसा कह सकते थे ॥९०॥ परंतु जब समस्त देहो मे एक ही आत्मा स्थित है, तब तुम कौन और मैं कौन यह सब निःप्रयोजन ही है ॥९१॥

त्वं राजा शिविका चैयमिमे वाहा पुरः सरा. ।
 अयं च भवतो लोको न सदेतन्नृपोच्यते ।९२।
 वृक्षादारु ततश्चैय शिविका त्वदधिष्ठिता ।
 किं वृक्षसज्ञा वास्या स्याद्दारुसज्ञाय वा नृप ।९३।
 वृक्षारूढो महाराजो नाय वदति ते जन. ।
 न च दारुणि सर्वस्त्वा ब्रवीति शिविकागतम् ।९४।
 शिविका दारुसङ्घातो रचनास्थितिसंस्थितः ।
 अन्विष्यता नृपश्रेष्ठ तद्भूदे शिविका त्वया ।९५।
 एव छत्रशलाकानां पृथग्भावे विमृश्यताम् ।
 क यात छत्रमित्येष न्यायस्त्वयि तथा मयि ।९६।
 पुमान् स्त्री गीरजो वाजी कुञ्जरो विहगस्तह. ।
 देहेषु लोकसंज्ञेय विज्ञेया कर्महेतुषु ।९७।
 पुमान् देवो न नरो न पशुर्न च पादप. ।
 शरीराकृतिदास्तु भूपते वर्मयोनय. ।९८।

तुम राजा हो, यह पालकी तुम्हारी है, यह पालकी खोने वाले हैं, यह सब तुम्हारी प्रजा है—इन सब वाक्यों में से यथार्थ रूप में तो कोई भी सरप नहीं है ॥९८॥ हे राजन् ! वृक्ष से बाण हुआ और बाण से तेरी पालकी बनी तो इस पालकी को बाण कहें अथवा वृक्ष ? ॥९९॥ परंतु महाराज वृक्ष पर बैठे हैं, ऐसा कोई नहीं कहता और न बाण पर ही बैठे हुए बताता है, सभी पालकी

मे बंटे हुए कहते हैं ॥६४॥ हे नृपोत्तम ! रत्नो विरोध से एकत्रित हुआ काष्ठ-समूह ही तो यह पालकी है । यदि यह काष्ठ से भिन्न है तो काष्ठ को इससे पृथक् करके उसकी खोज करो ॥६५॥ इसी प्रकार छत्रसनाकाग्नो को पृथक् रख कर सोचो कि फिर वह छत्र कहाँ रहता है ? यही न्याय अपने धीरे धीरे देह के प्रति रखो ॥६६॥ पुरुष, स्त्री, गौ, बकरा, घोड़ा, हाथी, पक्षी और वृक्षादि लोक सजाएँ कर्म हेतु वाले देह में माननी चाहिये ॥६७॥ हे भूपते ! आत्मा तो देवता, मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि कुछ भी नहीं है । यह सब तो कर्म से उत्पन्न बहो के प्राकृति-भेद ही हैं ॥६८॥

वस्तु राजेति यत्लोके यच्च राजमटात्मकम् ।

यतान्पञ्च नृपेत्य तत्र सत्सङ्कल्पनामयम् ॥६९॥

यत्तु कालान्तरेणापि नान्वा सज्जामुपैति वं ।

परिणामादिमन्मूता तद्वस्तु नृप तच्च किम् ॥७०॥

त्व राजा सर्वलोकस्य पितु पुत्रो रिपो रिपु ।

पत्न्या पति पिता सूनो किं त्वा भूप वदाम्यहम् ॥७१॥

त्व किमेतच्छिर किं नु ग्रीवा तव तथोदरम् ।

किमु पादादिकं त्वा वा तवैतत्किं महीपते ॥७२॥

समस्तावयवेभ्यस्त्वा पृथग्भूय व्यवस्थित ।

कोऽहमित्यत्र निपुणो भूत्वा चिन्तय पार्थिव ॥७३॥

एव व्यवस्थिते तत्त्वे मयाहमिति भाषितुम् ।

पृथक्करणनिष्पाद्य नक्षयते नृपते वयम् ॥७४॥

ससार में राजा, राजा के बीर सैनिक तथा अगान्य सभी वस्तुएँ पदार्थों में सत्य नहीं हैं, यह तो निरी कल्पना है ॥६९॥ परमार्थ वस्तु तो बही है, जिससे परिमाणों के कारण से होने वाली सजा कालान्तर के उपस्थित होने पर भी नहीं होती ? हे नृप ! वह वस्तु क्या है ? ॥७०॥ सब प्रजाजनों के लिये तुम राजा हो, पिता के लिये पुत्र हो, पत्नी के लिये पति हो, पुत्र के लिये पिता हो तथा शत्रु के लिये शत्रु हो । जब हे भूपते ! तुम्हीं बताओ कि मैं तुम्हें क्या कहूँ ? ॥७१॥ हे राजन् ! तुम शिर, ग्रीवा, उदर अथवा पाँव में से

कुछ हो ? और क्या यह शिर आदि भी तुम्हारे अंगों में हैं ? ॥१०२॥ तुम इन सब अवयवों से मिश्र हो इसलिये यत्न पूर्वक सोचो कि मैं कौन हूँ ॥१०३॥ हे राजन् ! इस प्रकार अज्ञस्थित आत्मा तत्त्व को सबसे पृथक् करके ही उसका प्रतिपादन किया जा सकता है, तो मैं उसे अहं शब्द द्वारा किस प्रकार कह सकता हूँ ? ॥१०४॥



चौदहवाँ अध्याय

निशम्य तस्येति वच परमार्थसमन्वितम् ।
 प्रथयावनतो भूत्वा तमाह नृपतिद्विजम् ।१।
 भगवन्त्यत्वया प्रोक्त परमार्थमय वच ।
 श्रुते तस्मिन्भ्रमन्तीव मनसो मम वृत्तय ।२।
 एतद्विवेकविज्ञानं यदक्षेपपु जन्तुषु ।
 भवता दर्शितं विप्र तत्परं प्रकृतेर्महत् ।३।
 नाहं वहामि शिबिकां शिबिका न मयि स्थिता ।
 शरीरमग्न्यदस्मत्तो येनेयं शिबिका घृता ।४।
 गुणप्रवृत्त्या भूतानां प्रवृत्तिं कर्मचोदिता ।
 प्रवर्तन्ते गुणा ह्येते किं ममेति त्वयोदितम् ।५।
 एतस्मिन्परमार्थज्ञं गमं श्रोत्रपथं गते ।
 मनो विह्वलतामेति परमार्थाधिंता गतम् ।६।

कहे हुए परमार्थमय वचनों को सुन कर मेरी मनोवृत्तियों में भाति पागई है ॥२॥ हे ब्रह्म ! सम्पूर्ण प्राणियों में व्याप्त जिस असम्य विज्ञान का आपने मुझे दिव्यदर्शन कराया है, वह अवश्य ही प्रकृति से परे ब्रह्म है ॥३॥ परन्तु, आपने जो यह कहा कि मैं पालकी को नहीं छोड़ता हूँ, पालकी मेरे ऊपर नहीं है मयवा अथवा देह ने हमें उठाया हुआ है, वह मुझसे भिन्न है । गुणों की प्रेरणा से प्राणियों की प्रवृत्ति होती है और गुण कर्मों के द्वारा प्रेरित होते हैं तो इसमें मेरा कर्तृत्व कैसे माना जायगा ? ॥४-५॥ हे परमार्थ के ज्ञाता ! यह सुनते ही मेरा चित्त परमात्मा को जानने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है ॥६॥ हे द्विज ! 'सत्तार स्थित मनुष्यो वा श्रय' पृथ्वी के लिये ही मैं महामाग महर्षि ऋषि के पाम जाने को उत्तर हूँ ॥७॥ परन्तु मार्ग में ही आपके वचन सुन कर परमात्मा को जानने की अभिलाषा से मेरा चित्त आपसे प्रति झुक गया है ॥८॥

कपिलर्षिर्भगवत सर्वभूतस्य वै द्विज ।
विष्णोरशो जगन्मोहनाशायोर्वीमुपागत । १६।
स एव भगवान्मनूनमस्माकं हितकाम्यया ।
प्रत्यक्षतामत्र गतो यथैतद्भवतोच्यते ॥१०॥
तन्मह्य प्रणुताय त्व यच्छ्रेय परम द्विज ।
तद्वदालिलविज्ञानजलवीच्युदधिर्भवान् ॥११॥
भूप पृच्छसि किं श्रेय परमार्थं नु पृच्छसि ।
श्रेयास्यपरमार्थानि भ्रमेपाणि च भूपते ॥१२॥
देवताराधनं कृत्वा धनसम्पदमिच्छति ।
पुत्रानिच्छति राज्यं च श्रेयस्तस्यैव तन्मृप ॥१३॥
कर्म यज्ञात्मकं श्रेय फल स्वर्गामिलक्षणम् ।
श्रेय प्रधानं च फले तदेवानभिसहिते ॥१४॥
आत्मा ध्येय सदा भूप योगयुक्तस्तथा परम् ।
श्रेयस्तस्यैव सयोग श्रेयो यः परमात्मन ॥१५॥

हे द्विज ? महर्षि ऋषि सर्वात्मक भगवान् विष्णु के ही अंश हैं, यह शब्द के मोह को नष्ट करने के लिये ही पृथिवी पर अवतरित हुए हैं ॥१६॥

परन्तु, आपकी इस प्रकार की वाणी सुन कर मुझे निश्चय हो रहा है कि वही भगवान् नवित मेरा हित करने की इच्छा से यहाँ आपके रूप में प्रकट हुए हैं ॥१०॥ इसलिये हे द्विज ! जिसमें परम श्रेष्ठ हो, वह आप मुझे प्रसन्नता से बताइते । आप तो सम्पूर्ण विज्ञान तरंगों से सम्पन्न समुद्र के समान हैं ॥११॥ ब्राह्मण ने कहा—हे भूपते ! तुम श्रेय जानना चाहते हो अपना परमार्थ ? क्योंकि श्रेय तो सभी परमार्थिक हैं ॥१२॥ हे राजन् ! देवताओं की आराधना के द्वारा जो मनुष्य धन, सम्पत्ति, पुत्र, राश्यादि की कामना करता है, उसके लिये तो उनकी प्राप्ति ही परम श्रेय है ॥१३॥ स्वर्ग प्राप्ति रूप पक्ष वाले यथाविक कर्म भी श्रेय हैं, परन्तु प्रमुख श्रेय तो कर्म के कल की कामना न करने में है ॥१४॥ इसलिये हे राजन् ! योगी पुरुषों को तो प्रकृति आदि से परे उस आत्मा का ही चिन्तन करना चाहिये, क्योंकि उसी का संयोग रूप श्रेय यथार्थ श्रेय हैं ॥१५॥

श्रेयास्येवमनेवानि शतशोऽथ सहस्रश ।

सन्त्यग्र परमार्थस्तु न त्वेते भूमता च मे ॥१६॥

धर्माय त्यज्यते विन्नु परमार्थो धन यदि ।

व्यग्रश्च त्रियते नस्मात्कामप्राप्त्युपलक्षण ॥१७॥

गुणद्वेषेत्परमार्थं स्यात्सोऽप्यन्मस्य नरेभ्यः ।

परमार्थभूत सोऽन्यस्य परमार्थो हि तत्पिता ॥१८॥

एष न परमार्थोऽस्ति जगत्स्यस्मिन्धराचरे ।

परमार्थो हि वार्याणि वारणानामशेषत ॥१९॥

राज्यादिप्राप्तिरनोक्ता परमार्थतया यदि ।

परमार्थं भवन्त्यत्र न भयन्ति च ये तत ॥२०॥

श्रम्यज्ज्ञातमनिष्पाद्य यज्ञमर्थं भूतं तव ।

परमार्थभूतं तत्रापि धूयता गदतो मम ॥२१॥

यत्तु जिष्णाद्यते वार्यं भूदा वारणभूतया ।

तत्सारणा नृपमनाज्जायते नृप मृगमयम् ॥२२॥

एवं विनामिभिर्द्रव्यैः समिदाज्यकुडादिभिः ।

निष्पाद्यते क्रिया या तु सा भविषी विनामिनी ।२३।

इम प्रकार धोय संबन्धो-सहस्रो मांति के हैं, परन्तु यह सब परमार्थिक नहीं हैं, अब मैं परमार्थ नहूँ हूँ—उसे सुनो ॥१६॥ यदि धन को परमार्थ समझें तो धर्म के लिये उसका त्याग क्यों करें ? और इच्छित भोगों की प्राप्ति के लिये उसका ध्यय क्यों करें ? ॥१७॥ यदि पुत्र को परमार्थ कहें तो वह धन्य का परमार्थपूत है और उसका पिता भी धन्य का पुत्र होने से उत्तम परमार्थ हूँ ॥१८॥ इसलिये इस चरणपर विश्व में पिता का कार्य रूप पुत्र भी परमार्थ सिद्ध नहीं होता । यदि ऐसा हो जाय तो सभी कार्यों के कार्य परमार्थ ही न बन जाय ! ॥१९॥ यदि राज्यादि की प्राप्ति को परमार्थ कहें तो यह सर्वत्र पाया नहीं रहते, इसलिये यह भी परमार्थ नहीं हो सकते ॥२०॥ यदि श्रेष्ठ, दुरुः साम रूप वेदनयो से सम्पन्न होने वाले यज्ञ को परमार्थ समझें तो उसके विषय में भी मेरी बात सुनो ॥२१॥ हे राजन् ! जो वस्तु कारण रूपा मिट्टी का कार्य होती है । जैसे पटा इत्यादि], वह वस्तु कारण की अनुगामिनी होने से मिट्टी ही समझी जाती है ॥२२॥ इसलिये जो धर्म समिधा, पूत और कुशादि नष्ट होने वाले पदार्थों से सम्पन्न होती है वह भी नष्ट होने वाली ही होगी ॥२३॥

अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते ।

तत्तु नामि न सन्देहो माग्निद्रव्योपपादितम् ।२४।

तदेवाफनदं कर्म परमार्थो मतस्त्वव ।

मुक्तिमाधनभूतत्वात्परमार्थो न साधनम् ।२५।

ध्यानं चैवात्मनो भूष परमार्थिगच्छितम् ।

भेदकारि परेभ्यस्तु परमार्थो न भेदवान् ।२६।

परमात्ममात्मनोर्बोधः परमार्थ इतीष्यते ।

मिथ्यैतदन्वदद्रव्यं हि नैति तद्द्रव्यतां यतः ।२७।

तत्माच्छेदांस्त्वयोपाणि नृपतानि न संशयः ।

परमार्थस्तु भूपाल सट्क्षेपाच्छूयतां मम ।२८।

एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृते परः ।
जन्मवृद्ध्यादिरहित आत्मा सर्वगतोऽव्ययः ॥२६॥
परज्ञानमयोऽसद्भिन्नमिजात्यादिभिर्विभुः ।
न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव योक्ष्यते ॥३०॥

ज्ञानीजन परमार्थ को अविनाशी कहते हैं और नाशवान् द्रव्यो से सम्पन्न होने के कारण कर्म नाशवान् हैं, उसमे सदेह नहीं है ॥२४॥ यदि फल की आशा से रहित निष्काम कर्म को परमार्थ कहे तो वह मोक्ष रूप फल का साधक होने से ही है, परमार्थ नहीं हो सकता ॥२५॥ यदि सरीरादि से आत्मा की भिन्नता विचार कर उसके चित्तन को परमार्थ कहे तो वह अनात्मा से आत्मा का भेद करने वाला है और परमार्थ भेद-रहित है ॥२६॥ यदि परमात्मा और जीवात्मा के संयोग को परमार्थ कहे तो अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य का संयोग नहीं हो सकता, इसलिये वैसा कथन भी मिथ्या है ॥२७॥ इसलिये हे राजन् ! यह सभी श्रेय हैं, अब जो परमार्थ है, उसे सक्षिप्त रूप से सुनो ॥२८॥ आत्मा एक है, वह सर्व-व्यापी, सम, शुद्ध, निर्गुण, प्रकृति से परे तथा जन्म-वृद्धि आदि से रहित, सर्वगामी और अव्यय है ॥२९॥ हे राजन् ! वह परम ज्ञानमय है, असत् नाम तथा जाति आदि से वह कभी भी संयुक्त होने वाला नहीं है ॥३०॥

तस्यारमपरदेहेषु सतोऽप्येकमय हि यत् ।
विज्ञान परमार्थोऽसौ द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिन ॥३१॥
वेणुरन्ध्रप्रभेदेन भेदः पट् जादिसञ्जितः ।
अभेदव्यापिनो वायोस्तथास्य परमात्मनः ॥३२॥
एकस्वरूपभेदश्च बाह्यकर्मप्रवृत्तिजः ।
देवादिभेदेऽपध्वस्ते नास्त्येवावरणो हि सः ॥३३॥

वह आत्मा अपने तथा अन्वान्य प्राणियो ने देहों में स्थित रहता हुआ भी एक है—इस प्रकार का विशेष ज्ञान ही परमार्थ है जो लोग द्वैत भावना वाले हैं वे अपरमार्थ का दर्शन करते ॥३१॥ जैसे अभिन्न भाव वाले एक ही वायु के द्वारा बामुरी के छेदों के भेद से पद्म आदि विभिन्न भेद हो जाते

हैं वैसे ही एक ही परमात्मा के अनेक भेद जान पड़ने हैं ॥३२॥ एक ही आत्मा के अनेक भेद बाह्य शरीरादि की वषे श्रवृत्ति से हुए हैं । देवादि शरीरों के भेद को जान लेने पर वह भेदज्ञान भट हो जाता है, क्योंकि जब तक पहिचा का आवरण रहता है तभी तक वह स्थित रहता है ॥३३॥



पंद्रहवाँ अध्याय

इत्युक्ते मीनिनं भूयश्चिन्तयानं महीपतिम् ।
 प्रत्युवाचाथ विप्रोज्जावंदं तान्तर्गता कथाम् ॥१॥
 श्रूयतां नृपणादूल यद्गीतमृमुणा पुरा ।
 भवबोधं जनयता निदाघस्य महात्मनः ॥२॥
 अमुर्नामाभवत्पुत्रो ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
 विज्ञाततत्त्वमद्भावो निसर्गादिव भूपते ॥३॥
 तस्य निष्यौ निदाघोऽभूत्पुलस्तपतनवः पुरा ।
 प्रादादगेषविज्ञानं स तस्मै परया मुदा ॥४॥
 भवाप्तज्ञानतन्त्रस्य न तस्याद्वैतवासना ।
 न अमुस्तर्कयामास निदाघस्य नरेश्वर ॥५॥
 देविकामारतटे वीरनगरं नाम नै पुरम् ।
 ममृद्धिमतिरम्यं च पुलस्त्येन निवेक्षितम् ॥६॥
 रम्योपवनपर्यन्ते स तस्मिन्पार्थिवोत्तम ।
 निदाघो नाम योगज्ञः सुभुगिष्योऽवगत्पुरा ॥७॥

श्री पराशरजी ने कहा—हे मंत्रीवर ! यह सुन कर राजा मोन ॥१॥
 मन ही मन सोचने लगे । यह देख कर उन ब्राह्मण ने राजा को घटित विषयक
 यह कृतान्त सुनाया ॥१॥ ब्राह्मण ने कहा—हे नृपणादूल ! पूर्वकाल की बात
 है—यहपि अमु ने महातपा निदाघ की जो उपदेश दिया था, उसे यवण

करो ॥२॥ हे राजन् ! परमेशी ब्रह्माजी का जो ऋभु नामक पुत्र था, वह स्वभाव से ही परमार्थ सत्त्व का ज्ञाता था ॥३॥ महर्षि पुलस्त्य का पुत्र निदाघ उनका शिष्य था । उसे अत्यन्त प्रसन्न होकर महर्षि ऋभु ने तत्वोपदेश दिया ॥४॥ हे नरेश्वर ! उस समय ऋभु को प्रतीत हुआ कि सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान होने पर भी निदाघ अद्वैत के प्रति निष्ठावान नहीं हैं ॥५॥ देविका-नदी के किनारे पुलस्त्यजी ने घोर नगर नामक एक शक्ति सुरम्भ और समृद्ध नगर की स्थापना की थी ॥६॥ वह नगर उपवनादि से सुशोभित था, जिसमें योग देता ऋभुशिष्य निदाघ निवास करता था । ७॥

दिव्ये वर्षसहस्रे तु समतीतेऽस्य तत्पुरम् ।
जगाम स ऋभु शिष्य निदाघमवलोक्य ॥८॥
स तस्य वैश्वदेवान्ते द्वारालोकनगोचरे ।
स्थितस्तेन गृहीताध्यां निजवेश्म प्रवेशित ॥९॥
प्रक्षालिताङ्घ्रिपाणिं च कृत्वासनपरिग्रहम् ।
उवाच स द्विजश्रेष्ठो भुज्यतामिति सादरम् ॥१०॥
भो विप्रवर्यं भोक्तव्यं यदन्नं भवतो गृहे ।
सत्त्वम्यता यदन्नेषु न प्रीतिः सततं मम ॥११॥
सर्वतुयावववाटधानामपूपानां च मे गृहे ।
यद्रोचते द्विजश्रेष्ठ तत्त्वं भुङ्क्ष्व यथेच्छया ॥१२॥
यदन्नानि द्विजंतानि मृष्टमन्नं प्रयच्छ मे ।
समावपायसादीनि द्रव्यपाणितवन्ति च ॥१३॥
हे हे शानिनि मदमेहं यत्किञ्चिदतिशोभनम् ।
भक्ष्योपसाधनं मृष्टं तेनास्यान्नं प्रसाधय ॥१४॥

एक हजार दिव्य वर्ष व्यतीत होने पर महर्षि ऋभु अपनी शिष्य निदाघ को देखते की दृष्टि ॥ उस नगर में गया ॥८॥ जब निदाघ बलिवेश्वरदेव के परचाय घरों द्वार पर शक्तिवियों की प्रतीक्षा में खड़ा था, तभी मे महर्षि उसे दिखाई दिए और वह उन्हें भक्ष्य दान करने घर में ले गया ॥९॥ उसने उनके हाथों-पाँव धुलाकर उन्हें आसन पर उद्घातन पर बिठाया और द्वार

सहित बोला—भोजन करिये ॥१०॥ ऋमु ने कहा—हे विप्र येष्ट । आपवे
यहाँ जिस भजन वा भोजन करना है, वह मुझे बताओ । क्योंकि कुम्भिन भजन
के प्रति मुझे अरुचि है ॥१२॥ निदाघ बोला—हे द्विजोत्तम । मेरे यहाँ सत्तू,
खी की लप्सी, बाटी और पूए बनाये गये हैं, इनमें से जो चाय खाना चाह,
वही भोजन करें ॥१२॥ ऋमु ने कहा—हे द्विज । यह सभी कृतस्वत भजन है,
मुझे तो हलुआ, खीर, मट्ठा, मिष्ठानादि स्वादिष्ट भजन वा भोजन कराओ ।
॥१३॥ निदाघ ने अर्पणी पत्नी से कहा—हे क्षान्तिनि । मेरे घर में जो धैर्य मे
धैर्य पदार्थ हो, उसी से इनके लिये भनि सुस्वादु भोजन तैयार करो ॥१४॥

इत्युक्ता तेन सा पत्नी मृष्टमन्न द्विजस्य यत् ।
प्रमादितयती तद्ध भर्तुर्वचनगौरवात् ॥१५॥
त मुक्तयन्तमिच्छातो मृष्टमन्न महामुनिम् ।
निदाघ प्राह भूषान प्रथयायनत स्थित ॥१६॥
अपि ते परमा तृप्तिरुपपन्ना तुष्टिरेव च ।
अपि ते मानस स्वर्ग्यमाहारेण कृत द्विज ॥१७॥
ए निवासो भवान्विप्र क्व च गन्तु ममुद्यत ।
आगम्यते च भयता यतस्तच्च द्विजोच्यताम् ॥१८॥
द्युद्यस्य तस्य भुक्तेज्जने तृप्तिर्ग्राह्या जायते ।
न मे द्युत्तामवत्तृप्ति रम्भान्मा परिपृच्छमि ॥१९॥
बह्निना पायिवे घाती क्षपिते द्युत्तामुद्भय ।
भवत्पम्भमि च क्षीणा नृणां तृष्टपि जायते ॥२०॥
द्युत्तुल्यो देहधर्माग्नये न ममैते यतो द्विज ।
तत द्युत्तम्भवाभावात् तृप्तिरस्येव मे मदा ॥२१॥

सन्तुष्ट हो गये ? ॥१७॥ हे भगवन् ! आप कहां के निवासी हैं ? वहां जा रहे हैं और कहां से आ रहे हैं ? ॥१८॥ ऋभु ने कहा—हे विप्र ! भूख की ही तृप्ति होती है । परन्तु, मुझे तो भोजन भूख ही नहीं लगती, फिर तृप्ति विषयक प्रश्न ही कैसा ? ॥१९॥ जब जठराग्नि ठोस घातुओं की क्षीण कर देती है तब भूख जल को शुष्क कर देती है तब प्यास लगती है ॥२०॥ हे द्विज ! यह भूख और प्यास दोनों लगती है ॥२०॥ हे द्विज ! यह भूख और प्यास दोनों ही देह के धर्म हैं मेरे नहीं । इसलिये मैं कभी भूखा न होकर सदा ही तृप्त रहता हूँ ॥२१॥

मनसः स्वस्थता तुष्टिश्चित्तधर्माविमौ द्विज ।
चेतसो यस्य तत्पृच्छ पुमानेभिर्न युज्यते ॥२२॥
कनिवासस्तवेत्युक्तं क गन्तासि च यस्त्वया ।
कुतश्चागम्यते तत्र त्रितयेऽपि निबोध मे ॥२३॥
पुमान्सर्वगनो व्यापी आकाशवदय यतः ।
कुत कुत्र क गन्तासीत्येतदप्यर्थवत्कथम् ॥२४॥
सोऽहं गन्ता न चागन्ता नैकदेशनिवेतनः ।
त्वं चान्ये च न च त्वं च नान्ये नैवाहमप्यहम् ॥२५॥
मृष्टं न मृष्टमप्येषा जिज्ञासा मे कृता तव ।
किं वक्ष्यसीति तत्रापि श्रूयता द्विजसत्तम ॥२६॥
किमस्वाद्वयं वा मृष्टं भुञ्जतोऽस्ति द्विजोत्तम ।
मृष्टसेव यदामृष्टं तदेवोद्वेगकारकम् ॥२७॥
अमृष्टं जायते मृष्टं मृष्टादुद्विजते जनः ।
आदिमध्यावसानेषु किमन्न रुचिकारकम् ॥२८॥

स्वस्थता और सन्तुष्टि यह भी मन के धर्म हैं, आत्मा से इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । इसलिये हे विप्र ! जिसके यह धर्म हैं, उसी से इनके विषय में प्रश्न करो ॥२२॥ तथा तुमने मेरे विषय में यह पूछा कि कहां का निवासी हूँ, कहां जा रहा हूँ और कहां से आया हूँ, सो इसके विषय में मेरे विचार सुनो ॥२३॥ आत्मा आकाश के समान व्यापक होने से सर्वगत है, इसलिये कहा

रहते, कहीं से आये, कहीं जाते हो यह प्रश्न भी निरर्थक ही है ॥२४॥ क्योंकि मैं तो न कही जाता हूँ, न कही आता हूँ और न कही रहने का मेरा स्थान है । मथार्य में तो न तू तू है, न मैं मैं हूँ और न अन्य अन्य है ॥२५॥ वास्तव में मधुर मधुर नहीं है । मैंने तुमसे जो मधुर अन्न माँगा था उससे भी तुम्हारे विचार ही सुनना चाहता था ॥२६॥ हे द्विनेत्तम ! खाने वाले के लिये सुस्वादु और अस्वादु का विचार ही कैसा ? क्योंकि जब वासान्तर में स्वादिष्ट पदार्थ ही स्वाद-रहित हो जाता है तो बही उद्वेग उत्पन्न करने वाला हो जाता है ॥२७॥ इसी प्रकार जो अरुचिकर पदार्थ हैं वह कभी रुचिकर प्रतीत होने लगते हैं और रुचिकर पदार्थ कभी उद्विग्न करने वाले हो जाते हैं । बताओ ऐसा पदार्थ कौन-सा है जो आवि, मध्य और अन्त तीनों समय ही रुचिकर प्रतीत हो ? ॥२८॥

मृण्मय हि गृहं यद्वन्मृदा लिसं स्थिर भवेत् ।
 पायिवोज्य तथा देहः पायिवैः परमाणुभिः ।२९।
 यवगोधूममुद्गादि घृता तैल पयो दधि ।
 गुडं फलादीनि तथा पायिवाः परमाणवः ।३०।
 तदेतद्भवता ज्ञात्वा मृष्टामृष्टविचारि पत् ।
 तन्मनस्समतालम्ब्य कार्यं साम्यं हि मुक्तये ।३१।
 इत्याकर्ण्यं यच्चस्तस्य परमार्थाश्रित नृप ।
 प्रणिपत्य महाभागो निदाघो वाक्पदमब्रवीत् ।३२।
 प्रसीद मद्वितार्थाय कथ्यता यत्स्वमागतः ।
 नष्टो मोहस्तवाकर्ण्यं वचास्येतानि मे द्विज ।३३।
 ऋभुरस्मि तवाचार्यः प्रज्ञादानाय ते द्विज ।
 ब्रह्मगतोऽहं यास्यामि परमार्थस्तद्योदितः ।३४।
 एवमेकमिदं विद्धि न भेदि सकल जगत् ।
 वामुदेवामिधेयस्य स्वरूपं परमात्मनः ।३५।
 तथेत्युक्त्वा निदाघेन प्रणिपातपुरुःसरम् ।
 पूजितः परया भक्त्या इच्छानः प्रमयाकृभुः ।३६।

जैसे मिट्टी का घर मिट्टी से लिप पुत कर टूट होता है, वैसे ही यह पार्थिव शरीर पार्थिव अन्न वणों से परिपुष्ट होता है ॥२९॥ जौ, गेंहू, मूँग, घी, तेल, दूध, दही, गुह और फलादि सभी पदार्थ पार्थिव परमात्मा ही हैं । ॥३०॥ ऐसा जानकर तुम अपने सुस्वादु-अस्वादु की चिन्ता करने वाले अपने चित्त को समदर्शी बनाओ, क्योंकि समत्व ही मोक्ष का एकमात्र उपाय है । ॥३१॥ ब्राह्मण ने कहा—हे राजन् ! ऋभु के यह परमार्थमय वचन सुन कर महाभाग निदाघ ने उन्हें प्रणाम किया और ऋषि से कहने लगा ।३२। हे प्रभो ! आप प्रसन्न हो । मेरे कन्याणु-साधन की इच्छा से आने वाले आप यौन हैं, आपकी वाणी से मेरा सब मोह दूर हो गया है ॥३३॥ ऋभु बोले—हे विप्र ! मैं तेरा गुरु ऋभु हूँ । तुझे सत्-असत् का विवेक कराने वाली बुद्धि देने की इच्छा से ही मैं यहा आया था । जो परमार्थ है, वह मैं तुझे बता चुका । अब मैं जा रहा हूँ ॥३४॥ इस परमार्थ तत्व का विचार करके तू इस सम्पूर्ण विश्व को एक परमात्मा भगवान् वासुदेव का रूप ही समझ । इसमें किंचित भी भेद नहीं है ॥३५॥ ब्राह्मण ने कहा—इसके पश्चात् निदाघ ने उनका वचन स्वीकार करके उन्हें प्रणाम किया और उसके द्वारा परम भक्ति पूर्वक पादर को प्राप्त हुए ऋभु स्वेच्छा पूर्वक नहीं से चले गये ॥३६॥



सोलहवाँ अध्याय

ऋभुर्वर्षसहस्रे तु समतीते नरेश्वर ।
 निदाघज्ञानदानाय तदेव नगरं गयी ।१।
 नगरस्य बहिः सोऽथ निदाघं ददृशे मुनिः ।
 महाबलपरीवारे पुर विशति पार्थिवे ।२।
 दूरे स्थितं महाभाग जनसम्मर्दवर्जकम् ।
 द्युत्थामवष्टभायान्तमरण्यात्ससमित्कुशम् ।३।

हृष्टा निदाघं स ऋभुरूपगम्याभिवाद्य च ।
 उवाच कस्मादेकान्ते स्थीयते भवता द्विज ।१।
 भो विप्र जनसम्मदो महानेश नरेश्वरः ।
 प्रविबिधुः पुरं रम्यं तेनात्र स्थीयते मया ।२।
 नराधिपोऽत्र कृतमः कृतमद्वेत्तरो जनः ।
 कथ्यतां मे द्विजश्रेष्ठ त्वगभिज्ञो मतो मम ।३।
 योज्यं गजेन्द्रमुन्मत्तमद्विशृङ्खलसमुच्छ्रितम् ।
 अधिहृदो नरेन्द्रोऽयं परिलोकस्तयेतरः ।७।

ब्राह्मण ने कहा—हे राजन् ! फिर एक हजार वर्ष बीत जाने पर महर्षि ऋभु निदाघ की आनोपदेश करने के लिये पुनः उसी नगर में पहुँचे ।१॥ वहाँ पाकर उन्होंने देखा कि उस देश का राजा बहुत श्री सेनादि के उद्दिष्ट धूम-धाम उद्दिष्ट नगर में प्रविष्ट हो रहा है तथा वन से दूरा और समिधा लेकर आया हुआ निदाघ भीड़ से दूर हटकर भुलाभ्यासा एक ओर खड़ा है ।२-३॥ यह देखकर महर्षि ऋभु उग निदाघ के पास गये और अभिवादन पूर्वक बोले—हे द्विज ! तुम यहाँ एकान्त में क्यों खड़े हो ? ।४॥ निदाघ ने कहा—आज इस अत्यन्त रमणीक नगर में राजा प्रवेश कर रहा है, इसलिये मार्ग में बहुत भीड़ होने के कारण मैं यहाँ खड़ा हूँ ।५॥ ऋभु ने कहा—हे विप्रश्रेष्ठ ! तुम यहाँ की सब बातें जानते प्रतीत होते हो । इसलिये बताओ कि इनमें राजा कौन-सा है तथा अन्य पुरुष कौन हैं ? ।६॥ निदाघ ने कहा—पर्वत जैसे ऊँचे इस हाथी पर जो बड़ा हुआ है, वही राजा है तथा अन्य पुरुष इसके परिवार के हैं ।७॥

एतो हि गजराजानो युगपद्भसितौ मम ।
 भवता न विरोधेण पृथक्चिह्नोपलक्षणौ ।८।
 तत्कथ्यतां महानाग विरोधो भवतानयोः ।
 ज्ञातुमिच्छाम्यहं कोऽयं गजः को वानराधिपः ।९।
 गजो योज्यमघो ब्रह्मन्पुण्यस्यैव नृपतिः ।
 बाह्यबाह्यन्मन्वन्धं को न जानाति वै द्विज ।१०।

जानाम्यह यथा ब्रह्म स्तथा मामवबोधय ।
 अथ शब्दनिगद्य हि किं चोर्ध्वमभिधीयते ॥११॥
 इत्युक्तं सहस्राक्षं निदाघ प्राह तमृभुम् ।
 श्रूयतां कथयाम्येष यन्मा त्वं परिपृच्छसि ॥१२॥
 उपर्यह यथा राजा त्वमथ कुञ्जरो यथा ।
 अवबोधाय ते ब्रह्मन्दृष्टान्तो दशितो मया ॥१३॥
 एव राजेव द्विजश्रेष्ठ स्थितोऽहं गजवद्यदि ।
 तदेतत्त्वं समाचक्ष्व कसमस्त्वमहं तथा ॥१४॥

ऋभु ने कहा—तुमने मुझे राजा और हाथी दोनों एक साथ दिखाये परन्तु इन दोनों के पृथक्-पृथक् लक्षण नहीं बताये ॥११॥ इसलिये हे महाभाग ! इन दोनों की पृथक्-पृथक् विशेषताएँ मुझे बताओ, जिससे मैं यह जान सकूँ कि इनमें कौन राजा और कौन हाथी है ? ॥१२॥ निदाघ ने कहा—इनमें से नीचे वाला हाथी और उसके ऊपर वाला राजा है । हे द्विज ! इन दोनों के बाह्य-बाह्य सम्बन्ध की कौन नहीं जानता ? ॥१३॥ ऋभु ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मुझे तो इस प्रकार समझाओ जिससे मैं 'नीचे' और 'ऊपर' शब्दों के वाच्यार्थ समझ सकूँ ॥१४॥ ब्राह्मण ने कहा—ऋभु की बात सुनकर निदाघ ने सहसा उनके ऊपर चढ़कर कहा—आपने जो पूछा है, उसे कहता हूँ, सुनिये ॥१५॥ इस समय मैं तो राजा के समान ऊपर हूँ और आप हाथी के समान नीचे हैं । हे ब्रह्मन् ! आपकी उम्रमाने के लिये ही मुझे यह दृष्टान्त दिखाना पड़ा है ॥१६॥ ऋभु ने कहा—हे द्विजवर ! यदि तुम राजा के समान हो तो मैं हाथी के समान हूँ, तो यह बताओ कि तुम कौन हो और मैं कौन हूँ ? ॥१७॥

तदेतदुपदिष्ट ते सङ्क्षेपेण महामते ।
 परमार्थसारभूत यत्तद्वैतमशेषतः ॥१८॥
 एवमुक्त्वा ययौ विद्वान्निदाघ स ऋभुर्गुरु ।
 निदाघोऽप्युपदेशेन तेनाद्वैतपरोऽभवत् ॥१९॥
 सर्वभूतान्यभेदेन दृष्ट्वे स तदात्मनः ।
 यथा ब्रह्मपरो मुक्तिमवाप परमा द्विज ॥२०॥
 तथा त्वमपि धर्मज्ञ तुल्यात्मरिपुर्ब्रह्मण्यव ।
 भव सर्वगत ज्ञानप्राप्तमानमवनीपते ॥२१॥
 नितनीलादिभेदेन ययंक दृश्यते नमः ।
 भ्रान्तिदृष्टिभिरात्मापि तयैक सन्पृथक्पृथक् ॥२२॥
 एव समस्त यदिहास्ति किञ्चित्तदव्युतो नास्ति पर ततोऽन्यत् ।
 सोऽहं स च त्व स च सर्वमेतदात्मस्वरूप त्यज भेदमोहम् ॥२३॥
 श्रुतीरितस्तेन स राजययंस्तत्याज भेद परमार्थदृष्टि ।
 स चापि जातिस्मरणात्तबोचस्तनवं जन्मन्यपवशमाप ॥२४॥
 इति भरतनरेन्द्रसारवृत्त कथयति यत्र शृणोति भस्ति युक्त ।
 स विमलमतिरेति नात्ममोह भवति च मसरणपु मुक्तियोग्य ॥२५॥

प्राह्मण बोले—ऋभु की बात सुनते ही निदाघ ने उनके कारण पक्क
 लिय और बोला कि अकल्प ही भाष थाचाय श्रेष्ठ महर्षि ऋभु हैं ॥१५॥ यद्यपि
 हमारे भावायंजी व समान अद्वैत विल्ल वाता भाष कीई नहीं है, इसलिय मैं
 समझता हूँ कि भाष भरे गुरुजी ही यहाँ पधार हैं ॥१६॥ महर्षि श्रुमु ने कहा—
 हे निदाघ ! तुम पहले मरी बहुत सेवा-श्रुषा कर चुके हो, इसलिये तुम्हारे
 स्नेह ने यगीभूत होकर ही मैं तुम्हारा ऋभु नामक गुरु तुम्हें उपदेश देने में
 लिय ही यहाँ आया हूँ ॥१७॥ हे महामते ! सब पदार्थों में अद्वैत एव आत्म-
 बुद्धि रक्षता, परमाय वा मरी सार है, जो मैंने तुम्हारे प्रति सनेप में कह दिया
 है ॥१८॥ प्राह्मण ने कहा—निदाघ ! वो ऐसा उपदेश देकर गुरवर श्रुमु चले
 गए और तब निदाघ भी अद्वैत-चिन्तन में लग गया ॥१९॥ फिर वह सब नीकों
 की अपने में धमिल देखने लगा । हे राजन् ! पंते उस कहा बरायण को मोक्ष-

पद की प्राप्ति हुई, वैसे ही तू भी अपने आत्मा, शत्रु तथा मित्रादि में भेद रखकर स्वयं को ही सर्वगण मानता हुआ मोक्ष को प्राप्त हो ॥२०-२१॥ जैसे एक ही आकाश श्वेत-नील आदि अनेक रूप दिखाई देता है, वैसे ही भ्रान्त दशियों को एक ही आत्मा भलग-भलग दिखाई देता है ॥२२॥ इस सत्ता में सब कुछ एक आत्मा ही है, वही अविनाशी है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं । मैं और तू यह सब भी आत्म रूप है, इसलिये भेद वाले ज्ञान रूपी मोह का त्याग कर ॥२३॥ श्री पराशरजी ने कहा—उनका उपदेश सुनकर सीवीरराज ने परमार्थ बुद्धि के आश्रय से भेद-बुद्धि का त्याग किया और वह पूर्व जन्म के स्मरण वाले ब्राह्मण श्रेष्ठ भी ज्ञानमय होने से उसी जन्म में मोक्ष को प्राप्त हुए ॥२४॥ राजेन्द्र भरत के इतिहास के इस सारभूत वृत्तान्त को कहने या सुनने वाली की बुद्धि स्वच्छ हो जाती है, उसे कभी आत्म विस्मृति नहीं होती और वह जन्म-जन्मान्तर में सदा मोक्ष के योग्य रहता है ॥२५॥



तृतीय अंश

पहला अध्याय

कथिता गुरुणा सम्यग्भूतमुद्रादिसंस्थितिः ।
 सूर्यादीनां च सस्यान ज्योतिषा चातिविस्तरात् ॥१॥
 देवादीनां तथा मृष्टिर्द्धोषीणां चापि वर्णिता ।
 चातुर्वर्ण्यस्य चोत्पत्तिस्तिर्यग्योनिगतस्य च ॥२॥
 ध्रुवप्रज्ञादक्षरित विस्तराच्च त्वयोदितम् ।
 मन्वन्तराभ्यक्षेपाणि श्रोतुमिच्छाम्यनुक्रमान् ॥३॥
 मन्वन्तराभिपादचैव दाक्षदेवपुरोगमान् ।
 भवता वर्णितानेताञ्छ्रोतुमिच्छाम्यहं गुरो ॥४॥
 अतीतानागतानीह यानि मन्वन्तराणि वै ।
 तान्यहं भवतः सम्यक्कथयामि यथाक्रमम् ॥५॥
 स्वायम्भुवो मनुः पूर्वं परं स्वारोचिपस्तया ।
 उत्तमस्तामसश्चैव रवतश्चाक्षुपस्तया ॥६॥
 यदेते मनवोज्जीतास्ताम्रप्रत तु रवेस्सुतः ।
 वैवस्वतोऽप्ययस्यैतत्प्रथमं वर्ततेऽन्तरम् ॥७॥

श्री मंदेश्वरी ने कहा—हे गुरो ! पृथिवी, समुद्र और सूर्यादि की स्थिति का व्यापने विस्तार सहित मुझसे वर्णन किया ॥१॥ व्यापने देवताओं और ऋषियों आदि की उत्पत्ति, चारों वर्णों और त्रिवर्ण्योनि के प्राणियों की रचना का भी मैंने प्रकार वर्णन किया ॥२॥ ध्रुव और प्रज्ञाद के क्षरित भी व्यापने विस्तृत रूप से गुनाए । अब मैं व्यापने भूरा कमल में सभी मन्वन्तरों और देवता-रक्षादि के सहित मन्वन्तराविवर्ति मनुष्यों का वृत्तान्त सुनने की इच्छा करता हूँ ॥३-४॥ श्री पराशरजी ने कहा—अब तब जितने मन्वन्तर हो चुके हैं

मविष्य मे जो भी होंगे, उन सभी का क्रम पूर्वक वर्णन करता हूँ ॥१५॥ पहिले मनु स्वायम्भुव हुए, उनके पश्चात् स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रवत, और चाक्षु हुए ॥१६॥ यह छः मनु पहिले ही भुके हैं । यह सातवां मन्वन्तर वर्तमान है जिसके मनु सृप-पुत्र वैवस्वत हैं ॥१७॥

स्वायम्भुव तु कथित कल्पादावन्तरं मया ।
 देवास्सप्तर्षयश्चैव यथावत्कथिता मया ॥८॥
 श्रुत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मनोस्स्वारोचिषस्य तु ।
 मन्वन्तराधिपान्सम्यग्देवर्षीस्तस्मृतास्तथा ॥९॥
 पारावतास्सतुपिता देवास्स्वारोचिषेऽन्तरे ।
 विपश्चित्तत्र देवेन्द्रो मैत्रेयासीन्महाबलः ॥१०॥
 ऊर्जः स्तम्भस्तथा प्राणो वातोऽथ पृथमस्तथा ।
 निरयश्च परीवाश्च तत्र सप्तर्षयोऽभवन् ॥११॥
 चैत्रकिम्पुरुषाद्याश्च सुतास्स्वारोचिषस्य तु ।
 द्वितीयमेतद्व्याख्यातमन्तरं शृणु चोत्तमम् ॥१२॥
 तृतीयेऽप्यन्तरे ब्रह्मन्नुत्तमो नाम यो मनुः ।
 सुशान्तिर्नाम देवेन्द्रो मैत्रेयासीत्सुरेश्वरः ॥१३॥
 सुधामानस्तथा सत्या जपाश्चाथ प्रतर्दनाः ।
 वसवस्तिनश्च पञ्चते गणा द्वादशवास्मृताः ॥१४॥
 वसिष्ठस्तथा ह्येते सप्त सप्तर्षयोऽभवन् ।
 भजः परशुदीप्ताद्यास्तथोत्तममनोऽसुताः ॥१५॥

मत्स्य के आदि में हुए जिस स्वायम्भुव-मन्वन्तर के विषय में मैंने कहा था, उसके देवता और सप्तर्षियों को भी मैं पहिले ही बता चुका हूँ ॥८॥ अब मैं स्वारोचिष मन्वन्तर के अधिकारी देवता, ऋषि और मनु-पुत्रों का वर्णन करूँगा ॥९॥ हे मैत्रेयजी । स्वारोचिष मन्वन्तर में पारावत और तुषितगण देवता और महाबली विपश्चित् इन्द्र थे ॥१०॥ उस समय जो सप्तर्षि थे उनके नाम ऊर्जः, स्तम्भ, प्राण, वात, पृथम, निरय और परीवान् थे ॥११॥ चैत्र और किम्पुरुष आदि उन स्वारोचिष मनु के पुत्र हुए । इस प्रकार जो वर्णन किया गया वह

दूसरे मन्वन्तर का है, अब तीसरे उत्तम नामक मन्वन्तर का विवरण श्रवण करो ॥१२॥ हे ब्रह्मन् ! उस मन्वन्तर में उत्तम नामक मनु उसके सविपति और सुसान्वि नामक देवेन्द्र हुए ॥१३॥ उस काल में सुयाम, सत्य, जप, प्रतर्दन और षडवर्ती इन पाँच पणों में बारह-बारह देवता थे ॥१४॥ वसिष्ठजी के सात पुत्र सप्तपि तथा अज, वरुण, दीप्त आदि नाम वाले उत्तम मनु के पुत्र थे ॥१५॥

तामसस्यान्तरे देवास्सुपारा हरयस्तथा ।

सत्याश्च सुधियश्चैव सप्तविंशतिक गणाः ॥१६॥

दिविरिन्द्रस्तथा चासौष्ट्यतयशोपलक्षणः ।

सप्तपयश्च ये तैपां तैपां नामानि मे शृणु ॥१७॥

ज्योतिर्धामा पृथुः काव्यश्चन्द्रोऽग्निर्वनकस्तथा ।

पीवरश्चर्षयो ह्येते सप्त तत्रापि चान्तरे ॥१८॥

नरः स्यातिः केतुरूपो जानुजङ्घादयस्तथा ।

पुत्रास्तु तामसस्यासन्नाजानस्सुमहावला ॥१९॥

पञ्चमे वापि मैत्रेय रैवतो नाम नागतः ।

मनुर्विभुश्च तत्रेन्द्रो देवाश्चात्रान्तरे शृणु ॥२०॥

अमिताभा भूतरया वैकुण्ठास्समुमेधसः ।

एते देवगणास्तत्र चतुर्दश चतुर्विंश ॥२१॥

हिरण्यरोमा वेदश्रीरूर्ध्वबाहुस्तथापरः ।

वेदबाहुस्सुधामा च पर्जन्यश्च महामुनिः ।

एते सप्तर्षयो विप्र तत्रासन्नैव तेऽन्तरे ॥२२॥

वसवन्धुश्च सम्भाव्यस्सत्यकाद्याश्च तत्सुताः ।

नरेन्द्राश्च महावीर्या वभूवुर्मुनिसत्तम ॥२३॥

तामस मन्वन्तर में सुपार, हरि, सत्य और सुधि-इन चार देव-गणों में से प्रत्येक वर्ग में सत्ताईस गण थे ॥१६॥ सौ अश्वमेध यज्ञ का रत्न राजा पितृ उस समय का इन्द्र था और जो सप्तपि थे उनके भी नाम मुनी—ज्योति-र्धामा, पृथु, काव्य, चंद्र, अग्नि, वनक और पीवर ॥१८॥ तथा नर, स्याति, केतुरूप और जानुजघ आदि उन तामस मनु के महावतवान् पुत्र राज्य के

अधिवारी थे ॥१६॥ हे मैत्रेयजी ! पाँचवें मन्वन्तर के मनु रैवत थे । तब
गामक इन्द्र और जो-जो देवगण हुए उन्हे नामों को सुनो ॥१७॥ इस मन्वन्तर
मे अमिताभ, भूतरय, वैशुण्ठ और सुमेधा नामक देवताओं के वर्ग थे, इन्द्र
वर्ग मे चौदह गण थे ॥१८॥ हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्ध्वबाहु, वेदबाहु, सुपादा,
पञ्चग्य और महामुनि—यह उक्त मन्वन्तर के गणपि थे ॥१९॥ हे मुनियेठ ! उस
समय रैवत मनु के अत्यन्त पराक्रमी पुत्र बलबन्धु, सम्भाष्य और सगर आदि
राज्य के अधिवारी हुए ॥२०॥

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
प्रियव्रतान्यथा ह्येते चत्वारो मनवस्मृता ॥२४॥
विष्णुमाराध्य तपसा स राजपि प्रियव्रत ।
मन्वन्तराधिपानेतांस्तत्त्ववानात्मवशजान् ॥२५॥
पठे मन्वन्तरे चासीच्चाधुपाख्यस्तथा मनु ।
मनोजवस्तथैवेन्द्रो देवानपि निबोध मे ॥२६॥
आप्या प्रसूता भव्याश्च पृथुक्वाश्च दिवीरस ।
महानुभावा लेसाश्च पञ्च ते ह्यष्टका गणा ॥२७॥
सुमेधा विरजाश्चैव हविष्मानुत्तमो मधु ।
अतिनामा सहिष्णुश्च सप्तासन्निति चर्यय ॥२८॥
ऊरु पूरुदशतद्युम्नप्रमुखास्सुमहाप्रता ।
चाधुपस्य मनो पुत्रा पृथिवीपतयोऽभवन् ॥२९॥

हे मैत्रेयजी ! स्वारोचिष, उत्तम, तामस और रैवत—यह चार मनु राजा
प्रियव्रत के कुल मे उत्पन्न हुए बताय जाते हैं ॥२४॥ राजपि प्रियव्रत ने तप के
द्वारा भगवान् विष्णु को प्रसन्न करके अपने वश मे उद्भूत हुए इन चार मनुओं
को पाया था ॥२५॥ छठवें मन्वन्तर मे चाधुप नामक मनु हुए । उस समय के
इन्द्र का नाम मनोजव था । अब उस मन्वन्तर के देवताओं के नाम सुनो ॥२६॥
आप्य, प्रसूत, भव्य, पृथुक् और लेख यह पाँच प्रकार के देवता थे । इनके प्रत्येक
गण मे आठ देवता हुए ॥२७॥ उस समय सुमेधा, विरजा, हविष्मान्, उत्तम,

मधु, घृतिनामा और सहिष्णु नामक सप्तपि ये । १८॥ नाधुष मनु के पत्यन्त
बली पुत्र प्रह, पूष और वतसृम्नादि राज्य के अधिकारी हुए ॥२६॥

विवस्वतस्सुतो विप्र आददेवो महाद्युति ।
मनुस्मवर्तते धीमान् साम्प्रत सप्तमेऽन्तरे ।३०॥
आदित्यवसुरुद्राद्या देवाश्चान् महामुने ।
पुरन्दरस्त्वयं चान् मैत्रेय त्रिदशेश्वर ।३१॥
वसिष्ठ काश्यपोऽयान्त्रिजंमदग्निस्सगोतम ।
विश्वामित्रभरद्वाजौ सप्त सप्तर्षयोऽभवन् ।३२॥
इक्ष्वाकुश्च नृगदक्षं च घृष्ट पर्मातिरेव च ।
नरिष्यन्तश्च विश्वातो नामागोऽरिष्ट एव च ।३३॥
वरुणश्च पूषश्च सुमहर्लोकविश्रुत ।
मनोर्वचस्वतस्वते नव पुनः सुवर्णिनाः ।३४॥

हे द्विज ! इस समय यह सातवां मन्वन्तर है । इसमें महा तेजस्वी और
धीमान् सूर्य पुन आददेव मनु हैं ॥३०॥ आदित्य, मनु और वरादि देवता तथा
पुरन्दर नामक इन्द्र इन मन्वन्तर के हैं ॥३१॥ वसिष्ठ काश्यप, अत्रि जमदग्नि,
गोतम, विश्वामित्र, और भरद्वाज नामक सप्तपि हैं ॥३२॥ वैवस्वत मनु के नौ
पुत्र हुए, जिनके नाम इक्ष्वाकु, नृग, घृष्ट, पर्माति, नरिष्यन्त, नाभाग, अरिष्ट,
वरुण और पूषण हुए । यह सभी पर्मात्मा और सत्तार प्रसिद्ध थे ॥३३-३४॥

विष्णुशक्तिरनौपम्या सत्त्वोद्रिक्ता स्थितौ स्थिता ।
मन्वन्तरेऽप्यशेषेषु देवत्वेनाधितिष्ठति ।३५॥
अग्नेन तस्या जज्ञेऽग्नौ यज्ञस्त्वायम्भुवेऽन्तरे ।
भ्रातृत्वा मानसो देव उत्पन्न प्रथमेऽन्तरे ।३६॥
तत पुनः स वै देव प्राप्ते स्मारोचिपेऽन्तरे ।
सुपिताया समुत्पन्नो ह्यजितस्तुषितं मह ।३७॥
द्यौतमेऽप्यन्तरे देवस्तुषितस्तु पुनस्स वै ।
सत्यायामभवत्पत्य सत्यैस्मह सुरोत्तमै ।३८॥

तामसस्यान्तरे चैव सम्प्राप्ते पुनरेव हि ।
 हर्याया हरिभिस्सार्धं हरिरेव बभूव ह ॥३६॥
 रैवतेऽप्यन्तरे देवस्सम्भूत्या मानसो हरिः ।
 सम्भूतो रैवतैस्सार्धं देवैर्देववरो हरिः ॥४०॥
 चाक्षुषे चान्तरे देवो वैकुण्ठः पुरुषोत्तमः ।
 विकुण्ठायामसौ जज्ञे वैकुण्ठैर्देवतैः सह ॥४१॥

सभी मन्वन्तरो मे देव रूप से अधिष्ठित भगवान् विष्णु की अनुपम एवं सत्यगुण प्रधान वाली शक्ति ही विश्व की स्थिति में अधिष्ठान करने वाली होनी है ॥३५॥ सबसे पहिले मन्वन्तर मे मानस देव यज्ञ पुरुष उसी विष्णु शक्ति के अश से आकृति के उदर से प्रकट हुए थे ॥३६॥ फिर स्वारीचिप मन्वन्तर आ गया तब वही मानस देव आर्जत तुपिता के गर्भ से तब तुपित नामक देवताओं के सहित उत्पन्न हुए ॥३७॥ फिर वही तुपित देव उत्तम मन्वन्तर मे सत्या के गर्भ से सत्य नामक देवताओं के साथ उत्पन्न हुए ॥३८॥ जब तामस मन्वन्तर आया तब वह हरि रूप से हर्या के उदर से हरि नामक देवताओं के साथ प्रकट हुए ॥३९॥ रैवत मन्वन्तर मे वही देवश्रेष्ठ हरि, सम्भूति के गर्भ से उस समय के देवताओं के साथ मानस नाम से प्रकट हुए ॥४०॥ फिर चाक्षुष मन्वन्तर मे विकुण्ठा के गर्भ से सत्काशीन देवताओं के साथ उत्पन्न होकर वैकुण्ठ नाम से प्रसिद्ध हुए ॥४१॥

मन्वन्तरेऽत्र सम्प्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज ।
 वामनः कश्यपाद्विष्णुरदित्या सम्बभूव ह ॥४२॥
 त्रिभिः क्रमैरिमांल्लोकाक्षित्वा येन महात्मना ।
 पुरन्दराय त्रैलोक्य दत्त निहतकण्टकम् ॥४३॥
 इत्येतास्तनवस्तस्य सप्तमन्वन्तरेषु वै ।
 सप्तस्वेवाभयन्विप्र याभिः सर्वाद्धिताः प्रजाः ॥४४॥
 यस्माद्विष्टमिदं विश्वं तस्य शक्त्या महात्मनः ।
 तस्मात्सता प्रोच्यते विष्णुर्विशेषार्ताः प्रवेशनात् ॥४५॥

तृतीय अंश-अ० २]

सर्वे च देवा मनवस्सगस्तास्समपेयो ये मनुसूनवश्च ।

इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेभ्यो विष्णोरग्रेपास्तु विभूतयस्ताः । ४६ ।

हे इंद्र ! अब इस वैवस्वत मन्वन्तर के घाने पर भगवान् विष्णु कश्यप के द्वारा अदिति के उदर से वामन रूप में अवतरित हुए ॥४२॥ उन्हो वामन-रूप में तीनो लोकों को अपने तीन पदों में नापकर जीत लिया और उन्हें कण्टक-हीन करके इंद्र को सौंप दिया था ॥४३॥ इस प्रकार सातो मन्वन्तरो में भगवान् विष्णु की यह सात भूतियाँ अवतरित हुईं, जिनसे इस सम्पूर्ण प्रजा की वृद्धि हुई है ॥४४॥ यह सम्पूर्ण जगत उन्हो परमेश्वर की शक्ति से व्याप्त है, इसी-लिये वह विष्णु नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि 'विश्व' यावुक्त तात्पर्य प्रवेश करने से है ॥४५॥ सब देवता, मनु, सप्तर्षि, मनु पुत्र और इन्द्र-यह सब उन्ही भगवान् विष्णु की विभूतियाँ हैं ॥४६॥

दूसरा अध्याय

प्रोक्तान्येतानि भवता मममन्वन्तराणि वै ।

भविष्याण्यपि विप्रर्षे ममाख्यातु स्वमहंसि । १ ।

मूर्यस्य पत्नी सज्ञाभूतनया विश्वकर्मणः ।

मनुर्यमो यमी चैव तदपत्यानि वै मुने । २ ।

असहन्ती तु सा भर्तुस्तेजदछाया मुपोज वै ।

भर्तुं नुश्रूणसीऽरप्य स्वयं च तपसे ययो । ३ ।

स ज्ञेयमित्यथाकंश्च छायायामात्मजत्रयम् ।

दानंश्चर मनु चान्य तपती चाप्यजीजतत् । ४ ।

छायामज्ञा ददौ शापं यमाय कृपिता यदा ।

तदान्येषममो बुद्धिरित्वासीद्यममूर्ययोः । ५ ।

ततो विवस्वानारयाते तर्पेवारण्यमस्त्यताम् ।

समाधिदृष्ट्वा ददौ तामश्वा तपसि स्त्यताम् । ६ ।

वाजिरूपधर सोऽथ तस्या देवावथाश्विनौ ।

जनयामास रेवन्त रेतसोऽन्ते च भास्वर ॥७॥

श्री मंत्रेयजी ने कहा— हे ब्रह्मर्षे ! आपने बीते हुए सात मन्वन्तरो का वर्णन किया, अब आप आगे होने वाले मन्वन्तरो के विषय में कहिये ॥१॥ श्री पराशरजी ने कहा— हे मुने ! विश्वकर्मा की पुत्री सज्ञा सूर्य की पत्नी हुई । उसने मनु और यम दो पुत्र तथा यमी नाम की पुत्री को जन्म दिया ॥२॥ सज्ञा अपने पति का तेज सहन न कर सकने के कारण अपने समान छाया उत्पन्न कर और उसे अपने पति की सेवा सौंप कर, स्वयं तपस्विनी बनकर बली गई ॥३॥ सूर्य ने छाया को सज्ञा समझा और उससे शर्नश्चर, एक दूसरा मनु और तपती-इन तीन सन्तानों को जन्म दिया ॥४॥ एक दिन की बात है—उस छाया सज्ञा ने क्रोध करके यम को डाप दिया, तब सूर्य और यम को सदेह हुआ कि यह सज्ञा नहीं है ॥५॥ तब छाया के द्वारा रहस्य का उद्घाटन हुआ और सूर्य ने समाधि लगाकर यह जान लिया कि सज्ञा घोड़ी का रूप धारण किये हुए वन में तप कर रही है ॥६॥ इससे उन्होंने भी घोड़े का रूप धारण कर घोड़ी रूपिणी सज्ञा से दो अश्विनीकुमार और रेत नाम के पश्चात् रेवन्त को उत्पन्न किया ॥७॥

आनिन्ये च पुन सज्ञा स्वस्थान भगवान्रवि ।

तेजसश्शमन चास्य विश्वकर्मा चवार ह ॥८॥

भ्रममारोप्य सूर्यं तु तस्य तेजोनिशातनम् ।

शृतवानष्टम भागं स ध्यशातयदव्ययम् ॥९॥

यत्तस्माद्विष्णव तेजश्शातित विश्वकर्मेणा ।

जाज्वल्यमानमपतत्तद्भूमौ मुनिसत्तम् ॥१०॥

त्वष्टं च तेजसा तेन विष्णोश्चक्रमवलपयत् ।

त्रिभूतं चैव शर्यस्य त्रिविवा धनदस्य च ॥११॥

शक्तिं गृहस्य देवानामन्येषा च यदायुधम् ।

तत्सर्वं तेजसा तेन विश्वकर्मा व्यवर्धयत् ॥१२॥

छायासजासुतो योऽसौ द्वितीय कथितो मनु ।
पूर्वजस्य सवर्णोऽसौ सार्वणिस्तेन कथ्यते ॥१३॥
तस्य मन्वन्तर ह्येतत्सार्वणिकमयाष्टमम् ।
तच्छृणुष्व महाभाग भविष्यत्कथयामि ते ॥१४॥

इससे बाद भगवान् सूर्य सज्ञा को अपने यहाँ लाये और विश्वकर्मा ने भी
उनका तेज न्यून कर दिया ॥१५॥ उन्होंने सूर्य को सान पर चढ़ाकर उनके तेज
को छीनना प्रारम्भ किया, परन्तु वह उसका पाठवाँ अक्ष ही कम कर सके
॥१६॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! सूर्य के जिस अत्यन्त प्रकाशमान बंधनव तेज को छीता, वह
तेज पृथिवी पर आ गिरा ॥१७॥ उसी गिरे हुए तेज से विश्वकर्मा ने भगवान्
विष्णु का चक्र, शिखरी का त्रिशूल, कुबेर का विमान तथा कालिकेय की शक्ति
का निर्माण किया और अन्यान्य देवताओं के जो शस्त्रास्त्र थे, वे भी उस तेज
से पुष्ट किये ॥१८-१९॥ पहिले जिस छाया सज्ञा के पुनः द्वितीय मनु के विषय
में कह चुके हैं वह अपने पूर्वज मनु का सवर्ण होने के कारण सार्वणि कहा गया
॥१३॥ हे महाभाग ! मैं उही सार्वणि के सार्वणिक मन्वन्तर का वर्णन करता
हूँ । यह अष्टम मन्वन्तर आये होने वाला है ॥१४॥

सार्वणिस्तु मनुयोऽसौ मेनेय भविता तत ।
सुतपाश्चाभिताभाश्च मुरपाश्चापि तथा सुरा ॥१५॥
तेषां गणश्च देवानामेवैको विद्वान् स्मृत ।
सप्तर्षीनपि वदयामि भविष्यान्मुनिभक्तम् ॥१६॥
दीक्षिमान् गालवो राम ऋषो द्रौणिस्तथा पर ।
भत्तुश्च तथा व्यास ऋष्यशृङ्गश्च सप्तम ॥१७॥
विष्णुप्रसादादनघ पातालान्तरगोचर ।
विरोचनसुतस्तेषां बलिरिन्द्रो भविष्यति ॥१८॥
पिरजाश्चोर्वरोवाश्च निर्मोवाद्यास्तथापरे ।
सार्वणस्तु मनो पुत्रा भविष्यन्ति नरेश्वरा ॥१९॥
नचमो दक्षसार्वणिर्भविष्यति मुने मनु ।
पारा मरीचिर्गर्भाश्च सुपर्माणस्तथा त्रिधा ॥२०॥

भविष्यन्ति तथा देवा ह्येवैते द्वादशो गणः ।
 तेषामिन्द्रो महावीर्यो भविष्यत्यद्भुतो द्विज ॥२१॥
 सवनो द्युतिमान् भव्यो वसुर्मेधातिथिस्तथा ।
 ज्योतिष्मान् सप्तम सत्यस्तत्रेते च महर्षयः ॥२२॥
 धृतकेतुर्दीप्तिकेतु पञ्चहस्तनिरामयो ।
 पृथुश्रवाद्याश्च तथा दक्षसार्वणिकात्मजा ॥२३॥

हे मैत्रेयजी ! यही सार्वणि उस मन्वन्तर मे मनु एव सुतप, समिताम
 और मुन्यगण देवता होंगे ॥१५॥ उन देवताओं के प्रत्येक गण में बीस देवता
 होंगे । भ्रुव में उस मन्वन्तर के सप्तपियों के विषय मे कहता हूँ ॥१६॥ दीप्ति-
 मान् गालव, राम, कृन्, अश्वत्थामा, मेरे पुत्र व्यास और सातवें ऋषि शृङ्ग
 होंगे ॥१७॥ उस समय पाताल लोकवासी विरोचन-पुत्र बलि भगवान् विष्णु
 की कृपा से इन्द्र होने तथा विरजा, ऊवरीवान् और निर्मोक आदि सार्वणि मनु-
 पुत्र उस मन्वन्तर के राजा होंगे ॥१८-१९॥ हे मुने ! नीचें मन्वन्तर के मनु
 दक्ष सार्वणि होंगे । उनसे समय मे पार, मरीचि गर्भ और सुधर्मा नामक देव-
 तायों का त्रिवर्ग होगा, जिन तीनों मे स प्रत्येक दश मे बारह देवता होंगे और
 उनका अधिपति अद्भुत नामक अत्यन्त पराक्रमी इन्द्र होगा ॥२०-२१॥ सवन,
 द्युतिमान्, भव्य वसु, मेधातिथि, ज्योतिष्मान् और सत्य नामक सप्तपि होंगे
 ॥२२॥ तथा दक्ष सार्वणि मनु ने पुत्र धृतकेतु, दीप्तिकेतु, निरामय, पृथुश्रवा
 आदि उस समय के राजा होंगे ॥२३॥

दशमो ब्रह्मसार्वणिर्भविष्यति मुने मनु ।
 सुधामानो विशुद्धाश्च शतसस्यास्तथा सुरा ॥२४॥
 तेषामिन्द्रश्च भविता शान्तिर्नाम महाबल ।
 सप्तर्षयो भविष्यन्ति ये तथा ताञ्छृणुष्व ह ॥२५॥
 हविष्मान्-गुहृत्तसत्यस्तपोमूर्तिरतथापर ।
 नाभागोऽप्रतिभोजाश्च सत्यवेतुस्तथैव च ॥२६॥
 मुक्षेत्रश्चोत्तमोजाश्च भूरिपेणादयो दश ।
 ब्रह्मसार्वणिपुत्रास्तु रक्षिष्यन्ति वसुन्धराम् ॥२७॥

एकादशश्च भविता धर्मसार्वणिमो मनु ।
 विहङ्गमा कामगमा निर्वाणरतयस्तथा ॥२८॥
 गणास्त्वेते तदा मुह्या देवाना च भविष्यताम् ।
 एवं कस्त्रिंशस्तेषा गणचेन्द्रश्च वै वृष ॥२९॥
 नि स्वरश्चाग्नितेजाश्च वपुष्मान्धृणिगरुणि ।
 हविष्माननघश्चैव भाव्या सप्तपंथस्तथा ॥३०॥
 सर्वत्रयस्सुधर्मा च देवानीकादयस्तथा ।
 भविष्यन्ति मनोस्तम्य तनया पृथिवीश्वरा ॥३१॥

हे मुने ! दसवें मन्वन्तर के अधिपति ब्रह्म सार्वणि होंगे । उस समय
 वृषामा और विष्णु नामक दो गण सौ सौ देवताओं के होंगे ॥२४॥ महावती
 पाति उनका इन्द्र होगा, अब उस समय के सप्तपिंथ के नाम सुनो ॥२५॥
 हविष्मान्, सुहृत्, सत्य, तपोमूर्ति, नामाग, अश्रतिमोजा और सप्तकेतु—यह
 सप्तपिंथ ॥२६॥ उस समय ब्रह्म सार्वणि मनु के मुनेन, उत्तमोजा और भूरि-
 पेण आदि दस पुत्र पृथिवी के रक्षक होंगे ॥२७॥ ग्यारहवाँ मनु धर्मसार्वणि
 होगा तथा विहङ्गम, कामगम और निर्वाण रति नामक तीस-तीस देवताओं के
 गण होंगे और वृष नामक इन्द्र होगा ॥२८-२९॥ नि स्वर, अग्नितेजा, वपुष्मान्,
 धृणि आरणि, हविष्मान् और अनघ नामक सप्तपिंथ होंगे ॥३०॥ धर्मसार्वणि
 मनु के सप्तत्रय, सुधर्मा और दक्षनीकादि पुत्र उस समय पृथिवी पालक
 होंगे ॥३१॥

एतुनस्तु सार्वणिर्भविता द्वादशो मनु ।
 ऋतुधामा च तत्रेन्द्रो भवति शृणु मे मुरान् ॥३२॥
 हरिता रोहिता देवास्तथा सुमनसो द्विज ।
 सुवर्माण सुरपाश्च दशका पञ्च वै गणा ॥३३॥
 तपस्वी सुतपाश्चैव तपोमूर्तिस्तपोरति ।
 तपोमूर्तिर्द्युतिश्चान्य सप्तमस्तु तपोधन ॥३४॥
 सप्तपंथस्त्वमे तस्य पुत्रानपि निबोध मे ।
 देवानानुपदेवश्च दक्षधृष्टादयस्तथा ॥३५॥

मनोस्तस्य महावीर्या भविष्यन्ति महानृपा ।
 त्रयोदशो रुचिर्नामा भविष्यति मुने मनु ॥३६॥
 सुनामाणां सुकर्माणां सुधर्माणांस्तथामरा ।
 त्रयस्त्रिंशद्विभेदास्ते देवानां यत्र वै गणा ॥३७॥
 दिवस्पतिर्महावीर्यं स्तेषामिन्द्रो भविष्यति ।
 निर्मोहस्तत्त्वदर्शी च निष्प्रकम्प्यो निरुत्सुकः ॥३८॥
 धृतिमानव्ययश्चान्यस्सप्तमस्सुतपा मुनिः ।
 सप्तर्षयस्त्वमी तस्य पुत्रानपि निबोध मे ॥३९॥

बारहवें मनु रुद्र सार्वणि होंगे । उस समय के इन्द्र का नाम ऋतुधामा होगा । अब देवताओं के नाम सुनो ॥३२॥ हरित, रोहित, सुमना, सुकर्मा और सुराप नामक देवताओं के पाँच गण होंगे । प्रत्येक गण में दस देवता होंगे ॥३३॥ तपस्वी, सुतपा, तपोभूति, तपोरति, तपोधृति, तपोद्युति और तपोवन उस समय के सप्तर्षि होंगे । रुद्र सार्वणि मनु के देववान्, उपदेव और देवश्रेष्ठ आदि महावीरवान् पुत्र उस समय के राज्याधिकारी होंगे । तेरहवाँ मनु रुचि होगा और सुनामा, सुकर्मा और सुधर्मा नामक देवताओं के गण होंगे । प्रत्येक गण में सैंतीस देवता होंगे तथा अत्यन्त बली दिवस्पति नामक उनका इन्द्र होगा । निर्मोह, तत्त्वदर्शी, निष्प्रकम्प, निरुत्सुक, धृतिमान्, अव्यय और सुतपा नामक सप्तर्षि होंगे । अब मनु पुत्रों के नाम बताता हूँ ॥३७-३९॥

चित्रसेनविचित्राद्या भविष्यन्ति महीक्षित ।
 भौमश्चतुर्दशश्चात्र मैत्रेय भविता मनु ॥४०॥
 शुचिरिन्द्र सुरगणास्तत्र पञ्च शृणुष्व तान् ।
 चाक्षुषाश्च पवित्राश्च वनिष्ठा आजिकास्तथा ॥४१॥
 वाचावृद्धाश्च वै दवास्सप्तर्षीनपि मे शृणु ।
 अग्निवाह्य शुचि शुक्रो मागधोऽग्निध्र एव च ॥४२॥
 युक्तस्तथा जितश्चान्यो मनुपुत्रानतः शृणु ।
 उरगम्भीरबुद्ध्याद्या मनोस्तस्य सुता नृपा ॥४३॥
 वयिता मुनिशार्दूल पालयिष्यन्ति ये महीम् ॥४४॥

उन रुचि नामक मनु के विवसेन और विनिआदि पुत्र सग्याधिकारी होंगे । चौदहवें मनु भीम होंगे ॥४०॥ उस मन्वन्तर में शुचि नामक इन्द्र और वाणप, पवित्र, कनिष्ठ, आश्रित और वाचावृद्ध नामक पाँच देवगण होंगे । अब सप्तपिण्डों के नाम मनुओं—अग्निवाह, शुचि, शुक्र, मागध, अग्निध, युक्त और जित नामक सप्तपिण्ड होंगे । अब मनु पुत्रों के नाम पुत्रों । हे मुनिश्रेष्ठ ! भीम नामक उन मनु के ऊपर और गम्भीर बुद्धि आदि पुत्र पृथिवी का पालन करने वाले होंगे ॥४१-४४॥

चतुर्थ्युगान्ते वेदानां जायते किल विप्र्लव ।
प्रवर्तन्मन्ति तानेत्य भुव सप्तर्षयो दिव ॥४५॥
कृते कृते स्मृतेविप्र प्रणना जायते मनु ।
देवा यज्ञभुजस्ते तु यावन्मन्वन्तर तु तत् ॥४६॥
भवन्ति ये मनो पुना यावन्मन्वन्तर तु तं ।
तदन्वयोद्भूतैश्चैव तावद्भू परिपाल्यते ॥४७॥
मनुस्तप्तर्षयो देवा भूपासाश्च मनो सुता ।
मन्वन्तरे भवन्त्येते शक्रश्चैवाधिकारिण ॥४८॥
चतुर्दशभिरेतैस्तु गतैर्मन्वन्तारैर्द्विज ।
सहस्रयुगपर्यन्तं कल्पो निश्चेष उच्यते ॥४९॥
तावत्प्रमाणा च निष्ठा ततो भवन्ति सत्तम ।
ब्रह्मण्यधरश्चेते शेषाहावन्मुसम्भवै ॥५०॥
त्रैलोक्यमखिलं यस्त्वा भगवानादिकृद्भिर्मु ।
स्वमायामस्थितो विप्र सर्वभूतो जनादेन ॥५१॥
ततः प्रवृद्धो नगवान् यया पूर्वं तया पुन ।
सृष्टिं करोत्यव्ययात्मा कल्पे कल्पे रजोगुण ॥५२॥
मनवो भूभुजस्तेन्द्रा देवाग्नस्तर्षयमना ।
मास्त्विकीज्मा स्थितिकरो जगनो द्विजयक्षमा ॥५३॥

प्रत्येक चतुर्थ्युगी के अन्त में जब वेद वृष्ट हो जाते हैं, तब सप्तपिण्डों के नाम मनुओं पर उत्पन्न होकर उनका प्रसाधन करते हैं ॥४५॥ प्रत्येक सप्तयुग

मन्वन्तराण्यनेपाणि कथितानि मया तव ।

मन्वन्तराधिपाट्यं विमन्यत्कथयामि ते ॥६१॥

हे मंनेय जी ! विश्व की स्थिति के करने वाले भगवान् विष्णु जिस प्रकार चारों युग में व्यवस्था करते हैं, उसे सुनो ॥६१॥ सभी जीवों के बल्याण में सत्त्व गुण से सर्वभूतारमा भगवान् सत्त्वगुण से कपिन आदि के रूप में परम ज्ञानोपदेश करते हैं ॥६२॥ वेदा में सकर्मान् संप्राप्त होकर दुष्टों का निग्रह करते हुए वही तीनों लोकों की रक्षा करते हैं ॥६३॥ द्वार में वेद व्यास रूप से एक वेद को चार भागों में विभक्त करके, उसे संकरी छात्राओं में बाँट कर उसका अत्यन्त प्रसार कर देते हैं । ६४॥ इस प्रकार द्वार युग में वेदों का विस्तार करने के पश्चात् कलियुग के अन्त में बन्धु रूप धारण करके दुराचरण में प्रवृत्त हुए लोगों को रम्मार्ग की ओर प्रवृत्त करते हैं । ॥६५॥ इसी प्रकार वह सर्वोत्तम भगवान् निरन्तर इस विश्व की उत्पत्ति, पालन और संहार करते रहते हैं । संसार की कोई भी वस्तु उनसे भिन्न नहीं है ॥६६॥ हे विप्र ! इहलोक और परलोक के अतीत में हुए, आगे होने वाले तथा अब जो स्थित हैं, वे सम्पूर्ण पदार्थ भगवान् विष्णु से ही प्रवृत्त हुए हैं, इस विषय में सब कुछ तुम्हारे प्रति कह चुका हूँ ॥६७॥ सभी मन्वन्तरो तथा उनके अधिकांशियों का वृत्तान्त भी मैं तुम्हें सुना चुका हूँ । अब तुम्हें और क्या सुनाऊँ ? यह मुझसे बही ॥६८॥



तीसरा अध्याय

ज्ञातमेतन्मया त्वत्तो मया सर्वमिदं जगत् ।

विष्णुर्विष्णो विष्णुतश्च न परं विद्यते ततः ॥१॥

एतत्तु श्रोतुमिच्छामि व्यस्ता वेदा महात्मना ।

वेदव्यासस्वरूपेण तथा तेन युगे युगे ॥२॥

के आरम्भ में स्मृतिकार मनु की उत्पत्ति होती है और उस मन्वन्तर में समाप्त होने तक उस काल के देवता यज्ञ-भागों को ग्रहण करते हैं ॥३६॥ मनु के पुत्र तथा उनके वंशधर मन्वन्तर की समाप्ति पर्यंत पृथिवी का परिपालन करते रहते हैं ॥४७॥ इस प्रकार मनु सप्तर्षि, देवता, इन्द्र और मनु-पुत्र नृपतिगण—यह सभी उस मन्वन्तर के अधिकारी माने जाते हैं ॥४८॥ हे विप्र ! इन चौदह मन्वन्तरो के व्यतीत होने पर एक हजार युगों तक का कल्प समाप्त हुआ बताया जाता है ॥४९॥ इसके पश्चात् इतने ही समय की रात्रि होती है । उस समय ब्रह्मरूपी विष्णु प्रलयकाल के उस जल के ऊपर स्थित शेष शय्या पर सोते हैं ॥५०॥ तब आदि कर्त्ता सबभूत भगवान् जन, ईश अखिल त्रैलोक्य का प्राप्ति करके अपनी ही माया में स्थित हो जाते हैं ॥५१॥ प्रत्येक कल्प के आरम्भ में वह अव्ययात्मा भगवान् जाग्रत होकर रजोगुण के आश्रय से पृथ्वी को रक्षते हैं ॥५२॥ हे द्विज सत्तम ! मनु, उनके पुत्र नृपगण, इन्द्र, देवगण और सप्तर्षिगण—यह सभी विश्व पालक भगवान् श्रीहृदि के सात्त्विक अंग हैं ॥५३॥

चतुर्भुजेष्वसौ विष्णु स्थितिर्व्यापारलक्षण ।

युगव्यवस्थां कुरुते यथा मैत्रेय तच्छृणु ॥५४॥

कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृक् ।

ददाति सर्वभूतात्मा सर्वभूतहिते रत ॥५५॥

चक्रवर्तिस्वरूपेण त्रेतायामपि स प्रभु ।

दुष्टानां निग्रहं कुर्वन्परिपाति जगत्तनयम् ॥५६॥

वेदमेव चतुर्भेदं कृत्वा शाखाशतं विभु ।

करोति बहुलं भूयो वेदव्यासस्वरूपधृक् ॥५७॥

वेदास्ते द्वापरे व्यस्य क्लेशन्ते पुनर्हृदि ।

वदित्वस्वरूपी दुर्वृत्तान्मार्गे स्थापयति प्रभु ॥५८॥

एवमेतच्छास्त्रं सर्वं शश्वत्पाति करोति च ।

हन्ति चान्तेष्वनन्तात्मा नास्त्यस्मादव्यतिरेकि यद् ॥५९॥

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वभूतान्महात्मनः ।

तदत्रान्यत्र वा विप्र सद्भावं वयितस्तव ॥६०॥

मन्वन्तराण्यभेपाणि कथितानि मया तव ।

मन्वन्तराधिपादन्वैव किमन्यत्कथयामि ते ॥६१॥

हे मंत्रेय जी ! विद्वत् की स्थिति के करने वाले भगवान् विष्णु जिस प्रकार चारों युग में व्यवस्था करते हैं, उसे सुनो ॥५४॥ सभी जीवों के बल्याण में तत्पर हुए वे सर्वभूतात्मा भगवान् चतुस्रयुग में कणित आदि के रूप में परम ज्ञानोपदेश करते हैं ॥५५॥ वेदा में चक्रवर्ति सम्राट् होकर दुष्टों का निग्रह करते हुए वही लोगो लोको की रक्षा करते हैं ॥५६॥ द्वापर में वेद ध्याम रूप से एक वेद को चार भागों में विभक्त करके, उसे सैकड़ों शाखाओं में बाँट कर उसका अत्यन्त प्रसार कर देते हैं । ५७॥ इस प्रकार द्वापर युग में वेदों का विस्तार करने के पश्चात् क्षत्रिययुग के अन्त में नस्ति रूप धारण करके दुराचरण में प्रवृत्त हुए लोगो को रुग्णार्ग की ओर प्रवृत्त करते हैं । ५८॥ इसी प्रकार वह सर्वात्मा भगवान् निरंतर इस विरव की उत्पत्ति, पानन और संहार करते रहते हैं । संसार की कोई भी वस्तु उनसे निम्न नहीं है ॥५९॥ हे विप्र ! इदलोक और परलोक के अतीत में हुए, भागे होने वाले तथा अब जो स्थित है, वे सम्पूर्ण पदार्थ भगवान् विष्णु से ही प्रसूत हुए हैं, इस विषय में सब कुछ तुम्हारे प्रति कह चुका हूँ ॥६०॥ सभी मन्वन्तरी तथा उनके अधिपतिरिदों का वृत्तान्त भी मैं तुम्हें सुना चुका हूँ । अब तुम्हें और क्या सुनाऊँ ? यह युगमें वही ॥६१॥

तीसरा अध्याय

ज्ञातमेतन्मया त्वत्तो यथा सर्वमिदं जगत् ।

विष्णुर्विष्णो विष्णुश्च न परं विद्यते तत्- ॥१॥

एतत्तु श्रोतुमिच्छामि व्यस्ता वेदा महात्मना ।

वेदव्यासस्वरूपेण तया तेन युगे युगे ॥२॥

यस्मिन्यस्मिन्युगे व्यासो यो य आसीन्महामुने ।

त तमाचक्ष्व भगवञ्छाखाभेदाश्च मे वद ।३।

वेदद्रुमस्य मंत्रेय शाखाभेदास्तहस्रश ।

न शक्तो विस्तराद्वक्तु सक्षेपेण शृणुष्व तम् ।४।

द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासिरूपी महामुने ।

वेदमेक सुबहुधा कुरुते जगतो हित ।५।

वीर्यं तेजो बल चाल्प मनुष्याणामवेक्ष्य च ।

हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान्करोति साः ।६।

ययासौ कुरुते तन्वा वेदमेक पृथक् प्रभु ।

वेदव्यासाभिधानां तु सा च मूर्तिर्मधुद्विप ।७।

श्री मंत्रेयजी ने कहा—आपके कहने से मैंने यह जान लिया कि यह विश्व विष्णुरूप, विष्णु मे स्थित तथा उन्ही से उत्पन्न हुआ है । तब भगवान् विष्णु के प्रतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है ॥१॥ अब मुझे यह सुनने की जिज्ञासा है कि उन्होंने वेदव्यास रूप से युग-युग मे प्रकट होकर वेदों का विभाग किस प्रकार किया ? ॥२॥ हे महामुने ! जिस-जिस युग मे जो-जो वेदव्यास हुए, उन सबका तथा वेदों के सब शाखा भेदों को आप मेरे प्रति कहिये ॥३॥ श्री पराशरजी ने कहा—हे मंत्रेयजी ! वेद रूपी वृक्ष के हजारों शाखा-भेद हैं, उनका विस्तृत वर्णन करने मे तो कोई भी शक्य नहीं है, इसलिये उसे सक्षेप मे थकान करो ॥४॥ हे महामुने ! जब-जब द्वापर युग आता है, तभी-तभी भगवान् विष्णु वेद व्यास के रूप मे अवतीर्ण होकर विश्व-व्याकरणार्थ एव वेद के अनेक कर देते हैं ॥५॥ वे उस समय के मनुष्यों के बल, वीर्य, तेज को घटता हुआ देख कर वे सब जीवों का हित करने की इच्छा से वेदों को विभक्त करते हैं ॥६॥ जिन देह से एव वेद के अनेक भेद करते हैं, भगवान् की उन मूर्ति को वेदव्यास कहते हैं ॥७॥

यस्मिन्मन्यन्तरे व्यासा ये ये स्युस्ताम्रिवोध मे ।

यथा च भेददन्नाग्नानां व्यागेन त्रियते मुने ।८।

अष्टाविंशतिकृत्वो वै वेदो व्यस्तो महर्षिभिः ।
 वैवस्वतेऽन्तरे तस्मिन्द्वापरेषु पुनः पुनः ॥६॥
 वेदव्यासा व्यतीता ये ह्यष्टाविंशति सत्तम ।
 चतुर्धा ये वृत्तो वेदो द्वापरेषु पुनः पुनः ॥१०॥
 द्वापरे प्रथमे व्यस्तस्स्वय वेदः स्वयम्भुवा ।
 द्वितीये द्वापरे चैव वेदव्यासः प्रजापतिः ॥११॥
 तृतीये चोक्षणा व्यासश्चतुर्थे च बृहस्पतिः ।
 सविता पञ्चमेः व्यासः षष्ठे मृत्युस्मृतः प्रभुः ॥१२॥
 सप्तमे च तथैवेन्द्रो वशिष्ठश्चाष्टमे स्मृतः ।
 सारस्वतश्च नवमे त्रिधामा दशमे स्मृतः ॥१३॥
 एकादशे तु त्रिशिक्षो भरद्वाजस्ततः परः ।
 त्रयोदशे चान्तरिक्षो वरुणो चापि चतुर्दशे ॥१४॥

हे मुने ! जिस-जिस मन्वन्तर मे जी-जी व्यास होते हैं और वह जिस-जिस प्रकार ते वेदों का विभाग करते हैं, वह सब मुझमे श्रवण करो ॥६॥
 इसी वैवस्वत मन्वन्तर के प्रत्येक द्वापर युग मे व्यास ऋषियो ने अब एक भद्रार्द्रिण बार वेदों को विभक्त किया है ॥६॥ अब उन ऋद्रार्द्रिण व्यासों का वृत्तान्त सुनों, जिन्होंने द्वापर युग मे वेदों के बारबार बार-बार विभाग किये हैं ॥१०॥
 प्रथम द्वापर मे स्वयं ब्रह्माजी ने वेदों का विभाग किया और दूसरे द्वापर मे प्रजापति वेदव्यास हुए ॥११॥ तीसरे द्वापर मे शुक्राचार्य वेदव्यास हुए, चौथे मे बृहस्पतिजी, पाँचवें मे सूर्य और छठे मे मृत्यु वेद व्यास बने ॥१२॥ सातवें में इन्द्र, आठवें में वशिष्ठ, नौवें में सारस्वत और दसवें में त्रिधामा वेदव्यास कहलाये ॥१३॥ ग्यारहवें में त्रिशिक्ष, बारहवें में भारद्वाज, तेरहवें में चान्तरिक्ष और चौदहवें में वरुण वेद व्यास हुए ॥१४॥

अप्यारणः पञ्चदशे षोडशे तु घनश्रयः ।

मृत्युश्रयः सप्तदशे तदूर्ध्वं च जयस्मृतः ॥१५॥

ततो व्यासो भरद्वाजो भरद्वाजाक्ष गौतमः ।

गौतमादुत्तरो व्यासो ह्यर्थात्मा योऽग्निध्यायते ॥१६॥

अथ ह्यर्थात्मनोज्ञे च स्मृतो वाजथवा मुनि ।
 सोमशुष्मायणस्तस्मात्तृणविन्दुरिति स्मृत ॥१७॥
 ऋक्षोऽभूद्भागवस्तस्माद्वाल्मीकियोऽभिधीयते ।
 तस्मादस्मत्पिता शक्तिर्व्यासस्तस्मादहं मुने ॥१८॥
 जातुकर्णोऽभवन्मत्तं कृष्णद्वैपायनस्ततः ।
 अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासा पुरातना ॥१९॥
 एको वेदश्चतुर्धा तु तं कृतो द्वापरादिषु ॥२०॥
 भविष्ये द्वापरे चापि द्वौलिङ्गव्यासो भविष्यति ।
 व्यतीते मम पुत्रेऽस्मिन् कृष्णद्वैपायने मुने ॥२१॥

पञ्चहत्वे द्वापर मे व्यासराज, सोनहत्वे म धनञ्जय सप्तहत्वे मे कृतञ्जय और
 अठारहत्वे मे जय नामक वेदव्यास हुए ॥११॥ उनीसहत्वे द्वापर मे भरद्वाज
 बीसहत्वे मे गौतम और गौतम के बाद इक्कीसहत्वे द्वापर में ह्यरिमा नामक व्यास हुए
 ॥१६॥ बाईसहत्वे मन्वन्तर मे वाजथवा मुनी वेद व्यास हुए, और उनके बाद
 सोम शुष्म वस के तृणविन्दु नामक तेईसहत्वे द्वापर मे व्यास हुए ॥१७॥ उनके
 पचास भृगुवस के ऋषा बीबीसहत्वे व्यास हुए , यही कालान्तर मे वाल्मीकि
 बहेनामे, उनके पड़पाई मेरे पिता शक्ति हुए और फिर मैं द्वावीसहत्वे व्यास हुआ
 ॥१८॥ मेरे बाद जातुराज और फिर कृष्ण द्वैपायन व्यास हुए । इस प्राग
 यह घट्टाईस व्यास प्राचीन कह हैं । ६ होने सब द्वापरो मे एत एव वेद के चार
 चार विभाग क्रिय ॥१९ २०॥ हे मुन ! मेरे पुत्र कृष्ण द्वैपायन के पड़पाई
 भागामी द्वापर युग में दोलाचाप जी के पुत्र भस्वत्पामा होने ॥२१॥

ध्रुवमवाधर ग्रहा श्रीमित्येव व्यवस्थितम् ।
 वृद्धत्वाद्वृ हणत्वाद्य तद्ग्रहोत्यभिधीयत ॥२२॥
 प्रगवायस्थित नित्य भूर्भुवस्स्वरितीयंते ।
 श्रम्यजुस्सामाथर्वणा यत्तस्मै ब्रह्मणे नमः ॥२३॥
 जयत प्रयतोत्यत्पार्यंत्तरारण्यशक्तिम् ।
 महत्त पद्म गुह्य तस्मै गुह्यहाग नमः ॥२४॥

अगाधापारमक्षय्य जगत्सम्मोहनालयम् ।
 स्वप्रकाशप्रवृत्तिम्या पुरुषार्थप्रयोजनम् ॥२५॥
 साख्यज्ञानवता निष्ठा गतिश्शमदमात्मनाम् ।
 यत्तदव्यक्तममृत प्रवृत्तिग्रहा शाश्वतम् ॥२६॥
 प्रधानमात्मयोनिश्च गुहासंस्थ च शब्दवते ।
 अविभाग तथा शुक्रमक्षय बहुवात्मकम् ॥२७॥
 परमब्रह्मणे तस्मै नित्यमेव नमो नमः ।
 यद्रूप वामुदेवस्य परमात्मस्वरूपिण ॥२८॥

यह अविनाशी ॐ रूप एकाक्षर ही ब्रह्म है । यह उद्भूत एवं ध्यात होने के कारण 'ब्रह्म' कहा जाता है ॥२२॥ भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक—यह तीनों ही प्रणव रूप ब्रह्म में स्थित हैं तथा प्रणव ही ऋषि, यजुः, साम और अथर्व रूप चारों वेद हैं, इसलिये उस प्रणव रूप ब्रह्म को नमस्कार है ॥२३॥ जो ब्रह्म विश्व की उत्पत्ति और प्रलय का कारण बना गया है तथा जो महत्त्व से भी परम गुण है, उस प्रणव रूप को नमस्कार है ॥२४॥ जो अगाध, अपार और अक्षय तथा जगत् को मोहित करने वाला मूर्त का आधार तथा स्वप्रकाश युक्त सत्वगुण और प्रवृत्ति रूप रजोगुण में अक्षय तथा मोक्ष रूप पुरुषार्थ का कारण है ॥२५॥ जो साख्य ज्ञानिदा की निष्ठा और शम-दम वाली का गन्तव्य स्थान है तथा जो अविभक्त, अविनाशी और गतिविहीन होकर सदा स्थित है ॥२६॥ जो स्वयम्भू, प्रधान और अमर्यदा कहा गया है तथा जो अविभाग, अक्षय और यजुः रूप का है ॥२७॥ तथा जो परमेश्वर स्वरूप वामुदेव भगवान् का ही रूप है, उस प्रणव रूप ब्रह्म को नमस्कार है ॥२८॥

एतद्ब्रह्म त्रिधा भेदमन्वेष्यते न प्रभु ।
 सर्वभेदेष्वभेदोऽयं निरुद्ध निन्द्युदात्तः ॥२९॥
 साष्टङ् भयम्भामभयः श्रियोऽमा सु यजुर्मनः ।
 अग्न्यजुःसामयज्ञाग्ना न सङ्गाग्ना यज्ञोक्तिः ॥३०॥

स भिद्यते वेदमयस्त्ववेद करोति भेदैर्वहुभिस्सशाखम् ।

शाखाप्रणेता स सभस्तशाखाज्ञानस्वरूपो भगवानसङ्ग ॥३१॥

यह प्रमुख रूप ब्रह्म अभेद होकर भी तीन भेद वाला और सभी भेदों से अभिन्न रूप से स्थित है, परन्तु भेद बुद्धि वालों को पृथक् पृथक् प्रतीत होता है ॥३१॥ वह सर्वात्मा ऋग्यजुः, सामयजुः और यजुर्मय है तथा ऋक्, यजुः, साम का सार रूप वह प्रमुख ही सब देहधारियों में प्रामाण्य है ॥३०॥ वह वेदमय है, वही ऋग्वेदादि रूप से भिन्न भिन्न होता और भगवन् वेद रूप को विभिन्न शाखों में विभक्त करता है । वही सग-रहित ज्ञान स्वस्व परमात्मा सब शाखों का रचने वाला है ॥३१॥



चौथा अध्याय

आद्यो वेदश्चतुष्पाद शतसाहस्रसम्मिता ।

ततो दशगुणं कृत्स्नो यज्ञोऽयं सर्वकामपुक् ॥१॥

ततोऽयं मत्सुतो व्यासो अष्टाविंशतिमेज्वरे ।

वेदमेव चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत्प्रभु ॥२॥

यथा च तेन च व्यस्ता वेदव्यासेन धीमता ।

वेदास्तथा समस्तंस्तैर्व्यस्ता व्यस्तैस्तथा मया ॥३॥

तदनेनैव वेदानां शाखाभेदान्द्रिजोत्तम ।

चतुर्गुणेषु षष्ठितान्ममस्तेष्ववधारय ॥४॥

वृष्णद्वैपायन व्यास विद्वि नारायण प्रभुम् ।

यो ह्यन्यो भुवि मैत्रेय महाभारतवृद्धवेत् ॥५॥

तेन व्यस्ता मया वेदा मत्पुत्रेण महात्मना ।

द्रापरे ह्यत्र मैत्रेय तस्मिन् ऋग्यजुः यथातथम् ॥६॥

अद्मणा चोदितो व्यासो वेदान्व्यस्तु प्रवक्तव्यम् ।

मयं सिष्यान्प्रजग्राह चतुरो वेदपारगान् ॥७॥

श्री पराशरजी ने कहा—तृप्ति के आदि में वेद चार पदों से युक्त तथा एक साक्ष मन्त्रों का था, जिससे समस्त कामना प्रद अग्निहोत्रादि दस प्रकार के यज्ञों का प्रचार हुआ ॥१॥ फिर अद्वैतवेदों द्वारा परमेश्वर के पुत्र कृष्ण इंद्रायन ने इस चार पाद वाले एक वेद के आदि विभाग किये ॥२॥ परमेश्वर ने वेदव्यास ने जैसे उनका विभाग किया, वैसे ही मैंने तथा अन्य अन्य वेद-व्यासों ने भी किया था ॥३॥ इसलिये हे द्विजश्रेष्ठ ! सब चतुर्मुखियों में इन्हीं शाखा-भेदों वाले वेद का पाठ होता हुआ समझो ॥४॥ भगवान् कृष्ण इंद्रायन को साक्षात् नारायण ही मानो क्योंकि भगवान् नारायण के प्रतिष्ठित जिस में महाभारत रचने की सामर्थ्य हो सकती है ? ॥५॥ हे मंगेयजी ! द्वारा परमेश्वर महात्मा पुत्र कृष्ण इंद्रायन वेदों को जिस प्रकार विभक्त किया था, उसे सब यथासम्पत् सुनो ॥६॥ ब्रह्माजी की प्रेरणा से जब उन्होंने वेदों का विभाग करना चाहा, तब उन्होंने वेदाध्ययन में समर्थ चार शिष्यों को इस कार्य में नियुक्त किया ॥७॥

ऋग्वेदपाठकं पैलं जग्राह स महामुनिः ।

वंशम्पायननामान यजुर्वेदस्य चाग्रहीत् ॥

जैमिनि सामवेदस्य तथैवाथर्ववेदवित् ।

सुमन्तुस्तस्य शिष्योऽभूद्देव्यासस्य धीमतः ॥१॥

रोमहर्षणनामान महारुद्रि महामुनिः ।

मूत जग्राह शिष्यं स इतिहासपुराणयोः ॥२॥

एक आसीद्यजुर्वेदस्त चतुर्धा व्यकल्पयत् ।

चातुर्होत्रमभूत्तस्मिन्तेन यज्ञमथाकरोत् ॥३॥

आप्ययं यजुर्मितु ऋग्मिहोत्रं तथा मुनिः ।

श्रीशान सामग्निश्चक्रे ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वणिः ॥४॥

ततस्त ऋच उद्धृत्य ऋग्वेदं वृत्तवान्मुनिः ।

यजूंषि च यजुर्वेदं सामवेदं च सामनिः ॥५॥

उन चार शिष्यों में रो पैल नामक शिष्य को उन महामुनि ने ऋग्वेद
इत्यादि, फिर वंशम्पायन को यजुर्वेद आदि, जैमिनि को सामवेद का अध्ययन

कराया । उन्होंने अपने सुम-तु नामक शिष्य को ऋग्वेद में पारंगत किया ॥८-९॥ इनके अतिरिक्त सूत जाति में उत्पन्न रोमहर्षण नाम महा भेद्यो को व्यासजी ने इतिहास-पुराण के विद्यार्थी के रूप में शिष्य बनाया ॥१०॥ पहिले यजुर्वेद एव ही था । उन्होंने उसके चार विभाग किये, इसलिये उसमें चातुर्होत्र की प्रवृत्ति हुई और इसी विधि से उन्होंने यज्ञों के अनुष्ठानों को व्यवस्थित किया ॥११॥ व्यासजी ने यजुर्वेद से अथर्ववेद का कर्म निश्चय किया, ऋग्वेद से होता का कर्म कल्पित किया, सामवेद से उद्गाता के कर्म की और अथर्ववेद से ब्रह्मा के कर्म की स्थापना की ॥१२॥ फिर उन्होंने ऋग्वेद और यजुर्वेद की श्रुतियों का उद्धार करके ऋग्यजु साम की श्रुतियों से सामवेद की रचना की ॥१३॥

राजा चायर्ववेदेन सर्वकर्माणि च प्रभु ।

कारयामास मैत्रेय ब्रह्मत्व च यथास्मिन्ति ॥१४॥

सोऽयमेवो यथा वेदस्तरुस्तेन पृथक्वृत्त ।

चतुर्धा ततो जात वेदपादपकाननम् ॥१५॥

विभेद प्रथमं विप्र पैलो ऋग्वेदपादपम् ।

इन्द्रप्रमितये प्रादाद्वाष्कलाय च सहिते ॥१६॥

चतुर्धा स विभेदाथ वाष्कलोऽपि च सहिताम् ।

बोध्यादिभ्यो वदी ताश्च शिष्येभ्यस्स महामुनि ॥१७॥

बोध्याग्निमाढवी तद्वद्याशवल्क्यपराशरी ।

प्रतिशाखास्तु शाखायास्तस्यास्ते जगृहुर्मुने ॥१८॥

इन्द्रप्रमितिरेवा तु सहिता स्वसुत तत ।

माण्डुकेय महात्मान मैत्रेयाध्यापयत्तदा ॥१९॥

तस्य शिष्यप्रशिष्येभ्य पुत्रशिष्यक्रमाद्ययो ।

वेदमित्रस्तु शान्त्य सहिता तामधीतवान् ॥२०॥

हे मैत्रेयजी ! ऋग्वेद के द्वारा उन वेदव्यास ने समस्त राजपर्व की ब्रह्मत्व की व्यवस्था की ॥१४॥ इस प्रकार उन्होंने एव वेदरूप वृक्ष के चार भाग किये और उन चारों भागों से वेद रूपी वृक्षों का वन ही लग गया ॥१५॥

तृतीय अथ-अ० ४]

प्रथम पैल ने ऋग्वेद रूची वृत्त को दो भागों में बाँटा और अपने शिष्य इन्द्र-
प्रमिति और वाष्कल को उनका अध्ययन कराया ॥१६॥ वाष्कल ने भी अपनी
शाखा के चार भाग करके उन्हें अपने बोध्य आदि शिष्या को पढ़ाया ॥१७॥
है मुने । वाष्कल की शाखा की जो चार प्रतिशाखाएँ हुई, उन्हें उनके शिष्य
बोध्य, अग्निमादक, याज्ञवल्क्य और पराशर ने ग्रहण किया ॥१८॥ है
नियोजी । इन्द्र प्रमिति ने अपनी प्रति शाखा का अध्ययन अपने पुत्र माधुनेय
से कराया ॥१९॥ इस प्रकार शिष्य और गिष्य के भी शिष्य के क्रम से उस
शाखा की उनके पुत्र और गिष्यों में वृद्धि की । इसी गिष्य-परम्परा ॥ शाकल्य
वेदमित्र ने उस संहिता का अध्ययन किया ॥२०॥

चकार संहिता पञ्च शिष्येभ्यः प्रदत्ता च ता ।

तस्य शिष्यास्तु ये पञ्च तेषां नामानि मे शृणु ॥२१॥

मुद्गलो गोमुखश्चैव वात्स्यश्चालोय एव च ।

शरीरः पञ्चमश्चासीन्मैत्रेयः शुभहामतिः ॥२२॥

संहितानितयः चक्रे शाक्यपूषस्तथैतरे ।

निरुक्तमथ रोत्तद्वच्चतुर्यं मुनिसत्तम ॥२३॥

श्रीश्रो वंतालिवस्तद्वद्वलावश्च महामुनिः ।

निरुक्तवृच्चतुर्योऽभूद्वेदेदाङ्गपारगः ॥२४॥

इत्येता प्रतिशागाम्यो ह्यनुशास्ता द्विजोत्तमः ।

वाष्कलश्चापरास्तिग्रस्संहिता कृतवान्द्विजः ॥२५॥

शिष्यः कालायनिर्गार्ग्यस्तृतीयश्च तथाजवः ।

इत्येते बहुवृत्ता प्रोक्ता संहिता ये प्रवर्तिताः ॥२६॥

इसके पदवान् शाकल्य वेदमित्र ने उस शाखा की पाँच अनुशासक
और अपने पाँच शिष्या को उनका अध्ययन कराया । अब उनके नाम सुनो ॥२१॥
मुद्गल, गोमुख, वात्स्य, शालीय और पाँचवें अत्यंत बुद्धिमान शरीर से ॥२२॥ है
मुने । उनके एक अन्य शिष्य शाक्यपूष ने तीन वेद संहिताओं तथा एक निष्कृत ग्रन्थ
को रचा था ॥२३॥ महामुनि कोष, वंतालिक और बलाव नामक उनके
शिष्यों ने तीनों संहिताओं का अध्ययन किया तथा उनका एक चतुर्यं शिष्य ने

शेद-वेदांग में पारंगता प्राप्त की और निरक्षित की रचना की ॥२४॥ इस प्रकार
शेद-वृक्ष की शाखाओं से प्रति छायाएँ और उनसे भी अनुशासणें उत्पन्न
हुई । हे द्विजोत्तम ! व्यास ने अन्य तीन सहिताओं की भी रचना की थी ॥२५॥
कालायनि, गार्ग्य और कथा जब उनके शिष्य थे । जिन्होंने इन सहिताओं का
प्रसार किया, वे बहुवृत्त कह कर विख्यात हुए ॥२६॥



पाँचवाँ अध्याय

यजुर्वेदतरोऽशाखास्सप्तविंशन्महामुनि ।
वैशम्पायननामासौ व्यासशिष्यश्चकार वै ।१।
शिष्येभ्य प्रददौ ताश्च जगृहुस्तेऽप्यनुकमात् ।
याज्ञवल्क्यस्तु तनाभूद्वह्न्यरातसुतो द्विज ।२।
शिष्य परमधर्मज्ञो गुरुवृत्तिपरस्सदा ।
ऋषिर्योऽद्य महाभेरो समाजे नागमिष्यति ।३।
तस्य वै समरानात्तु ब्रह्माहत्या भविष्यति ।
पूर्णमेव मुनीगणैस्समयो य कृतो द्विज ।४।
वैशम्पायन एकस्तु त व्यतिक्रान्दवास्तदा ।
स्यस्त्रीय बालक सोऽय पदा स्पृष्टमघातयत् ।५।
शिष्यानाह स भो शिष्या ब्रह्माहत्यापह व्रतम् ।
धरष्व मल्लुते सर्वे न विचार्यमिद तथा ।६।
अथाह याज्ञवल्क्यस्तु किमेभिर्भगवन्दिजे ।
क्लेशितैरल्पतेजोभिश्चरिष्येऽहमिद व्रतम् ।७।

हे महामुने ! व्यास-शिष्य वैशम्पायन जी ने यजुर्वेद रूपी वृक्ष की
सत्ताईस शाखाओं को रचा ॥१॥ वे शाखाएँ उन्होंने अपने शिष्यों को पढ़ाई
तथा शिष्यों ने भी उन्हें क्रमशः ग्रहण किया । हे विप्र ! उनका एक परमधार्मिक

शिष्य ब्रह्मरात-पुत्र याज्ञवल्क्य था । जो सदा ही गुरु-सेवा में तत्पर रहता था । जो महामेव स्थित हमारे समाज में सम्मिलित न होगी, उसे सात रातों में बहाहृत्या लगेगी । इस प्रकार मुनियों ने पहले निश्चित किया था, परन्तु उनके उस नियम का सर्व प्रथम वैशम्पायन ने ही उल्लंघन किया था । इसके पश्चात् उसका कारण पूछा जाने मात्र से उसके मानके की मृत्यु हो गई ॥२-५॥ तब वह अपने शिष्यों से बोले—हे शिष्यों ! तुम किसी प्रकार का विचार न करते हुए मेरी ब्रह्म हत्या की दूर करने के निमित्त व्रत करो ॥६॥ इस पर याज्ञवल्क्य जी ने कहा—हे भगवन् ! यह ब्राह्मण क्षत्र तेज वाले हैं, इन्हें क्या देने से क्या लाभ है ? मैं ही भक्तिला व्रत का अनुष्ठान करूँगा ॥७॥

ततः क्रुद्धो गुरुः प्राह याज्ञवल्क्यं महामुनिम् ।
मुच्यतां यत्त्वयाधीतं मत्तो विप्रावमानक ॥८॥
निस्तेजसो वदस्येनान्यत्वं ब्राह्मणपुङ्गवान् ।
तेन शिष्येण नाथोऽस्ति ममाज्ञाभङ्गकारिणः ॥९॥
याज्ञवल्क्यस्ततः प्राह भर्ष्यतस्ते मयोदितम् ।
ममाप्यत त्वयाधीतं यन्मया तदिदं द्विज ॥१०॥
इत्युक्तो रुषिराक्तानि सम्पाणि यजूंषि मः ।
छर्दयित्वा ददौ तस्मै ययो स स्वेच्छया मुनिः ॥११॥
यजूंष्यय विसृष्टानि याज्ञवल्क्येन वै द्विज ।
जगृहुन्तिस्तिरा भूत्वा तैत्तिरीयास्तु ते ततः ॥१२॥
ब्रह्महत्याव्रतं शीर्णं गुरुणा धोदितेस्तु ये ।
चरकाध्वर्यवस्ते तु चरणान्मुनिमत्तम ॥१३॥
याज्ञवल्क्योऽपि मैत्रेय प्राणायामपरायणः ।
तुष्टाव प्रयतस्मूर्यं यजूंष्यमिलयंस्ततः ॥१४॥

याज्ञवल्क्य की बात से वैशम्पायनजी क्षोभित हो गये और उन्होंने उन महामुनि याज्ञवल्क्य जी से कहा—भरे ब्राह्मणों का भगमान करने वाले मूर्ख ! तुने मुझसे जो कुछ भी पटा है, उस सब का त्याग करदे ॥१५॥ तुम इन सब विप्र पुंगवों को निस्तेज ब्रह्म है, इसलिये तेरे जैसे भ्राता भग करने वाले

शिष्य से मैं कोई प्रयोजन नहीं रखता ॥६॥ याज्ञवल्क्य बोले—हे ब्रह्मन् । मैंने तो आपकी भक्ति के बख्श ही यह बात बही थी, अब मुझे भी आपसे कुछ प्रयोजन नहीं है, आपसे आ कुछ मैंने पढ़ा था, वह सब यह नास्त्य है ॥१०॥ श्री पराशर जी ने कहा—यह कह कर महामुनि याज्ञवल्क्यजी रुधिर से तपपथ यजुर्वेद मूर्तिमान रूप में वमन करके उन्हें दिया और अपनी इच्छानुसार वहाँ से चले गये ॥११॥ हे द्विज । याज्ञवल्क्यजी के द्वारा वमन की हुई उन यजुर्वेद की श्रुतिधो को अन्य शिष्यों ने तीतर का रूप धारण कर ग्रहण किया, इसीलिये वे सब शिष्य तैत्तिरीय मन्त्रक हुए ॥१२॥ हे मुनिवर । गुरु की प्रेरणा से जिन ब्राह्मणों ने ब्रह्म हत्या को नष्ट करने वाले व्रत का अनुगमन किया था, वे व्रत करने के कारण चरकाध्वयुं बहे गये ॥१३॥ फिर याज्ञवल्क्यजी ने भी यजुर्वेद की कामना से प्राणायाम परायण रह कर सूर्य का स्तवन किया ॥१४॥

नमस्सवित्रे द्वायाय मुक्तेरमिततेजसे ।
 ऋग्यजुस्सामभूताय त्रयीधाम्ने च ते नमः ॥१५॥
 नमोऽग्नीषोमभूताय जगतः कारणात्मने ।
 भास्कराय पर तेजस्सीपुम्नश्चिविभ्रते ॥१६॥
 कलाकाष्ठानिमेपादिकालज्ञानात्मरूपिणे ।
 ध्येयाय विष्णुरूपाय परमाक्षररूपिणे ॥१७॥
 विभक्तिं यस्सुरगणानाप्यायेन्दु स्वरश्मिभिः ।
 त्वधामृतेन च पितृ स्तस्मै तृप्त्यात्मने नमः ॥१८॥
 हिमाम्बुधर्मवृष्टीनां कर्ता भर्ता च यः प्रभुः ।
 तस्मै त्रिकालरूपाय नमस्सूर्याय वेधसे ॥१९॥
 ग्रहन्ति तमो यश्च जगतोऽस्य जगत्पतिः ।
 सत्त्वधामधरो देवो नमस्तस्मै विवस्वते ॥२०॥
 सत्त्वर्मयोग्यो न जनो नैवाप शुद्धिकारणम् ।
 यस्मिन्नुदिते तस्मै नमो देवाय भास्वते ॥२१॥

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—अमित तेजोमय, मोक्ष दार स्वरूप, वेदत्रयी रूपी तेज से सम्पन्न तथा ऋन्, यजु और साम के साक्षात् रूप सूर्य भगवान्

को नमस्कार है ॥१५॥ अग्नि और चन्द्रमा रूपी, विश्व के कारण और
 पुष्प नामक परम तेज के धारक भगवान् भास्कर को नमस्कार है ॥१६॥
 वना, काश, निमेषादि काल ज्ञान के कारण रूप और चिन्तनीय परब्रह्म
 विष्णु मय श्री सूर्यदेव को नमस्कार है ॥१७॥ जो अपनी किरणों द्वारा चन्द्रमा
 को पुष्ट कर सुधा से देवताओं को तथा स्वधा से पितरों को वृक्ष करते हैं, उन
 तृप्ति रूप भगवान् सूर्य को नमस्कार है ॥१८॥ जो शीत, वर्षा, ग्रीष्म आदि के कर्त्ता
 तथा विश्व के पापक हैं, उन त्रिकाल भूति भगवान् सूर्य को नमस्कार है ॥१९॥
 जो जगत्त्रिंशत् इह सम्पूर्ण ससार के अन्धकार को नष्ट करते हैं, उन सत्त्वधामधर
 विवस्वान् को नमस्कार है ॥२०॥ जिनके उदय होने पर हा मनुष्यगण सत्कर्मों
 में प्रवृत्त होते हैं तथा जल भी उनके उदय हुए बिना शुद्ध करने वाला नहीं
 होता, उन भास्वान् को नमस्कार है ॥२१॥

स्पृष्टो यदशुभिलोकं क्रियायोग्यो हि जायते ।
 पवित्रताकारणाय तस्मै शुद्धात्मने नमः ॥२२॥
 नमः सवित्रे सूर्याय भास्कराय विवस्वते ।
 आदित्यायादिभूताय देवादीनां नमो नमः ॥२३॥
 हिरण्मय रथ यस्य केतवोऽमृतवाजिनः ।
 वहन्ति भुवनालोकचक्षुषं तं नमाम्यहम् ॥२४॥
 इत्येवमादिभिस्तेन स्तूपमानस्य वै रविः ।
 वाजिरूपधरं प्राह त्रियतामिति वाञ्छितम् ॥२५॥
 याज्ञवल्क्यस्तदा प्राह प्रणिपत्य दिवाकरम् ।
 यजूं पितृनि मे देहि यानि सन्ति न मे गुरो ॥२६॥
 एवमुक्तो ददौ तस्मै यजूं पितृनि भगवान् रविः ।
 अयातयामसं ज्ञानं यानि वेत्ति न तद्गुरुः ॥२७॥
 यजूं पितृनि रघीतानि तानि विप्रैर्द्विजोत्तमः ।
 वाजिनस्ते समारथाता सूर्योऽप्यश्वोऽभवद्यतः ॥२८॥
 शाखाभिदास्तु तेषां वै दश पञ्च च वाजिनाम् ।
 काण्वाद्यास्सुमहाभाग याज्ञवल्क्या प्रकीर्तिताः ॥२९॥

जिनकी निरखो वे स्पर्श होने पर ही सत्तार बमों का अनुगान करने के योग्य होता है, उन पवित्रता के कारण, घुड़ स्वरूप को नमस्कार है ॥२२॥ सवितादेव, सूर्य, भास्वर और विवस्वान् को नमस्कार है, देवादि सब भूतों के आदिभूत भगवान् आदित्य को नमस्कार है ॥२३॥ जिनका हिरण्यमय रथ और च्चआए हैं, अमररत्न प्राप्त अश्व सहन करत हैं और जो त्रिभुवन को प्रवाक्षित करने के नेत्र स्वरूप हैं, उन सूर्य भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२४॥ श्री पराशर जी ने कहा—याज्ञवल्क्यजी द्वारा इस प्रकार स्तुत होने पर भगवान् सूर्य अश्व रूप से प्रकट हुए और उनसे बोले कि तुम अपना इच्छित कर मांगो ॥२५॥ यह देख कर याज्ञवल्क्यजी ने प्रणाम पूरक उनके निवेदन किया—आप मुझे वे यजुः श्रुतियाँ प्रदान करें, जिनका ज्ञान मेरे गुरुजी को भी न हो ॥२६॥ याज्ञवल्क्यजी के ऐसा कहने पर उन्होंने उन्हें अयातयाम नामक यजुः श्रुतियों का उपदेश दिया । उन श्रुतियों का उनके गुरु वैशम्पायनजी को भी ज्ञान नहीं था ॥२७॥ हे द्विज श्रेष्ठ ! भगवान् सूर्य ने उन श्रुतियों का उपदेश अश्व रूप में प्रकट होकर दिया था इसलिये उन श्रुतियों को पढ़ने वाले ब्राह्मण बाजी सजक हुए ॥२८॥ हे महाभाग ! उन बाजि-श्रुतियों की काण्व आदि पद्रह शाखाएँ हैं, जो महर्षि याज्ञवल्क्यजी द्वारा प्रवृत्त की हुई बताई जाती हैं ॥२९॥



छठा अध्याय

सामवेदतरोश्शाखा व्यासशिष्यस्स जैमिनि ।
 क्रमेण येन भैत्रेय विभेद शृणु तन्मम ।१।
 सुमन्तुस्तस्य पुनोऽभूत्सुवर्मास्याभूत्सुत ।
 अधीतवन्तौ चकंका सहिता तो महामती ।२।
 सहस्रसहिताभेद सुकर्मा तत्सुतस्तत ।
 चवार त च तच्छिष्यौ जगृहाते महाश्रुती ।३।

हिरण्यनाम. कौमत्य पौष्पिञ्चिश्च द्विजोत्तम ।
उदीच्यास्सामगा. निप्यास्तस्य पञ्चदश स्मृता ।४।
हिरण्यनामात्तावत्यस्महिता येद्विजोत्तमैः ।
मृहीतास्तेऽपि चोच्यन्ते पण्डितैः प्राच्यसामगाः ।५।
लोकाजिनीर्धमिद्वैव कक्षीर्वाह्लाद्गतिस्तथा ।
पौष्पिञ्चिनिप्यास्तद्भेदेऽस्महिता बहुलोदृताः ।६।
हिरण्यनामनिप्यन्तु चतुर्विंशतिमहिता ।
प्रोवाच कुतिनामासौ निप्येभ्यश्च महामुनि ।७।
तैश्चापि सामवेदोऽग्नौ शाखाभिर्वहुली कृत ।
अथर्वणामयो वक्ष्ये सहिताना समुच्चयम् ।८।

श्री पराशरजी ने कहा—हे मन्त्रेय जी ! जिस ऋग से ध्यान शिष्य जैमिनि न सामवेद की शाखाओं की विभक्त किया था अब उसे ध्वण करो ॥१॥ जैमिनि का पुत्र मुमन्तु और उसका पुत्र सुकर्मा हुआ । उन दोनों श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुत्र-पौत्र ने सामवेद की एक-एक शाखा को पढ़ा ॥२॥ फिर मुमन्तु-पुत्र सुकर्मा न अपनी सामवेद संहिता के एक हजार शाखा-भेद किये, जिन्हें उनके कौमत्य, हिरण्यनाम और पौष्पिञ्चि नामक महावती शिष्यों ने ग्रहण किया । हिरण्यनाम के जो पाँच सौ शिष्य हुए, वे सब उदीच्य सामग नाम से प्रसिद्ध हुए ॥३॥ और जिन अन्य श्रेष्ठ शास्त्रियों ने हिरण्यनाम से अपनी ही संहिताएँ और ग्रहण की थी, वे सब प्राच्यसामग नाम से विख्यात हुए । ॥४॥ पौष्पिञ्चि के शिष्य लोकाधि, नोपमि, कक्षीवान् और द्यौगति हुए । उनके शिष्य तथा प्रशिष्यों ने भी अपनी-अपनी संहिताओं की शाखा करने उनका विस्तार किया ॥५॥ हिरण्यनाम के एक अन्य शिष्य महामुनि श्रुति ने अपने शिष्यों को सामवेद की चौबीस संहिताओं का अध्ययन कराया ॥६॥ उन शिष्यों ने भी सामवेद की इन शाखाओं की बहुत बढ़ाया । अब मैं अध्वरिद संहिताओं के समुच्चय को कहता हूँ ॥७॥

अथर्ववेद स मुनिस्तुमन्तुरमित्युति ।
निप्यनप्यापयामास पन्ध सोऽपि तं द्विधा ।
कृत्वा तु देवदर्शाय तथा पय्याय दत्तवान् ।८।

देवदर्शस्य शिष्यास्तु मेघो ब्रह्मबलिस्तथा ।
 शौल्कायनि पिप्पलादस्तथान्यो द्विजसत्तम ॥१०॥
 पथ्यस्यापि त्रयश्शिष्या कृता यैर्द्विज सहिता ।
 जाबालि कुमुदादिश्च तृतीयश्शौनको द्विज ॥११॥
 शौनकस्तु द्विधा कृत्वा ददानेका तु वभ्रवे ।
 द्वितीया सहिता प्रादात्सैन्धवाय च सज्जिने ॥१२॥
 सैन्धवान्मुञ्जिकेशश्च द्वेधा भिन्नस्त्रिधा पुन ।
 नक्षत्र कल्पो वेदाना सहिताना तथैव च ॥१३॥
 चतुर्थंस्यादाङ्गिरसश्शान्तिकल्पश्च पञ्चम ।
 श्रेष्ठास्त्वयवंग्रामेते सहिताना विकल्पका ॥१४॥

सुमन्तु मुनि ने ऋषयवेद का अध्ययन सब से पहले अपने शिष्य ऋषय
 को कराया, जिसने उसके दो विभाग करने उ-हे अपने शिष्य देवदर्श और पथ्य
 को दिया ॥१०॥ हे द्विज श्रेष्ठ ! देवदर्श के शिष्य मेघ, ब्रह्मबलि, शौल्कायन और
 पिप्पलाद हुए ॥१०॥ पथ्य के तीन शिष्य जाबालि, कुमुदादि और शौनक हुए,
 जिन्होंने सहिताओं को शाला रूप में विभक्त किया ॥११॥ शौनक ने भी अपनी
 सहिता के दो विभाग किये उनमें से एक वभ्रु को और दूसरी सैन्धव को
 प्रदान की ॥१२॥ सैन्धव से मुञ्जिकेश ने उसका अध्ययन किया और उसके
 प्रथम दो और फिर तीन विभाग किये । नक्षत्र कल्प, वेदकल्प, सहिताएँ
 चौथा भागिरस कल्प और पाँचवाँ शान्तिकल्प — इन पाँच कल्पों की उन्होंने
 रचना की जो ऋषय-सहितों में सर्वोत्कृष्ट मानी गई हैं ॥१३-१४॥

आस्थानंश्चाप्युपास्थानं गीथाभि कल्पशुद्धिभि ।
 पुराणसहिता चक्रे पुराणार्थविशारद ॥१५॥
 प्रस्थातो व्यासशिष्योऽभूत्सूतो वै रोमहर्षण ।
 पुराणसहिता तस्मै ददौ व्यासो महामति ॥१६॥
 सुमतिश्चाग्निवर्चाश्च मित्रायुश्शासपायन ।
 अट्टतत्रणसावर्णी पट् शिष्यास्तस्य चाभवन् ॥१७॥

यदेतत्तत्र मैत्रेय पुराणं वक्ष्यते मया ।

/ एतद्विष्णुवसनं वै पापस्य समनन्तरम् ॥२६॥

सर्गे च प्रतिसर्गे च वनमन्वन्तरादिषु ।

वक्ष्यते भगवान्विष्णुरक्षोपेक्ष्येव सत्तम ॥२७॥

इसी प्रकार घाटवां पुराण मान्य है । नीचां भविष्य पुराण, स्कन्ध
ब्रह्मवैवर्त तथा ग्यारहवां जंग पुराण कहा जाता है ॥२२॥ बारहवां बारह
तेरहवां स्वाम्द, चौदहवां वामन, पन्द्रहवां बीम, सोलहवां मातस्य, सत्रहवां
गारुड और अठारहवां ब्रह्माण्ड पुराण है । हे महामुनि ! घटारह महापुराण
यही हैं ॥२३-२४॥ इनके अतिरिक्त और बहुत-से उपपुराण मुनिजनों ने बताये
हैं । इन सबमें सृष्टि, प्रलय, देवादि के वसो का वर्णन, मन्वन्तर और विभिन्न
राज-वंशों के वृत्तान्त हैं ॥२५॥ हे मैत्रेयजी ! मैं तुम्हें जो पुराण इस समय
सुना रहा है वह पापपुराण के पश्चात् कहा गया विष्णुव नामक महापुराण है
॥२६॥ इसमें सार्ग, प्रतिसर्ग, वन और मन्वन्तरादि का वर्णन करत हुए सब
केवल भगवान् विष्णु का ही वस कीर्तन किया गया है ॥२७॥

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तर ।

पुराण धर्मशास्त्र च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥२८॥

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रय ।

अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव ता ॥२९॥

ज्ञेया ब्रह्मर्षयः पूर्वं तेभ्यो देवर्षयः पुनः ।

राजर्षयः पुनस्तेभ्य ऋषिप्रकृतयस्त्रय ॥३०॥

इति शाखास्समाख्याताश्शाखाभेदास्तथैव च ।

कर्तारश्चैव शाखानां भेदहेतुस्तथोदित ॥३१॥

सर्वमन्वन्तरेष्वेव शाखाभेदास्समा स्मृताः ।

प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे द्विज ॥३२॥

एतत्ते कथितं सर्वं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।

मैत्रेय वेदसम्बन्धं विमन्यत्कथयामि ते ॥३३॥

सोऽहमिच्छामि तच्छ्रोतु यमस्य वशवर्तिन ।

न भवन्ति नरा येन तत्त्वमं कथयस्व मे ॥७॥

श्री मंत्रेयजी ने कहा—हे गुरो । मेरे समस्त प्रश्न का आपने यथावत् उत्तर दिया है । अब एक बात और सुनने की इच्छा है उसे आप मेरे प्रति कहिये ॥१॥ हे महामुने । इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत जो सात द्वीप, सात पाताल और सात लोक हैं वे सब स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा स्थूल और स्थूलतर प्राणियों से परिपूर्ण हैं ॥२-३॥ एक अंगु का षष्ठभास भी ऐसा नहीं है जहाँ कम क म घन म बंधे हुए जीवों का निवास न हो ॥४॥ परन्तु हे भगवन् । जब आयु का अंत होता है, तब ये सब यम के वश में पड़कर उहाँ के निर्देशन म नरकादि की विभिन्न यन्त्रणाएँ भोगने हैं ॥५॥ फिर पाप भोग के निशेष होने पर उँहे देवादि योनियों में भ्रमण करना होता है—सभी शास्त्र ऐसा कहते हैं ॥६॥ इसलिये, आप मुझे उस कर्म को बताइये, जिस करके मनुष्य को यमराज के वश में नहीं पड़ना होता, मुझे इसी के जानने की इच्छा है ॥७॥

अयमेव मुने प्रश्नो नकुलेन महात्मना ।

पृष्ट पितामह प्राह भीष्मो यत्तच्छ्रुणुष्व मे ॥८॥

पुरा ममागतो बत्स सखा कालिङ्गको द्विज ।

स मामुवाच पृष्ठो मे मया जातिस्मरो मुनि ॥९॥

तेनारयातमिद सर्वमित्य चैतद्भविष्यति ।

तथा च तदभूद्वत्स यथोक्त तेन धीमता ॥१०॥

स पृष्टश्च मया भूय श्रद्धानेन वै द्विज ।

यद्यदाह न तददृष्टमन्यथा हि मया कचिद ॥११॥

एवदा तु मया पृष्टमेतद्यद्भवतोदितम् ।

प्राह कालिङ्गको विप्रस्मृत्वा तस्य मुनेर्वच ॥१२॥

जातिस्मरेण वधितो रहस्य परमो मम ।

यमस्मिद्धरयोर्योऽभूत्सवादस्त श्रवीमि ते ॥१३॥

श्री पराशरजी ने कहा—हे मुने ! ऐसा ही प्रसन्न निजमह भीष्म से
 दाना नष्ट ने दिया था । उन्होंने वस्त्र जो उत्तर दिया, वह तुम्हें बडाया
 है, मुने ॥१॥ भीष्मजी ने कहा—हे वस्य ! पहिने की बात है—मेरे पास
 कनिष्ठ देव का एक ब्राह्मण आया । वह मेरा मित्र था । उसने मुझसे
 कहा—निरे प्रश्न करने पर पूर्वजन्म के कृत्यान्त को जानने वाले एक मुनि ने
 मुझे बडाया था कि यह सब बातें समुद्र-समुद्र प्रकार होंगी । हे वस्य ! उस
 मतिमान ने जो बात जिस प्रकार बडाई, वह उन्ही प्रकार हुई ॥६-१०॥
 इसके उसके प्रति मेरी थडा बड़ गई और मैंने उसके कुछ अन्य प्रश्न किये ।
 उसका भी जो उत्तर उस विप्रदेश ने दिया, उस सबके विपरीत कभी कुछ होता
 मैं नहीं देखा ॥११॥ जो बात मुझने सुनने पूरी है, वही बात एक दिन मैंने
 उस कनिष्ठ वैश्वी ब्राह्मण से पूरी, तब उस ब्राह्मण ने उस मुनि के वचनों का
 स्मरण करते मुझे बडाया कि उस जातिस्मर मुनि ने समस्त और उनके दुर्गों
 के मन्त्र हुए सवाद के अन्त दूरे रहस्य को मुझे सुनाया । उसे ही मैं वैसे का
 मैत्र तुम्हें सुनाता हूँ ॥१२-१३॥

स्वपुण्यमनिबोध्य पागहस्त वदति यनः किं तस्य करं मूने ।
 परिहर मधुनूदनप्रपन्थान्प्रभुरहमन्मृगामर्षावानाम् ॥१४॥
 महममरवराचिरेन धाना यम इति लोकहिताहिते नियुक्तः ।
 हरिगुह्यगोर्जनि न स्वतन्त्रः प्रभवति यममने मनापि विप्र्युः ॥१५॥
 कटकमुकुटकरिकादिभेदैः कलकमभेदनपीप्यते यदैकम् ।
 सुरपद्ममनुवादिकल्पनानिर्हिरनिनानिर्दोषेन तपैरः ॥१६॥
 नितितलपरमार्गबोर्जिनान्ति पुनरपमानि यदैकता धरिण्याः ।
 सुरपद्ममनुवादयस्तयान्ति सुराकमुपेरा सनातनेन तेन ॥१७॥
 हरिममरवराचिताङ्घ्रिपद्मं प्रणमति यः परमायतो हि मर्त्यः ।
 तमपगतसमस्तपापकर्मं ब्रज परिहृत्य ययान्निनाज्यसिद्धम् ॥१८॥
 इति यमवचनं निगम्य पानी यमपुत्रस्तनुवाच धर्मराजम् ।
 वयमम विभो तमस्तद्यानुर्भवति हरेः सन्तु यादयोऽस्त्य नक्तः ॥१९॥

न चलति निजवर्णधर्मतो यः सममतिरात्मसुहृद्विषक्षपक्षे ।

न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः सितमनस तमवेहि विष्णुभक्तम् २०

कलिकलुपमलेन यस्य नात्मा विमलमतेर्मलिनीकृतस्तमेनम् ।

मनसि कृतजनार्दनं मनुष्य सततमवेहि हरेरतीवभक्तम् ॥२१॥

कालिंग ने कहा—यमराज ने अपने अनुचर को हाथ पाश धारण किये
 बैसकर, उसके कान में कहा—हे अनुचर ! मैं भगवान् विष्णु के प्रभक्तों का
 ही स्वामी हूँ, इसलिये भगवान् के शरणागतों को मत एकड़ना ॥१४॥ देवताओं
 के पूजनीय विधाता ने मुझे 'यम' नामक पद देकर लोको के पाप-पुण्य के
 विचारार्थ नियुक्त किया है । मैं अपने गुरु श्रीहरि के आश्रित हूँ, स्वतन्त्र नहीं
 हूँ । वे भगवान् श्रीहरि मुझ पर भी शासन करने में समर्थ हैं ॥१५॥ जैसे एक
 ही स्वर्ण बटक, मुनुट, बलिबादि के भेद से अनेक रूप वाला दिखाई देता है,
 वैसे ही एक ही श्रीहरि के देवता, मनुष्य और पशु प्रादि के रूप में नाना भेद
 बन्वित किये जाते हैं ॥१६॥ जैसे वायु के शान्त होने पर, उससे उड़ते हुए
 परमाणु भूमि में गिर जाते हैं, वैसे ही गुणों के शोभ से उत्पन्न हुए सब देव,
 मनुष्य, पशु प्रादि अन्त में उसी सनातन ब्रह्म में लीन हो जाते हैं ॥१७॥ जो
 मनुष्य देवताओं द्वारा पण्डित भगवान् के परम ब्रह्म की वन्दना परमार्थ बुद्धि
 से करता है, वह पृथाद्विनि से प्रदीप्त अग्नि के समान पाप-अपमय से छूट जाता
 है । तुम ऐसे पुरुष को दूर से देखकर ही वहाँ से चल देना ॥१८॥ यमराज की
 बात सुनकर पाशाधारी उस यमदूत ने उनमें प्रवृत्त—हे विभी ! सबके स्वामी
 भगवान् श्रीहरि का भक्त किस प्रकार का होता है, वह मुझे बताने की इच्छा
 कीजिये ॥१९॥ यमराज ने कहा—जो अपने वर्णाश्रम धर्म से विचलित नहीं
 होता, अपने गृहों और धैर्यों में मगान भाव रखता है, विभी के धन का
 हरण नहीं करता तथा किसी भीव की हिंगा में प्रवृत्त नहीं होता, उग स्वयं
 वित्त मनुष्य को भगवान् विष्णु का भक्त समझे ॥२०॥ जिस स्वयं बुद्धि का
 वित्त बलिगुण के ब्रह्मण से मिलित नहीं हुआ, जिसने अपने हृदय में सदैव भग-
 वान् श्रीनारायण की धारणा कर रक्ता है, उस मनुष्य को भगवान् श्रीहरि का
 अतीव भक्त मानो ॥२१॥

वनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्ध्या तृणमिव यन्ममवेति वै परस्वम् ।
 भवति च भगवत्पन्न्यचेताः पुरुषवर तमवेहि विष्णुभक्ताम् ॥२२॥
 स्फटिकगिरिगिलामन क विष्णुर्मननि नृणां क च मत्तरादिदोषः ।
 न हि तुहिनमयूखरस्मिपुञ्जे भवति हुताशनदीप्तिव प्रतापः ॥२३॥
 विमलमतिरमत्तरः प्रगान्तङ्गुचिचरितोऽखिलनत्वभिन्नभूतः ।
 प्रियहितवचनोऽन्तमानमायो वनति नदा हृदि तस्य वामुदेव ॥२४॥
 वसति हृदि मनातने च तस्मिन् भवति पुमाञ्छमतोऽप्य मीम्यत्यप ।
 क्षितिरगमनिरभ्यमात्मनोऽन कथयति चारुनयैव शालपोत ॥२५॥
 यमनियमविधूतकन्मपाणामनुदिनमच्युतमक्तमानमानाम् ।
 अपगतमदमानमत्तराणां त्यज भट दूरतरेण मानवानाम् ॥२६॥
 हृदि यदि भगवाननादिराम्ने हरिरनिराह्वगदाधरोऽप्ययात्मा ।
 तदधमयविघातकर्तुं भिन्न भवति कथ मति चान्यकारमर्क ॥२७॥
 हरति परयन निहन्ति जन्तून् वदति तथानृतनिष्पुराणि यच्च ।
 अशुभजननिदुर्मदस्य पुम क्लुपमतेहं दि तस्य नान्त्यनन्त ॥२८॥

जो निर्जन स्थान में पाये स्वर्गों को भी वहाँ बेलकर उसे तिनके के समान मानता है और भगवान् श्रीहरि का अनन्य भाव से निरन्तर चिन्तन करता है, उस मनुष्य को भगवान् का भक्त समझते ॥२२॥ कहीं तो स्फटिक गिला के सुन्य अत्यन्त अमृग भगवान् श्रीहरि और कहीं मनुष्य के मन में सदा बसे रहने वाले राम इत्यादि दीप चन्द्रमा के रश्मिजाल में अग्नि के तेज जैसी गर्मी का रहना कभी भी सम्भव नहीं है ॥२३॥ जो मनुष्य स्वच्छ चित्त, मत्सररहित-हीन, प्रशान्त, पुनीत चरित्र, सब प्राणियों का प्रेमी, मुहूर्त तथा द्वेष की बात कहने वाला, निरभिमान और माया से अलग रहता है, उसके हृदय में भगवान् श्रीवामुदेव का सदा निवास रहता है ॥२४॥ जब वे सनातन भगवान् हृदय में प्रतिष्ठित होते हैं, तब वह मनुष्य ससार के लिये शान्त रूप हो जाता है, जैसे नदीन शालिवृक्ष अपने सौन्दर्य से ही अपने ॥ भरे हुए क्षेत्र रन का मान करा देता है ॥२५॥ हे दूत ! जिनके पाप-समूह यम नियम से नष्ट हो गये और जिनका हृदय निरन्तर भगवान् अव्युत्त में रमा रहता है तथा जिनमें ग्रह

श्रीर मात्सर्यं नाम माय को भी शेष नहीं है, उन मनुष्यों को दूर से छोड़ देना ॥२६॥ जिसके हृदय में खड्ग, दाख, गदा आदि के धारण करने वाले श्रव्ययात्मा श्रीहरि निवास करते हैं, तो उनके निवास से उसके सम्पूर्ण पापों का क्षय हो जाता है । भला सूर्य के स्थित रहते हुए अंधेरा कैसे रह सकता है ? ॥२७॥ पर-धन का प्रपहरण करने वाले, श्राणियों के हिंसक, मिथ्या और बटु भापी प्रथवा प्रद्युम्न कर्मों के करने वाले दुष्ट बुद्धि मनुष्य के हृदय में धनन्त भगवान् कभी भी निवास नहीं करते ॥२८॥

न सहसि परसम्पद विनिन्दा कलुषमतिः कुस्ने सतामसाधुः ।

न जयति न ददाति यश्च सन्त मनसि न तस्य जनार्दनोऽधमस्य ॥२९॥

परमसुहृदि बान्धवे कलत्रे सुततनयापितृमातृभृत्यवर्गे ।

शठमतिरुपयाति योऽर्थतृष्णा तमधमचेष्टमवेहि नास्य भक्तम् ॥३०॥

अशुभमतिरसत्प्रवृत्तिसक्तस्ततमनार्यकुशीलसङ्गमत्तः ।

अनुदिनकृतपापबन्धयुक्तः पुरुषपशुर्न हि वासुदेवभक्तः ॥३१॥

सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान्परमेश्वरस्स एकः ।

इति मतिरचला भक्त्यनन्ते हृदयगते व्रज तान्विहाय दूरात् ॥३२॥

कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ।

भव शरणमितीरयन्ति ये वै त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥३३॥

वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपाते ।

तव गतिरथ वा ममास्ति चक्रप्रतिहतवीर्यबलस्य सोऽज्यलोचय ॥३४॥

जो मतिहीन मनुष्य पराये वैभव से ईर्ष्या करता है, परायी निन्दा में लगा रहता है, सन्तजनों का तिरस्कार करता है, भगवान् श्रीहरि का पूजन नहीं करता प्रथवा दान नहीं देता, उस अधम के हृदय में भगवान् श्रीजनार्दन कभी भी निवास नहीं करते ॥२९॥ जो दुष्ट मति मनुष्य अपने परम सुहृद, बन्धु-बांधव, स्त्री, पुत्र, पुत्री, माता, पिता, सेवकादि के प्रति धन की तृष्णा दिखाता है, उस पाप का धारण करने वाले को तुम कभी भी भगवद्भक्त मत समझना ॥३०॥ जो छोटी बुद्धि वाला मनुष्य मिथ्या कर्मों में लतार रहता है, मनुष्यों के साथ रहता या उन जैसा धारण करता है तथा पाप युक्त

कर्मों के बन्धन में दिनों दिन बँधता जाता है उसे मनुष्य के रूप में पशु ही समझो । ऐसा पुरुष कभी भी भगवान् का भक्त नहीं हो सकता ॥३१॥ तथा भगवान् के हृदय में स्थित होने के कारण, जिनकी एसी स्थिर बुद्धि हो गई है कि मैं और यह सबस्त प्रपञ्च एक मात्र वामुदेव ही हैं उन मनुष्यों को तुम दूर से ही त्याग देना ॥३२॥ जो मनुष्य 'हे पञ्चाक्ष ! हे वासुदेव ! हे विष्णो ! हे धारणेश्वर ! हे अर्च्युत ! हे शङ्ख-चक्र धारण ! हमें शरण दीजिये' इस प्रकार भगवान् को पुकारते हो उन पाप-रहित मनुष्यों को तुम दूर से ही छोड़ देना । ॥३३॥ जिस पुरुषवर के धन्तःकरण में उन धन्यपात्रा भगवान् का निवास रहता है, वह जहाँ तक देखता है, वहाँ तक प्रभु-चक्र के प्रभाव में तुम या मैं अपने बल-वीर्य के क्षीण हो जाने के कारण नहीं पहुँच सकते, क्योंकि वह तो धन्य लोको का अधिकारी है ॥३४॥

इति निजभट्टशासनाय देवो रवितनयस्स किलाह धर्मराजः ।

यम कथितमिदं च तेन तुभ्य कुरुवर सम्यगिदं मयापि चोक्तम्
नकुलैतन्ममास्मात् पूर्वं तेन द्विजन्मना ।

कलिङ्गदेशादभ्येत्य प्रीतेन सुमहात्मना ॥३६॥

मयाप्येतच्चयान्याय सम्यग्बत्स तवोदितम् ।

यथा विष्णुमृते नान्यत्राण सनारसागरे ॥३६॥

किङ्कराः पानदण्डाश्च न यमो न च यातनाः ।

समर्थास्तस्य यस्यात्मा केयवात्मन्वत्स्मदा ॥३७॥

एतन्मुने समाख्यात गीत वैबस्वतेन यत् ।

त्वत्प्रश्नानुगतं सम्यक्किमन्यच्छोतुमिच्छसि ॥३८॥

कालिंग ने कहा—हे कुरु श्रेष्ठ ! सूर्य पुत्र धर्मराज ने अपने दूत को इस प्रकार शिक्षामय आदेश दिया । उस जातिस्मर मुनि ने मुझे यह प्रसंग सुनाया था, जिसे मैंने दयावत् सुनते कहा है ॥३१॥ श्रीधर्मजी ने कहा—हे ननुत्त ! कालिंग देश से आये हुए उस ब्रह्मण ने प्रशन्नता सहित मुझ से यह सब कहा वही थी ॥३६॥ हे बत्स ! जिस प्रकार, इस सगर सागर में केवल भगवान् विष्णु के अतिरिक्त और कोई भी रक्षक जीव का नहीं हो सकता,

वह सब वृत्तान्त यथावत तुमसे कहा है ॥३७॥ जिसका हृदय निरंतर श्री वेशव भगवान् मे लगा है उसका यमराज, उनसे दूत, उनकी वाचा, उनका दरद तथा मातनाएँ कुछ भी अनिष्ट करने मे समर्थ नहीं हो सकते ॥३८॥ श्री पराशरजी ने कहा—हे मुने ! तुमने जो कुछ पूछा था, उससे समाधान स्वरूप मैंने तुम्हें स्वयं यमराज का कथन ही भले प्रकार सुना दिया है । अब और क्या मुनने की इच्छा करते हो, तो कहो ॥३९॥

आठवाँ अध्याय

भगवन्भगवान्देवः ससारविजिगीषुभिः ।
 समाख्याहि जगन्नाथो विष्णुराराध्यते यथा ।१।
 आराधिताच्च गोविन्दादाराधनपरैर्नरैः ।
 यत्प्राप्यते फल श्रोतु तच्चेच्छामि महामुने ।२।
 यत्पृच्छति भवानेतत्सगरेण महात्मना ।
 श्रौतुः प्राह यथा पृष्टस्तन्मे निगदतश्शृणु ।३।
 सगरः प्रणिपत्यैनमौर्वं पप्रच्छ भागवम् ।
 विष्णोराराधनोपायसम्बन्ध मुनिसत्तम ।४।
 फल आराधिते विष्णौ यत्पु सामभिजायते ।
 स चाह पृष्टो यत्नेन तस्मै तन्मेऽखिलं शृणु ।५।
 भौमं मनोरथं स्वर्गं स्वर्गिवन्धं च यत्पदम् ।
 प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम् ।६।
 यद्यदिच्छति यावच्च फलमाराधितेऽयुते ।
 तत्तदाप्नोति राजेन्द्र भूरि स्वल्पमथापि वा ।७।

श्री मंत्रेयजी ने कहा—हे भगवन् ! संसार को जीतने की इच्छा वाले पुरुष भगवान् विष्णु की आराधना किस प्रकार करते हैं, वह मुझे बताइये ॥१॥

हे मुहामुने ! तब भगवान् गोविन्द का आराधन करने पर, उन्हें त्रिज फल की प्राप्ति होती है, उसे भी सुनने की मैं इच्छा करना हूँ ॥१॥ श्री परागर्जी ने कहा—हे मेनेयजी ! तुमने जो प्रश्न किया है, वैसा ही महामा भगव न श्रीवैश्वदेवि से किया था, तब उन ऋषि ने उन्हें जो उत्तर दिया था, वही मैं तुम्हें सुनाता हूँ, सुनो ॥२॥ ८ मुनिवर ! सगर ने उन भृगुवर्गी श्रीवैश्वदेवि को प्रणाम किया और उनसे भगवान् श्री हरि की आराधना-विधि और उसके प्राप्त होने वाले फल के विषय में प्रश्न किया । उनके प्रश्न का श्रीवैश्वदेवि ने जो उत्तर दिया, उस सब को सावधानी से सुनो ॥४-१॥ श्रीवैश्वदेवि ने कहा—भगवान् विष्णु की आराधन करके मनुष्य पृथिवी त्रिपदक सभी मनोरथ, स्वर्ग, स्वर्ग में रहने वालों के लिये भी बन्धनीय ब्रह्मण्ड तथा परम निर्वाणन्द भी पा लेता है ॥६॥ हे राजेन्द्र ! वह जित्-जित् पनबी जितनी अभिलाषा करता है, वह छोटा हो अपवा जितना भी अधिक हो, भगवान् श्री भृगुव की आराधना से उसे भवदय ही सब मिल जाता है ॥७॥

यत्तु पृच्छन्ति भूपान कथमाराध्यते हरि ।
तदहं सकलं तुभ्यं कथयामि निचोद्य मे ॥८॥
वर्णाश्रमाचारवता पुत्रेण परं पुमान् ।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्ततोपकारक ॥९॥
भजन्यज्ञान्यजत्वेन जपन्येन जपनृप ।
निष्कलत्रन्यान्हिनस्त्येन सर्वभूतो यतो हरि ॥१०॥
तन्मात्मदाचारवता पुरुषेण जनादेन ।
आराध्यते स्ववर्णोक्तमनुष्ठानकारिणा ॥११॥
ब्राह्मण क्षत्रियो वंश्य शूद्रश्च पृथिवीपते ।
स्वयमेतत्परो विष्णुमाराधयति नान्यथा ॥१२॥
परापवादं पशुन्यमनृतं च न भाषते ।
अन्योद्वेगं च वापि तोष्यते तेन वेशव ॥१३॥
परदारपरद्रव्यपरहिंनामु यो रतिम् ।
न करोति पुमान्भूष तोष्यते तेन वेशव ॥१४॥

हे मानवेन्द्र ! जो पुरुष किसी देहाारी को ध्येयवा अन्य किसी जीव को पीडित नहीं करता या उसकी हिंसा नहीं करता तब पर श्री केशव भगवान् सदा प्रसन्न रहते हैं ॥१५॥ जो मनुष्य सदा ही देव, ब्राह्मण और गृहजन की सेवा में लगा रहता है, उसमें भगवान् गोविन्द सदा प्रसन्न रहते हैं ॥१६॥ जो सभी प्राणियों का हित किन्तु अपनी सन्तान के सम्पन्न करता है, वह भगवान् श्रीहरि को मुख पूर्वक प्रमन्न कर लेता है ॥१७॥ जिसका मन रागादि दोषों से मयित नहीं हुआ है, उस शुद्धचेता पुरुष पर भगवान् विष्णु सदैव प्रसन्न रहते हैं ॥१८॥ हे नृपदत्त ! शाम्भो ने जिन दिन वर्णाश्रम धर्मों का वर्णन किया है, सन-ठन के आचरण पूर्वक हो मनुष्य उन भगवान् विष्णु की आराधना कर सकता है, अन्य प्रकार में नहीं । १९॥ सगर ने कहा—हे द्विजवर ! अब मैं सभी वर्ण-धर्मों और आश्रम धर्मों को सुनने की इच्छा करता हूँ, आप उन्हें कहने की कृपा करेंगे ॥२०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविद्या नृद्राणां च यथाक्रमम् ।
त्वमेकाग्रमतिर्भूत्वा शृणु धर्मान्मयोदितान् ॥२१॥

दान दद्याद्यजेद्देवान्यज्ञस्त्वाध्यायतत्परः ।
निरयोदकी भवेद्विप्रः कुर्याज्जाग्निरिग्रहम् ॥२२॥

वृत्तर्यं याजयेच्चान्यानन्यान्ध्यापयेत्तथा ।
शुच्यतिप्रतिग्रहादान शुक्रायान्नियायतो द्विज ॥२३॥

सर्वभूतहितं कुर्यान्नाहिन कस्यचिद् द्विज ।
मैत्री समस्तभूतेषु ब्राह्मणस्योत्तम धनम् ॥२४॥

ग्राव्यं रत्ने च पारक्ये समबुद्धिर्भवेद् द्विजः ।
श्रुतावभिगमः पत्न्या अस्यते चास्य पार्थिव ॥२५॥

दानानि दद्यादिच्छातो द्विजेभ्यः क्षत्रियोऽपि वा ।
यजेच्च विविधैर्यज्ञैरधोयीत च पार्थिवः ॥२६॥

शस्त्राजीवो महोरक्षा प्रवरा तस्य जीविका ।
तत्रापि प्रथमं कल्पा पृथिवीपरिपालनम् ॥२७॥

हे राजन् ! तुमो श्रीहरि की आराधना कैसे की जाय, जिगा जो प्रदत्त किया है, वह सभी तुम्हें, यत्सता है, यत्न पूर्वक गुणो । ८॥ यत्नाश्रम धर्म का पालन करने वाला पुरुष ही भगवान् विष्णु की आराधना का अधिकारी है, उसके बिना उनकी प्रसन्नता प्राप्त नहीं हो सकती ॥९॥ हे राजन् ! यज्ञकर्त्ता पुरुष उन्ही भगवान् का यजन करता है, आपस उही का जप करता है तथा परायी हिंसा करने वाला भी उनकी ही हिंसा करता है, क्योंकि भगवान् श्रीहरि सर्व-भूतात्मक है ॥१०॥ इनीतिवे सदाचारी पुरुष को अपने अपने वरुण के धनुषूल धर्म का आचरण करते हुए भगवान् जन्मदान की ही उपासना करनी चाहिये ॥११॥ हे भूपते ! ग्राह्या, दात्रिय, वैश्य, शूद्र सभी अपने अपने वरुण धर्म के पालन पूर्वक विष्णु का आराधन करते हैं, किसी और प्रकार से नहीं करते ॥१२॥ जो किसी की निन्दा, वैशुन्य और मिथ्या भाषण नहीं करता और किसी को खेदजनक वचन नहीं कहता, उस पर भगवान् बड़ाव अवश्य ही प्रसन्न होते हैं ॥१३॥ हे राजन् ! जो परनारी, पर-वन तथा पर हिंसा से कभी भी मन को नहीं लगाता, उससे भगवान् बड़ाव सदा ही समुष्ट रहते हैं ॥१४॥

न ताडयति नो हन्ति प्राणिनोऽन्याश्च देहिन ।

यो मनुष्यो मनुष्येन्द्र तोष्यते तेन केशव ॥१५॥

देवद्विजगुरूणा च शुश्रूपासु सदोद्यत ।

तोष्यते तेन गोविन्द पुरपेण नरेश्वर ॥१६॥

यथात्मनि च पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा ।

हितकामो हरिस्तेन सर्वदा तोष्यते सुखम् ॥१७॥

यस्य रागादिदोषेण न दुष्ट नृप मानसम् ।

विशुद्धचेतसा विष्णुस्तोष्यते तेन सर्वदा ॥१८॥

वर्णाश्रमेषु ये धर्माशिक्षोक्ता नृपसत्तम ।

तेषु तिष्ठन्तरो विष्णुमाराधयति नान्यथा ॥१९॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि वर्णधर्मानशेषत ।

तथैवाश्रमधर्माश्च द्विजवर्यं ब्रवीहि तान् ॥२०॥

हे मानवेन्द्र ! जो मुख्य किसी देहधारी को भगवा धन्य किसी जीव को पीडित नहीं करता या उसकी हिंसा नहीं करता उस पर श्री केशव भगवान् सदा प्रसन्न रहते हैं ॥१५॥ जो मनुष्य सदा ही देव, ब्राह्मण और गुरुजन की सेवा में लगा रहता है, उसमें भगवान् भोविन्द सदा प्रसन्न रहते हैं ॥१६॥ जो सभी प्राणियों का हित चिन्तन धनो सन्तान में समान करता है, वह भगवान् श्रीहरि को मुक्त पूर्वक प्रमन्न कर लेता है ॥१७॥ जिसका मन रागादि बोधों से भगिन नहीं हुआ है, उन मुदुचेता पुरुष पर भगवान् विष्णु सदैव प्रसन्न रहते हैं ॥१८॥ हे नृपवत्तम ! शास्त्रों ने जिन-जिन वर्णाधम धर्मों का वर्णन किया है, उन-उन के आचरण पूर्वक ही मनुष्य उन भगवान् विष्णु की भारापना कर सकता है, अन्य प्रकार से नहीं । १६॥ सखर ने कहा—हे द्विजवर ! जब मैं सभी वर्ण-धर्मों और आश्रम धर्मों को सुनते की इच्छा करता हूँ, आप उन्हें बहने की कृपा करिये ॥२०॥

प्राह्मणक्षत्रियविज्ञा नृद्राणां न यथाक्रमम् ।

त्वमेकाग्रमतिर्भूत्वा शृणु तर्मान्मयोदितान् । २१।

दान दद्याद्यजेद्देवान्यज्ञस्त्वाध्यायतत्परः ।

नित्योदकी भवेद्विप्रः कुर्याच्चान्निपरिग्रहम् । २२।

वृत्त्यर्थं याजयेच्चान्यानन्यान्ध्यापयेत्तया ।

कुर्यात्प्रतिग्रहादानं शुक्रार्थान्नयायतो द्विजः । २३।

सर्वभूतहितं कुर्यान्नाहितं तस्यचिद् द्विजः ।

मैत्री समस्तभूतेषु प्राह्मणस्योत्तमं धनम् । २४।

प्राणिण रत्ने च पारक्ये समबुद्धिर्भवेद् द्विजः ।

अतावभिगमः पत्न्या शस्यते चास्य पापिव । २५।

दानानि दद्याद्विच्छातो द्विजेभ्यः क्षत्रियोऽपि वा

यजेच्च विविधैर्यज्ञैरधीयीत च पार्थिवः । २६।

शस्त्राजीवो महीरक्षा प्रवरा तस्य जीविका ।

तत्रापि प्रथमः कल्पः पृथिवीपरिपालनम् । २७।

श्रीवं ने कहा—मैं जिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सूद्र वर्णों के धर्म को कहता हूँ, उन्हें एकाग्र मन से सुनो ॥२०॥ ब्राह्मण को उचित है कि वह दान करे, यज्ञों से देवताओं का यजन करे, स्वाध्याय करे, नित्य स्नान, तर्पण तथा भग्न्याधानादि कर्मों को करे, ॥२१॥ अपनी वृत्ति के लिये यज्ञ कराये, शिक्षा दे तथा न्याय से उपाजित धन में से ही न्याय के अनुकूल द्रव्य का संचय करे ॥२३॥ कभी किसी का अहित-चिन्तन न करे और सदा सब जीवों के हित में तत्पर रहे । सब प्राणियों से मैत्रि-भाव रखना ब्राह्मण का परम धर्म कहा है ॥२४॥ पराये धन में और पापाण में समान बुद्धि रखे । पत्नी का ऋतु काल में ही सेवन करे, यही ब्राह्मण के लिये उचित कर्म है ॥२५॥ क्षत्रियों का कर्त्तव्य है कि ब्राह्मणों को उनकी इच्छानुसार दान दे, नाना प्रकार के यज्ञों को करे और अध्ययन दीप्त रहे ॥२६॥ वाक्मन्त्राण्यं पूषकं पृथिवीं रक्ष्य करुणा ही क्षत्रिय की श्रेष्ठ आजीविका है, इनमें भी पृथिवी का परिपालन ही सर्वोत्कृष्ट ही है ॥२७॥

घरिन्नीपालनेनैव कृतकृत्या नराधिपा ।

भवन्ति नृपतेरणा यतो यज्ञादिवर्मणाम् ॥२८॥

दुष्टानां नासनाद्राजा सिष्टानां परिपालनात् ।

प्राप्नोत्यभिमतं ह्यलोकान्वर्णमस्या करोति यः ॥२९॥

पाशुपात्य च वागिज्य कृषिं च मनुजेश्वर ।

वैश्याय जीविकां ब्रह्मा ददौ लोकपितामह ॥३०॥

तस्याप्यध्ययनं यज्ञो दानं धर्मश्च दास्यते ।

नित्यनैमित्तिकादीनामनुष्ठानं च वर्मणाम् ॥३१॥

द्विजातिमश्रितं कर्म तादर्थ्यं तेन पोषणम् ।

अथविप्रयजंर्वापि धर्मं काम्द्रुवेन वा ॥३२॥

दूद्रस्य गन्ततिश्चोच सेवा स्वामिन्यमायया ।

धमन्त्ययज्ञो ह्यस्तेय सत्तमङ्गो विप्ररक्षणम् ॥३३॥

पृथिवी का पालन करने में ही राजागण धन्य हो जाते हैं, क्योंकि पृथिवी पर जो यज्ञादि कर्म होते हैं, उनका घरा राजा को भी मिलता है ॥२८॥ जो राजा अपने वर्ण-धर्म के प्रति धात्मावान् होता है, वह दुष्टों को दण्ड और

साधुजन का पालन करने वाले अपने कम के प्रभाव से ही इच्छित लोको को प्राप्त कर लेता है ॥२६॥ हं नरेश्वर ! तोर पितृमह ब्रह्माजी ने वीर्यों के कर्म पशु-पालन, वाणिज्य और कृषि—यह सब प्राजीविका के रूप दिये हैं । ॥२७॥ वैश्य के लिये भी अध्ययन, यज्ञ, दान और नित्य नैमित्तिकादि कर्म करना आवश्यक है ॥२८॥ गृह को द्विजाधिया के प्रयोजनानुसूल कम करना चाहिये, वही उसकी प्राजीविका है इसके प्रतिरिक्त वस्तुधा का क्रय विक्रय या कारीगरी के पाप से जीवमयापन करे ॥२९॥ नम्रता, शौच, सेवा, स्वामि भक्ति, मन्नरहित यज्ञ, अस्तेय सत्त्वय, और वाह्याणु बी रक्षा, गृह के यह प्रमुख वर्तन्य हैं ॥३०॥

दान च दद्याच्छूद्रोऽपि पाकयज्ञं यजेत च ।
 पित्र्यादिव च तत्सर्वं गृह कुर्वीत तेन वै ॥३१॥
 भृत्यादिभरणार्थाय सर्वेषां च परिग्रहः ।
 ऋतुकालेऽभिगमनं स्वदारेषु महीपते ॥३२॥
 दया समस्तभूतेषु तितिक्षा नातिमानिता ।
 सत्यं शौचमनायासो मञ्जलं प्रियवादिता ॥३३॥
 मैत्र्यस्मृता तथा तद्वदकार्पण्यं नरेश्वर ।
 अन्नसूया च सामान्यवर्णानां वधिता गुणा ॥३४॥
 आश्रमाराधना च सर्वेषामेते सामान्यलक्षणाः ।
 गुणास्तथापद्धर्माश्च विप्रादीनामिमाञ्छरुः ॥३५॥
 क्षात्रं कर्म द्विजस्योक्तं वैश्यं कर्म तथापदि ।
 राजन्यस्य च वैश्योक्तं शूद्रकर्म न चैतयोः ॥३६॥
 सामर्थ्यं सति तत्त्याज्यभुजाभ्यामपि पार्थिव ।
 तदेवापदि कर्तव्यं न कुर्यात्कर्मसङ्करम् ॥३७॥
 इत्येते कथिता राजन्वर्णधर्मा मया तव ।
 धर्मानाश्रमिणा सम्यग्ब्रुवतो मे निशामय ॥३८॥

हे राजन् ! गृह के लिये भी दान देना बचिवैश्यदेव, नमस्कार औ मला यज्ञों का अनुष्ठान करना, पितृ आद्यादि नरत्न, अपने आश्रितों के परि

पालनायं सब वशों से घन ग्रहण करना और अपनी ही भार्या में ऋतुगामी होना उचित कर्म है ॥३४-३५॥ हे राजन् ! इनके अतिरिक्त सब जीवों पर दया, तितिक्षा, अमनिता, सत्य, शौच, भगवाचरण, प्रियवादिता, मित्रता, अकृपणता, परदोष दर्शन-शून्यता आदि गुण तो सभी वशों द्वारा समान रूप से पालनीय हैं ॥३६-३७॥ सब वशों के यह सामान्य लक्षण कहे गये, अब इन विप्रादि चारों वशों के आपद्धर्म और गुणों को सुनो ॥३८॥ आपत्ति काल में ब्राह्मण को क्षत्रिय या वैश्य की वृत्ति का अवलम्बन करना उचित है और क्षत्रिय को केवल वैश्य वृत्ति का आश्रय लेना चाहिये । इनको शूद्र वृत्ति का आश्रय लेना कभी भी उचित नहीं है ॥३९॥ जब पुनः समर्थ हो जाय तो इन उपरोक्त वृत्तियों को छोड़ दे, क्योंकि यह तो आपद्काल में ही अवलम्बन करने योग्य है, अन्यथा कर्म सकरत्व की प्राप्ति होगी ॥४०॥ हे राजन् ! इस प्रकार मैंने वशों धर्मों का वर्णन तुम्हें सुनाया, अब आश्रम धर्मों का जो निरूपण करता हूँ उसे यत्न से सुनो ॥४१॥



नवौ अध्याय

वाल कृतोपनयनो वेदाहरणात्स्वरः ।

गुरुर्गृहे वसेद्भूष ब्रह्मचारी समाहितः । १।

शौचाचारव्रतं तत्र कार्यं शुश्रूषणं गुरोः ।

व्रतानि चरतां ब्राह्म्यो वेदश्च कृतबुद्धिना । २।

उभे सङ्घ्ये रविं भूष तथैवाग्निं समाहितः ।

उपतिष्ठेत्तदा कुर्याद् गुरोरप्यभिवादनम् । ३।

स्थिते तिष्ठेद्ब्रजेद्याते नीचैरासीत चासति ।

शिष्यो गुरोर्नृपश्चेष्टप्रतिबुद्ध न सञ्चरेत् । ४।

तेनैवोक्तं पठेद्बेदं नान्यचित्तः पुरस्थितः ।

अनुज्ञातश्च भिक्षाभ्रमश्नीयाद्गुरुणा ततः । ५।

अवगाहेदप. पूर्वमाचार्येणावगाहिताः ।

समिज्जलादिकं चास्य कस्य कस्यमुपानयेत् ।६।

गृहीतग्राह्यवेदश्च ततोऽनुज्ञामवाप्य च ।

गार्हस्थ्यमाविशेत्प्राज्ञो निष्पन्नगुरुनिष्ठितः ।७।

घोरी श्रुति में कहा—ब्राह्मण को उपनयन संस्कार के पश्चात् वेदाध्ययन परायण होकर और ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक गुरु गृह में निवास करना चाहिये । ॥१॥ वहाँ रह कर वह दीव्य और आचार-व्रत का पालन तथा गुरु-सेवा करे और वनादि के पानन पूर्वक स्थिरचित्त से वेदाध्ययन करे ॥२॥ ह राजन् । दोनों सन्ध्याओं में एकाग्रमन से सूर्य और अग्नि की उपासना करे तथा गुरुदेव का भगिषादन करे ॥३॥ जब गुरुजी खड़े हों, तब खड़ा हो जाय, जब बसों तब पीछे-पीछे बसे और जब बैठें तब नीचे बैठ जाय । इस प्रकार करते हुए कभी भी गुरु के विरुद्ध कोई आचरण नहीं करना चाहिये ॥४॥ गुरुजी कहें तभी उनके सामने बैठ कर वेद का अध्ययन करे और जब उनकी आज्ञा हो तब भिक्षा से प्राप्त अन्न का भोजन करे ॥५॥ जब आचार्य उस से स्नान करलें तब स्नान करे और नियम प्रति उनके लिये भगिषा, जल, कुश, पुष्पादि लाकर एकत्र करे ॥६॥ इस प्रकार अपने वेदाध्ययन को पूर्ण करके समिमान दिग्ग्व गुरुजी की आज्ञा प्राप्त करके उन्हें गुरु-दक्षिणा दे और फिर गृहास्थाश्रम में प्रविष्ट हो ॥७॥

विधिनावाप्तदारस्तु घन प्राप्य स्वकर्मणा ।

गृहस्थकार्यमखिलं कुर्याद्भूपालशक्तिनः ।८।

निवाणेन पितृनर्चयेत्तदेवास्तथातिथीन् ।

अन्नं मुनींश्च स्वाध्यायैरत्येन प्रजापतिम् ।९।

भूतानि बलिभिश्चैव वात्सल्येनाखिलं जगत् ।

प्राप्नोति लोकान्पुरुषो निजकर्मसमाजितान् ।१०।

भिक्षाघुजश्च ये केचित्परिव्राट्ब्रह्मचारिणः ।

तेऽप्यत्रैव प्रतिष्ठन्ते गार्हस्थ्ये तेन वै परम् ।११।

वेदाहरणकार्याय तीर्थस्नानाय च प्रभो ।
 अटन्ति वसुधा विप्रा पृथिवीदर्शनाय च ।१२।
 अनिकेता ह्यनाहारा यत्र सायगृहाश्च ये ।
 तेषां गृहस्थ सर्वेषां प्रतिष्ठा योनिरेव च ।१३।
 तेषां स्वागतदानादि वक्तव्यं मधुरं नृप ।
 गृहागतानां दद्याच्च शयनासनभोजनम् ।१४।

हे राजन् ! उस समय विधिवत् किसी योग्य कन्या का पाणिग्रहण करके अपने षण्ण के अनुकूल वृत्ति से द्रव्योपाजन करे तथा अपनी शक्ति के अनुसार व्यापारि कार्य करे ॥८॥ पितरों की पिण्डदानादि से, देवताओं की यज्ञादि के अनुष्ठान से अतिथियों की भक्षण दान से, ऋषियों की स्थाव्याय से, प्रजापति की पुत्रोत्पादन से, भूतों की बलि से, और सम्पूर्ण विश्व की वात्सल्य भाव से सन्तुष्टि करे । अपने इन कर्मों के द्वारा वह पुरुष श्रेष्ठ से श्रेष्ठ लोक को प्राप्त कर लेता है ॥९-१०॥ भिन्नावृत्ति पर निर्भर रहने वाले परित्याजको और ब्रह्मचारियों आदि का आश्रय भी यह गृहस्थाश्रम ही है, इसीलिये इसे सर्वश्रेष्ठ कहा गया है ॥११॥ हे राजन् ! ब्राह्मणगण वेदाध्ययन, तीर्थ स्नान और देव-दर्शन आदि के निमित्त पृथिवी पर भ्रमण करते रहते हैं ॥१२॥ उनमें सजिनका कोई निश्चित घर और भोजनादि की व्यवस्था नहीं होती वे जहाँ साय बाल हो जाता है, वही रात्रि विध्वंसार्थ ठहर जाते हैं । उनका भी आश्रय यह गृहस्थाश्रम ही है ॥१३॥ हे राजन् ! जब ऐसे व्यक्ति घर पर आँ तब उनका भी ठेक बचनो और कुशलदि पूछने से स्वागत करना चाहिये । उन्हें ठहराने की निवास, दध्या, आसन और भोजनादि भी अपने सामर्थ्यानुसार देना चाहिये ॥१४॥

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते ।
 स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ।१५।
 भवजानमहङ्कारो दम्भदर्शकं गृहे सत ।
 परितापोपघातो च पारप्य च न शस्यते ।१६।

यस्तु सम्यक्करोत्येव गृहस्थ परम विधिम् ।
 सर्ववन्धविनिर्मुक्तो लोकानाम्प्राप्त्यनुत्तमान् ॥१७॥
 वयःपरिणतो राजन्कनकृत्यो गृहाश्रमी ।
 पुत्रेषु भार्या निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥१८॥
 पर्णमूलफलाहारः केशश्मशजटाघरः ।
 भूमिधायी भवेत्तत्र मुनिस्सर्वातिथिर्दृष्टः ॥१९॥
 चर्मकाशकुशैः कुर्यात्पश्चिन्नानां तृतीयकः ।
 तद्वतिनपवणं स्नानं शस्तमस्य नरेश्वरः ॥२०॥
 देवताभ्यर्चनं होमस्तर्पणम्यागतपूजनम् ।
 भिक्षा बलिप्रदानं च शस्तमस्य नरेश्वरः ॥२१॥

जिसके घर पर आया हुआ जो अतिथि निराश होकर लौटता है, वह अपने सब पाप कर्म उस गृहस्थ को देकर उसके सभी पुण्यकर्मों को साथ लेजाता है ॥१५॥ अतिथि का अपमान, उसके प्रति गबं और बन्ध का व्यवहार, उसे कोई वस्तु देकर उसका पश्चात्ताप, कटु भाषण प्रपचा उस पर प्रहार करना नितान्त अनुचित है ॥१६॥ इस प्रकार अपने वर्ण-धर्म का भले प्रकार पालन करने वाला गृहस्थ सभी वस्तुओं से छूट कर अयुक्तम लोको में जाता है ॥१७॥ हे राजन् ! जब गृहस्थ धर्म का पालन करते-करते अवस्था डल जाय, तब अपनी स्त्री के पालन का भार पुत्रों को सौंप या उसे भी अपने साथ लेकर वन को प्रस्थान करे ॥१८॥ वहाँ फन, पुष्प, पत्रादि आहार करे, दाढ़ी, मूँछ और जटादि को धारण करे भूमि पर भोज और मुनिवृत्ति से रहना हुआ अतिथि की सेवा में तत्पर रहे ॥१९॥ चर्म, काश और कुशों से ओढ़ने शिथिल के वस्त्र बनावे और तीनों समय स्नान करे ॥२०॥ देवपूजन, हवन, अतिथि-सत्कार, भिक्षा, बलिबंश देव आदि सभी कर्म उसके लिये कर्त्तव्य हैं ॥२१॥

वन्धस्नेहेन गात्राणामभ्यङ्गश्चास्य शस्यते ।
 तपश्च तस्य राजेन्द्र शीतोष्णादिसहिष्णुता ॥२२॥
 यस्त्वेता नियतश्चर्या वानप्रस्थाश्चरेन्मुनिः ।
 स दहत्यग्निवद्दोषास्त्र्येवल्लोकश्च शाश्वतान् ॥२३॥

चतुर्थंश्चाश्रमो भिक्षोः प्रोच्यते यो मनीषिभिः ।

तरय स्वरूप गदतो गम श्रोतु नृणाहंसि ॥२४॥

पुत्रद्रव्यकलत्रेषु त्यक्तस्नेहो नराधिप ।

चतुर्थमाश्रमस्यान गच्छेन्निर्वृतमत्सरः ॥२५॥

धैर्यगिर्यास्त्यजेत्सर्वानारम्भानवनोपते ।

मित्रादिषु समो मैत्रस्समस्तेष्वेव जन्तुषु ॥२६॥

जरायुजाण्डजादीना वाङ्मनःकायवर्मभिः ।

युक्तः कुर्वीत न द्रोह मवंसङ्गाश्च वर्जयेत् ॥२७॥

हे नृपेन्द्र ! वन के तैलो को शरीर न मलना और शीत-गर्मा सहता यह उसकी तपस्या के ही धर्म हैं ॥२४॥ जो वानप्रस्थी इन नियत कर्मों को करता है, वह अपने सभी दोषों को भस्म कर डालता है और तब उसे निम्न लोको की भांति होती है ॥२३॥ अब मैं उस चतुर्थ आश्रम का वर्णन करता हूँ, जिसे शानीजन भिक्षु-आश्रम कहते हैं, तुम उसे सावधान चित्त से ध्रुवण करो ॥२४॥ हे राजन् ! तीसरे आश्रम के पश्चात् पुत्र, धन और स्त्री आदि को प्रीति को छोड़ कर और मात्सर्य-रहित होकर चौथे आश्रम में प्रवेश करना चाहिये ॥२५॥ हे अवनोपते ! भिक्षु को धर्म, धर्म और काम रूपी त्रिवर्ण विषयक सब कर्मों का नितान्त त्याग करना चाहिये । शत्रु-मित्रादि के प्रति समता का भाव तथा सभी जीवों के मुद्वेदता यह उसके आवश्यक कर्तव्य हैं । ॥२६॥ निरन्तर समाहित रहे । जरायुज, जण्डुज, स्वेदज आदि सब प्राणियों से वन, वचन, कर्म से द्वेष न करे और सब प्रकार की वासनाओं का त्याग करे ॥२७॥

एकरात्रस्थितिग्रमि पञ्चरात्रस्थितिः पुरे ।

तथा तिष्ठेद्यथाप्रीतिर्द्वेषो वा नास्य जायते ॥२८॥

प्राणयानानिमित्तं च व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।

काले प्रशस्तवर्णानां भिक्षार्थं पर्यटेद् गृहात् ॥२९॥

कामः क्रोधस्तथा दर्पमोहलोमादयश्च ये ।

तास्तु सर्वान्परित्यज्य परिव्राड् निर्ममो भवेत् ॥३०॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ।
तस्यापि सर्वभूतेभ्यो न भयं विद्यते कचित् ॥३१॥
कृत्वान्निहोत्रं स्वगरीरसंस्थं

आरीरमग्निं स्वमुखे जुहोति ।

विप्रस्तु मैक्ष्योपहितर्हंविभि-

श्चित्ताग्निकानां व्रजति स्म लोकान् ॥३२॥

भोक्षाश्रमं यश्चरते ययोक्तं

द्युचिस्मुखं कल्पितबुद्धियुक्तः ।

अतिन्धनं ज्योतिरिव प्रशान्तः

स ब्रह्मलोकं श्रयते द्विजातिः ॥३३॥

ग्राम में एक रात्रि तथा नगर में पाँच रात्रि निवास करे और इतने दिन भी इस प्रकार रहे, जिससे किसी से द्वेष अथवा प्रीति न हो सके ॥३२॥ जब घरों में चूल्हा उठा होजाम और घर के सब लोग भोजन कर चुकें सब प्राण रक्षा के निमित्त ऊँचे वणों में से किसी के यहाँ जाकर भिक्षा ले ॥३३॥ पारिव्राजक को काम, क्रोध, दुर्ष, मोह, लोभ आदि का त्याग करके समतल-रहित होना चाहिये ॥३०॥ सभी प्राणियों को धर्म्य प्रदान करता हो जो मुनि पृथिवी पर बिचरण करता है, उसे भी कभी किसी से भय प्राप्त नहीं होता । ॥३१॥ चतुर्थ आश्रम स्थित जो ब्राह्मण अपने देह में स्थित प्राणादि के उद्देश्य से ही अपने मुख में भिक्षान्न स्वी हवि को जठराग्नि में होमता है, उसके कारण उसे अग्नि होत्रियों के लोकों की प्राप्ति होती है ॥३२॥ जो ब्राह्मण बुद्धियोग वाला होकर विधिवत आचरण करता हुआ, भोक्षाश्रम का पालन करता और त्रिना ईंधन की अग्नि के समान शान्त होता है, उसे भन्त में ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है ॥३३॥



दशवीं अध्याय

वथित चतुराथम्य चातुर्वर्ण्यक्रियास्तथा ।
 पु स क्रियामह श्रोतुमिच्छामि द्विजसत्तम ॥१॥
 नित्यनैमित्तिका काम्या क्रिया पु सामशेषत ।
 समाख्याहि भृगुश्रेष्ठ सर्वज्ञो ह्यसि मे मत ॥२॥
 यदेतदुक्तं भवता नित्यनैमित्तिकाथयम् ।
 तदहं कथयिष्यामि शृणुष्वैकमना मम ॥३॥
 जातस्य जातकर्मादिक्रियाकाण्डमशेषत ।
 पुनस्य कुर्वीत पिता श्राद्धं चाम्युदयात्मकम् ॥४॥
 युग्मास्तु प्राङ्मुखान्विप्राभोजयेन्मनुजेश्वर ।
 यथा वृत्तिस्तथा कुर्याद्दिवं पित्र्यं द्विजन्मनाम् ॥५॥
 दध्ना यवैः सबदरैर्मिश्रान्पिण्डान्मुदा युत ।
 नान्दीमुखेभ्यस्तीर्थेन दद्याद्देवेन पार्थिव ॥६॥
 प्राजापत्येन वा सर्वमुपचारं प्रदक्षिणाम् ।
 कुर्वीत तत्तथाशेषवृद्धिवालेषु भूपते ॥७॥

सगर ने कहा—हे द्विजवर । आपने चारों आधम और चारों वर्णों के कर्म मेरे प्रति कहे, अब मैं आपके श्रीमुख से मनुष्यों के कर्मों को श्रवण करना चाहता हूँ ॥१॥ हे भृगवर । आप सवन हैं, इसलिये कृपया मनुष्यों के नित्य-नैमित्तिक और काम्यादि समस्त कर्मों को मुझसे कहिये ॥२॥ श्रीव ने कहा—आपने नित्य-नैमित्तिक आदि के विषय में प्रश्न किया, उसे सबको कहता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥३॥ पिता को पुन का ज म होने पर उसके सघ जाति कर्मादि संस्कार तथा चाम्युदयात्मक श्राद्ध करना उचित है ॥४॥ युगम ब्राह्मणों को पूव की ओर मुख करके बिठावे और भोजन करावे तथा द्विजातियों के अनुकूल व्यवहारानुसार देवता और पितरों की वृत्ति के लिये श्राद्ध करे ॥५॥ तथा देवतीष द्वारा नादीमुख पितरों को दही, जौ और बदरीफल के मिश्रित पिण्ड दे ॥६॥ अथवा वनिष्ठिका के मूल में जो प्राजापत्यतीथ बहा है, उससे

इव उपचार इत्यो का दान करे । इसी प्रकार सब वृद्धिकालों में करना चाहिये ॥७॥

ततश्च नाम कुर्वीत पितृव दशमेऽहनि ।
 देवपूर्वं नरास्य हि अमं वर्मादिमयुनम् ॥८॥
 अमेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसत्रयम् ।
 गुप्तदामात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥९॥
 नार्यहीनं न चाशन्तं नापद्यदयुतं तथा ।
 नामङ्गल्यं जुगुप्स्य वा नाम कुर्यात्प्रमाक्षरम् ॥१०॥
 नातिदिर्घं नातिह्रस्वं नानिगुर्वक्षरान्वितम् ।
 सुप्तोच्चार्य तु तन्नाम कुर्याच्चत्प्रवणाक्षरम् ॥११॥
 ततोऽनन्तरमस्कारमस्कृतो गुरुवेश्मनि ।
 यथोक्तविधिमाश्रित्य कुर्याद्विद्यापतिग्रहम् ॥१२॥
 गृहीतविद्यो गुरवे दत्त्वा च गुरुदक्षिणाम् ।
 गार्हस्थ्यमिच्छन्भूपाल कुर्याद्धारपतिग्रहम् ॥१३॥
 ब्रह्मचर्येण वा कालं कुर्यात्प्रवत्पपूर्वकम् ।
 गुरोर्दगुश्रूण कुर्यात्तत्पुनादेरथापि वा ॥१४॥
 वैखानसो वापि भवेत्परिवाडय वेष्टया ।
 पूर्वसङ्कल्पितं यादृक् तादृक्कुर्यान्नराधिप ॥१५॥

जन्म के दसवें दिन पिता अपने पुत्र का नामकरण करे । नाम के पहिले देव वाचक शब्द और फिर वहाँ सप्तक शर्मा, वर्मा आदि लगावे ॥८॥ ब्राह्मण के नाम में शर्मा, क्षत्रिय के नामान्त में वर्मा और वैश्य के लिये गुप्त और शूद्र के लिये दान शब्द का प्रयोग करे ॥९॥ जो नाम रखा जाय वह अर्थहीन, अपशब्द वाला अमानसिक अथवा कुत्सित नहीं होना चाहिये और उसके अक्षरा ममानता होनी चाहिये ॥१०॥ बहुत बड़ा, बहुत छोटा अथवा कठिन अक्षरों से युक्त नाम भी नहीं रखना चाहिये । जिसका उच्चारण सुगमता से हो सके और जिसके पीछे के लघुवर्ण हो, ऐसा नामकरण करे ॥११॥ फिर उपनयन संस्कार होने पर गुरुग्रह में निवास पूर्वक विधिवत् विद्याध्ययन करावे ॥१२॥

हे राजन् ! जन्म वह शिष्य विद्याध्ययन कर चुके तब गुरुजी की दक्षिणा देकर यदि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहे तो विधि पूर्वक विवाह करे ॥१३॥
गृहस्थाश्रम-प्रवेश की इच्छा न हो तो सन्यास ग्रहण करे । हे राजन् ! इसमें विचार पूर्वक जैसा निश्चय किया गया हो, बन्नी करना चाहिये ॥१४-१५॥

वर्षेरेकगुणा भार्यामुद्वहेत्त्रिगुणस्स्वयम् ।

नातिकेसामकेशा वा नातिवृष्णा न पिङ्गलाम् ॥१६॥

निसर्गतोऽधिकाङ्गी वा न्यूनाङ्गी मपि नोद्वहेत् ।

नाविशुद्धा सरोमा वाकुलजा वापि रोगिणीम् ॥१७॥

न दुष्टा दुष्टवाक्या वा व्यङ्गिनी पितृमातृत ।

न दम्भुव्यञ्जनवती न चैव पुस्पामृतिम् ॥१८॥

न घर्षरस्वरा क्षामा तथा काकस्वरा न च ।

नानिवन्धेक्षणा तद्वद्वृत्ताक्षी नोद्वहेद्बुध ॥१९॥

यस्याश्च रोमशे जङ्घे गुल्फी यस्यास्तथोन्नती ।

गण्डयो कूपरी यस्या हसन्त्यास्ता न चाद्वहेत् ॥२०॥

नातिरूक्षच्छर्वि पाण्डुकरजामरूपेक्षणां ।

आपीनहस्तपादा च न कन्यामुद्वहेद् बुध ॥२१॥

यदि विवाह की इच्छा हो तो तृतीयान्त आयु की कन्या का पाणिग्रहण करे । वह अधिक केश वाली अथवा छल्पकेश वाली भी न हो, अधिक साँवली या पारङ्गु वर्ण वाली स्त्री को ग्रहण न करे ॥१७॥ दुष्ट स्वभावी, कड़वे वचन बोलने वाली अगद्दीना, भूँछी वाली, पुरुष जैसी आकृति वाली, घर्षर शब्द वाली, अत्यन्त भिखी हुई जुवान या बीए जैसी शब्द वाली, दम्भशून्या अथवा वृत्ताकार नेत्र वाली स्त्री के साथ विवाह न करे ॥१८-१९॥ जाँघों पर रोम वाली, ऊँचे टखने वाली और हँसते समय जिनके कपोलों में गड्ढे पड़ जाते हो, उस स्त्री के साथ भी विवाह करना अनुचित है ॥२०॥ मसीन कान्ति वाली, पीले नख वाली, लाल नेत्र वाली, भारी हाथ-पाँव वाली कन्या भी विवाह के लिये त्याग्य समझे ॥२१॥

श्रूयता पृथिवीपाल सदाचारस्य लक्षणम् ।
 सदाचारवता पुंसां जितौ लोकावुभावपि ॥२॥
 साधव क्षीणदोषास्तु सच्छब्द साधुवाचक ।
 तेषामाचरणं यत्तु सदाचारस्म उच्यते ॥३॥
 सप्तयंयोऽथ मनव प्रजानां पतयस्तथा ।
 सदाचारस्य वर्त्तार कर्त्तारश्च महीपते ॥४॥
 ब्राह्मं मुहूर्तं चोत्थाय मनसा मतिमान् नृप ।
 प्रबुद्धश्चिन्तयेद्धर्ममर्थं चाप्यविरोधिनम् ॥५॥
 अपीडया तयो काममुभयोरपि चिन्तयेत् ।
 दृष्टादृष्टविनाशाय निवर्गे समदर्शिता ॥६॥
 परित्यजेदर्थकामौ धर्मपीडाकरौ नृप ।
 धर्ममप्यसुखोदकं लोकविद्विष्टमेव च ॥७॥

सगर बोले—॥ मुने । अब मैं गृहस्थ के सदाचारों को सुनने की इच्छा करता हूँ, जिनका आचरण करने वाला मनुष्य इहलोक और परलोक से पतन को प्राप्त नहीं होता ॥१॥ श्रीव ने कहा—हे राजन् । अब अपने प्रश्न के अनुसार सदाचार के लक्षण सुनो । उसका पालन करने वाला मनुष्य इहलोक परलोक दोनों का जीतने वाला होता है ॥२॥ सत् शब्द का अर्थ साधु होता है और दोष-रहित को ही साधु कहते हैं । उस साधु पुरुष का आचरण ही सदाचार कहा गया है ॥३॥ हे पृथिवीपते । इस सदाचार के कहने वाले तथा इसका पालन करने वाले सप्तपि, मनु तथा प्रजापति हैं ॥४॥ हे राजन् । मतिमान् पुरुष का स्वस्थ चित्त से ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर अपने धर्म तथा धर्म काय में बाधक विषयो पर विचार करना चाहिये ॥५॥ और उस काय का भी विचार करे जिससे धर्म और धर्म की हानि न हो । इस प्रकार दृष्टादृष्ट अनिष्ट की शान्ति के लिये धर्म, धर्म और काम—इन तीनों के प्रति समभावी हो ॥६॥ धर्म के विरुद्ध जो धर्म और काम हैं उनका त्याग करे और ऐसे धर्म को छोड़ दे जो आगे चल कर दुःख हो जाय अथवा समाज के विरुद्ध हो ॥७॥

तत कल्प ममुन्धाय वृषन्मूत्र नन्धर ।
 दैष्ट्यामिषुप्रिषपमतीत्याम्प्रविव नुव ॥१॥
 दूरादावगयान्मूत्र पुरीष च रिमर्जयेत् ।
 पादाग्नेजनोच्छिष्टं प्रक्षिपेत् गृहाक्षर ॥२॥
 आत्मन्दाया तन्दाया गोमूर्यान्निनाम्नया ।
 गुरुदिजादीन्मु वृषो नायिमैर्द्विधाचन ॥३॥
 न वृष्टे नन्धमये वा गोत्रजे जनममदि ।
 न यमंनि न नद्यादितीर्थेषु पुरीषेभ्य ॥४॥
 नाप्यु नैवाम्भमस्तोरे स्मगाने न समाचरेत् ।
 उत्सर्गं वै पुरीषस्य मूत्रस्य च रिमर्जनम् ॥५॥
 उदङ्मुखो दिवा मूत्र विपरीतमुखो निनि ।
 तृवीतानापदि प्राज्ञा मूत्रा मगं च पार्ष्वेन ॥६॥
 तृगैरास्नीयं यमुषा वक्ष्यप्रातममन्तर ।
 निष्ठप्रातिचिरं तत्र नैव निश्चिदीररेत् ॥७॥

वल्मीकमूषिकोद्भूता मृद नान्तर्जला तथा ।
 शोचावशिष्टा गेहाश्च नादद्याल्लेपसम्भवाम् ॥१५॥
 अगुप्राण्युपपन्ना च हलोत्खाता च पार्थिव ।
 परित्यजेन्मृदो ह्येतास्तकनाशश्चिकर्मणि ॥१६॥
 एका लिङ्गे गुदे तिस्रो दश वामकरे नृप ।
 हस्तद्वये च सप्त स्युर्मृदश्शोचोपपादिका ॥१७॥
 अच्छेनागन्धलेपेन जलेनावुद्बुदेन च ।
 आचामेव मृद भूजस्तयादद्यात्समाहित ॥१८॥
 निष्पादिताद् धृतौ चस्तु पादायन्पुश्च तै पुन ।
 श्रि पिवेत्सलिल तेन तथा द्वि परिमार्जयेत् ॥१९॥
 दीर्यण्यानि तत खानि मूर्धान च समालभेत् ।
 बाहू नाभि च तोयेन हृदय चापि सस्पृशेत् ॥२०॥
 स्वाचान्तस्तु तत कुर्यात्पुमान्वेराप्रसाधनम् ।
 आदर्शाञ्जनमाङ्गाय दूर्वाद्यालम्भनानि च ॥२१॥

हे राजन् ! बाँधी वा मिट्टी, जूहो द्वारा बिन से निवाली हुई, जल के भीतर की, घर लीपन की, पीटी आदि जीभो द्वारा निवाली हुई, हल द्वारा उखाड़ी हुई तथा गोबर कम न खखी हुई मिट्टी का शोच कर्म स काम न ले । ॥१५-१६॥ हे राजन् ! उपरस्थ मे एक बार, गुदा मे तीन बार, बाँए हाथ मे दस बार और दोनों हाथ मे गान बार मिट्टी मगाने से युक्ति होती है ॥१७॥ फिर निर्गंध और वैहीन जल मे धावधन करे और दल पूर्वक अभिर मिट्टी ग्रहण करे ॥१८॥ उमने पाँवो को युक्त करे । नाँव मोन के उपरान्त तीन बार कृत्वा करे और फिर दो बार मुक्त की धोव ॥१९॥ फिर जल ग्रहण करके उठगे इति परः प्र, मुर्छा, बाहू, नाभि और हृदय को स्पर्श करे ॥२०॥ फिर भवे प्रवार स्नान करके बायाँ की मंजारे और धान्यवतागुधार स्पर्श, धवन, दूर्वा आदि मागविव द्रव्यो का विधि पूर्वक प्रयोग करे ॥२१॥

ततस्त्ववर्गधर्मो मृत्युर्ध्वं च धनाञ्जनम् ।

कुर्यात् श्रद्धागन्धो नजेच्च नृपिपीपते ॥२२॥

सोमसंस्था हविस्संस्थाः पाकसंस्थास्तु सस्थिताः ।

घने यतो मनुष्याणां यतेतातो धनार्जने ॥२३॥

नदीनदतटाकेषु देवक्ष्मातजलेषु च ।

नित्यक्रियार्थं स्नायीत गिरिप्रस्रवणेषु च ॥२४॥

कूपेपूदघृततोयेन स्नानं कुर्वीत वा भृवि ।

गृहेपूदघृततोयेन ह्यथवा भुव्यसम्भवे ॥२५॥

घुचिवस्त्रधरः स्नातो देवर्षिपितृतर्पणम् ।

तेषामेव हि तीर्थेन कुर्वीत सुममाहितः ॥२६॥

त्रिरपः प्रीणनार्थाय देवानामपवर्जयेत् ।

ऋषीणां च यथान्यायं सकृद्वापि प्रजापतेः ॥२७॥

पितृणां प्रीणनार्थाय त्रिरपः पृथिवीपते ।

पितामहेभ्यश्च नृणां प्रीणयेत्प्रपितामहान् ॥२८॥

मातामहाय तत्पित्रे तत्पित्रे च समाहितः ।

दद्यात्तर्पणेन तीर्थेन काश्य चान्यच्छृणुष्व मे ॥२९॥

हे राजन् ! इनके पञ्चांग अपने वस्त्र-धर्म के अनुसार आजीविका करे और धनोपार्जन पूर्वक यज्ञादि का अनुष्ठान करे ॥२२॥ सोम सम्प्रा, हविष्मत्स्था और पाकसंस्था—इन सभी धर्मों का आश्रय घन है, इसलिये मनुष्यों को धनोपार्जन करना भी अत्यन्त आवश्यक कर्म है ॥२३॥ नित्य वर्गों का सम्पादन करने के निमित्त पहिले स्नान करना आवश्यक है । इमीन्ध्रे नद्ये, नद्य, तालाव बावही या पर्वत के झरने आदि में स्नान करना उचित है ॥२४॥ प्रथवा कुँए से जल लेकर उमरे निरटवर्ती भूमि पर स्नान करे, यदि वहाँ न करे तो उस जल को अपने घर में लाकर ही उससे स्नान कर ले ॥२५॥ स्नान के पञ्चांग शुद्ध वस्त्र धारण कर देवता ऋषि और चिरों का उन्न-उन्न के तीर्थों से तर्पण करे ॥२६॥ देवताओं और ऋषियों के तर्पण में तीन-तीन बार और प्रजापति के लिये एक ही बार पृथिवी में जल छोड़े ॥२७॥ चिरों और पितामहों भी तृप्ति के लिये भी तीन बार ही जल छोड़ना चाहिये, इसी प्रकार प्रपिता-

महों की तृप्ति करे, मातामह श्रीर उनवे पिता श्रीर पितामह को यत्न पूर्वक तीर्थ जल से प्रसन्न करे । अब मैं वाग्य तर्पण कहवा हूँ, उमे मुनो ॥२८-२९॥

मात्रे प्रमात्रे तन्मात्रे गुरुपत्न्यै तथा नृप ।

गुरुणा मातुलाना च स्निग्धमित्राय भूशुजे ॥३०॥

इदं चापि जपेदम्बु दद्यादात्मेच्छया नृप ।

उपकाराय भूताना कृतदेवादितर्पणम् ॥३१॥

देवासुरास्तथा यक्षा नागगन्धर्वराक्षसा ।

पिशाचा गुह्यकास्सिद्धा कूष्माण्डा पशव सगा ॥३२॥

जलेचरा भूमिलया वाय्वाहाराश्च जन्तव ।

तृप्तिमेतेन या-त्वाशु महत्तेनाम्बुनाखिला ॥३३॥

नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिता ।

तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सन्निभ मया ॥३४॥

ये बान्धवाबान्धवा वा येऽन्य जन्मनि बान्धवा ।

ते तृप्तिमखिला यान्तु ये चास्मत्तोयकाङ्क्षिण ॥३५॥

यत्र कचनसस्थाना क्षुत्तृष्णोपहतात्मनाम् ।

इदमाप्यायनायास्तु मया दत्ता तिलोदकम् ॥३६॥

हे राजन् ! माताको प्रमाता को उसकी माता को, गुरु पत्नी को, गुरु को, मामा को, प्रिय मित्र को अथवा राजा को मरा दिया हुआ यह जल प्राप्त हो इस प्रकार कहता हुआ सब भूतों के लिये देवादि का तर्पण करके अपने इच्छित सम्बन्धी का जल दे ॥३०-३३॥ दैवता, असुर, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, पशु, पक्षी, जलचर, भूमिचर, वायु या वाह्यार करने वाले सब जीव मरे द्वारा दिये गये इस जल से तृप्त हो—ऐसा देवादि के तर्पण में कहे ॥३२-३३॥ सम्पूर्ण नरको में स्थित हुए जो जो जीव विभिन्न प्रकार की यत्नपूर्णा प्राप्त कर रहे हैं, उनकी तृप्ति के लिये जल देता हूँ ॥३४॥ जो मेरे बन्धु हैं अथवा अब धु हैं या पहिले किसी जन्म बन्धु थे या जो मुझ से जन प्राप्ति की इच्छा रखते हैं, वे भी मेरे द्वारा दिये गये इस जल से तृप्त हों ॥३५॥ क्षुधा विषादा में व्याकुल कोई भी प्राणी जहाँ बही भी हो, वे सब मेरे द्वारा दिय गये इस तिल जल से तृप्त हो जाय ॥३६॥

काम्योदकप्रदान ते भयतत्कथित नृप ।
यदृत्वा प्रीणयत्येतन्मनुष्यस्सकलं जगत् ॥३७॥
जगदाप्याग्रनोद्भूत पुण्यमाप्नोति चानघ ।
दत्त्वा काम्योदकं सम्यगेतेभ्यः श्रद्धयान्वितः ॥३८॥
आचम्य च ततो दद्यात्सूर्याय सलिलाञ्जलिम् ।
नमो विवस्वते ब्रह्माभास्वते विष्णुतेजसे ॥३९॥
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मसाक्षिणे ।
ततो गृहाचनं कुर्यादिमीष्टमुरपूजनम् ॥४०॥
जलाभिषेकैः पुष्पैश्च धूपार्चैश्च निवेदनम् ।
अपूर्वमग्निहोत्रं च कुर्यात्प्राम्नाग्रहणं नृप ॥४१॥
प्रजापतिं समुद्दिश्य दद्यादाहुतिं मादरात् ।
गृह्याभ्यः काश्यपायाय ततोऽनुमतये क्रमात् ॥४२॥
तच्छ्रेष्ठं मणिके पृथ्वीपर्जन्येभ्यः क्षिपेत्ततः ।
द्वारे धातुर्विधातुश्च मध्ये च ब्रह्मणे क्षिपेत् ।
गृहस्थं पुरुषव्याघ्रं दिग्देवानपि मे शृणु ॥४३॥

हे राजन् ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे प्रति यह काम्य तर्पण कहा है, जिससे करके मनुष्य सम्पूर्ण विद्वत् की तृप्ति प्रदान कर सकता है, ॥३७॥ घोर है निष्पाप ! इस उपरोक्त प्रकार के जीवों की थढ़ा-भाव से काम्य जन देने के कारण उनके संसार की तृप्ति से होने वाले पुण्य की प्राप्ति होती है ॥३८॥ इस प्रकार तर्पण करने के पश्चात् आचमन करे घोर भगवान् भास्कर जलाञ्जलि प्रदान करे । भगवान् विवस्वान् की नमस्कार है । वह वेद के ज्ञाता और विष्णु तेज के समान धरपन्त तेजोमय हैं । वही विद्वत् के उत्पन्न करने वाले, धरपन्त पवित्र और कर्मों के देखने वाले हैं । यह वह नर जलाभिषेक करे और पुष्प-धूपदि देता हुआ गृह देवता और इष्ट देवता की पूजा करे । हे राजन् ! इसके पश्चात् अग्नि होत्र करना चाहिये, जिसमें प्रथम ब्रह्मजी को, फिर प्रजापति, गृह्य, काश्यप और धनुषि की वमनः भादर भाव ने आहुतियाँ प्रदान करे । ॥३९-४२॥ उसमें शेष रहें हव्य की पृथिवी और पर्जन्य के निमित्त उदक पात्र

में, घाता-विघाता के निमित्त द्वार के दोनों ओर तथा ब्रह्माजी के निमित्त घर के बीच में छोड़े । अब मैं तुम्हें दिग्गणों के पूजन की विधि बतलाता हूँ, ध्यान से सुनो ॥४३॥

इन्द्राय धर्मराजाय वरुणाय तयेन्दवे ।
 प्राच्यादिषु बुधो दद्यादधुतशेषात्मकं बलिम् ॥४४॥
 प्रागुत्तरे च दिग्भागे घन्वन्तरियलिं बुध ।
 नियंपेद्वैश्वदेव च कर्म कुर्यादित परम् ॥४५॥
 वायव्या वायवे दिशु समस्तासु यथादिशम् ।
 ब्रह्माणे चान्तरिक्षाय भानवे च क्षिपेद्वलिम् ॥४६॥
 विश्वेदेवान्विश्वभूतानथ विश्वपतीन्पितॄन् ।
 यक्षाणां च सगुह्यिष्यं बलिं दद्यान्नरेश्वर ॥४७॥
 ततोऽन्यदन्नमादाय भूमिभागे शुचीं बुध ।
 दद्यादशेषभूतेभ्यस्त्वेच्छया सुसमाहित ॥४८॥
 देवा मनुष्या पशवो वयासि
 सिद्धास्तयक्षोरगदैत्यसङ्घा ।
 प्रेता पिशाचास्तरवस्समस्ता
 ये चान्नमिच्छन्ति मयानदत्तम् ॥४९॥
 पिपीलिका कीटपतङ्गकाद्या
 बुभुक्षिता कर्मनिबन्धवद्धा ।
 प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्न
 तेभ्यो विसृष्टं सुखिनो भवन्तु ॥५०॥

पूर्व में इन्द्र के उद्देश्य से, दक्षिण में यम के उद्देश्य से, पश्चिम में वरुण के तथा उत्तर में चन्द्रमा के लिए बची हुई सामग्री से बलि दे ॥४४॥
 पूर्व और उत्तर में घन्वन्तरि के लिये बलि देकर बलिर्वांश देव कर्म करें ॥४५॥

निश्वसतिषो, पितरो धीर यथो के निमित्त बलि प्रदान करे ॥४७॥ फिर भ्रान लेकर पृथिवी पर समाहित मन से बँडे धीर सब प्राणियों के उद्देश्य से बलि द ॥४८॥ और कहे कि देवता, मनुष्य, पशु पक्षी, मित्र यश, सर्प दैत्य, प्रेत, पिशाच, वृक्ष, चीटी, कीट, पतंगादि जो भी जीव अपने अपने कर्मबन्धन में बंध कर क्षुधानुरूप मेरे भ्रान की इच्छा करते हैं, उन सभी के लिये मैं भ्रान प्रदान करता हूँ, वे इस सृष्टि और सुखी हों ॥४९-५०॥

येषा न माता न पिता न बन्धु-

नैवान्निनिष्ठिनं तयान्नमस्ति ।

तत्तृमयेऽनं भुवि दत्तमेतत्

ते यान्तु तृप्ति मुदिता भवन्तु ॥५१॥

भूतानि सर्वाणि तयान्नमेत-

दह च विष्णुर्न ततोऽन्यदस्ति ।

तस्मादह भूतनिवापभूत-

मन्न प्रयच्छामि भवाय तेषाम् ॥५२॥

चतुर्दशो भूतगणो य एव

तत्र स्थिता येऽग्निलभूतसङ्घाः ।

तृप्त्यर्थमन्नं हि मया विमृष्टं

तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥५३॥

इत्युच्चार्य नरो दद्यादन्नं श्रद्धागमन्वित ।

भुवि सर्वोपकाराय गृहो मर्वाश्रयो यतः ॥५४॥

श्रद्धाण्डालविहङ्गानां भुवि दद्यान्मरेश्वर ।

ये चान्ये पतिताः केचिदपुत्रा भन्ति मानवा ॥५५॥

ततो गोदोहमान वै कालं तिष्ठेद् गृहाङ्गणे ।

अनियग्रहणार्थाय तदूर्ध्वं तु ययेच्छया ॥५६॥

अग्नि के माना, पिता, बापवादि नहीं है प्रयथा किसी के पाप भ्रान-
दान का सापन या घमन नहीं है, मैंने उन्हें तृप्त करने के लिये भूमि पर यह
भ्रान रस दिया है, वे इसे ग्रहण करने तृप्त तथा सुखी हों ॥५१॥ समस्त जीव,

मैं तथा यह अन्न—सभी कुछ विष्णु हैं, क्योंकि विष्णु से भिन्न कुछ भी नहीं है। इसलिये सब भूतों के देह रूप इस अन्न को मैं उनकी पुष्टि के निमित्त प्रदान करता हूँ ॥५२॥ इस चतुर्दश प्रकार के भूत समुदाय में जितने भी जीव हैं उन सभी को तृप्त करने के लिये मैं यह अन्न रखा है, इसलिये वे इससे प्रसन्न हो ॥५३॥ इस प्रकार कहता हुआ गृहस्थ पुरुष यज्ञा-भाष पूर्वव सब जीवों के हितार्थ पृथिवी में अन्नदान करे, क्योंकि गृहस्थ ही तो सब जीवों का आश्रय स्वरूप है ॥५४॥ फिर हे राजन् ! स्वान, घाण्डाल, खगगण अथवा अन्य जो-जो भी पतित या दुःखीन आदि पुरुष हो, उन सब की तृप्ति के निमित्त पृथिवी में बनि भाग को रख दे ॥५५॥ फिर गो दहन का समय होने तक या उससे भी कुछ देर तक अतिथि की प्रतीक्षा में घर के आगन में खड़ा रहे ॥५६॥

अतिथिं तत्र सम्प्राप्ता पूजयेत्स्वागतादिना ।

तथासनप्रदानेन पादप्रक्षालनेन च ॥५७॥

श्रद्धया चान्नदानेन प्रियप्रश्नोत्तरेण च ।

गच्छतश्चानुयानेन प्रीतिमुत्पादयेद् गृही ॥५८॥

अज्ञातकुलनामानमन्यदेशादुपागतम् ।

पूजयेदतिथिं सम्यङ् नैकग्रामनिवासिनम् ॥५९॥

अविश्वनमसम्बन्धमज्ञातकुलशीलिनम् ।

असम्पूज्यातिथिं भुक्त्वा भोक्तुं काम व्रजत्यथ ॥६०॥

स्वाध्यायगोत्राचरणमपृष्ट्वा च तथा कुलम् ।

हिरण्यगर्भबुद्ध्या त मन्यताभ्यागतं गृही ॥६१॥

पित्रर्थं चापरं विप्रमेवमप्याशयेन्नृप ।

तद्देश्यं विदिताचारसम्भूतिं पाञ्चयज्ञिकम् ॥६२॥

अन्नाग्रश्च समुद्धृत्य हन्तवारोपवल्पितम् ।

निर्वापभूतं भूपालं श्रोत्रियायोपपादयेत् ॥६३॥

यदि अतिथि मिल जाय तो उसे स्वागत पूर्वव आसन दे और चरण धोकर सत्कार करे और श्रद्धा पूर्वव उसे भोजन कराता हुआ मधुर वाणी से

घातघीत करना हुआ उनके गमनकाल में पीछे-पीछे आकर उसे प्रसन्न करना चाहिये ॥५७-५८॥ जिस व्यक्ति के नाम और निवास स्थान आदि का पता न हो, उसी अनिधि का उत्कार करे । अपने ही ग्राम में निवास करने वाला पुरुष आतिथ्य का पात्र नहीं होता ॥५९॥ जिसके पास कोई सामान न हो, जिससे कोई सम्पन्न न हो, जिसके वशादि का ज्ञान न हो और जो भोजन करने के लिये इच्छुक हो, ऐसे अनिधि का उत्कार न करना या भोजन न कराना अघोषित की प्राप्त कराने वाला है ॥ ६० ॥ अग्रत अनिधि का अग्रयन, गोप, पाचरण, कुन आदि कुछ न पूछे और हिरण्यगर्भ बुद्धि से उसका पूजन करे ॥६१॥ हे राजन् ! अनिधि का उत्कार करने के पश्चात् अपने ही ग्राम के एक अन्य पञ्चांगिक ब्राह्मण की जिसके कुल और पाचरण आदि की जानकारी हो बुझाकर पितर कार्य के लिए भोजन कराये ॥६२॥ उस श्रोत्रिय ब्राह्मण को पहिले ही निवास अलग रहे हुए हस्तधार सज्जन भद्र से भोजन कराना चाहिये ॥६३॥

दत्त्वा च भिक्षाप्रितय परिव्राट्त्रह्यचारिणाम् ।
इच्छया च बुधो दद्याद्विभजे मत्स्यवारितम् ॥६४॥
इत्येतेऽतिथयः प्रोक्ताः प्रागुक्ता भिक्षवश्च ये ।
चतुरः पूजयित्वैतान्पूष पापात्प्रमुच्यते ॥६५॥
अतिथिर्यस्य भग्नाथो गृहात्प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुष्टं न दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥६६॥
घाता प्रजापति शक्रो वह्निर्वंशुगणोज्यंमा ।
प्रविद्यातिथिमेते वै भुञ्जन्तेऽन्न नरेभ्यः ॥६७॥
तस्मादतिथिपूजाया यत्नः सतत नरः ।
स वेदानमथ भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते ह्यतिथिं विना ॥६८॥
ततः स्ववाग्निनोदु खिगमिणीवृद्धवातवान् ।
भोजयेत्संस्तृतान्नेन प्रथमं चरमं गृही ॥६९॥
अभुक्तं नमु चैतेषु भुञ्जन्भुङ्क्तेऽसं दुष्टं नम् ।
मृन्म गत्वा नरः स्तेप्सुभुञ्जाने नरः ॥७०॥

इस प्रकार तीन भिक्षायें देने के उपरान्त यदि शक्ति हो तो परि-
 ब्राजको और ब्रह्मचारियों को भी विमुक्त न करके, उन्हें भिक्षा दे ॥६४॥
 पहिले के तीन (देव, अतिथि, ब्राह्मण) तथा चौथे भिक्षुक मिलकर यह चारो
 अतिथि ही कहे जाते हैं । हे नृप ! इन चारो की पूजा करने से
 मनुष्य सभी पापों से छूट जाता है ॥६५॥ जिसके घर से अतिथि विमुक्त
 लौटता है, उसे यह अपन समस्त पाप देकर उसके सभी शुभ कर्मों को साथ ले
 जाता है ॥६६॥ घाता, प्रजापति, इन्द्र, अग्नि, वसुगण और अयमा—यह सभी
 देवता अतिथि के शरीर में बैठकर उसके साथ भोजन करते हैं ॥६७॥ इसलिये
 अतिथि सत्कार के लिये गृहस्थ पुरुष को सदा धनशील रहना चाहिए । जो
 मनुष्य अतिथि को भोजन कराये बिना, स्वयं ही भोजन कर लेता है वह तो
 केवल पाप का ही भक्षण करता है ॥६८॥ इसके पश्चात् गृहस्थ अपने घर
 में रहने वाली विवाहिता पुत्री, रोगिणी गम्भिणी, वृद्ध और बालको को
 पहिले उस शुद्ध सत्त्वजन्य भक्ष से भोजन करावे और फिर स्वयं भोजन करे ॥६९॥
 जो गृहस्थ इन सबको खिलाये बिना, स्वयं खा लेता है, वह पाप-भक्षक ही
 होता है और अन्त में नरक को प्राप्त होकर श्लेष्म भक्षी कीट होता है ॥७०॥

अस्नाताशी मल भुङ्क्ते ह्यजपी पूयशोणितम् ।
 अशस्कृतान्नमुड्भूय वासादिप्रपण शबृत् ॥७१॥
 अहोमी च वृमीन्भुङ्क्ते अदत्त्वा विपमश्नुते ।
 तस्माच्छृणुष्व राजेन्द्र यथा भुञ्जीत वै गृही ॥७२॥
 भुञ्जानश्च यथा पुंस पापबन्धो न जायते ।
 इह चारोग्यविपुल वलबुद्धिस्तथा नृप ॥७३॥
 भवत्यरिष्टशान्तिश्च वैरिपक्षाभिचारिणा ।
 स्नातो यथावत्कृत्वा च देवर्षिपितृतपंगम ॥७४॥
 प्रसास्तरत्नपाणिस्तु भुञ्जीत प्रयतो गृही ।
 वृते जपे हृते वह्नौ शुद्धवस्त्रधरो नृप ॥७५॥
 दत्त्यातिथिभ्यो विप्रेभ्यो गुरभ्यस्तथिताय च ।
 पुण्यगन्धदास्तमात्यधारी चैव नरेश्वर ॥७६॥

एकवस्त्रधरोऽथार्द्रपाणिपादो महीपते ।

विशुद्धवदन प्रीतो भुञ्जीत न विदिह् मुख ॥७७॥

जो मनुष्य स्नान के बिना ही भोजन कर लेता है, उसे मल भक्षण करने वाला समझो । जप किये बिना भोजन कर लेना रुधिर घोर पूय पान करना है । असम्भृत अन्न का भोजन करने वाला मूत्र पीता है, प्रथवा जो खाद्यक वृद्धादि से पहिन स्वयं भोजन कर लेता है, उसे विष्टा का आहार करने वाला जानो ॥७७॥ हवन किये बिना भोजन करने वाला कीड़ों का और बिना दान किये खा लेने वाला विष का भोजन करता है । इसलिये गृहस्थ जिस प्रकार भोजन करे उस विधि को व्यवस्थ करो । स्नान के अनन्तर शैवताम्र, ऋषियों और पितरों का तपण कर हाथ में श्रेष्ठ रत्न धारण पूर्वक पवित्रता से भोजन करे । जप और अग्नि होत्र के बाद शुद्ध वस्त्र पहिरे तथा अतिथि, ब्राह्मण, गुरुजन और अपने आश्रितों को भोजन कराने के पश्चात् श्रेष्ठ पुष्पमालादि धारण और हाथ पाव प्रक्षालन आदि से शुद्ध होकर भोजन करे और भोजन करते समय भ इषर-उषर दृष्टिपात न करे ॥७८-७७॥

गड्मुखोदह्मुखो वापि न चैवान्यमना नर ।
प्रन्न प्रशस्त पथ्य च प्रोक्षित प्रोक्षणोदकं ॥७८॥
न कुत्सिताहृत नैव जुगुप्सावदसस्मृतम् ॥७९॥
दश्वे तु भक्त शिष्येभ्यः क्षुधितेभ्यस्तथा नृही ।
प्रशस्तशुद्धपाने तु भुञ्जीतानुपितो नृप ॥८०॥
नासन्दिसस्थित पात्र नादेशे च नरेश्वर ।
मानाले नातिसङ्कोर्णे दत्त्वाग्र च नरोऽन्नये ॥८१॥
मन्त्राभिमन्त्रित शस्त न च पर्युषित नृप ।
अन्यत्र फलमूलेभ्यश्शुष्कशाखादिकात्तथा ॥८२॥
तद्वद्वारीतकेभ्यश्च गुडभक्ष्येभ्य एव च ।
भुञ्जीतोदघृतसाराणि न कदापि नरेश्वर ॥८३॥
नाशेष गुरुगोऽस्नीयादन्यत्र जगतीपते ।
मज्जम्बुदधिसपिम्यस्ताक्तम्यश्च विवेकवान् ॥८४॥

अन्यमनस्य भाव को त्याग कर पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख बैठकर पथ्य अन्न को मन्त्रपूत जल छींटे देकर उत्तरा आहार कर ॥७८॥ किसी दुराचारी पुरुष से प्राप्त, घृणोत्पादक या बनि वैश्वदेव आदि तत्कारों में रहित अन्न को त्याग दे तथा अपने भोजन योग्य अन्न में नें कुछ अन्न अपने निम्न अथवा अन्य धुपात अग्निघों को देकर कुछ पान में अन्न रखकर उत्तरा भक्षण करे ॥७९-८०॥ किसी वृत्त आदि के आसन पर स्थित पान में, अयोग्य या लुब्धित स्थान में अथवा असमय में भोजन न करे । प्रथम अग्नि को अन्न का अन्नभाग देकर ही भोजन करे ॥८१॥ मन्त्रपूत, प्रशस्त तथा ताजा अन्न का भोजन कर । परन्तु पल, मूत्र और मूत्रो दास्ताओ के और चटनी या गुठ के पदार्थों के प्रति यह नियम लागू नहीं है । सारहीन पदार्थों का भोजन न करना ही इस कथन का उद्देश्य है ॥८२-८३॥ हे भूपति ! मधु, जल, पूठ, दही, खटू आदि के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ को पूरा ही भक्षण न करे ॥८४॥

अश्नीयात्तन्मयो भूत्वा पूर्वं तु मधुर रसम् ।

लवणाम्ली तथा मध्ये कटुतिक्तादिकास्ततः ॥८५॥

प्राग्द्रव पुरुषोऽश्नीयान्मध्ये कठिनभोजन ।

अन्ते पुनर्द्रवाशी तु बलारोग्ये न मुञ्चति ॥८६॥

अनिन्द्य भक्षयेदित्य वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् ।

पञ्चप्रास महामीन प्राणाद्याप्यायन हि तत् ॥८७॥

भुक्त्वा सम्यगथाचम्य प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ।

यथावत्पुनराचामेत्पाणी प्रक्षाल्य मूलतः ॥८८॥

स्वस्थ प्रशान्तचित्तस्तु कृतासनपरिग्रह ।

अभीष्टदेवताना तु कुर्वीत स्मरणं नर ॥८९॥

अग्निराप्याययेद्वातु पार्थिव पवनेरित ।

दत्तावकाश नभसा जरयत्वस्तु मे सुखम् ॥९०॥

अन्नं बलाभ मे भूमेरपामग्न्यनिलस्थ च ।

भवत्येतत्परिणत ममास्त्वव्याहृत सुखम् ॥९१॥

एकाग्र मन से भोजन करना चाहिये । पहिले मीठे, फिर नमकीन, फिर खट्टे और अन्त में कड़ुधे तीक्ष्ण पदार्थों का भोजन करे ॥८५॥ जो मनुष्य

प्रथम द्रव पदार्थ, गन्ध मे नष्टिन पदार्थ और अन्न मे पुनः द्रव पदार्थ भक्षण करता है, उसके बल और आरोग्य का कभी क्षय नहीं होता ॥८६॥ इन प्रकार घनिष्ठ पदार्थों का वायु के संयम पूर्वक भोजन करे । अन्न का कभी तिर-स्कार न करे । पहिले पाँचघन भोजन रहकर साय, वह वनप्राणों की वृत्ति करने वाले हैं ॥८७॥ भोजन के पश्चात् भोजे प्रकार आचमन करे और पूर्व मा उत्तर की ओर मुख करके हाथों को उनके मूल देव तक धोकर पुनः शिथिल आचमन करे ॥८८॥ फिर स्वस्थ और दान्त मन से आसन पर स्थित हो और अपने दृष्ट देवताओं का ध्यान करे ॥८९॥ प्राणवायु से प्रसीत हुआ जठराग्नि आशान से आशानमय अन्न का परिष्कार करता हुआ मेरी देहगत पापिष तापुओं का पोषण करे जिससे मैं सुखी रहूँ ॥९०॥ यह अन्न मेरे देह मे स्थित पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के रूप की वृद्धि करे तथा इन्हीं चारों तत्त्वों के रूप में हुआ यह अन्न मुझे सुखदायक हो ॥९१॥

प्राणायामममानानामुदानध्यानयोस्तथा ।

अन्नं पुष्टिकरं चास्तु ममाप्यव्याहृतं सुखम् ॥९२॥

अगस्तिरन्निर्वन्दवानलञ्च भुक्तं मयान्नं जरयत्स्वरोषम् ।

सुखं च मे तत्परिणामसम्भवं पृच्छन्त्स्वरोषो मम चास्तु देहे ।

विष्णुस्समस्तेन्द्रियदेहदेही प्रधानभूतो भगवान्पर्ययकः ।

सत्येन तेनात्तमशेषमग्नमारोग्यद मे परिणाममेतु ॥९४॥

विष्णुरत्ता तयैवान्नं परिणामञ्च वै तथा ।

सत्येन तेन मद्भुक्तं जीर्यत्वन्नमिदं तथा ॥९५॥

इत्युच्चार्य स्वहस्तेन परिमृज्य तयोदरम् ।

अनायासप्रदायीनि कुर्यात्किमप्यतन्द्रितः ॥९६॥

सच्छास्त्रादिविनोदेन सन्मार्गादविरोधिना ।

दिनं नयेत्तत्तस्सन्ध्यामुपतिष्ठेत्समाहितः ॥९७॥

यह अन्न मेरे प्राणायाम, तपान, उदान और ध्यान की पुष्ट करे, जिससे मुझे वाया रहित सुख मिल सके ॥९२॥ मेरे भोजन बिजे हुए सब अन्न की अगस्ति नामक अग्नि और ब्रह्मवानल पत्रावे, उनके परिणाम से उरवज्य

होने वाला मुख दें और उमड़े मेरे देह को आरोग्य प्राप्त हो ॥६३॥ देह तथा इन्द्रियादि के अधिष्ठाता केवल भगवान् श्रीहरि ही प्रधान हैं, इस सत्य के प्रभाव से मेरे भोजन का सब अन्न पककर मुझे आरोग्य लाभ करावे ॥६४॥ भोजन करने वाला, अन्न तथा उसका परिपाक—यह सब विष्णु ही हैं । इसी सत्य के प्रभाव से मेरे भोजन विये हुए इस अन्न का परिपाक हो ॥६५॥ इस प्रकार कहकर अपने पेट पर हाथ केरे और यत्न पूर्वक अधिक धन उत्पन्न न करने वाले कार्यों को करने लगे ॥६-॥ दिवस का क्षेप बाल सन् आरोग्य के देखने तथा श्रेष्ठ मार्ग से विरोध न करने वाले विनोदों में वितावे और सायंकाल में यत्नपूर्वक सन्ध्योपासन करे ॥६७॥

दिनान्तसन्ध्या सूर्येण पूर्वामृतैर्युता बुधः ।

उपतिष्ठेत्तथान्याय्य सम्यगाचम्य पार्थिव ॥६८॥

सर्वकालगुपस्थान सन्ध्ययो पार्थिवेष्यते ।

अन्यत्र सूतवाशीचविभ्रमातुरभीतित ॥६९॥

सूर्येणाम्युदितो यश्च त्यक्त सूर्येण व स्वपन् ।

अन्यनातुरभावात् प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ॥७०॥

तस्मादनुदिते सूर्ये समुत्थाय महीपते ।

उपतिष्ठेत्तरस्सन्ध्यामस्वपश्च दिनान्तजाम् ॥७१॥

उपतिष्ठन्ति वै सन्ध्या ये न पूर्वा न पश्चिमां ।

व्रजन्ति ते दुरात्मानस्तामिस्र नरक नृप ॥७२॥

पुनः पाकमुपादाय सायमप्ययनीपते ।

वैश्वदेवनिमित्तं वै परम्यमन्त्रं बलिं हरेत् ॥७३॥

तथापि श्रपणादिभ्यस्तथैवाप्तविसर्जनम् ।

अतिथिं चागतं तत्र स्वशक्त्या पूजयेद् बुधः ॥७४॥

हे राजन् ! सायंकाल में सूर्यास्त से पहिले और प्रातः काल में तारों के अस्त न होने से पूर्व विधिवत् आचमनादि करके सन्ध्योपासन करना चाहिये ॥६८॥ यदि सूतक, अशौच, उन्माद, रोग या भयादि, ये से किसी प्रकार की बाधा न हो तो नित्य प्रति ही सन्ध्योपासन करना चाहिये ॥६९॥ रोग की

तृतीय अंग-प्र० ११]

प्रवस्था के प्रतिरिक्त और कभी भी जो मनुष्य सूर्य के उदयास्त काल में सोता रहता है, उसे प्रायश्चित्त का भागी होना होता है ॥१००॥ इसलिये हे राजन ! गृह्य पुरुष को सूर्योदय होने से पहिले ही उठकर प्रातः कालीन संध्या करनी चाहिये, सायंकालीन संध्या के समय भी मध्योपामन करे, यवन न करे ॥१०१॥ हे राजन ! जो मनुष्य प्रातः कालीन और सायंकालीन मध्यावदन से विरक्त रहते हैं, उन दुरात्मियों को अन्धतामय नरक की प्राप्ति होती है ॥१०२॥ फिर सायंकाल च परिपन्न किं घन्न से गृहिणी मन्त्रहीन बलिर्वन्द्यदेव करे ॥१०३॥ उम समय भी दक्ष्यादि तो घन्न दे और आगत अतिथि का भी धूपनी शक्ति मर पूजन करे ॥१०४॥

पादशौचामनप्रह्वस्वागतोक्त्या च पूजनम् ।
ततश्चाग्नप्रदानेन जयनेन च पार्थिव ॥१०५॥
दिवातिथी तु विमुखे गते यत्पातकं नृप ।
तदेवाष्टगुण पुसन्सूर्योऽति विमुखे यते ॥१०६॥
तत्मात्स्वगक्त्या राजेन्द्र सूर्योऽतिमतिथि नर ।
पूजयेत्पूजिते तस्मिन्पूजितास्सर्वदेवताः ॥१०७॥
अग्नशाकाम्बुदानेन स्वगक्त्या पूजयेत्पुमान् ।
यवनप्रस्तरमहीप्रदानैरथवापि तम् ॥१०८॥
वृत्तपादादिदोषस्तु भुक्त्वा साय ततो गृही ।
गच्छेच्छय्यामस्फुटितामपि दारुमयी नृप ॥१०९॥
नाविद्याना न वै भग्ना नासमा मलिना न च ।
न च जन्तुमयी शय्यामघितिष्ठेदनामृतम् ॥११०॥
शान्त्या दिवि निरक्षस्व याम्यायामथ वा नृप ।
सदैव स्वपथः पुंसो विपरीत तु रोगदम् ॥१११॥
हे राजन ! अतिथि सत्कार में प्रथम पय-पदानन, आमन दान, स्वागत

सूचक विनीत वचन, जोरन तथा शय्या आदि की ध्येयस्था करना उचित है नृप । जो पाप दिन में प्राये हुए अतिथि के सोटने से होता है, उससे अष्ट गुण पाप सूर्योदय के समय प्राये हुए अतिथि के विमुख चने जाने से होता है ॥१०६॥ इति सूर्यास्त काल में प्राये हुए अतिथि का ध्येय ही शक्ति

भर सत्कार करना चाहिये, यशोवि उठवा भूजन होन न सभी देवताओं का पूजन निहित है ॥१०७॥ अथ प्रकार हो सके भोजन के निवेद्य भद्र, राज भयवा जल ही दे, दायन के निवेद्य न हो तो घाम पून विद्या दे भयवा भूमि ही बता दे । तात्पर्य यह है कि यथाशक्ति उभरा गतगार करे ॥१०८॥ हे राजन ! फिर यह गृहस्थ सायकालीन भोजन करे और हाय-नाथ धीवर छिद्रादि से रहित काष्ठमयी धाया पर दायन करे ॥१०९॥ ऐसी धाया पर दायन न करे जो बहुत बड़ी ऊँची-नीची, टूटी भयवा मंली हो या उसमें जीव मरे हों ॥११०॥ दायन के समय पूर्व भयवा दक्षिण की ओर क्षिर रहें, अथ दिशाओं में क्षिर रखना रोग उत्पन्न करने वाला होता है ॥१११॥

श्रुतायुषमरुधस्तस्वपत्न्यामवनीपने ।

पुत्रामर्क्षे शुभे बाले ज्येष्ठायुग्मासु रात्रिषु ॥११२॥

नाद्यूना तु क्षिय गच्छेधातुरा न रजस्वलाम् ।

नानिष्टा न प्रकुपिता न त्रस्ता न च गर्भिणीम् ॥११३॥

नादक्षिणा नाग्यकामा नाकामा नाग्यमोषिताम् ।

धुत्क्षामा नातिभुक्ता वा स्वयं चंभिर्गुणैर्मृत ॥११४॥

स्नातस्नग्न्धधृक्प्रीतो नाध्मात क्षुधितोऽपि वा ।

सकामस्सानुरागश्च व्यवाय पुरुषो ब्रजेत् ॥११५॥

चतुर्दश्यष्टमी चैव तथासा चाथ पूर्णिमा ।

पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसन्क्रान्तिरेव च ॥११६॥

तैलस्त्रीमाससम्भोगी सर्वेष्वेतेषु वै पुमान् ।

विष्णूक्तभोजन नाम प्रयाति नरकं मृत ॥११७॥

अशेषपर्वस्वेतेषु तस्मात्सयमिभिर्बुधैः ।

भाव्य सञ्छास्त्रदेवेज्याध्यानजप्यपरैर्नरैः ॥११८॥

हे राजन् ! ऋतुकाळ को प्राप्त हुई भयभी ही आर्षा से समागत करे । पुस्तिल नक्षत्र में, मुख्य रात्रियों में बहुत रात गये तथा थोड़े समय देख कर ही गरी से समझ करे ॥११२॥ प्रप्रसन्न मन वाली, योगिणी, रजस्वला, अभिलाषाहीन क्रोधवशी, दुःखिनी या धर्मवती के साथ संयति उचित नहीं

है ॥११३॥ जो सरल स्वभाव की न हो, अभिलाषा-हीन या दूसरे पुरुष की कामना वाली हो, भूख से व्याकुल या अधिक भोजन किये हुए हो ऐसी पत्नी अथवा परस्त्री से गमन योग्य नहीं हैं । यदि अपने में भी इन दोषों की स्थिति हो तो उस दशा में भी सगति नहीं करनी चाहिये ॥११४॥ स्नान करके पुष्प-माला तथा गंध सेवनादि से युक्त होकर काम और अनुराग के सहित स्त्री के पास जाय और अतिभोजन करके शयनाश्रय भूषण रहने की अवस्था में सगति न करे ॥११५॥ हे नृपेन्द्र ! चौदश, अष्टमी, अमावस, पूर्णिमा तथा सूर्य की संक्रान्ति—यह सब पर्व-दिन हैं ॥११६॥ इनमें तैल-मर्दन और नारी-संयोग मृत्यु के अनन्तर मज-मूत्र युक्त नरक की प्राप्ति कराने वाला है ॥११७॥ विज्ञान की पुरुषों इन सभी पर्व-दिनों में संपन्न पूर्वक स्तु-शास्त्रों का अध्ययन, देव-यजन, यज्ञानुष्ठान, जप और ध्यानादि कार्य करने चाहिये ॥११८॥

नान्ययोनापयोनौ वा नोपयुक्तौपवस्तथा ।

द्विजदेवगुरुणां च व्यावायी नाश्रमे भवेत् ॥११९॥

चैत्यचत्वरतीर्थेषु नैव गोष्ठे चतुष्पथे ।

नैव ह्मशानोपवने सतिलेषु महीपते ॥१२०॥

प्रोक्तपर्वस्वशेषेषु नैव भूपाल सन्वययोः ।

गच्छेद्ब्रह्मवायं मतिमान्न मूत्रोच्चारपीडितः ॥१२१॥

पर्वस्वभिगमोऽघ्न्यो दिवा पापप्रदो नृप ।

भुवि रोगावहो नृणामप्रशस्तो जलानये ॥१२२॥

परदारान्न गच्छेत्त मनसापि कथञ्चन ।

किमु वाचास्थिवन्धोऽपि नास्ति तेषु व्यवयिनाम् ॥१२३॥

मृतो नरकमभ्येति हीयतेऽत्रापि चायुषः ।

परदाररतिः पुमामिह चामुत्र भीतिदा ॥१२४॥

इति मत्वा स्वदारेषु ऋतुमत्सु बुधो व्रजेत् ।

यथोक्तदोषहीनेषु सकामेष्वनृतावपि ॥१२५॥

गौ, बन्धो आदि निम्न गोत्र और घटोत्र से समावृत्त न करे । औपधि प्रयोग द्वारा भी यह कार्य वर्जित है तथा ब्राह्मण, देवता या गुरु के प्राथम भी

भी सगति करने का निषेध है ॥११९॥ चैत्य वृक्ष के नीचे, पाण्डन, तीर्थ,
पशुशाला, चौराहा, दमजान उपवन और जल भी नारी-मग के निष्ठे निषिद्ध
कहे हैं ॥१२०॥ पहिले बड़े हुए सभी पर्व-दिवसों में, प्रातः भयवा घाम समय
या बल-मूत्र का वेग होने की स्थिति में भी मंथुन-कर्म धर्जित है ॥१२१॥
हे राजन् ! पर्व दिनों का नारी-सग धन को मष्ट करने वाला है, दिन का मंथुन
पाप फल का देने वाला है, पृथ्वी पर मंथुन कर्म रोग-श्रद्ध है तथा जल में बिपा
गया प्रसग भ्रमणल जनक है ॥१२२॥ पर-नारी से तो बारी या मन से भी
सग न करे, क्योंकि ऐसा मंथुन अस्थि-वधन-विहीन अर्थात् अस्थिहीन शरीर—
क्रीडादि की मोति प्राप्त कराने वाला होता है ॥१२३॥ परनारी में आनक्ति
इहलोक और परलोक दोनों स्थानों पर बयावह होती है । इहलोक में भ्रातृ का
ह्रास और परलोक में नरक की प्राप्ति होती है ॥१२४॥ ऐसा यमक कर मति-
मान पुरुष अपनी ही स्त्री से ऋतुकाल में सग करे और यदि किसी समय
विशेष मन हो तो बिना ऋतुकाल के भी स्वनारी-सयोग में प्रवृत्त हो ॥१२५॥



चारहवाँ अध्याय

देवगोब्राह्मणाम्सिद्धान्वृद्धाचार्यास्तथाचंयेत् ।
द्विकाल च नमेत्सन्ध्यामग्नीनुपचरेत्तथा ।१॥
सदानुपहते वस्त्रे प्रशस्ताश्च महीपथी ।
गाछानि च रत्नानि विभृयात्प्रयतो नर ।२॥
प्रस्निग्धमलकेशश्च सुगन्धश्चाख्येपवृक् ।
सितास्सुमनसो हृद्या विभृयाच्च नरस्सदा ।३॥
विचित्रपरस्व न हरेन्नाल्पमप्यप्रिय वदेत् ।
प्रिय च नानृत ब्रूयाद्यान्यदोषानुदीरयेत् ।४॥
नान्यस्त्रिय तथा चैव रोचयेत्पुरुषपथम् ।
न दुष्टं यानमारोहेत्तलच्छाया न सश्रयेत् ।५॥

विद्विष्टपतितोन्मत्तचटुवैरादिकीटकै ।
 बन्धकी बन्धकीभर्तु क्षुद्रानृतकयैस्मह ।६।
 तथातिव्ययसीतैश्च परिवादरतंस्तठै ।
 बुधो मैत्री न कुर्वीत नैव पन्थानमाश्रयेत् ।७।

श्रेवं न कहा—गृहस्थ मनुष्य प्रतिदिन देवता गौ आहाण, मिढगण, गुरुजन और आचार्य का पूजन करे तथा दोना ममय सध्मोपासन और अग्निहोत्रादि कर ॥१॥ समय पूर्वक रहे द्विहीन दो वस्त्र, धंष्ट श्रोपधियां तथा गारुड रत्न को धारण करे ॥२॥ अपने बालों को स्वच्छ और दिक्ने रखे, मुगन्धमय वेशभूषा और मनोहर श्वेत-पुत्रों को धारण कर ॥३॥ किसी के किंचिन् मात्र घन का भी अपहरण या स्वल्प रूप में भी अग्रिय भाषण न करे । मिथ्या बचन प्रिय हो तो भी न बोलने और परदोषों को किसी में न बहे ॥४॥ परनारी में प्रीति न करे, किसी क माय बँद करने न रचि न रखे, निन्दित नवारी में न चँठे और नदी तट की छाया का कभी आश्रय न ल ॥५॥ बुद्धिमान पुष्ट को उचित है कि वह लोकनिन्दित, पतित, उन्मत्त, बट्टों क बैरी या दूरों को पीडित करने वाले पुरुषों के तथा कुलटा, कुपठा के पति, मिथ्याभाषी मर्याद ध्यय करने वाल, परनिन्दा में रचि रखन बात और दुष्टों का साथ कभी मित्रता न करे । निर्जन माग में कभी अनेना न जन ॥६-७॥—

नावगाहेज्जलीषस्य वेगमये नरेश्वर ।
 प्रदीप्त वैश्व न विद्वेत्तारोहेन्द्रिवर सरो ।८।
 न कुर्यादन्तसङ्घर्षं कुण्णोपास न नामिकात् ।
 नानवृतमुत्रो जम्भेच्छ्वानवासी विसर्जयेत् ।९।
 नोच्चैर्हस्तेनशब्दं च न मुञ्चेत्पवनं बुध ।
 नग्नात् श्वादयेन्द्रिन्वात् तृणं न मही तिलेत् ।१०।
 न श्मश्रु भक्षयेन्नोष्टं न मृद्नीपाद्विचक्षण ।
 ज्योतीष्यमेध्यशन्नानि नाभिवोदेन च प्रभो ।११।
 नग्ना परस्त्रिय चंब मूर्यं चास्तमयोदये ।
 न हृद्बुयाच्छिव गन्ध शवगन्धो हि सोमज ।१२।

चतुष्पथं चैत्यतरुं श्मशानोपवनानि च ।

दुष्टस्त्रीसन्निवर्णं च वर्जयेन्निशि सर्वदा ॥१३॥

पूज्यदेवद्विजज्योतिदद्याया नातिक्लमेद्बुधः ।

नैवदशून्याटवी गच्छेत्तथा शून्यगृहे वसेत् ॥१४॥

हे नरेश्वर ! जल प्रवाह के वेग के सामने से कभी स्नान न करे, जलसे हुए घर में कभी न धुमे तथा वृक्ष के शिखर पर भी न चढ़े ॥१३॥ दाँतो का घावस में घर्षण न करे, नासिका को न कुरेदे । बन्द मुँह से जमृहाई लेना, खासना या स्वास छोड़ना वर्जित है ॥१४॥ जोर से न हँसे, पशोवायु का शब्द सहित त्याग न करे, नखों को न चबावे, तिनका न तोड़े तथा भूमि पर न लिखे ॥१५॥ भूँछ-दाँदी के बालों को भी न चबावे, दो ढेलों को परस्पर में न धिसे, तथा निन्दित और अशुद्ध नक्षत्रों का दर्शन न करे ॥१६॥ नानावस्था वाली परनारी को न देखे, उदय या अस्त होते हुए सूर्य के दर्शन न करे, दाब या शव को गन्ध से घुणा न करे, क्योंकि दाब-गन्ध चन्द्रमा का भ्रश है ॥१७॥ चोराहा, चैत्यवृक्ष, श्मशान, उपवन तथा दुष्ट स्त्री की निकटता—इन सब को रात्रिकाल में त्याग दे ॥१८॥ अपने पूजनीय देवता, ब्राह्मण और ज्योतिषों की छाया को कभी भी न लाये तथा सूने जंगल या सूने घर में भी अकेला न रहे ॥१९॥

केशास्थिकण्टकामेध्यबलिभस्मतुपास्तथा ।

स्नानार्द्रं धरणी चैव दूरतः परिवर्जयेत् ॥२०॥

नामार्यानाश्रयेत्काश्चिन्न जिह्वां रोचयेद् बुधः ।

उपसर्पेन्न वै व्याल चिर तिष्ठेन्न वोत्थित ॥२१॥

अतीव जागरस्वप्ने तद्वत्स्नानासने बुधः ।

न सेवेत् तथा शय्या व्यायाम च नरेश्वर ॥२२॥

दष्टिणश्शृङ्गिणश्चैव प्राज्ञो दूरेण वर्जयेत् ।

अवश्याय च राजेन्द्र पुरोवातातपो तथा ॥२३॥

न स्नायान्न स्वपेन्नग्नौ न चैवोपस्पृशेद् बुधः ।

मुक्तकेशश्च नाचामेद्देवाद्यार्चा च वर्जयेत् ॥२४॥

होमदेवार्चनाद्यामु क्रियास्वाचमने तथा ।

नैकवस्त्रं प्रवर्तते द्विजवाचनिके जपे ॥२०॥

नासमक्षसखीलेस्तु सहासीत वयस्वन ।

सद्वृत्तसन्निवर्षो हि क्षणाद्धर्मपि गम्यते ॥२१॥

वेश, अम्बि, वटि, अनुद्ध वस्तु, बलि, नम्य, तुष और स्नान से गीली हुई घृषि को दूर से ही त्याग दे ॥१५॥ अनायं पुरष वा सप्त और कुटिल मनुष्य में श्रावति न करे, मर्ग के समीप में न जाय और नौद खुलने पर देर तक न लेटे ॥१६॥ जगने, सोने, स्नान करने, बैठने, घम्या पर लेटने और व्यायाम करने में अधिक देर न लगावे ॥१७॥ दांत और सींग बाते पशुओं को, भोस को, सामने की बाहु को और ब्रूष को सर्वथा छोड़ दे ॥१८॥ नगा होकर स्नान, शयन और आचमन न करे और बालों को खोल कर आचमन या देव-पूजन ही करे ॥१९॥ हवन, देव-पूजन, आचमन, पुण्याहवाचन और जप में एक बख धारण पूर्वक ही प्रवृत्त न हो ॥२०॥ सयय हृदय पुरुषों का कभी साय न करे । सदाचारो पुद्गो का सदा साय करे, क्योंकि ऐसे मनुष्यों के साथ ठी पावे लगा रहना भी प्रयत्नीय है ॥२१॥

विरोधं नोत्तमैर्गच्छेद्वाधमैश्च मदा दुषः ।

विवादश्च विवादश्च तुल्यमीर्ननृपेप्यते ॥२२॥

नारभेत कर्त्तुं शत्रुशत्रुष्वैव च वर्जयेत् ।

अप्यप्यहानिन्मोदक्या वरेणार्थमिह स्वयेत् ॥२३॥

स्नातो नाङ्गानि सम्मार्जतेस्नानग्राह्या न पाणिना ।

न च निर्घनयेत्केशाध्नाचामेर्चव चोत्थितः ॥२४॥

पादेन नाक्रमेत्पाद न पूज्याभिमुख नयेत् ।

नोत्तासन गुरोरग्रे भजेताविनयान्वितः ॥२५॥

अपमव्यं न गच्छेद्देवाभारचतुष्पद्यान् ।

माङ्गल्यपूज्याश्च तथा विपरीतात्र दक्षिणम् ॥२६॥

सोमार्कान्यम्बुवासूना पूज्याना च न सम्मुखम् ।

कुर्यान्निष्ठोवविष्मूत्रममुलर्गं च पण्डित ॥२७॥

तिष्ठन् मूत्रयेत्तद्वत्पिप्पलपि न मूत्रयेत् १७

श्लेष्मविष्णुमूत्ररक्तानि सर्वदेव न लङ्घयेत् ॥२८॥

श्रेष्ठ अथवा नाच पूरपो स कभी विराध न कर, कपोल विवाद घोर विवाह — यह दानो ही वार्य समान गुरपा से करने उचित हैं ॥२२॥ कसह की वृद्धि न कर, व्यथ वा बेर हो तो उसे भी छोड़ दे । यदि थोड़ी सी हानि उठाने पर भी बेर डी सप मि होती हो तो उपम भूके नहीं ॥२३॥ स्नान करव स्नान से भीगी हुई धोती या हाथ से दह को न शीघ्र खड़े खड़े ही बाला को न भाड़े घोर न आचमन हो कर ॥२४॥ पंर पर १२ न रख, गुरजनों के सामने पाँव न पमारे तथा उनके सामने उन्नासन पर कभी न बैठे ॥२५॥ देव मंदिर, चौतह मंगिलिख द्रव्य और पूज्य पुरुष इनकी बाध रख कर न निकले तथा इनके विपरीतों को दधि घोर रख कर न चले ॥२६॥ च द्रमा, सूय अग्नि जल, वायु और पूज्य व्यक्तियों के समक्ष न धूके और न मल मूत्र विसर्जन करे ॥२७॥ माग में या खड़े होकर मूत्र त्याग न कर और कफ, मल, मूत्र तथा रधिर को न लीये ॥२८॥

श्लेष्मशिक्ष्णान्गिकोत्सर्गो नाश्रकाले प्रशस्यते ।

वलिमङ्गलजप्यादी न होमे न महाजने ॥२९॥

योपितो नावमन्येत न चासा विश्वसेद् बुध ।

न चैवेर्ष्या भवेत्तासु न धिक्कुर्यात्किदाचन ॥३०॥

गङ्गात्यपुष्परत्नाज्यपूज्यान्तन्निवाद्य च ।

न निष्क्रमेद् गृहात्प्राज्ञस्सदाचारपरो नर ॥३१॥

चतुष्पथानमस्कुर्यात्काले होमपरो भवेत् ।

दीनान्मृदुरेत्साधूनुपासीत बहुश्रुतान् ॥३२॥

देवपिपूजकस्सम्यक्पितृपिण्डोदकप्रद ।

सत्कर्ता चातिथीना य स लोवानुत्तमान्प्रजेत् ॥३३॥

हित मित प्रिय काले वश्यात्मा योऽभिभापते ।

स याति लोकानाह्लादहेतुभूतान्नुपाक्षयान् ॥३४॥

धीमानह्वीमान्धमायुक्तो ह्यास्तिको विनयान्वित ।

विद्याभिजनवृद्धाना याति लोवानुत्तमान् ॥३५॥

मोजन, देव-पूजन, मासिक कार्य और जप होषादि के समय या शय्य
पुरषों के समस्त कृपना, छेदनना आदि कर्म न करे ॥२६॥ स्त्रियों का घनमान,
उनके ईर्ष्या, सनका विस्वाह न करे और न उन्हें निन्दित ही करे ॥२७॥
मासिक द्रव्य, पुष्प, रत्न, घृत तथा पूज्य पुरुषों का अभिवादन बिना
बुद्धिमान जन अपने घर से बाहर नहीं जाते ॥२८॥ मार्ग चलन में चौराहा को
नमस्कार करे, ममय हान पर हवन करे, दीनों का उद्धार करे और बहुभूत
छापुषों को सगति में रहे ॥२९॥ जो पुरुष दयताओं और श्रद्धियों का पूजन,
पितरों को पिण्डोदक-दान तथा अतिथि का मत्कार करता है वह पुण्यलोको
को प्राप्त होता है ॥३०॥ जो पुरुष इन्द्रियों को जीत कर समय के अनुसार
शिवकारी, अन्न और धिय धनन कहना है, वह आहार के इष्टमूल अक्षय मोक्षों
में जाता है ॥३१॥ जो पुरुष बुद्धिमान, सज्जावान्, दयावान् आस्तिक और
विनम्र होना है, वह विद्वान् और कुलीन पुरुष के साथ श्रेष्ठ लोका को
प्राप्त होता है ॥३२॥

अकालगजितादी च पर्वम्वागौचकादिषु ।
अनध्यायं बुधं कुर्यादुपरागादिके तथा ॥३३॥
शमं नयति यः ऋद्धान्पर्वबन्धुरमन्तरा ।
मीनाश्वासनदृत्तापुस्त्वर्गस्तम्यान्पक्व फलम् ॥३४॥
वर्षातिपादिषु नृत्तरी दण्डी रात्र्यटवोपु च ।
शरीरप्राणकामो वै मीपानन्कम्भदा व्रजेत् ॥३५॥
तोर्ध्वं न तिर्यङ्मूर्ध्नि वा न पश्यन्पयंटेद् बुधः ।
मुग्धमात्रं महीपृष्ठं नरो गच्छेद्विलोकयन् ॥३६॥
दोषहतमरोषाश्च ब्रह्मात्मा यो निरम्यति ।
तस्य धर्मायं वामाना हानिर्नाम्नापि जायते ॥३७॥
तदाचाररत्नं प्राज्ञा विद्याविनयनिक्षिप्तं ।
पापः प्रपाप परये त्वभिघत्ते प्रियारिणि यः ।
मैत्रीद्रवान्तं वरममस्तस्य मुक्तिं करे स्थिता ॥३८॥
ये नामक्रीडलोभाना वीतरागा न मोचरे ।
मदाचारिण्यनाम्येपामनुभावेवृत्ता महौ ॥३९॥

प्रसन्न में मेघ-मार्जन कर रहे हों, पर्व-दिन हो शशीचक्राल या चन्द्र-सूर्यग्रहण का अवसर हो, ऐसे समय में बुद्धिमात्र पुष्प की अध्ययन नहीं करना चाहिये ॥३६॥ जो पुष्प क्रोध में भरे हुए के क्रोध को शान्त करने वाला, डरे हुए को शान्तवना देने वाला, मत्सरता-रहित, ममी का वन्धु एवं साधु स्वभाव है, उसके लिये तो अत्यल्प फल समझो ॥३७॥ देह-रक्षा की कामना वाले पुष्प को वर्षा या धूप के समय छाता धारण करना चाहिये, रात्रिकाल में अथवा वन में जाय तो हाथ में दण्ड लेले और जड़ जहाँ कहीं भी जाना हो तो सदा जूते पहिन कर जाय ॥३८॥ ऊपर की ओर, इपर-उपर अथवा दूरस्थ पदार्थों की देखता हुआ न बने, केवल धार हाथ तक पृथ्वी को देखते हुए चलना चाहिये ॥३९॥ जो पुष्प इन्द्रियों को बंध में करके दीप-प्राप्ति के सभी साधनों का श्याम करता है, उसके धर्म, धर्म और काम का किंचित मात्र भी क्षय नहीं होता ॥४०॥ जो पापी के प्रति भी पारम्य व्यवहार न करनेवाला पुष्प विद्या, विनय, सदाचार और ज्ञान से सम्पन्न है तथा अपना अन्तःकरण मित्रता से द्रवीभूत रहने के कारण जो कुटिल पुष्पी से भी प्रिय भाषण करता है, मोक्ष सदा उसके हाथ में स्थित रहती है ॥४१॥ जो रागादि से विरक्त हुए महापुरुष, काम, क्रोध और लोभादि के बंध में कभी न पड़ कर सदैव सदाचार में तत्पर रहते हैं, उन्हीं के प्रभाव से यह पृथ्वी टिकी हुई है ॥४२॥

तस्मात्सत्यं वदेत्प्राज्ञो यत्परप्रीतिकारणम् ।

सत्यं यत्परदुःखाय तदा भीनपरो भवेत् ॥४३॥

प्रियमुक्तं हित नैतदिति मत्वा न तद्वदेत् ।

श्रेयस्तथ हित वाच्यं यद्यप्यत्यन्तमप्रियम् ॥४४॥

प्राणिनामुपकाराय यथैवेह परत्र च ।

कर्मणा मनसा वाचा तदेव मतिमान्भजेत् ॥४५॥

इस प्रकार सभी ज्ञानी पुष्पों का कर्त्तव्य है कि वह उसी प्रकार वा सत्य बोलें, जिससे दूसरों को सुख मिले । यदि किसी उत्पन्न वाक्य से दूसरों का ग्रहित होता हो तो भीन रहना ही उचित है ॥४३॥ यदि प्रिय वाक्य भी हितकारी न हो तो उसे भी न बहे, केवल हित करने वाले वाक्य ही बहे, चाहे

वह प्रत्यन्त घृण्य ही क्यों न हो ॥४४॥ बुद्धिमान् पुष्प की इहलोका और
पग्लोका में श्रियते प्राणियों का हित मानन होना देखे, उसी कार्य को मन,
वचन और कर्म से करना चाहिये ॥४५॥



तेरहवाँ अध्याय

मर्चैनस्य पितुः स्नानं जाते पुनं विधीयते ।
जातकर्म तदा कुर्याच्छ्राद्धमभ्युदये च यत् ॥१॥
मुग्गमान्देवाश्च पित्र्याश्च सम्यक्सम्बन्धमाद द्विजान् ।
पूजयेद्भोजयेच्चैव तन्मना नान्यमानसः ॥२॥
दध्यक्षतस्मदरैः प्राट्मुखोदङ्मुखोजपि वा ।
देवनीर्येन च पिण्डान्दद्यात्पात्रेण वा नृप ॥३॥
नान्दीमुखः पितृगणस्तेन श्राद्धेन पायिव ।
प्रीयते तत्तु वर्त्तव्यं पुण्यंस्पर्शवृद्धिषु ॥४॥
कन्यापुत्रविवाहेषु प्रवेगेषु च वेदमनः ।
नामकर्मणि बालानां चूडाकर्मदिके तथा ॥५॥
सीमन्तोन्नयने चैव पुत्रादिमुग्गदर्शने ।
नान्दीमुखं पितृगणं पूजयेत्प्रयतो गृही ॥६॥
पितृपूजाप्रमः श्रोक्तो वृद्धावेप सनातनः ।
श्रयतामवनीपान् प्रेतवर्मक्रियाविधिः ॥७॥

श्रीर्व ने कहा—पुत्र का जन्म होने पर पिता बस्त्रों के सहित स्नान करे
और फिर वात्र कर्म मन्थार और घाम्मुदयिह श्राद्ध करे ॥१॥ फिर सम्पत्ति
होकर देवताओं और पितरों के निमित्त दानः दायी और दायी और दो दो
प्राणियों को बिडाकर उनका पूजन करे और फिर उन्हें भोजन करावे ॥२॥ पूर्वा-
भिमुख या उत्तराभिमुख होकर दही, घण्ट और बदरीजन से निमित्त पितरों को
देवश्राप या प्रजापति शीघं से दे ॥३॥ इन घाम्मुदयिह श्राद्ध के द्वारा मानो-

मुख नामक पितरों की प्रसन्नता प्राप्त की जाती है । इसलिए सब प्रकार अभिवृद्धि के निमित्त इसका अनुष्ठान करना उचित है ॥४॥ पुत्री या पुत्र के विवाह में, नामकरण संस्कार में, चूड़ाकरण में, गृह प्रवेश में, दीपन्तोन्नयन में और पुत्रादि का मुख देखने के समय गृहस्थ को एवाग्र मन से नान्दीमुख पितरों की पूजा करनी चाहिए ॥५-६॥ हे राजन् ! आम्बुदधिक आदि में पितर-पूजन का यह स्नानन क्रम मैंने तुमसे कहा है, अब प्रेत क्रिया की विधि कहता हूँ, उसे श्रवण करो ॥७॥

प्रेतदेह शुभे स्नानंस्नापित स्रग्भिभूषितम् ।
 दाध्वा ग्रामाद्वहि स्नात्वा सचैलस्सलिलाशये ॥८॥
 यत्र तत्र स्थितायेतदमुक्यायेति वादिन ।
 दक्षिणाभिमुक्त्वा दद्यान्धिवास्सलिलाञ्जलीन् ॥९॥
 प्रविष्टाश्च सम गोभिर्ग्राम नक्षत्रदर्शने ।
 कटकर्म तत कुर्यर्भूमौ प्रस्तरशायिन ॥१०॥
 दातव्योऽनुदिन पिण्डं प्रेताग भुवि पार्थिव ।
 दिवा च भक्त भोक्तव्यममास मनुजपंथ ॥११॥
 दिनानि तानि चेच्छ्रात कर्तव्य विप्रभोजनम् ।
 प्रेता यान्ति तथा तृप्ति बन्धुवर्गेण भुञ्जता ॥१२॥
 प्रथमेऽह्नि तृतीये च सप्तमे नवमे तथा ।
 वस्त्रयागवहिस्स्नाने कृत्वा दद्यात्तिलोदकम् ॥१३॥

शव को भले प्रकार स्नान कराने के पश्चात् पुष्प मालाओं से विभूषित शव को ग्राम से बाहर लेजाकर दाह-संस्कार करना चाहिए । फिर जलाशय में वस्त्र सहित स्नान करके दक्षिण की ओर मुख करके 'यत्र तत्र स्थिता येतदमुक्याय'—इस वाक्य का उच्चारण करते हुए जलाञ्जलि देनी चाहिये ॥८-९॥ फिर गोधूनि काश में जब तारा मण्डल दिखाई देने लगे, तब ग्राम में प्रवेश कर कटकर्म कर पास-फूस की चट्टियाँ पर, भूमि पर ही शयन करे ॥१०॥ मृत पुष्प के निमित्त नित्य प्रति पृथ्वी पर पिण्डदान करे और केवल दिन के समय एक बार मांस-रहित भोजन का भोजन करे ॥११॥ यदि अशोच,

पान में द्राक्षाण भोजन करना चाहें तो उन्हें भोजन करावे, क्योंकि इस सनक द्राक्षाण और वपुजन के भोजन करने से मृत जीव तृप्त होता है ॥१२॥ घग्गोर के प्रथम दिन, तृतीय दिन, यातवें और नीवें दिन वस्त्र त्यागकर बहिर्देश में स्नान करने के पश्चात् छिन जल देना चाहिये ॥१३॥

चतुर्थेऽह्नि च वर्तव्य तस्यास्थिचयनं नृप ।
तदूर्ध्वमद्गसस्पर्शस्सपिण्डानामपीप्यते ॥१४॥
योग्यास्सर्बंक्रियाणां तु समानमलिलास्तथा ।
अनुलेपनपुष्पादिभोगादन्यत्र पार्थिव ॥१५॥
दाप्यामनोपभोगश्च सपिण्डानामपीप्यते ।
भस्मास्थिचयनादूर्ध्वं संयोगो न तु योपिताम् ॥१६॥
खाले देशान्तरस्थे च पतिते च मुनी मृते ।
सद्यश्शौचं तथेच्छातो जलान्मुकुटानादिषु ॥१७॥
मृतबन्धोर्दशाहानि कुत्सन्मानं न भुज्यते ।
दानं प्रतिग्रहो होम स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥१८॥
विप्रस्यैतद् द्वादशाहं राजन्यस्याप्यगौचकम् ।
अर्घ्यमात्रं तु वैश्यस्य मांसं शूद्रस्य शुद्धये ॥१९॥
अमुजो भोजयेन्कामं द्विजानन्ते ततो दिने ।
दद्याद्भेषु निण्डं च प्रेतायोश्छिद्यस्मृतिषो ॥२०॥
वार्यायुधप्रतोदास्तु दण्डश्च द्विजभोजनात् ।
स्पृष्टव्योऽनन्तरं वर्षे शुद्धे रन्ते ततः क्रमात् ॥२१॥

हे राजन् ! घग्गोर के चौथे दिन मृतक की अस्थि सफ़ि़त करे, उसके बाद घग्गे सफ़ि़ट बौधवों का धातु स्पर्श करे ॥१४॥ उस समय से सफ़ि़ट पुराण चन्दन और पुष्प धारण आदि क्रिया तो नहीं कर सकते, परन्तु घग्गे सनक कर्म कर सकते हैं ॥१५॥ भस्म और अस्थि- स्पर्श करने के पश्चात् सफ़ि़ट जनों की दाप्या और धामन के उपयोग की छूट है, परन्तु स्त्री-सम्बन्ध वर्जित है ॥१६॥ शानक, दूधरे देग में स्थित, पवित्र और तपस्वी की मृग्य होने पर का काम में दूध कर, जल कर या फाँसी आदि समाधि प्राप्त करने पर

अशौच शीघ्र ही दूर हो जाता है ॥१७॥ जिस कुटुम्ब में मृत्यु हुई हो, उसका घन्न दस दिन तक भोजन न करे और अशौच काल में, दान, परिग्रह हवन, स्वाध्याय आदि भी न करे ॥१८॥ यह दस दिन का अशौच ब्राह्मण का बड़ा है, क्षत्रिय का अशौच बारह दिन का और वैश्य का पन्द्रह दिन का होता है तथा शूद्र की अशौच से निवृत्ति एक मास में होती है ॥१९॥ अशौच की समाप्ति पर अयुष्म अर्थात् ऊना (नौ, ग्यारह, तेरह) मादि सहस्रक ब्राह्मणों को भोजन करावे और उनकी जूठन के पास ही प्रेत की तृप्ति के लिये कुश के प्रासन पर बिछा दे ॥२०॥ मुडि हो जाने पर तथा ब्राह्मण भोजन होने के पश्चात् ब्राह्मणादि चारों वर्ग को पहिले जल का, फिर दूध का, फिर मोटा का और फिर सबके अन्त लाठी का स्पर्श करना चाहिए ॥ १॥

ततस्त्वयर्णधर्मा ये विप्रादीनामुदाहृता ।

तान्कुर्वीत पुमाञ्जीवेभिजधर्माजनेस्तथा ॥२२॥

मृताहनि च वत्संयमेतोद्दिष्टमत परम् ।

आह्वानादित्रियादयनियोगरहितं त्वि तत् ॥२३॥

एवोऽयंस्तत्र दातव्यस्तथेवैवपवित्रवम् ।

प्रेनाय पिण्डो दातव्यो भुत्तवत्पु द्विजातिषु ॥२४॥

प्रश्नश्च तत्राभिरतिर्गन्धमानैर्द्विजन्मनाम् ।

॥२५॥ इस प्रकार यह एकोद्दिष्ट कर्म एक वर्ष तक करना चाहिये । वर्ष के समाप्त होने पर सप्तविंशोत्तरण (वर्षों) करे, उसका विधान सुनो ॥२६॥

एकोद्दिष्टविधानेन कार्यं तदपि पार्यिव ।

सवत्सरेऽथ पठे वा मासे वा द्वादसेऽह्नि तत् ॥२७॥

नित्यगन्धोदकेयुक्तं तत्र पानचतुष्टयम् ।

पानं प्रतस्य तत्रैकं पेनं पानत्रयं तथा ॥२८॥

सेचयेत्पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं ततस्त्रिषु ।

ततः पितृत्वपापन्ने तस्मिन्प्रेते महीपते ॥२९॥

श्राद्धघर्मे रदोपैस्तु तत्पूजानर्चयेत्पितॄन् ।

पुनः पौत्रं प्रपौत्रो वा भ्राता वा भ्रातृसन्तति ॥३०॥

सप्तविंशसन्ततिर्वापि क्रियाहो नृप जायते ।

तेषामभावे सर्वेषां समानोदकसन्तति ॥३१॥

मातृपक्षसप्तविण्डेन सम्बद्धा ये जलेन वा ।

कुलद्वयेऽपि चोच्छिन्ने स्त्रीभिः कार्या क्रिया नृप ॥३२॥

राक्षातान्तर्गतैर्वापि कार्या प्रेतस्य च क्रिया ।

उत्सर्गज्जुर्विषयाद्वा कारयेदवनीपति ॥३३॥

यह सप्तविंशोत्तरण कर्म भी एकोद्दिष्ट श्राद्ध की विधि ■ एक वर्ष, छ मास अथवा बारह दिन के पञ्चान् ही किया जा सकता है ॥२७॥ इसमें तिल, गन्ध और जल सङ्गित चार पान रखने चाहिए । इनमें से एक पात्र मृत व्यक्ति का तथा तीन पात्र विनश्वर के होते हैं ॥२८॥ फिर मृत व्यक्ति के पात्र में स्थित जल से विनश्वरों के पात्रों को सींचे । इस प्रकार मृत व्यक्ति की पितृत्व की प्राप्ति हो जाय, तब सभी श्राद्ध घर्मों के द्वाश प्रथम मृत व्यक्ति का और फिर पितरों का पूजन करे । अपने सप्तविण्ड में उत्पन्न पुरुष—पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, भ्राता, भतीजा, आदि हो श्राद्धादि कर्म करने का अधिकारी होता है । यदि इनमें से कोई न हो तो समानोदक (सगोत्र) की सन्तान या मातृ पक्ष के सप्तविण्ड या समानोदक इस कर्म की कर सकता है । यदि मातृकुल या पितृकुल दोनों में से कोई भी न हो तो स्त्री ही इस क्रिया की कर सकती है ॥२९-३२॥

अशीच शीघ्र ही दूर हो जाता है ॥१७॥ जिस कुटुम्ब में मृत्यु हुई हो, उसका भग्न दस दिन तक भोजन न करे और अशीच कास में, दाग, परिग्रह, हवन, स्वाध्याय आदि भी न करे ॥१८॥ यह दस दिन का अशीच ब्राह्मण का बड़ा है, क्षत्रिय का अशीच चारह दिन का और वैश्य का पन्द्रह दिन का होता है तथा दूध की अशीच में निवृत्ति एक मास में होती है ॥१९॥ अशीच की समाप्ति पर अयुष्म अर्थात् ऊना (भी, प्यारह, तेरह) आदि सहायक ब्राह्मणों को भोजन करावे और उनकी जूठन के पास ही प्रेष्ठ की तृप्ति के लिये कुश के आसन पर पिएड दे ॥२०॥ बुद्धि हो जाने पर तथा ब्राह्मण भोजन होने के पश्चात् ब्राह्मणादि चारों वर्ण को पहिले जल का, फिर शस्त्र का, फिर बोझा का और फिर सबके भन्त लाठी का स्पर्श करना चाहिए ॥ १॥

ततस्स्ववर्णधर्मा ये विप्रादीनामुदाहृता ।
 तान्कुर्वीत पुमाञ्जीवेघ्नजघमार्जनस्तथा ॥२२॥
 मृताहनि च कर्तव्यमेकोद्दिष्टमत परम् ।
 ब्राह्मणादिक्रियादैवनियोगरहितं ह्ये तत् ॥२३॥
 एकोऽर्घ्यस्तन दातव्यस्तथैवैकपवित्रकम् ।
 प्रेताय पिण्डो दातव्यो भुक्तवत्सु द्विजातिषु ॥२४॥
 प्रश्नश्च तनाभिरतिर्यजमानैर्द्विजन्मनाम् ।
 अक्षय्यममुनस्येति वक्तव्यं विरती तथा ॥२५॥
 एकोद्दिष्टमयो धर्म इत्यमावत्सरात्स्मृत ।
 सपिण्डीकरणं तस्मिन्काले राजेन्द्र तच्छ्रणु ॥२६॥

फिर ब्राह्मणादि के जो-जो वर्ण धर्म कहे हैं, उन्हीं का आचरण करते हुए अजीविका का उपाजन करे ॥२२॥ इसके पश्चात् प्रतिभास मृतक की मृत्यु तिथि के दिन एकोद्दिष्ट थाढ़ करे, जो कि आवाहनादि क्रिया और विश्वेदेव सन्त्रन्धी कर्म से रहित हो ॥२३॥ उस समय एक अर्घ्य और एक पवित्रक दे । यदि बहुत से ब्राह्मण भोजन करें तो भी मृतक के लिए एक ही पिएड दे ॥२४॥ फिर यजमान द्वारा पूछे जाने पर ब्राह्मण 'अभिरताः स्म' बहे और पिएड दान की समाप्ति पर अमुनस्य अक्षय्यम इत्यादि वाक्य का उच्चारण करें

॥२५॥ इस प्रकार यह एकोद्दिष्ट कर्म एक वर्ष तक करना चाहिये । वर्ष के समाप्त होने पर सपिण्डीकरण (वर्षा) करे, उसका विधान सुनो ॥२६॥

एकोद्दिष्टविधानेन कार्यं तदपि पात्रिब ।
सवत्सरेऽथ घण्टे वा मासे वा द्वादशेऽह्नि तत् ॥२७॥

निगन्धोदकेयुक्तं तत्र पात्रचतुष्टयम् ।
पात्रं प्रतस्य तत्रैकं पैत्रं पात्रत्रयं तथा ॥२८॥

सेचयत्पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं ततस्त्रिषु ।
ततः पितृत्वमापन्ने तस्मिन्प्रेते महीपते ॥२९॥

श्राद्धघर्मैरयेपैस्तु तत्पूजानचयत्पितृन् ।
पुत्रं पौत्रं प्रपौत्रो वा भ्राता वा भ्रातृसन्तति ॥३०॥

सपिण्डसन्ततिर्वापि क्रियाहो नृप जायते ।
तेषामभावे सर्वेषां समानोदकसन्तति ॥३१॥

मातृपक्षसपिण्डेन सम्बद्धा य जलेन वा ।
कुलद्वयेऽपि चोच्छिन्ने स्त्रीभिः काया क्रिया नृप ॥३२॥

सङ्घातान्तर्गतैर्वापि कार्या प्रेतस्य च क्रिया ।
उत्तमजग्धुरिकयाद्वा कारयेदवनीपति ॥३३॥

यह सपिण्डीकरण पत्र भी एकोद्दिष्ट श्राद्ध की विधि से एक वर्ष, छ मास अथवा बारह दिन के पश्चात् ही किया जा सकता है ॥२७॥ इसमें तिन, गन्ध और जल सहित चार पात्र रखने चाहिए । इनमें से एक पात्र मृत व्यक्ति या तथा तीन पात्र पितरा के होते हैं ॥२८॥ फिर मृत व्यक्ति के पात्र में श्वेत जलादि से पितरों के पात्रों को सींचे । इस प्रकार मृत व्यक्ति को पितृत्व की प्राप्ति हो जाय तब सभी श्राद्ध घर्मों के द्वारा प्रथम मृत व्यक्ति का और फिर पितरा का पूजन करे । अपने सपिण्ड में उत्पन्न पुरुष—पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, भ्राता, भतीजा, आदि ही श्राद्धादि कर्म करने का अधिकारी होता है । यदि इनमें से कोई न हो तो समानोदक (सगोत्र) की सन्तान या मातृ पक्ष के सपिण्ड या समानोदक इस कर्म को कर सकता है । यदि मातृकुल या पितृकुल दोनों में से कोई भी न हो तो स्त्री ही इस क्रिया को कर सकती है ॥२९ ३०॥

स्त्री के अभाव में मृतक का कोई साधो करे । यदि उसका भी अभाव हो तो राजा को ही मृतक के द्रव्य से उसका सब प्रेत कर्म करना चाहिये ॥३३॥

पूर्वा क्रिया मध्यमाश्च तथा चैवोत्तरा क्रिया ।

त्रिप्रकारा क्रिया सर्वास्तासा भेद शृणुष्व मे ॥३४॥

आदाहवार्पयुधादिस्पर्शाद्यन्तास्तु या. क्रिया ।

ता पूर्वा मध्यमा मासि मास्येकोद्दिष्टसज्जिता ॥३५॥

प्रेते पितृत्वमापन्ने सपिण्डीकरणादनु ।

क्रियन्ते या क्रिया पित्र्या प्रोच्यन्ते ता नृपोत्तरा ॥३६॥

पितृमातृसपिण्डैस्तु समानसलिलस्तथा ।

सङ्घातान्तर्गतं तर्वापि राज्ञा तद्धनहारिणा ॥३७॥

पूर्वा क्रियाश्च कर्तव्या पुनार्द्यैरेव चोत्तरा ।

दोहित्रैर्वा नृपश्रेष्ठ वार्यास्तत्तनयैस्तथा ॥३८॥

मृताहनि च कर्तव्या स्त्रीणामप्युत्तरा क्रिया ।

प्रतिसवत्सर राजन्नेकोद्दिष्टविधानत ॥३९॥

तस्मादुत्तरसज्ञाया क्रियास्ता शृणु पाथिव ।

यथा यथा च कर्तव्या विधिना येन चानप ॥४०॥

प्रेत कर्म के तीन प्रकार हैं—पूव कर्म, मध्यम कर्म और उत्तर कर्म ।

इन सबके लक्षण पृथक्-पृथक् हैं, उन्हें भी सुनो ॥३४॥ यह सवार से जल-सायादि के स्पृश तक जितने भी संस्कार हैं, वे सब पूर्व कर्म कहे गये हैं तथा प्रतिमास क्रिया जाने जाता एकोद्दिष्ट आठ मध्यम कर्म है ॥३५॥ सपिण्डीकरण के बाद जब मृतक पितृव्य को प्राप्त हो जाता है, तब उसने प्रति किये जाने जाने तब कर्म उत्तर कर्म कहे जाते हैं ॥३६॥ माता, पिता, सपिण्ड, समानोदक, साधो धर्मवा उसका घनाधिकारी राजा—यह सब उसने पूर्व कर्म करने के अधिकारी हो सकते हैं, परन्तु उत्तर कर्म पुत्र, दोहित्र या उनकी सन्तान ही कर सकती है ॥३६-३८॥ हे राजन ! स्त्रियों का उत्तर कर्म भी प्रतिवर्ष मृत्यु-दिवस पर एकोद्दिष्ट आठ विधि से ही व्यवस्थ कर्तव्य है ॥३९॥

इसलिये हे निष्पाप ! वे उत्तर क्रियाएँ जिस-जिस व्यक्ति के द्वारा जिस-जिस विधान से करनी चाहिये, उन्हें भी अब ध्यान से यथार्थ करो ॥४०॥

चौदहवाँ अध्याय

ग्रहोन्द्ररुद्रनासत्यसूर्याग्निवमुमास्तान् ।
 विश्वेदेवाऽपितृगणान्वयासि मनुजान्पशून् ॥१॥
 सरीसृपानृपिगणान्यज्ञान्यद्भूतसंज्ञितम् ।
 आद्वं श्रद्धान्वितं कुर्वन्प्रीणयत्यस्मिन् जगत् ॥२॥
 मासि मास्यसिते पक्षे पञ्चदश्या नरेश्वर ।
 तयाष्टकासु कुर्वीत काम्यान्कालाञ्छणुष्व मे ॥३॥
 आद्वहंमागतं ब्रह्म विशिष्टमयं वा द्विजम् ।
 आद्वं कुर्वीत विज्ञाय ध्यतीपातेऽयने तथा ॥४॥
 विपुत्रे चापि सम्प्राप्ते ग्रहणो दशिमूर्ययो ।
 समस्तैष्वेव भूपाल राशिष्वेकं च गच्छति ॥५॥
 नक्षत्रग्रहपीडासु दुष्टम्बप्रायलोकेन ।
 इच्छाश्रद्धानि कुर्वीत नवमस्यागमे तथा ॥६॥
 श्रमावास्या यदा मैत्रविशाखास्वातियोगिनी ।
 आद्वं पितृगणस्तृप्तिं तथाप्रोत्पद्यतापिकीम् ॥७॥

श्रीव ने कहा—श्रद्धा भाव से आद्वं करने वाला मनुष्य ब्रह्मा, इन्द्र पद, मरिचनीचुमार, सूर्य, अग्नि, वसुगण, मरुद्गण, विश्वेदेवा, पितरगण, पक्षी, मनुष्य, पशु सरीसृप, ऋषिगण, और भूतगण, आदि सम्पूर्ण विश्व को प्रसन्न करने में समर्थ होता है ॥१-२॥ हे राजन् ! प्रत्येक महीने की अमावस्य और अष्टका (हिमन्त और विशिष्ट ऋतुओं के शुक्ल पक्ष की अष्टमी) पर आद्वं करो । अब काम्य आद्वं का समय बढ़ता है, उसे सुनो ॥३॥ जब आद्वं के योग्य शीर्ष पदार्थ घर में आवे अथवा किसी विशिष्ट ब्राह्मण का आगमन हो या उत्त-

रागण अथवा दक्षिणायन का आरम्भ हो या अयनीपात हो तब काम्य श्राद्ध को करे ॥४॥ विपुव सक्रांति, सूय चद्रग्रहण सूय का प्रत्येक राशि में प्रवेग होते समय, नक्षत्र या ग्रह के पीडित होने पर, दुस्वप्न देखने पर अथवा धरम नया अन्न आवे तब काम्य श्राद्ध करना उचित है ॥५६॥ जिस प्रमावस में अनुराधा, विशाखा या स्वाति नक्षत्र का योग हो, उसमें श्राद्ध करने से पितरों की घाठ वष के लिए तृप्ति हो जाती है ॥७॥

अमावास्या यदा पुष्ये रौद्रे चर्क्षे पुनर्वसौ ।

द्वादशाब्दे तथा तृप्तिं प्रयान्ति पितरोऽर्चिता ॥८॥

वासवाजैकपादर्क्षे पितृणां तृप्तिमिच्छताम् ।

वारंरो वाप्यमावास्या देवानामपि दुर्लभा ॥९॥

नवसृक्षप्वमावास्या यदंतेष्ववनीपते ।

तदा हि तृप्तिं च श्राद्धं पितृणां शृणु चापरम् ॥१०॥

गीत सनत्कुमारेण यथैलाय महात्मने ।

पृच्छते पितृभक्ताय प्रश्रयावनाय च ॥११॥

वशात्तमासस्य च या तृतीया नवम्यसौ वार्तिपशुर्लपक्ष ।

नभस्यमासस्य च वृष्णपक्ष त्रयोदशी पञ्चदशी च माघे ॥१२॥

एता युगाद्या वयिता पुराणोप्यनन्तपुण्यास्तिययश्चतस्र ।

उपप्लवे चन्द्रमसा रवश्च त्रिप्लवकास्वप्ययान्द्वये च ॥१३॥

पानीयमप्यत्र तिनैर्विमिश्र दद्यात्पितृभ्यः प्रयतो मनुष्यः ।

श्राद्धं कृतं तेन समासहस्रं रहस्यमेतत्पितरो वदन्ति ॥१४॥

जिस अमावस्य में पुष्य श्राद्ध या पुनर्वसु राशि का योग हो उसमें पूजित हुए पितर वारह वष तक तृप्त रहते हैं ॥८॥ परन्तु धनिश, पूरभाद्रपदा या गतभिषा नक्षत्र वाली अमावस पितरों को तृप्त करने वालों के निये अत्यंत दुर्लभ है ॥९॥ जब अमावस इन ती नक्षत्रों के योग से सम्पन्न होती है तब जो श्राद्ध किया जाता है वह पितरों के निये अत्यंत तृप्ति देने वाला होता

श्री भक्तकुमार जी ने कहा—वैशाख शुक्ल पक्ष की तीस, कार्तिक शुक्ल नौमी, भाद्र पक्ष के चैत्र माघ माघ की अमावस—यह चार तिथियाँ पुराणों में 'पूजाया' कह्यो गयी हैं, यह अन्त पुण्य फल के देने वाली हैं । चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण के समय, तीन अष्टम्याओं में, उत्तरायण के या दक्षिणायन के आरम्भ में जो पुण्य पितरों के निमित्त एकाग्रचित्त से तिजोदक देना है, वह उह एक हजार वर्ष के लिये तृप्त कर देता है—इस परम रहस्य को स्वयं पितरा न ही कहा है ॥१२-१४॥

माघेऽमिते पञ्चदशी कदाचिदुपैति योग यदि वारुणे ।
 अक्षेण कालस्स पर पितृणा न ह्यल्पपुण्यं नृप लभ्यतेऽमी ।
 बाले घनिष्ठा यदि नाम तस्मिन्भवेत् भूपाल तदा पितृभ्य ।
 दत्त जलान्न प्रददाति तृप्तिं वर्षायुत तत्कुलजैर्मनुष्यै ॥१६॥
 तत्रैव चेद्भाद्रपदा नु पूर्वा बाले यथायत्नियते पितृभ्य ।
 श्राद्ध परा तृप्तिमुपेत्य तेन युग सहस्र पितरस्स्वपन्ति ॥१७॥
 गङ्गा सतद्रू यमुना विषाक्षा सरस्वती नैमिषगोती वा ।
 तनावशाह्वान्नमादरेण कृत्वा पितृणा दुरितानि हन्ति ॥१८॥
 गायन्ति चैतत्पितर कदानु वर्षामघातृमिमवाप्स्य भूय ।
 माघासितान्ते शुभतीर्थतीर्थस्याम तृप्तिं तनवादिदत्त ॥१९॥
 वित्त च वित्त च नृणा विशुद्ध अस्त्रञ्च काल कथितो विधिश्च ।
 पान, यथोक्त परमा च भक्तिर्नृणा प्रयच्छन्त्यभिवाञ्छितानि ॥

यदि कभी सप्तमिया वक्षत्र माघी अमावस के दिन हो तो उस दिन दिया जाने वाला श्राद्ध पितरा की तृप्ति के लिये परमोत्कृष्ट काल माना कहा है । जो अलग पुण्य वाले पुण्य हैं, उनको ऐसा सुयोग प्राप्त नहीं होता ॥१५॥ यदि उस माघ की अमावस में घनिष्ठा नक्षत्र का योग हो जाय, तो अपने ही वशीत्वत्र पुण्य द्वारा दिये गये अन्न जल से पितरगण दस हजार वर्ष तक की तृप्त रहते हैं ॥१६॥ यदि उस अमावस के साथ पूर्व भाद्रपद का योग हो जाय तब श्राद्ध करने से पितरों को परम तृप्ति-लाभ होता है और वे एक हजार युग तक सोते रहते हैं ॥१७॥ गङ्गा सतद्रू, यमुना, विषाक्षा, सरस्वती और

नैमिषारण्य मे स्थित गोमती मे स्नान करके पितरों का आदर सहित पूजन करे तो मनुष्य उनके सभी पापों का नाश कर देता है ॥१८॥ पितरगण सदा ही गाते रहते हैं कि वर्षाकाल के गया नक्षत्र ग तृप्त होकर फिर माघ की अमावस के दिन अपने वंशजों की पुण्यनीधियों वाली जलाञ्जलि से हम कब तृप्त होंगे ? ॥१९॥ वित्त की शुद्धि, पवित्र धन, प्रशस्तकाल, उपरोक्त विधि, योग्य पात्र और परम भक्ति—यह सभी, मनुष्य को वांछित फल प्रदान करने वाले हैं ॥२०॥

पितृगीतान्तर्यैवान् श्लोकास्ताञ्छ्रृणु पार्थिव ।

श्रुत्वा तथैव भवता भाष्य तनादृतात्मना ।२१।

अपि धन्य कुले जायादस्माक मतिमात्रर ।

अकुर्वन्वित्तशाठ्य यः पिण्डान्नो निर्वपिष्यति ।२२।

रत्न वस्त्र महायान सर्वभोगादिव वसु ।

विभवे सति विप्रेभ्यो योऽस्मानुद्दिश्य दास्यति ।२३।

अन्नेन वा यथाशक्त्या कालेऽस्मिन्भक्तिनम्रधी ।

भोजयिष्यति विप्राग्रघास्तन्मात्रविभवो नर ।२४।

असमर्थोऽन्नदानस्य धान्यमाम स्वशक्तित ।

प्रदास्यति द्विजाग्रधेभ्य स्वल्पाल्पा वापि दक्षिणाम् ।२५।

तत्राप्यसामर्थ्ययुतं कराग्राग्रस्थितास्तिलान् ।

प्रणम्य द्विजमुख्याय कस्मैचिद्भूष दास्यति ।२६।

तिलैस्सप्ताष्टभिर्वापि समवेत जलाञ्जलिम् ।

भक्तिनम्रस्तमुद्दिश्य भुव्यस्माक प्रदास्यति ।२७।

यतः कुतश्चित्सम्प्राप्य गोभ्यो वामि गवाह्निकम् ।

अभावे प्रीणयन्नस्माच्चन्द्राद्युक्तं प्रदास्यति ।२८।

सर्वाभावे वनं गत्वा कक्षमूलप्रदर्शक ।

सूर्यादिलोकपालानामिदमुच्चैर्वर्दिष्यति ।२९।

न मेऽस्ति वित्तं न धनं च नान्यच्छ्राद्धोपयोग्यस्वपितृभृतोऽस्मि ।

तृप्यन्तु भक्त्या पितरो मयंतौ वृत्तौ भुजौ वत्समि माशतस्य ।३०।

इत्येतत्पितृभिर्गीतं मायाभावप्रयोजनम् ।

यः करोति कृतं तेन त्राद भवति पार्थिव ।३१।

हे राजन् ! अब तुम पितरों द्वारा गाये हुए कुछ इनोनों को सुनो, जिन्हें मुन सेने पर वैसा ही आचरण करना उचित है ॥२१॥ क्या हमारे घर में कोई ऐसा बुद्धिमान और धन्य पुरुष होगा जो धन-लोभुपना को त्याग कर हमारे निमित्त पिएड देगा ॥२२॥ जो धन होने पर हमारे निचे ब्राह्मणों को रखे, वस्त्र, महायान या सर्व भोग सामग्री प्रदान करेगा ॥२३॥ या यदि केवल धन वस्त्र वाला होने पर श्राद्ध के समय विनम्रता पूर्वक थोड़ा ब्राह्मणों को हमारे निमित्त धन का ही भोजन करावेगा ॥२४॥ अथवा धन देने में भी समर्थ न होने पर ब्राह्मणों को कच्चा घान्य और स्वल्प दक्षिणा ही दे सकेगा ॥२५॥ कदाचित् ऐसा भी करने योग्य न होगा तो किसी ब्राह्मण थोड़ा को एक मुद्गी विल ही प्रदान करेगा ॥२६॥ यदि इसमें भी असमर्थ हो तो हमारे निमित्त भक्ति भाव से झुकते हुए केवल सात-आठ निलों के सहित जलाऊलि ही देगा ॥२७॥ यदि ऐसा भी न कर सके तो कहीं से चारा लाकर श्रद्धा और प्रेम के सहित गौ की भक्षण करेगा ॥२८॥ यदि इसका मिलना भी सम्भव न हो तो वन में जाकर अपनी बगल को दिखाता हुआ सूर्यादि लोकपालों से उच्च-स्तर में झुककर कहेगा कि श्राद्ध-कर्म के योग्य मेरे पास न वित्त है, न धन है, न कोई धन्य सामग्री ही है, इसलिये, मैं अपने पितरों को नमस्कार करता हूँ वे मेरी भक्ति से ही तृप्त हो जाय । मैंने अपनी दोनो भुजाएँ आकाश की ओर ऊँची कर रखी हैं ॥२९॥ और मैं ने कहा—हे पार्थिव ! धन के होने या उसके अभाव में पितरों ने जो बतया है, उसके अनुरूप आचरण करने पर भी विधिवत् श्राद्ध ही हो जाता है ॥३१॥



पन्द्रहवाँ अध्याय

ब्राह्मणान्भोजयेच्छ्राद्धे यद्गुणास्तान्निबोध मे ।
त्रिणाचिवेत्तस्मि मधुखिसुपर्णप्लवङ्गविव ॥१॥
वेदविच्छ्रोत्रियो योगी तथा वे ज्येष्ठमाभगः ।
ऋत्विक्स्वस्त्रे यदौहित्रजामातृश्वगुरास्तथा ॥२॥

मातुलोऽथ तपोनिष्ठः पञ्चान्यभिरतस्तथा ।
 शिष्यास्ताम्बन्धिनश्चैव मातापितृरतश्च यः । १३।
 एतान्नियोजयेच्छ्राद्धे पूर्वोक्तान्प्रथमे नृप ।
 ब्राह्मणान्पितृतुष्ट्यर्थमनुकल्पेष्वनन्तरान् । १४।
 मित्रध्रुवकुनखी क्लीवश्श्यावदन्तस्तथा द्विजः ।
 कम्पादूपयिता बह्विवेदोज्जरामचिक्रयी । १५।
 अभिशस्तस्तथा स्तेनः पिशुनो ग्रामपाजकः ।
 भृतकाध्यापकस्तद्वदभृतकाध्यापितश्च यः । १६।
 परपूर्वोपतिश्चैव मातापित्रोस्तथोज्ज्वलः ।
 वृषलीसूतिपोष्टा च वृषलीपतिरेव च । १७।
 तथा देवलकरश्चैव श्राद्धे नाहंति केतनम् । १८।

श्रीर्व ने कहा—हे राजन् ! श्राद्ध के समय जैसे-जैसे गुण वाले ब्राह्मणों
 को भोजन कराना उचित है, उसे कहवा है, सुनो । त्रिणाभिकेत, निमधु,
 त्रिमुपलं, पञ्चाङ्गविद, वेदवेत्ता, श्रोत्रिण, योगी, ज्येष्ठ-सामग, ऋत्विक्, भानजा,
 दौहित्र, जाग्रातृ, दक्षसुर, मामा, तपस्वी, पञ्चामि-निष्ठ, शिष्य, सम्बन्धी तथा
 माता-पिता के प्रियजन—इन ब्राह्मणों को श्राद्ध में निमज्जित करे । इनमें से
 पहिले बहे हृषो को पूर्व वर्ग में और पीछे बहे हृषो को पितरों की वृत्ति वाले
 वर्ग में नियुक्त कर भोजन करावे ॥१-४॥ मित्रपाती, विद्वन्नखी, पुत्रवहीन,
 मसीन दातृ वाला, वन्यागामी, घग्नि और वेद से हीन सौम-धिकेता
 शोबनिन्दित, चोर, पिशुन वर्म वाला, ग्राम गुरोहित, यक्ष-भोगी सम्पापक,
 पुनर्विवाहिता का पति, माता-पिता को त्याग देने वाला, दूत की सन्तान का
 पापक, धृष्टा का पति और देवता से जीविका चलाने वाला ब्राह्मण श्राद्ध में
 बुलाने की योग्य है ॥५-८॥

प्रथमेऽर्ह्यं वृषदशस्ताऽश्वोत्रियादीन्निमन्त्रयेत् ।
 यथयेत्तु तथैवैषा नियोगान्पितृदयिकान् । १६।
 ततः शोधय्यवायादीनायास सौद्विजैस्सह ।
 यजमानो न कुर्वीत दोगस्तत्र महानयम् । १७।

श्राद्धे नियुक्तो भुक्त्वा वा भोजयित्वा नियुज्य च ।
 व्यवयी रेतसो गत्तं मञ्जयत्यात्मनः पितॄन् ॥११॥
 तस्मात्प्रथममनोक्तं द्विजाग्रचाराणां निमन्त्रणम् ।
 अग्निमन्त्र्य द्विजानेवमागतान्भोजयेद्यतोन् ॥१२॥
 पादजोवादिना गेहमागतान्भुजयेद् द्विजान् ।
 पवित्रपाणिराचान्तानामनेपूपवेदायेत् ॥१३॥
 पितॄणामयुजो युग्मान्देवानामिच्छया द्विजान् ।
 देवानामेकमेकं वा पितॄणां च नियोजयेत् ॥१४॥

श्राद्ध से पहिले दिन ही योनिय आदि ब्राह्मणों को निमन्त्रित करके उन्हें बता दे कि आपको पितृ-श्राद्ध ॥ और आपकी विश्वेदेव-श्राद्ध में नियुक्त करना है ॥१॥ श्राद्ध करने वाला पुरुष और वे निमन्त्रित ब्राह्मण भी उस दिन क्रीडादि, नारी-संग या परिश्रम का कोई कार्य न करे, क्योंकि श्राद्ध कर्म में इसका अत्यन्त दोष कहा है ॥१०॥ श्राद्ध में निमन्त्रित होकर प्रथवा भोजन करने या श्राद्ध का निमन्त्रण देकर या भोजन कराकर जो नारी संग करता है, वह अपने पितरों को ही बोज-कुएड़ी में डुबाता है ॥१॥ इसलिये श्राद्ध के पहिले दिन यान पूर्वक उपरोक्त विधिष्ठ युग सम्पन्न ब्राह्मणों को निमन्त्रण दे और श्राद्ध के दिन यदि कोई अनिमन्त्रित सद्ब्राह्मण घर पर आ जाय, तो उन्हें भी भोजन करा दे ॥१२॥ पहिले उन ब्राह्मणों के चरण धोवे, फिर हाथ धोकर आचमन कराने के बाद उन्हें आसन प्रदान करे ॥१३॥ अपने सामर्थ्य के अनुसार पितरों के लिये घृगुम्भ (पाँच, रात, नी आदि) तथा देवताओं के लिये गुम्भ (दो, चार, छ आदि) ब्राह्मण चुनावे प्रथवा दोनों के लिये एक-एक ब्राह्मण ही नियुक्त करे ॥१४॥

तथा मातामहश्राद्धं वैश्वदेवसमन्वितम् ।
 कुर्वीत भक्तिमत्पुत्रस्तन्न वा वैश्वदेविकम् ॥१५॥
 श्राद्धं मुखान्भोजयेद्विप्रान्देवानामुभयात्मकान् ।
 पितृमातामहानां च भोजयेच्चाप्युदङ्मुखान् ॥१६॥

पृथक्तयोः केचिदाहुः श्राद्धस्य करणं नृप ।
 एकत्रैकेन पाकेन वदन्त्यन्ये महर्षयः ॥१७॥
 विष्टरार्थं कुशं दत्त्वा सम्पूज्यार्घ्यं विधानतः ।
 कुर्यादावाहनं प्राज्ञो देवानां तदनुज्ञया ॥१८॥
 यवाम्बुना च देवानां दद्यादर्घ्यं विधानवित् ।
 स्रग्गन्धधूपदीपाश्च तेभ्यो दद्याद्यथाविधि ॥१९॥
 पितॄणामपसव्यं तत्सर्वमेवोपवत्स्पयेत् ।
 अनुज्ञा च ततः प्राप्य दत्त्वा दर्भान्दिधाकृतान् ॥२०॥
 मन्त्रपूर्वं पितॄणां तु कुर्याद्वावाहनं बुधः ।
 तिलाम्बुना चाप्यसव्यं दद्यादर्घ्यादिकं नृप ॥२१॥

इसी प्रकार भैरवदेव के सहित मातामह (नाना) का श्राद्ध करना चाहिए । भयवा पितृ-पक्ष और मातामह पक्ष दोनों के निमित्त एक श्राद्ध ही कर सजता ॥१५॥ देवपक्ष के ब्राह्मणों को पूर्व की ओर मुख करके बैठाने और और पितृ तथा मातामह पक्ष के ब्राह्मणों के उत्तराभिमुख बैठकर भोजन करावे ॥१६॥ हे राजन ! कोई महर्षि तो पितृ-पक्ष और मातामह पक्ष के श्राद्धों को पृथक्-पृथक् करने का विधान करते हैं और किसी ने एक साथ तथा एक ही पाक में करना ठीक बताया है ॥१७॥ पहिले ग्रामन्त्रित ब्राह्मणों के लिए कुशा बिछाकर फिर उनका अर्घ्यदानादि से पूजन करे और उनकी अनुमति प्राप्त करके देवताओं का आवाहन करे ॥१८॥ फिर श्राद्ध विधि का शास्त्र पुरुष जो मिले हुए बल से देवताओं को अर्घ्य दे और फिर धूप, दीप, गन्ध और पुष्पमालादि समर्पित करे ॥१९॥ पितरों के निमित्त किये जाने वाले सब उप-चार अपसव्य-भाव (दाँये बन्धे पर जनेहु करके) से करने चाहिए । फिर ब्राह्मणों की अनुमति प्राप्त कर दो भागों में विभक्त कुशों का दान कर मन्त्रोच्चारण पूर्वक पितरों का आवाहन करे और अपसव्य रहकर ही तिलोदक से अर्घ्यादि प्रदान करे ॥२०-२१॥

काले तत्रार्तिपि प्राप्तमन्नवामं नृपाध्वगम् ।

आह्यशौरम्यनुज्ञातः कामं तमपि भोजयेत् ॥२२॥

योगिनो विविधै रूपैर्नराणामुपकारिणः ।
 भ्रमन्ति पृथिवीमेतामविज्ञातस्वरूपिणः ॥२३॥
 तस्मादम्यर्चयेत्प्राप्तं आढकातेऽर्तिथिं बुधः ।
 आढक्रियाफलं हन्ति नरेन्द्रा पूजितोऽर्तिथिः ॥२४॥
 जुहुयाद्वनञ्जनक्षारवज्रमन्नं ततोऽजले ।
 अनुज्ञातो द्विजैस्तैस्तु त्रिकृत्वः पुष्पपत्रम् ॥२५॥
 अग्नये कव्यवाहाय स्वाहेत्यादौ नृपाहुतिः ।
 सोमाय च पितृमते दातव्या तदनन्तरम् ॥२६॥
 वैवस्ताय चैवान्या तृतीया दीयते ततः ।
 हुतावशिष्टमल्पान्नं विप्रपात्रेषु निर्वपेत् ॥२७॥

हे राजन् ! यदि उस काल कोई दार्ष्टान्त मार्ग चलता हुआ अग्नि
 प्रतिधि रूप से आ पहुँचे तो ब्राह्मणों की अनुमति लेकर उसे भी भोजन कराना
 चाहिए ॥२२॥ क्योंकि बहुत से अज्ञात योगिगण जन-वत्प्राण की भावना से
 विविध रूप में भूतल पर विचरण करते रहते हैं ॥२३॥ इसलिये विद्वान् मनुष्य
 को आढ काल में अपने घर पर आये हुए अग्निधि का अवश्य पूजन करना
 चाहिए । वैसा न करने से वह विमुक्त हुआ अग्निधि समस्त आढ क्रिया को
 विफल कर देता है ॥२४॥ हे राजन् ! फिर उन ब्राह्मणों की आज्ञा से तमक
 हीन तथा शाक-रहित अन्न से अग्नि में तीन आहुतियाँ प्रदान करे ॥२५॥ उनमें
 से 'अग्नये कव्यवाहाय स्वाहा' कहकर प्रथम, 'सोमाय पितृमते स्वाहा' कहकर
 द्वितीय और 'वैवस्ताय स्वाहा' कहकर तीसरी आहुति देनी चाहिए । फिर
 हुतावशिष्ट अन्न में से थोड़ा-थोड़ा सब ब्राह्मणों के पात्रों में परोसे ॥२६-२७॥

ततोऽन्नं मृष्टमत्ययंममीष्टमतिसंस्कृतम् ।
 दत्त्वा जुषध्वमिच्छातो वाच्यमेतदनिष्टुरम् ॥२८॥
 भोक्तव्यं तैश्च तच्चित्तमौनिभिस्सुगुप्तैः सुखम् ।
 अक्रुद्धचता चात्वरता देय तेनापि भक्तिः ॥२९॥
 रक्षोघ्नमन्त्रपठन भूमेरास्तरण तिलैः ।
 कृत्वा ध्येयास्वपितरस्त एव द्विजसत्तमाः ॥३०॥

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।

मम तृप्तिं प्रयान्त्वद्य विप्रदेहेषु सस्थिताः ॥३१॥

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।

मम तृप्तिं प्रयान्त्वद्य होमाप्यायितमूर्तयः ॥३२॥

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।

तृप्तिं प्रयान्तु पिण्डेन मया दत्तेन भूतले ॥३३॥

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।

तृप्तिं प्रयान्तु मे भक्त्या मयैतत्समुदाहृतम् ॥३४॥

मतामहस्तृप्तिमुपेतु तस्य तथा पिता तस्य पिता ततोऽन्यः ।

विद्वे च देवाः परमा प्रयान्तु तृप्तिं प्रणश्यन्तु च यातुधानाः ।

यज्ञेश्वरो हव्यसमस्तकव्यभोक्ताव्ययात्मा हरिरीश्वरोऽत्र ।

तत्सन्निधानादपयान्तु सद्यो रक्षास्पशेषाप्यसुराश्च सर्वे ॥३६॥

किर भले प्रकार सिद्ध किये हुए ममुर अन्न को इच्छानुसार सब ब्राह्मणों को परोस कर अत्यन्त मीठी वाणी से भोजन करने को कहें ॥३५॥ ब्राह्मण भी उक्त भोजन को मन लगाकर मौन धारण पूर्वक मुख से भोजन करें तथा यज्ञमान भी क्रोध और नीघता को त्याग कर भक्ति सहित उनके भोजन करते में परोसता रहे ॥३६॥ किर रक्षोष्म मन्त्र का पाठ करके आद्य के स्थान पर तिल छिड़के और उन ब्राह्मणों का पितृ रूप से इस प्रकार ध्यान करें ॥३७॥ इन ब्राह्मणों के देहों में प्रतिष्ठित हुए और मेरे पिता, पितामह और प्रपितामह आदि तृप्ति को प्राप्त हों ॥३१॥ होम के द्वारा मेरे पिता पितामह और प्रपितामह बलवान होते हुए तृप्ति को प्राप्त हो ॥३२॥ पृथिवी पर मैंने जो पिण्ड दिये हैं, उससे मेरे पिता, पितामह और प्रपितामह तृप्त हो ॥३३॥ मैंने भक्ति-भाव से इस समय जो कुछ निवेदन किया है, उसी के द्वारा मेरे पिता, पितामह और प्रपितामह तृप्त हों ॥३४॥ मेरे माता, नाना के पिता और उनके भी पिता तथा विश्वेदेवगण परम तृप्ति को प्राप्त हो तथा सभी राक्षस नष्ट हो जाय ॥३५॥ रामस्त हव्य कव्य के भोक्ता यज्ञेश्वर अव्ययात्मा श्री हरि यहाँ विराजमान हैं, इगलिये उसी सन्निधि से सभी राक्षसगण और द्युमुरगण यहाँ से दली समय पलायन करें ॥३६॥

तृप्तेष्वेतेषु चिकिरेदन्न विप्रेषु भूतले ।
 दद्यादाचमनार्थाय तेभ्यो वारि सकृत्सकृत् ॥३७॥
 सुतृप्तस्तैरनुज्ञातस्सर्वेणान्नेन भूतले ।
 सतिलेन तत पिण्डान्सम्यग्दद्यात्समाहित ॥३८॥
 पितृतीर्थेन सतिलेन तथैव सलिलाञ्जलिम् ।
 मातामहेभ्यस्तेनैव पिण्डास्तोर्थेन निर्वपेत् ॥३९॥
 दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु पुष्पधूपदिपूजितम् ।
 स्वपिने प्रथमं पिण्डं दद्यादुच्छिष्टसन्निधौ ॥४०॥
 पितामहाय चैवान्य तत्पिने च तथापरम् ।
 दर्भभूले लेपभुज प्रोक्षयेत्लेपधर्पणौ ॥४१॥
 पिण्डं मातामहाम्स्तद्वदगन्धमात्यादिसयुतैः ।
 पूजयित्वा द्विजाग्रवाणा दद्याच्चाचमनं ततः ॥४२॥
 पितृभ्यः प्रथमं भक्त्या तन्मनस्को नरेश्वर ।
 सुस्वधेत्याग्निपा युक्ता दद्याच्छक्त्या च दक्षिणाम् ।
 दत्त्वा च दक्षिणा तेभ्यो वाचयेद्ब्रह्मदेविकान् ।
 प्रीयन्तामिह ये विश्वेदेवास्तेन इतीरयेत् ॥४३॥
 तथेति चोक्ते तैर्विप्रैः प्रार्थनीयास्तथाशिप ।
 पश्चाद्विसर्जयेद्देवान्पूर्वं पितृभ्यान्महीपते ॥४४॥

फिर जब ब्राह्मण भोजन करलें तब बोडा सा धन लेकर पृथ्वी पर जाने और आचमन के लिये उन्हें और एक बार जल दे ॥३७॥ तदन्तर पशुओं प्रकार से सन्तुष्ट हुए उन ब्राह्मणों की अनुमति से पृथिवी पर धन और और जल के पिण्ड दे ॥३८॥ फिर पितृतीर्थ से तिनोदक नी जलाञ्जलि दे । नाना आदि के निमित्त भी उसी पितृतीर्थ से पिएडदान आदि करना चाहिए ॥३९॥ ब्राह्मणों की जूठन के पास ही दक्षिण दिशा की ओर दक्ष भाग करके जो कुछ विद्याये हो, उन पर प्रथम अपने पिता के निमित्त पुष्प धूपादि से अर्पित पिएड दे ॥४०॥ फिर एक पिएड पितामह के निमित्त और पश्चात् एक पिएड प्रपितामह के लिये दान करे । फिर कुछ भूत में सगे अन्न को पोष

कर लेपमोजी पितरों की तृप्ति करे ॥४१॥ इसी प्रकार गन्ध पुष्पमाल आदि से पूजित पिण्डों से नाला आदि को तृप्त करे और ब्राह्मणों को आचमन करावे ॥४२॥ फिर भक्ति भाव पूर्वक खड़े होकर प्रथम पितृपक्ष के ब्राह्मणों से 'सुखंवा' कहलाता द्रव्य आर्शोवाद प्राप्त करे और वाक्पथ भर दाक्षिणा दे ॥४३॥ विश्वदेव पक्ष के ब्राह्मणों के पास जाकर उन्हें दाक्षिणा दे और निवेदन करे कि विश्वदेवता प्रसन्न हो ॥४४॥ जब वे ब्राह्मण 'ऐसा ही हो' कह तब उनसे आर्शोवाद माँगे और पितृपक्ष के ब्राह्मणों को वहिष्ते और देवपक्ष के ब्राह्मणों को उनके पश्चात् बिदा करे ॥४५॥

मातामहानामप्येव सह देवैः क्रम स्मृतः ।
 भोजने च स्वशक्त्या च दाने तद्वद्विसर्जने ॥४६॥
 आपादशौचनात्पूर्वं कुर्याद्देवद्विजन्मसु ।
 विसर्जने तु प्रथमं पैत्रमातामहेषु वै ॥४७॥
 विसर्जयेत्प्रीतिवचस्सम्मान्याभ्यर्चितास्ततः ।
 निवर्तेताभ्यनुज्ञात आद्वार ताननुव्रजेत् ॥४८॥
 ततस्तु वैश्वदेवाख्य कुर्यान्नित्यक्रिया बुधः ।
 भुञ्जान्चैव समं पूज्यभृत्यवन्धुभिरात्मनः ॥४९॥
 एव आद्व बुध कुर्यात्पित्र्य मातामह तथा ।
 आद्वैराप्यायिता दद्युस्सर्वान्कामान्पितामहा ॥५०॥
 त्रीणि आद्वे पवित्राणि दौहित्र कुतपस्तिलाः ।
 रजतस्य कथा दान तथासद्दीर्तनादिकम् ॥५१॥
 वर्ज्यानि कुर्वता आद्व क्रोधोऽध्वगमन त्वरा ।
 भोक्तुं रथ्यत्र राजेन्द्र त्रयमेतत्र शस्यते ॥५२॥
 विश्वदेवास्सपितरस्तथा मातामहा नृपः ।
 कुल चाप्यायते पुसा सर्वं आद्व प्रकुर्वताम् ॥५३॥
 सोमाधार पितृगणो योगाधाश्च चन्द्रमा ।
 आद्वै योगिनियोगस्तु तस्माद्भूपाल शस्यते ॥५४॥
 सहस्रस्यापि विप्राणा योगी चेत्पुरतः स्थितः ।
 सर्वान्भोक्तुं स्तारयति यजमान तथा नृप ॥५५॥

विद्वदेवताओं के सहित नाना आदि के आठ में भी ब्राह्मण भोजन, दान, विसर्जनादि का यही क्रम कहा गया है ॥४६॥ पितृपक्ष तथा ॥ नाश—दोनों प्रकार के आठों में पण-प्रज्ञातनादि सभी कर्म प्रथम देवपक्षीय ब्राह्मणों के करेंगे । परन्तु पितृपक्षीय या नानापक्षीय ब्राह्मणों को पहिले विदा करेंगे ॥४७॥ प्रीतिमय वचनों सहित सम्मान करते हुये उन ब्राह्मणों को विदा करें तथा उनके पीछे-पीछे द्वा.९ तक जाकर उनकी धाता होने पर घर में लौट आये ॥४८॥ इसके पश्चात् वैश्वदेव नामक नित्य कर्म करके अपने पूजनीय आत्तियों, वयुजनों और भृत्यगणों के सहित भोजन करें ॥४९॥ इस प्रकार बुद्धिमान पुरुष को पितृ आठ और मातामह आठ का अनुष्ठान करना चाहिए । आठ से तत् तत् पितरगण सभी अभितापाओं के पूर्ण करने वाले हैं ॥५०॥ आठ के समय पुनी का पुत्र, रित का भठवाँ मुहूर्त, तिल, चाँदी का दान तथा उसकी बात कहना—यह सब पवित्र समझे जाते हैं ॥५१॥ आठ करने वाले को क्रोध करना, कहीं जाना और आठ कर्म में उतावलापन करना वर्जित माना गया है और आठ में भोजन करने वालों को भी उक्त चीनों बाँटें निषिद्ध हैं ॥५२॥ हे नृप ! आठ कर्त्ता पुरुष से विद्वदेव-गण, पितरगण, नाना और कुटुम्बीजन-सभी प्रसन्न रहते हैं ॥५३॥ पितरों का प्राधार चन्द्रमा और चन्द्रमा का प्राधार योग है, इसीलिए आठ में योगियों का नियुक्त किया जाना अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥५४॥ हे नृप ! आठमें भोजन करने वाले एक हजार ब्राह्मणों के सामने यदि एक योगी हो, तो यह एक ही योगी पञ्चमान के सहित उन सबका उद्धार करने में समर्थ है ॥५५॥

ॐ नमः शिवाय

सोलहवाँ अध्याय

हविष्यमत्स्यमासेस्तु शरास्य नकुत्तस्य च ।

सौकरच्छागलेशोयरीरवैगं वयेन च ॥१॥

औरभगव्यंश्च तथा मासपृद्ध्या पितामहा ।

प्रयान्ति तृप्ति मासेस्तु नित्य याध्रोंणसामिपं ॥२॥

खड्गमासमतीवात्र बालशाक तथा मधु ।
 शास्तानि कर्मण्यत्यन्ततृप्तिदानि नरेश्वर ।३।
 मयामुपेत्य य आद्व करोति पृथिवीपते ।
 सफल तस्य तस्मिन् जायते पितृतुष्टिदम् ।४।
 प्रशान्तिकास्सनीवाराश्यामाका द्विविधास्तथा ।
 वन्योपधोप्रधानास्तु आद्वार्हा पुरुषर्षभ ।५।
 यथा प्रियङ्गवो मुद्गा गोधूमा व्रीह्यस्तिला ।
 निष्पावा कोविदाराश्च सर्पपाश्वान शोभना ।६।

श्रीव ने कहा—हविष्यादि का भोजन करने से पितरों की एक मास तक तृप्ति रहती है । आद्व कर्म में काल शाक और मधु अत्यन्त प्रशस्त तथा अधिकधिक तृप्ति के देने वाले हैं ॥३ ॥

हे राजन् ! यथा में जाकर आद्व करने से वनस्पति का पितरों को तृप्त करने वाला वह जीवन सफल होता है ॥४॥ देवधान्य, नीवार तथा सफेद या काले रङ्ग के उमा और प्रमुख प्रमुख वनोपधि आद्व के लिए उपयुक्त मानी गई हैं ॥५॥ जी, प्रियंगु, भूँ, केहूँ धान, तिल, मटर, कचनार तथा सरसों को आद्व में श्रेष्ठ माना गया है ॥६॥

अकृताग्रयण यच्च धान्यजात नरेश्वर ।
 राजमाषान्गुश्चैव मसूराश्च विसर्जयेत् ।७।
 अलावु गृञ्जन चैव पलाण्डु पिण्डमूलकम् ।
 शान्धारकवरम्बादिलवणान्योषराणि च ।८।
 आरक्ताश्चैव निर्यासा प्रत्यक्षलवणानि च ।
 वज्रान्येतानि वै आद्वेयच्च वाचा न तस्यते ।९।
 नक्ताहृतमनुच्छिन्न तृप्यते न च यत्र गौ ।
 दुर्गन्धि फेनित चाम्बु आद्वयोग्य न पार्थिव ।१०।
 क्षीरमेवक्षफाना यदीष्टमाविवमेव च ।
 मार्गं च माहिष चैव वर्जयेद्वाद्वकर्मणि ।११।

पण्डापविद्धचाण्डालपापिपापण्डिरोगिभि ।

कृकवाकुश्वनग्नैश्च वानरग्रामगूकरैः ।१२।

उदकयासूतकाशोचिमृतहारैश्च वीक्षिते ।

श्राद्धे सुरा न पितरो भुञ्जते पुष्पपत्रम् ।१३।

त्रिसप्त नवार्ध यज्ञ न हुआ हो वह अन्न, बड़े छोटे उरद, मगूर, कासी-
फन, गाजर, प्याज, शलजम, घालि, धान्य का घाटा, ऊमर भूमि में उत्पन्न
नमक, हींग आदि वस्तुएँ तथा वे अन्न पदार्थ, जिनका शास्त्रों में विधान नहीं
है, सब श्राद्ध में वर्जित है ।।७६। ह राजन् । राजा का न मे लाया हुआ जल,
क्षुद्र जलाशय का घषवा जिसमें गी भी तृप्त न हो सकती हो ऐसे गड्ढे का जल
या पेन और दुर्गन्धमय जल श्राद्ध में त्याज्य है ।।१०। एक खुर बाते पशु का,
भेड़, ऊँटनी या मृषी का तथा भैंस का दूध भी श्राद्ध में उपयुक्त नहीं है ।।११।
है पुण्य श्रेष्ठ । नपुंसक, समाज-बहिष्कृत, ब्राह्मण, पातकी, पाद्री, रोगी,
कुक्कुट, कुत्ता, बन्दर, ग्राम्य धूर्कर, नग्न पुरुष, रजस्वला स्त्री, जन्म मरण के
सूत्र या अर्धोच बाते मनुष्य तथा सब उठाने वाले पुरुष—इनमें से किसी
की दृष्टि पड़ जाय तो देवता या पितर कोई भी अपना भाग श्राद्ध में ग्रहण
नहीं करते ।।१२-१३।

सम्मात्परिश्रिते कुर्याच्छ्राद्ध श्रद्धासमन्वित ।

उर्व्यां च तिलविक्षेपाद्यातुघानान्निवारयेत् ।१४।

नक्षत्रादिना चोपपन्न केशकीटादिमिर्नृप ।

न चोवाभिपर्वमिश्रमन्न पर्युपित तथा ।१५।

श्रद्धासमन्वितं दत्त पितृभ्यो नामगोत्रत ।

यदाहारास्तु ते जातास्तदाहारत्वमेति तत् ।१६।

श्रूयते चापि पितृभिर्गीता गाया महीपते ।

इत्स्वाकोर्मनुपुत्रस्य कलापोपवने पुरा ।१७।

अपि नस्तो भविष्यन्ति कुले सम्मानंशीतिन ।

गयामुपेत्य ये पिण्डान्दास्यन्त्यम्माकमादरात् ।१८।

अपि नृस्त कुले जायाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम् ।

पायस मधुसर्पिभ्यां वेर्पासु च मधसु च ॥१६॥

गौरी वाप्युद्धहेत्कन्या नील वा वृषमुत्सृजेत् ।

यजेत वाश्वमेधेन विधिवदक्षिणावता ॥२०॥

इसलिये किसी घिरे हुए स्थान में (घर आदि में) श्रद्धा सहित श्राद्ध करना चाहिये । राक्षसों की निवृत्ति के लिये पृथिवी में तिल छिड़के ॥१४॥ जिस अन्न में तिल, केश, या कीटादि पड़े हों भयवा जो निबोड कर निकाले हुए उस से युक्त या बाली हो, वह अन्न श्राद्ध में वर्जित है ॥१५॥ श्रद्धा पूर्वक तथा नाम-गोत्र का उच्चारण करते हुए दिया जाने वाला अन्न पितरो के योग्य होकर उन्हे प्राप्त होता है ॥१६॥ इस विषय में सुना जाता है कि पूर्वकाल में पितरों ने मनुष्य राजा इक्ष्वाकु के प्रति कहा था ॥१७॥ क्या हमारे यश में स्वर्गमार्ग पर चलने वाले ऐसे पुरुष होने जो यश में आकर हमारे निमित्त पिएड देगे ॥१८॥ क्या हमारे कुल में कोई ऐसा भी होगा जो मघानक्षत्र वाली वर्षाकालीन त्रयोदशी को हमारे निमित्त मधु और घृत से युक्त क्षीर प्रदान करेगा ? ॥१९॥ या गौरी कन्या का दान करेगा (अर्थात् दस वर्ष की आयु में ही उत्तरा विवाह कर देगा) नीला सांड छोड़ेगा भयवा विधिपूर्वक दक्षिणा वाले अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करेगा ? ॥२०॥



सत्रहवाँ अध्याय

इत्याह भगवानीर्वस्सगराय महात्मने ।

सदाचार पुरा सम्यङ् मैत्रेय परिपृच्छते ॥१॥

मयाप्येतदशेषेण वक्षितं भवतो द्विज ।

समुत्तरं ह्ययं सदाचारं वस्त्रिघ्नाप्रोति सोमनम् ॥२॥

पञ्चापविद्धप्रमुखा विदिता भगवन्मया ।

। उदकयाद्याश्च मे सम्यङ् नग्नमिच्छामि वेदिनुम् ॥३॥

को नमः किं ममाचारो नग्नमंता नरो लभेत् ।
 नग्नम्बरूपमिच्छामि यथावत्कथितं त्वया ।
 श्रोतुं धर्मभृतां श्रेष्ठं न ह्यस्त्यविदितं तव ॥४॥
 श्रुत्यजुस्मामसंज्ञेयं त्रयी वर्णवृत्तिद्विज ।
 एतामुज्जमति यो मोहात्स नग्नः पातकी द्विज ॥५॥
 त्रयी समस्तवर्णानां द्विज सवरणं यतः ।
 नग्नो भवत्पुज्जितायामतस्तस्या न मग्नयः ॥६॥
 इदं च श्रूयतामन्यद्यद्भीष्माय महात्मने ।
 कथयामास धर्मज्ञो वसिष्ठोऽमृतपितृमहः ॥७॥

श्री पराशर जी ने कहा—हे योगेश जी ! भगवान् श्रीर्व ने महात्मा
 सगर के प्रश्न का उत्तर देते हो गृहस्थ के सवाचार की इस प्रकार व्याख्या की
 थी ॥१॥ हे द्विज ! मैंने भी इस विषय को तुम्हारे प्रति अपने प्रकार कह दिया
 है । सवाचार का उल्लंघन करने वाले किसी भी पुरुष को सद्गति प्राप्त नहीं
 हो सकती ॥२॥ श्री भैरव जी ने कहा—हे भगवान् ! ननु संक, बहिष्कृत तथा
 रजस्वनादि को तो मैं अपने प्रकार समझता हूँ, परन्तु इस समय मैं 'नग्न' के
 विषय में जानने की इच्छा करता हूँ ॥३॥ नग्न कौन है, कैसे आचरण वाले
 पुरुष को नग्न कहा है? मैं आपसे नग्न का स्वरूप ही सुनना चाहता हूँ, क्योंकि
 आपसे कोई भी विषय छिपा हुआ नहीं है ॥४॥ श्री पराशर जी ने कहा—हे
 द्विज ! श्रुक, नाग और यजुः यह वेदत्रयी वरुणों के आचरण रूप हैं । मोहवश
 इसे त्याग देने वाला पापी पुरुष ही 'नग्न' कहा जाता है ॥५॥ सब वरुणों का
 आचरण वेदत्रयी ही है, उसका त्याग कर देने पर ही पुरुष 'नग्न' संज्ञक होता
 है ॥६॥ हमारे निगममह वसिष्ठजी ने महात्मा भीष्म से इस विषय में जो कहा
 था, उसे सुनो ॥७॥

गयापि तस्य मदतश्चुतमेतन्महात्मनः ।
 नानमुम्बन्धि मैत्रेय यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ॥८॥
 देवामुरमभूद्यदुध दिव्यमब्दगत पुरा ।
 तस्मिन्पराजिता देवा दैत्यैर्हान्दपुरोगमैः ॥९॥

क्षीरोदस्योत्तरं कूलं गत्वातप्यन्त वै तपः ।

विष्णोराराधनार्थाय जगुश्चेमं स्तवं तदा ॥१०॥

आराधनाय लोकानां विष्णोरीशस्य यां गिरम् ।

वक्ष्यामो भगवानाद्यस्तया विष्णुः प्रसीदतु ॥११॥

यतो भूतान्यशेषाणि प्रसूतानि महात्मनः ।

यस्मिंश्च तयमेध्यन्ति कस्त स्तोतुमिहेश्वरः ॥१२॥

तथाप्यरातिविध्वस्तवोर्याभयार्थिनः ।

त्वां स्तोप्यामस्तदोत्तीना यायार्प्यनैवगोचरे ॥१३॥

हे मंत्रेय जी ! तुमने जो नम्र विषयक प्रश्न किया है, उसी विषय में मैंने भी महात्मा वशिष्ठ जी ने भीष्म से कुछ कहा था, वह सब सुना था ॥१०॥ प्राचीनकाल की बात है—सौ दिव्य वर्षों तक देवताओं और दैत्यों में परस्पर संग्राम हुआ । उसमें ह्लाद-प्रभृति दैत्यों ने देवताओं को हरा दिया ॥११॥ इसलिये देवताओं ने क्षीर सागर के उत्तरी तट पर जाकर तप किया और भगवान् श्री हरि को प्रसन्न करने के लिए हम स्तोत्र की गायी ॥१०॥ देवताओं ने कहा—लोकनायक भगवान् विष्णु की आराधना के हेतु हम जिस जाणी को कहते हैं, उससे वे प्रादि पुरुष भगवान् हम पर प्रसन्न हो ॥११॥ जिनसे सब भूतों की उत्पत्ति हुई है और वे भूत उन्हीं में लीन हो जायेंगे, ऐसे उन परमात्मा की स्तुति करने की सामर्थ्य किस में है ? ॥१२॥ यद्यपि आपके यदार्थ रूप वा जाणी से कर्णन नहीं हो सकता, फिर भी हम शत्रुओं द्वारा पराजित एवं पराक्रम हीन होकर हम विजय और पराक्रम की प्राप्ति के लिए आपकी स्तुति करते हैं ॥१३॥

त्वमुर्वी सलिलं बह्निर्वायुराकाशमेव च ।

समस्तमन्तः करणं प्रधानं तत्परः पुमान् ॥१४॥

एकं त्वंतदभूतात्मन्मूर्त्तमूर्त्तमयं नपुः ।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं स्थानकालविभेदवत् ॥१५॥

तत्रेश तव यत्पूर्वं त्वन्नाभिकमलोद्भवम् ।

रूपं विश्वोपवाराय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥१६॥

शक्राकंस्त्रवस्वश्विमरुत्सोमादिभेदवत् ।
 वयमेक स्वरूप ते तस्मै देवात्मने नमः । १७।
 दम्भप्रायमसम्बोधि तितिक्षादमर्वाजितम् ।
 यद्रूपं तव गोविन्द तस्मै दैत्यात्मने नमः । १८।
 नातिज्ञानवहा यस्मिन्नाड्यः स्तिमिततेजसि ।
 शब्दादिलोभि यत्तस्मै तुभ्य यक्षात्मने नमः । १९।
 क्रौर्यमायामयं घोरं यच्च रूप तवामितम् ।
 निशाचरात्मने तस्मै नमस्ते पुरुषोत्तम । २०।
 स्वर्गस्थधर्मिसद्धर्मफलोपकरणं तव ।
 धर्माख्यं च तथा रूप नमस्तस्मै जनादेन । २१।

हे प्रभो ! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अन्तःकरण, भूत-प्रकृति तथा प्रकृति से परे—यह सब आप ही हैं ॥१४॥ ब्रह्मा से तूण पर्यन्त जीव तथा कालादि भेद जाने इन मूर्त और अमूर्त पदार्थों से मुक्त यह प्रपन्न आप ही का देह है ॥१५॥ उससे आपके नाभि-गण से जगत् के हितार्थ उत्पन्न हुआ जो आपका प्रथम स्वरूप है, उस ब्रह्मात्मा को नमस्कार है ॥१६॥ इन्द्र, सूर्य, मरु, वसुगण, अश्विनीद्वय, मरुद्गण और चन्द्रमा आदि के भेद से उत्पन्न हुए हम भी आपने ही रूप हैं, इसलिये आपके इस देव रूप को नमस्कार है ॥१७॥ हे गोविन्द ! आपकी जो मूर्ति दम्भ और अज्ञान से मुक्त तथा तितिक्षा और दम से परे है, उस दैत्य रूप को नमस्कार है ॥१८॥ जिस मन्द-सम्ब रूप में हृदयस्थ नाडिका ज्ञान का अत्यन्त बहान करने वाली नहीं होती तथा जो गन्धादि विषयों का अभिनापी होता है, आपके उस यक्ष रूप को नमस्कार है ॥१९॥ हे पुरुषोत्तम ! आपका जो तमोमय स्वरूप क्रूरता और माया में सम्पन्न है, उस राक्षस रूप को नमस्कार है ॥२०॥ हे जनादेन ! आपका जो रूप स्वर्गवासी धर्मियों के यत्नादि धर्मों के फल की प्राप्ति बनाने वाला है उस धर्म रूप को नमस्कार है ॥२१॥

हर्षप्रायमसंसर्गि गतिमदगमनादिषु ।

मिदाम्यं तव यद्रूपं तस्मै मिदात्मने नमः । २२।

अतितिक्षायन क्रूरमुपमोगसह हरे ।
 द्विजिह्व तव यद्रूप तस्मै नागात्मने नमः ॥२३॥
 अचक्षुषि च यच्छ्रान्तमदोषमपकल्मषम् ।
 ऋषिरूपात्मने तस्मै विष्णो रूपाय ते नमः ॥२४॥
 भक्षयत्यथ कल्पान्ते भूतानि यदवारितम् ।
 त्वद्रूप पुण्डरीकाक्ष तस्मै कालात्मने नमः ॥२५॥
 सम्भक्ष्य सर्वभूतानि देवादीन्यविशेषतः ।
 नृत्यत्यन्ते च यद्रूप तस्मै रुद्रात्मने नमः ॥२६॥
 प्रवृत्त्या रजसो यच्च कर्मणा वरणात्मकम् ।
 जनार्दन नमस्तस्मै त्वद्रूपाय नरात्मने ॥२७॥
 अष्टाविंशद्विधोपेत यद्रूप तामस तव ।
 उन्मार्गागामि सर्वात्मस्तस्मै वक्ष्यात्मने नमः ॥२८॥

आपका जो रूप जल अग्नि आदि गमन योग्य स्थानों को प्राप्त होकर भी सदा निर्लेप और प्रसन्न रहता है, आपने उस सिद्ध नामक स्वरूप को नमस्कार है ॥२२॥ आपका जो स्वरूप अक्षमा का आधार, भक्ष्य-तत् क्रूर तथा भोग में अत्यन्त समर्थ है, उस दो जीम जाने नाग रूप को नमस्कार है ॥२३॥ हे विष्णो ! आपका जो रूप ज्ञान युक्त शांत, निर्दोष तथा कल्मष रहित है, उस मुनि रूप को नमस्कार है ॥२४॥ आपका जो स्वरूप कल्प के अन्त में सभी भूतों का अन्तिमार्थ रूप से भक्षण कर लेता है, उस काल रूप को नमस्कार है ॥२५॥ प्रलयकाल में देवादि सब प्राणियों को सामान्य रूप से भक्षण करने गृह्य करने वाले आपने रुद्र रूप को नमस्कार है ॥२६॥ आपका जो रूप रजोगुणों की प्रवृत्ति के कारण बलों का करने वाला है, उस मनुष्य रूप को नमस्कार है ॥२७॥ हे सर्वात्मन् ! जो अष्टादश यक्ष मुक्त समोभय तथा उन्मार्गागामी रूप है, उस पशु रूप का नमस्कार है ॥२८॥

मशाङ्गभूत यद्रूप जगत् स्थितिगापनम् ।

वृक्षादिभेदं पृथग्भेदि तस्मै मुत्पात्मने नमः ॥२९॥

तिर्यङ् मनुष्यदेवादि व्योमशब्दादिकं चयत् ।

रूपं तवादेः सर्वस्य तस्मै सर्वात्मने नमः ।२०।

प्रधानबुद्ध्यादिमयादशेषाद्यदन्यदस्मात्परम परात्मन् ।

रूपं तवाद्यं यदनन्यतुल्य तस्मै नमः कारणकारणाय ।२१।

शुक्लादिदीर्घादिघनादिहीनमगोचर यच्च विशेषणानाम् ।

शुद्धातिशुद्धं परमपितृस्य रूपाय तस्मै भगवन्नताः स्मः ।२२।

यस्य शरीरेषु यदन्यदेहेष्वशेषवस्तुष्वजमक्षयं यत् ।

तस्माच्च नान्यद्व्यतिरिक्तमस्ति ब्रह्मस्वरूपाय नताः स्म तस्मै

सकलमिदमजस्य यस्य रूपं परमपदात्मयतस्तनातनस्य ।

तमनिघनमग्रेष्वीजभूतं प्रभुममल प्रणतास्म वासुदेवम् ।२४।

जो विश्व की स्थिति का साधन स्वरूप तथा यज्ञ का अगभूत है और जो वृक्ष, सता, गुल्म, वीर्य, तुल्य और गिरि—इन छ भेदों वाला है, उस मुक्तात्मक रूप को नमस्कार है ॥२१॥ तिर्यङ्, मनुष्य-देवतादि जीव, आकाशादि भूत और अग्निादि गुण—इन सभी आदि भूत आप सर्वात्मा को नमस्कार है ॥२०॥ हे परमात्मन् ! प्रधानादि जो सम्पूर्ण जगत् से परे आपका रूप सबका आदि कारण और अनुपम है, आपके उस प्रकृति आदि के कारणों के भी कारण रूप को नमस्कार है ॥२१॥ जो शुक्ल आदि रंग से, दीर्घता आदि परिमाण से और घनता आदि गुणों से रहित होने के कारण सब विशेषणों का अधिपति, परमपियों के लिये दर्शनीय तथा शुद्ध से भी शुद्ध है आपके उस रूप को नमस्कार है ॥२२॥ हमारे या अन्य जीवों के देहों में और सभी पदार्थों में जो वर्तमान है तथा जो अजन्मा और अविनाशी है, उससे पृथक् कोई भी नहीं है उस ब्रह्म स्वरूप को हमारा नमस्कार है ॥२३॥ जिनका आत्मा परमपद प्रत्यक्ष ही है, ऐसे जिन सनातन, अजन्मा अगवान् का रूप ही यह सम्पूर्ण प्रपञ्च है और जो सबके बीज भूत, अविनाशी तथा सब-रहित हैं, उन अगवान् वासुदेव को नमस्कार है ॥२४॥

स्तोत्रस्य चावसाने ते ददन्तुः परमेश्वरम् ।

नह्यचक्रगदापाणि गरुडस्य सुरा हरिम् ।२५।

तमूनृस्मन्ना देवा प्रणिपातपुरस्सरम् ।
 प्रगोद नाथ दैत्येभ्यश्चाहि नन्दारणाधिने ।३६।
 त्रैलोक्ययज्ञभागाश्च दैत्यैर्हृदिपुरोगमै ।
 हृता नो ब्रह्मणोऽप्याज्ञागुत्तरक्षय परमेश्वर ।३७।
 यद्यप्ययोपभूतस्य वय ते च तवांशजा ।
 तथाप्यविद्याभेदेन भिन्नं पश्यामहे जगत् ।३८।
 स्वयर्गंधर्माभिरता वेदमार्गानुसारिण ।
 न शक्यास्तेऽरयो हन्तुमस्माभिस्तपसावृता ।३९।
 तमुपायमदोपात्तमस्माच्च दातुमर्हसि ।
 येन तानसुरान् हन्तुं भवेम भगवन्धामा ।४०।
 द्रष्टुक्तो भगवांस्तेभ्यः मायामोहं शरीरत ।
 समुत्पाद्य ददौ विष्णु प्राह चेद सुरोत्तमान् ।४१।
 मायामोहोऽयमावितान्दंत्यास्ताङ्गोत्थपिप्यति ।
 ततो वध्या भविष्यन्ति वेदमार्गं वहिष्णुता ।४२।
 स्थितौ स्थितस्य मे वध्या यावन्तं परिपन्थिन ।
 ब्रह्मणो ह्याधिकारस्य देवर्हत्यादिव्हा सुरा ।४३।
 तद्गच्छत न भी कार्या मायामोहोऽयमग्रत ।
 गच्छतद्योपकाराय भवता भविता सुरा ।४४।
 इत्युक्ता प्रणिपत्येनं ययुर्देवा यथागतम् ।
 मायामोहोऽपि तेऽसाद्धं ययौ यत्र महासुरा ।४५।

श्रीपराशर जी ने कहा—हे मैत्रेयजी । स्तुति के पूरा होते ही उन
 देवताओं ने शङ्ख, चक्र, गन्धारी भगवान् श्रीहरि को गरुड पर चढ़े हुए अपने
 सामने देखा ॥३५॥ उ हे देखते ही सब देवताओं ने उ हैं प्रणाम करके कहा—
 हे नाथ । हम पर प्रसन्न होकर दैत्यों से हम दारणागतों को बचाइये ॥३६॥ हे
 परमेश्वर । ह्याद प्रभृति दैत्यों ने ब्रह्माजी की आज्ञा न मानकर हमारे धीर
 त्रैलोक्य के यज्ञ भागों का अपहरण किया है ॥३७॥ यद्यपि हम और वे आप
 वभूत के अंग से उत्पन्न हुए हैं फिर भी हम अविद्या के बन्दीभूत होकर

इस विश्व को पृथक्-पृथक् देखते हैं ॥३८॥ हमारे वैरी भी अपने वर्यं धर्म के
पात्रक, वेद भागों पर चलते बाने तथा तपोनिष्ठ, इस लिये हम उनका वध करने
में समर्थ नहीं हैं ॥३९॥ इसलिये हे सर्वोत्तम ! हमें कोई ऐसा उपाय बताइये,
जिससे कि हम उनको मारने में समर्थ हो सकें ॥४०॥ श्री पराशरजी ने कहा—
उनकी प्रार्थना सुनकर भगवान् विष्णु ने अपने देह से माया-मोह की उत्पत्ति
कर उसे देवताओं को देते हुए कहा ॥४१॥ यह माया-मोह उन सभी दैत्यों को
मोहित कर देगा, तब वे वेद भागों को त्याग देंगे, जिससे तुम उनका वध करने
में समर्थ होगे ॥४२॥ हे देवताओं ! कोई भी देवता हो अथवा दैत्य, ब्रह्माजी
के कार्य में बाधक होने से मृष्टि की रक्षा के कारण मेरे द्वारा मारने योग्य होते
हैं ॥४३॥ इसलिये हे देवताओं ! तुम धन जाओ । भय का त्याग करो । यह
माया-मोह यहाँ जाकर तुम्हारे लिए उपकारी होगा ॥४४॥ श्री पराशरजी ने
कहा—भगवान् की आज्ञा सुनकर देवनागण उन्हें प्रणाम कर अपने अपने स्थान
को गये और माया-मोह भी असुरों के पास पहुँचा ॥४५॥



अठारहवाँ अध्याय

तपस्यभिरतान्तोऽथ मायामोहो महानुरात् ।
मैत्रेय ददृशे गत्वा नर्मदातीरस्थितान् ॥१॥
ततो दिगम्बरो मुण्डो बहिषिच्छधरो द्विज ।
मायामोहोऽमुरान् दलक्षणमिदं वचनमब्रवीत् ॥२॥
हे दैत्यपत्नयो ब्रूत यदयं तप्यते तपः ।
ऐहिकं वायं पारम्यं तपसः फलमिच्छथ ॥३॥
पारम्यफललाभाय तपश्चर्या महामते ।
अस्माभिरियमारब्धा किं वा तेऽन विवक्षितम् ॥४॥
कुरुष्वं मम वाक्यानि यदि मुक्तिमभीप्सव ।
अहंज्वमेनं धर्मं च मुक्तिद्वारममवृतम् ॥५॥

धर्मो विमुक्तेरर्होऽय नैतस्मादपरो वरः ।
अथैव सस्थिता स्वर्गं विमुक्तिं वा गमिष्यथ ॥६॥

श्री पराशरजी ने कहा—हे मन्त्रेयजी ! फिर माया-मोह ने वहाँ पहुँच कर देखा कि वे महान् असुर नर्मदा नदी के तीर पर तपस्या में तत्पर हैं ॥१॥ तब उस मयूर पक्ष धारण करने वाले गेम्न एव मुड़े हुए बाल वाले माया-मोह ने उन असुरों से अत्यन्त भीठे बपनो से कहा ॥२॥ माया मोह ने कहा—हे दैत्यपतिगो ! कहो, तुम यह तप किस हेतु कर रहे हो तुम किसी लौकिक फल की कामना करते हो अथवा कोई पारलौकिक फल पान करना चाहते हो ? ॥३॥ असुरों ने कहा—हे श्रेष्ठ बुद्धि वाले ! पारलौकिक कामना की सिद्धि के लिये ही हमने यह तप आरम्भ किया है । इस विषय में तुम हम से क्या कहना चाहते हो ? ॥४॥ माया-मोह ने कहा—यदि आप मोक्ष की कामना करते हैं तो मैं जो कहता हूँ वह करो । आप इस मोक्ष के लिये द्वार रूप इस धर्म का पालन करो ॥५॥ यह धर्म मोक्ष की सिद्धि में अत्यन्त उपयोगी है, इससे श्रेष्ठ धर्म कोई भी नहीं है । इसके अनुष्ठान से आप स्वर्ग अथवा मोक्ष-जो भी चाहेंगे वही प्राप्त होगा ॥६॥

अर्हं ध्व धर्ममेत च सर्वं पूय महाबला ।
एवंप्रकारैर्वहुभिर्युक्तिर्दर्शनचर्चिते ॥७॥
मायामोहेन ते दैत्या वेदमार्गादिपाकुता ।
धर्मयैतदधर्माय सदेतत्त सदैत्यपि ॥८॥
विमुक्तये त्विद नैतद्विमुक्तिं सम्प्रयच्छति ।
परमार्थोऽयमत्यर्थं परमार्थो न चाप्ययम् ॥९॥
कार्यमेतदकार्यं च नैतदेव स्फुटं त्विदम् ।
दिवासासामय धर्मो धर्मोऽय बहुवाससाम् ॥१०॥
इत्यनेवान्तवादः च मायामोहेन नैवधा ।
तेन दर्शयता दैत्यास्स्वधर्मं त्याजिता द्विज ॥११॥
अर्हंतं महाधर्मं मायामोहेन ते यत ।
प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन् ॥१२॥

आप सब महाबली हैं, इसलिये इस धर्म में धृढा करिये । श्री पराशर जी ने कहा — इन अनेक प्रकार की युक्तियों से परिपूरण वाक्यों से माया-मोह ने उन दैत्यों को बंदिक भागों से हटा दिया । यह धर्ममय है यह धर्म मुक्त है, यह सत्य है, यह असत्य है, यह मोक्षकारक है अथवा यह मोक्ष-शान्ति में बाधक है, यह परमार्थ है, यह परमार्थ के विपरीत है, यह कर्तव्य है, यह करने योग्य नहीं है, यह ऐसा है, यह ऐसा नहीं है, यह बल हीनों का धर्म है तथा यह बल-धारियों का धर्म है ॥७-१८॥ इस प्रकार की अनेक युक्तियाँ देकर माया-मोह ने उन दैत्यों को उनके धर्म से विमुक्त कर दिया ॥११॥ उस माया-मोह ने दैत्यों से कहा कि आप इसी महाधर्म का आदर करिये, इसलिये ये दैत्य उस धर्म के मानने वाले होने से 'आहंत' बड़े जाने लगे ॥१२॥

त्रयोधर्मसमुत्सर्ग मायामोहेन तेऽमुरः ।
 कारितास्तन्मया ह्यासंस्ततोऽन्ये तत्प्रचोदिताः ॥१३॥
 तैरप्यन्ये परे तैश्च तैरप्यन्ये परे च तैः ।
 अल्पैरहोभिस्मन्त्यक्ता तैर्दैत्यैः प्रायशस्त्रयो ॥१४॥
 पुनश्च रक्ताम्बरघृङ्गमायामोहो जितेन्द्रियः ।
 अन्यानाहामुरान् गत्वा मृदुल्यमधुराक्षरम् ॥१५॥
 स्वर्गार्थं यदि वो बान्ध्या निर्वाणार्थमयानुराः ।
 तदलं पशुघातादिदुष्टधर्मनिबोधत ॥१६॥
 विज्ञानमयमेवंतदशेषमवगच्छत ।
 बुध्यध्वं मे वनः सम्यग्बुधैरेवमिहोदितम् ॥१७॥
 जगदेतदनाधारं भ्रान्तिज्ञानार्थतत्परम् ।
 रागादिदुष्टमत्यर्थं भ्राम्यते भवसङ्कटे ॥१८॥
 एव बुध्यत बुध्यध्वं बुध्यतैवमितीरयन् ।
 मायामोहः स दैतेयान्धर्ममत्याजयन्निजम् ॥१९॥
 नानाप्रकारवचनं स तेषां युक्तियोजितम् ।
 तथा तथा त्रयोधर्मं तत्पुनस्ते यथा यथा ॥२०॥

तेऽप्यन्येषा तथैवोचुरन्यैरन्ये तयोदिताः ।

मैत्रेय तत्त्यजुधर्मं वेदस्मृत्युदित परम् ॥२१॥

माया मोह द्वारा असुरों को त्रयीधर्म से विमुख किया जाने से वे सभी मोह में पड़ गये और फिर उन्होंने अन्य सब दैत्यों को इसी धर्म में प्रवृत्त कर लिया ॥१३॥ उन्होंने दूसरों को, दूसरों ने तीसरों को, तीसरों ने फिर अन्यों को, इसी प्रकार एक दूसरे को उस धर्म का अवलम्बन कराने लगे । इस प्रकार कुछ काल में ही सभी दैत्य त्रयीधर्म से विमुख हो गये ॥१४॥ इसके पश्चात् माया-मोह ने रक्त वस्त्र धारण किये और उन असुरों से कीमल, सक्षिप्त और भीठे शब्दों में कहा ॥१५॥ हे असुरगण ! यदि तुम स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति करना चाहते हो तो पशु वधादि छोटे कर्मों को छोड़कर ज्ञान प्राप्त करो ॥१६॥ इस सम्पूर्ण विश्व को विज्ञानमय समझो । मेरे वचनों पर यत्नपूर्वक ध्यान दो । इस विषय में ज्ञानीजन इस जगत् को व्यर्थ बताते हैं । उनका कहना है कि यह विश्व भ्रम से उत्पन्न पदार्थों के विद्वांस पर ही टिका हुआ है और रामादि दोषों के कारण दूषित हो गया है । इस भवसागर रूपी स्रष्ट से प्राणी भटकता हुआ घूमता है ॥१७-१८॥ इस प्रकार जानो, समझो आदि बोधार्थक शब्दों के प्रयोग द्वारा माया मोह ने बोधमय धर्म का उपदेश कर उनको अपने धर्म से हटा दिया ॥१९॥ माया-मोह के युक्ति पूर्ण वाक्यों के जाल में फँस कर दैत्यों ने त्रयीधर्म को छोड़ दिया ॥२०॥ उन दैत्यों ने दूसरे दैत्यों से और दूसरे दैत्यों ने दूसरे-दूसरे दैत्यों से यही बात कही । इस प्रकार हे मैत्रेयजी ! उन सबने ही श्रुति-स्मृति-सम्मत अपने परम धर्म का त्याग कर दिया ॥२१॥

अन्यानप्यन्यपापण्डप्रकारैर्वंदुभिर्द्विज ।

दैतेयान्मोहयामास मायामोहोऽतिमोहकृत् ॥२२॥

स्वल्पेनैव हि कालेन मायामोहेन तेऽसुराः ।

मोहितास्तत्यजुस्सर्वा त्रयोमार्गाश्रिता कथाम् ॥२३॥

केचिद्विनिन्दा वेदानां देवानामपरे द्विज ।

यज्ञकर्मकलापस्य तथान्ये च द्विजन्मनाम् ॥२४॥

नेतद्युक्तिसहं वाक्यं हिंसा धर्माय चेप्यते ।
 हवींष्यनलदग्धानि फलायेत्यमकोदितम् ॥२१॥
 गङ्गारनेवैर्देवत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते ।
 तम्यादि यदि चेत्काष्ठं तद्वर पत्रभुक्पशुः ॥२६॥
 निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीप्यते ।
 स्वपिता यजमानेन किन्तु तस्मान्न हन्यते ॥२७॥
 वृत्तमे जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः ।
 कुर्याच्छ्राद्धं श्रमायान्नं न बहेयुः प्रवासिनः ॥२८॥
 जनश्रद्धेयमित्येतदवगम्य ततोऽन वः ।
 उपेक्षा श्रेयसे वाक्य रोचता यन्मयेरितम् ॥२९॥
 न ह्याप्तवादा नभसो निपतन्ति महामुरा ।
 युक्तिमद्वचन ग्राह्यं मयान्यञ्च भवद्विषः ॥३०॥

हे द्विज श्रेष्ठ ! मोह उत्पन्न करने वाले मायामोह ने अन्यान्य सभी दैत्यों को नाना प्रकार के घनेको बाखएडो से मोहित किया ॥२२॥ इस प्रकार कुछ मात्र में ही मायामोह द्वारा मोहित हुए उन दैत्यों ने प्रयोधर्म की वार्ता का भी त्याग कर दिया ॥२३॥ अब उन दैत्यों में से कोई वेदो की, कोई यज्ञानुष्ठान आदि की तथा कोई ब्राह्मणों की ही निन्दा करने लगे ॥२४॥ उन्होंने परस्पर में कहा—हिंसा में भी धर्म है—यह कथन युक्ति सम्यक्त नहीं है और धर्म में हवि भोजन से फल की प्राप्ति होगी—यह भी अज्ञानियों की ही बात है ॥२५॥ घनेको घनों से द्वारा देवत्व को प्राप्त होकर यदि इन्द्र को सभी आदि वायु ही खाना पड़ता है तो उससे पत्रमक्षी पशु ही उत्तम है ॥२६॥ यदि यज्ञ में बलि होने वाले पशु को स्वर्ग मिलता है तो यजमान अपने पिता का बलिदान करके ही उसे स्वर्ग क्यों नहीं प्राप्त करा देता ॥२७॥ यदि निमी धीरे के भोजन करने से कोई वृत्त हो सकता है, तो विदेश जाने के समय भोजन जामघी साथ ले जाने का परिश्रम ही क्यों किया जाय ? फिर तो पुत्रगण घर पर आद्वार करके ही उसे वृत्त कर दिया करे ॥२८॥ इसलिए इनके वेदवध्न्य अर्थात् समझकर इसकी उपेक्षा करना उचित है, तथा श्रेय-विद्धि ने लिये मेरे वचनों में चित

लगाना चाहिये ॥२६॥ हे अशुरो ! आस वाक्यो के आकाश से वर्षा नहीं होती,
हम, तुम या अन्यान्य सभी जो यथायं हो, उसे ही ग्रहण कर लें ॥३०॥

मायामोहेन ते दैत्याः प्रकारैर्वहुमिस्तथा ।
व्युत्पापिता यथा नैपां त्रीं कश्चिदरोचयत् ॥३१॥
इत्यनुमार्गयातेषु तेषु दैत्येषु तेऽमराः ।
उद्योग परम कृत्वा युद्धाय समुपस्थिताः ॥३२॥
ततो देवासुरं युद्धं पुररेवाभवद् द्विज ।
हंताश्च तेऽमरा देवैः सन्मार्गपरिपन्थिनः ॥३३॥
स्वधर्मकवचं तेषामभूद्यत्प्रथमं द्विज ।
तेन रक्षाभवत्पूर्वं नेशुर्नष्टे च तत्र ते ॥३४॥
ततो मैत्रेय तन्मार्गवर्तिनो येऽभवच्छ्रुत्वा ।
नन्मास्ते तैर्यतस्त्यक्त त्रींसवरणं तथा ॥३५॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थस्तथाश्रमी ।
परिव्राट् वा चतुर्योऽयं पञ्चमो नोपपद्यते ॥३६॥
यस्तु सन्त्यज्य गार्हस्थ्यं वानप्रस्थो न जायते ।
परिव्राट् चापि मैत्रेय स तनः पापकृष्णरः ॥३७॥

श्री पराशर जी ने कहा—ऐसी अनेक मुक्तियों, से, मायामोह ने दैत्यों को स्वधर्म से विचलित किया, जिससे उस त्रयोधर्म में उनकी किंचित भी हर्षि नहीं रही ॥३१॥ इस प्रकार जब दैत्यगण पूर्णतया विपरीतमार्गों होगये, तब युद्ध के लिये सब प्रकार से तैयार हुए देवगण युद्ध की इच्छा से उनके पास पहुँचे । ३२॥ फिर तो देवताओं और अशुरों ने फिर धोर युद्ध होने लगा । उस युद्ध में सन्मार्ग-भ्रष्ट दैत्यों का भीषण सहार हुआ ॥३३॥ दैत्यों के पास का जो स्वधर्म कभी बचन उनही रखा नियो हुआ था, इस बार उसके नष्ट होने से वे दैत्यगण भी नाश को प्राप्त हुए ॥३४॥ हे मैत्रेय जी ! उस समय से मायामोह द्वारा प्रवर्तित मार्ग के अनुयायी हो 'भग' बड़े पाने सगे, क्योंकि उन्होंने वेदमयी हवी वस्त्र का परित्याग कर दिया था ॥३५॥ ब्रह्मचारी- गृहस्थ, वानप्रस्थ और गन्धारी मही पार आश्रम हैं, पाँचवाँ आश्रम कोई नहीं है ॥३६॥ हे मैत्रेयजी !

जो पुरुष गृहस्थायम को त्याग कर भी वानप्रस्थ या संन्यास ग्रहण नहीं करता वह पाप कर्मों भी 'नग्न' संज्ञक हो है । ३७॥

नित्यानां कर्मणां विप्र तस्य हानिरहनिशम् ।

अकुर्वन्विहितं कर्म शक्तः पतति तद्दिने । ३८॥

प्रायश्चित्तेन महता शुद्धमाप्नोत्यनापदि ।

पक्षं नित्यक्रियाहानेः कर्त्ता भैत्रेय मानवः । ३९॥

सर्वत्सरं क्रियाहानिर्यस्य पुंसोऽभिजायते ।

तस्यावलोकनात्सूर्यो निरोक्ष्यस्तावुभिस्सदा । ४०॥

स्पृष्टे स्नानं सचैलस्य शुद्धे हेतुर्महामते ।

पुंसो भवति तस्योक्ता न शुद्धिः पापकर्मणः । ४१॥

देवपितृभूतानि यस्य निःश्वस्य वेदमनि ।

प्रयास्यनृषितान्यत्र लोके तस्मान्न पापकृत् । ४२॥

सम्भाषणानुप्रदनादि सहास्यां चैव कुर्वतः ।

जायते तुल्यता तस्य तेनैव द्विज वत्सरात् । ४३॥

देवादिनिःश्वासहतं शरीरं यस्य वेदम च ।

न तेन सद्गुरुं कुर्याद् गृहासनपरिच्छदेः । ४४॥

अथ भुङ्क्ते गृहे तस्य करोत्यास्यां तथासने ।

शेते चाप्येकशयने स सद्यस्तत्समो भवेत् । ४५॥

हे ब्रह्मन् ! सशक्त होकर भी जो विहित कर्म नहीं करता, वह उसी दिन अपने धर्म ॥ गिर जाता है और एक दिन-रात्रि में ही उसके सब नित्यकर्म भंग हो जाते हैं ॥ ३८॥ हे भैत्रेय जी ! आपत्तिंकास के प्रतिरिक्त कभी भी एक पक्ष तक जो नित्यकर्म नहीं करता, उसकी शुद्धि महाप्रायश्चित्त के बिना नहीं हो सकती ॥ ३९॥ एक वर्ष तक नित्य क्रिया न करने वाले पुरुष पर दृष्टि पड़ जाने से जो पाप होता है, उसकी निवृत्ति के लिये मृत्यु भगवान् का दर्शन करे ॥ ४०॥ हे महामते ! ऐसे पुरुष का स्पर्श हो जाने पर शुद्धि के लिए वस्त्र सहित स्नान करना चाहिये । परन्तु उस पापात्मा की शुद्धि के लिये कोई विधान नहीं है ॥ ४१॥ जिसके घर से देवता, ऋषि, पितर, मूलादि पूजित न

न होने के कारण निश्वास का त्याग करते हुए विमुख चले जाते हैं उस पुरुष से बढ़कर और कोई पापी ससार में नहीं है ॥४२॥ यदि ऐसे मनुष्य के साथ कोई एक वर्ष तक सम्भाषण या कुशल प्रश्न करता हुआ बंटे उठे तो वह भी उसी के जैसा हो जाता है ॥४३॥ जिस पुरुष का शरीर या घर देवता आदि के निश्वास से युक्त है, उसके आसन से अपने आसन का और उसके वस्त्र से अपने वस्त्र का स्पर्श न करे । न उसके घर में स्वयं जाय और न उसे घाने दे ॥४४॥ जो पुरुष वैसे पुरुष के घर में जाकर भोजन या आसन ग्रहण करता या उसके साथ एक शय्या पर सोता है, वह उसी के समान हो जाता है ॥४५॥

देवतापितृभूतानि तयानभ्यर्च्य योऽतिथीन् ।

भुङ्क्ते स पातक भुङ्क्ते निष्कृतिस्तस्य नेष्यते ॥४६॥

ब्राह्मणाद्यास्तु ये वर्णास्स्वधर्मादन्यतोमुखाः ।

यान्ति ते नमनसज्ञा तु हीनकर्मस्त्वस्थिता ॥४७॥

चतुर्णां यत्र वर्णानां मैत्रेयात्यन्तसङ्करः ।

तत्रास्या साधुवृत्तीनामुपघाताय जायते ॥४८॥

अनभ्यर्च्य ऋषीन्देवान्पितृभूतातिथीस्तथा ।

यो भुङ्क्ते तस्य सैल्लापात्पतन्ति नरके नरा ॥४९॥

तस्मादेतान्नरो नम्राख्योऽनरयागदूषितान् ।

सर्वदा वर्जयेत्प्राज्ञ आलापस्पर्शनादिषु ॥५०॥

श्रद्धावद्भिः वृत यत्नाद्देवान्पितृपितामहान् ।

न प्रीणयति तच्छ्राद्धं यद्येभिरवलोचितम् ॥५१॥

जो पुरुष देव, पितर, भूत, अतिथि का पूजन किये बिना ही स्वर्ग भोजन कर लेता है, वह पापमय भोजन करने के कारण सुभक्ति का अधिकारी नहीं होता ॥४६॥ जो ब्राह्मणादि वर्ण करने धर्म का त्याग कर अन्य वर्णों के धर्म में प्रवृत्त होवे या नीच कृत्ति का धारण सेते हैं, वे 'नम्र' बहे जाते हैं ॥४७॥ हे मंत्रेय जी ! जिस स्थान में चारों वर्णों का साथ तत्सर्वरस (मिश्रण) हो, वहाँ निवास करने वाले मनुष्य की साधुवृत्तियाँ भी नष्ट हो जाती हैं ॥४८॥ जो पुरुष ऋषि, देवता, पितर, भूत और अतिथि का सम्भार न करके स्वयं

तृतीय अंश-अ० १८]

भोजन करना है, उससे बातचीत करने वालों को भी नरक की प्राप्ति होती है ॥४६॥ इसलिये वेदग्रन्थों के छोड़ने से दूषित हुए इन भक्त पुरुषों के साथ सम्भाषण और स्पर्शादि का भी त्याग करना चाहिए ॥४७॥ इनकी दृष्टि पड़ने मात्र से श्रद्धावान् पुरुषों का श्रद्धा सहित किया जाने वाला धार्मिक देवताओं, पितरों या पितामहों की वृत्ति बाधा नहीं होता ॥४८॥

श्रूयते च पुरा ख्यातो राजा दत्तधनुर्भुवि ।
पत्नी च शैब्या तस्याभूदतिधर्मपरायणा ॥४९॥
पतिव्रता महाभागा सत्यशौचदयान्विता ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना विनयेन नयेन च ॥५०॥
स तु राजा तया साष्टं देवदेवं जनादेनम् ।
धाराधयामास विभुं परमेण समाधिना ॥५१॥
होमैर्जपैस्तथा दानैरुपवासैश्च भक्तिः ।
पूजाभिश्चानुदिवसं तन्मना नान्यमानसः ॥५२॥
एकदा तु समं स्नातो तौ तु भार्यापती जले ।
भागोरथ्यास्तमुत्तीर्णौ कात्तिक्यां समुपोषितौ ।
पापण्डिनमपश्येतामायान्तं सम्मुखं द्विज ॥५३॥
आपाचार्यस्य तस्यासी सखा राज्ञो महात्मनः ।
अतस्तदगौरवात्तेन सखाभावमथाकरोत् ॥५४॥
न तु सा वाग्यता देवी तस्य पत्नी पतिव्रता ।
उपोषितास्मीति रवि तस्मिन्हृष्टे ददर्श च ॥५५॥
समागम्य यथान्यायं दम्पती तौ यथाविधि ।
विष्णोः पूजादिकं सर्वं कृतवन्तौ द्विजोत्तम ॥५६॥

सुनते हैं कि प्राचीन काल में एक दत्तधनु नामक प्रसिद्ध राजा इस मूल पर हुआ था । उसकी धर्म परायणा पत्नी का नाम शैब्या था ॥५२॥ यह महाभागा रानी पतिव्रत, शौच, सत्य, दया, विनय, नीति आदि सभी गुणों से सम्पन्न थी ॥५३॥ उस रानी के साथ राजा दत्तधनु ने परम समाधि साधन द्वारा देवदेव भगवान् जनादेन का धाराधन किया ॥५४॥ वे नित्यप्रति तन्मयता

स्मर्यता तन्महारिज दाक्षिण्यतलितं त्वया ।

येन श्वयोनिर्मा पन्नो मम चाटुकरो भवान् ॥६८॥

पापण्डिन समाभाष्य तोर्यस्नानादनन्तरम् ।

प्राप्तोऽसि कुलिता योनिं किञ्च स्मरसि तत्प्रभो ॥६९॥

समय पाकर वह राजा शशधनु मृत्यु को प्राप्त हुआ और रानी सौम्या ने भी चितारूड राजा के अनुगमन पूर्वक सतीयमें का बालन किया ॥६०॥ उस राजा ने उपवास-नाल में पाषाणों से सम्भाषण किया था, इसलिये उसे अपने उस पाप के कारण श्वान योनि में जन्म लेना पड़ा ॥६१॥ तब उस शुभलक्षणा रानी ने काशीनरेश के यहाँ जन्म लिया, वह सब प्रकार के विज्ञान को जानने वाली, सभी थोड़े लक्षणों से युक्त तथा पूर्व जन्म की याद रखने वाली हुई ॥६२॥ काशीनरेश ने जब उसका विवाह करना चाहा, तब अपनी कन्या की अनिच्छा जानकर वह उस कार्य से उपरत हुए ॥६३॥ जब उस कन्या ने दिव्य दृष्टि से यह ज्ञान लिया कि उसके पति ने कुत्ते का जन्मधारण किया है, तब उसने विदिता नगर में जाकर उसे श्वान के रूप में देखा ॥६४॥ उसने अपने महानाथ पति को उन रूप में देखकर उसे सन्तार सहित भोजन कराया ॥६५॥ रानी के द्वारा प्राप्त हुए उस मुम्बाहु, मधुर और इच्छित भोजन का सेवन कर वह अपनी जाति के अनुकूल विभिन्न प्रकार की चाटुकारिता दिखाने लगा ॥६६॥ परन्तु उस चाटुकारिता प्रदर्शन के कारण सकोच में पड़ी हुई बाला ने कुलिता योनि को प्राप्त हुए अपने उस पति को प्रणाम करके कहा ॥६७॥ हे महाराज ! आप अपनी उस उदारता को याद करिये, जिसके कारण आप इस कुत्ते की योनि को पाकर मेरी चाटुकारिता कर रहे हैं ॥६८॥ हे प्रभो ! क्या आपको याद नहीं है कि आपने तोर्य-स्नान के पश्चात् उस पाषाणों से सम्भाषण किया था, जिनके कारण आपको इस कुत्तिक योनि में आना पड़ा है ॥६९॥

तथैव स्मारिते तस्मिन्पूर्वजातिवृत्ते तदा ।

दध्यौ चिरमयावाप निर्वेदमतिदुर्लभम् ॥७०॥

पूर्वक होम, जप, दान, उपवास तथा पूजनादि के द्वारा भक्तिपूर्वक भगवान् की आराधना करने लगे ॥५५॥ एक दिन जब कार्तिकी पूर्णिमा आई तब उन, पति-पत्नी दोनों ने उपवास पूर्वक श्री गंगा जी में एक साथ स्नान किया और जब वे जल से बाहर निकले तब उन्होंने एक पाक्षण्डी को सामने से माता हुआ देखा ॥५६॥ उस महात्मा राजा को जो घनुर्वेद सिखाने वाले आचार्य थे, उनका यह ब्राह्मण मित्र था, इसलिये आचार्य के गौरव के विचार से राजा ने उसके साथ मित्र जैसा व्यवहार किया ॥५७॥ परन्तु उस पतिव्रता रानी ने उस ब्राह्मण को कोई आश्र नहीं किया, वह चुप रही और अपने को उपवास युक्त मानकर उसने सूर्य भगवान् का दर्शन किया ॥५८॥ फिर उन पति पत्नी दोनों ने विधिपूर्वक भगवान् श्रीहरि के पूजनादि कार्यों को सम्पन्न किया ॥५९॥

कालेन गच्छता राजा ममारासी सपत्नजित् ।
 भन्वाररोह त देवी चितास्य भूपति पतिम् ॥६०॥
 स तु क्षेनापचारेण आ जप्ते वसुधाधिप ।
 उपोषितेन पापण्डसेल्लापो यत्कृतोऽभवत् ॥६१॥
 सा तु जातिस्मरा जप्ते काशीराजमुता शुभा ।
 सर्वविज्ञानसम्पूर्णा सर्वलक्षणपूजिता ॥६२॥
 ता पिता दातुवामोऽभूद्वयय विनिवारित ।
 तथैव तन्या विरतो विवाहारम्भतो नृप ॥६३॥
 ततस्मा दिव्यया दृष्ट्या दृष्ट्वा ध्यान निज पतिम् ।
 विदिशाम्य पुरं गत्वा तदवस्थ ददर्श तम् ॥६४॥
 त दृष्ट्वैव महाभाग अभूत तु पति तदा ।
 ददौ तस्मै वराहारं सत्वारप्रवर्ण शुभा ॥६५॥
 भुञ्जन्दत्त तया सोऽग्रमतिमृष्टमभीप्सितम् ।
 स्वजातिनतित भुवंबहु पादु चमार यं ॥६६॥
 भर्ताव श्रीहिता माता भुर्वता पादु तेन सा ।
 प्रणामपूर्वमाहेद ददित त भुयोनिजम् ॥६७॥

स्मर्यतां तन्महाराज दक्षिण्यललित त्वया ।

येन श्रयोनिर्मां पत्नो मम चाटुकरो भवान् ॥६८॥

पापण्डिन समामाप्य तीर्थस्नानादनन्तरम् ।

प्राप्तोऽसि कुलिता योनिं किञ्च स्मरसि तत्प्रभो ॥६९॥

समय पाकर वह राजा घातघनु मृत्यु को प्राप्त हुआ और रानी दीव्या ने भी चितारुद्र राजा के अनुमन पूर्वक सतीधर्म का पालन किया ॥६०॥ उस राजा ने उपवास-काल में पावरुहों से सम्भाषण किया था, इसलिये उसे अपने उस पाप के कारण इकान योनि में जन्म लेना पड़ा ॥६१॥ तब उस पुमसत्तया रानी ने कासीनरेश के वहाँ जन्म लिया, वह सब प्रकार के विज्ञान को जानने वाली, सभी श्रेष्ठ तत्त्वों से युक्त तथा पूर्व जन्म की याद रखने वाली हुई ॥६२॥ कासीनरेश ने जब उमरा बिवाह करना चाहा, तब अपनी कन्या की प्रतिष्ठा जानकर वह उस कार्य से उत्तर दे हुए ॥६३॥ जब उस कन्या ने दिव्य दृष्टि से यह जान लिया कि उसके पति ने कुत्तों का जन्मधारण किया है, तब उसने विदिशा नगर में जाकर उसे श्वाक के रूप में देखा ॥६४॥ उसने अपने महाभाग पति को उस रूप में देखकर उसे उत्कार सहित मौन करवा ॥६५॥ रानी के द्वारा प्राप्त हुए उस सुन्बाहु, मधुर और इच्छित भोजन का सेवन कर वह अपनी जाति के घनुह्व विविध प्रकार की चाटुकारिता दिखाने लगा ॥६६॥ परन्तु उस चाटुकारिता प्रदर्शन के कारण शरीर में पड़ी हुई काला ने कुलिता योनि को प्राप्त हुए अपने उस पति को प्रणाम करके कहा ॥६७॥ हे महाराज ! आप अपनी उस उदारता को याद करिये, जिसके कारण आप इस कुत्तों की योनि को पाकर मेरी चाटुकारिता कर रहे हैं ॥६८॥ हे प्रभो ! क्या आपको याद नहीं है कि आपने तीर्थ-स्नान के पश्चात् उस पावरुहों से सम्भाषण किया था, जिसके कारण आपको दश कुलिता योनि में माना पड़ा है ॥६९॥

तथैव स्मारिते तस्मिन्पूर्वजातिकृते तदा ।

दध्यो चिरमवावाप निर्वेदमतिदुर्लभम् ॥७०॥

निर्विण्णचित्तस्स ततो निर्गम्य नगराद्वहिः ।
 मरुत्प्रपतनं कृत्वा शार्गाली योनिमागतः ॥७१॥
 सापि द्वितीये सम्प्राप्ते वीक्ष्य दिव्येन चक्षुषा ।
 ज्ञात्वा शृगालं तं द्रष्टुं ययौ कोलाहलं गिरिम् ॥७२॥
 तत्रापि दृष्ट्वा तं प्राह शार्गाली योनिमागतम् ।
 भर्तारमपि चावंङ्गी तनया पृथिवीक्षितः ॥७३॥
 अपि स्मरसि राजेन्द्र श्रयोनिस्तस्य यन्मया ।
 प्रोक्तं ते पूर्वचरितं पापण्डालापसत्रयम् ॥७४॥
 पुनस्तपोक्तं स ज्ञात्वा सत्यं सत्यवतां वरः ।
 कानने स निराहारस्तस्याज स्वं कलेवरम् ॥७५॥
 भूयस्ततो वृको जजे गत्वा तं निर्जने वने ।
 स्मरयामास भर्तारि पूर्ववृत्तमनिन्दिता ॥७६॥
 न त्वं वृको महाभाग राजा शतघनुर्भवान् ।
 श्वा भूत्वा त्वं शृगालोऽभूवृक्त्वं साम्प्रत गतः ॥७७॥

श्री पाराशर जी ने कहा—उम काशी नरेश की पुत्री ने जब इस प्रकार पाद दिखाई तब वह दवान बहुत देर तक अपने पूर्व जन्म की याद करता रहा जब उसे दुर्लभ निर्वन्द पति की प्राप्ति हुई ॥७०॥ उसने अत्यन्त दुःखित चित्त से नगर के बाहर जाकर अपने प्राणों का त्याग किया, तब उसे शृगाल योनि की प्राप्ति हुई ॥७१॥ जब काशिराज मुना ने दिव्य दृष्टि से उसे शृगाल हुआ जाना, तब वह उसे देखने के लिये उम कोलाहल पर्वत पर पहुँची ॥७२॥ जहाँ उसे शृगाल योनि में पड़ा हुआ देखकर उसने उससे कहा ॥७३॥ हे राजेन्द्र ! जब भाग दवान-योनि में थे, तब पूर्व जन्म में उम पातालही से सम्भाषण करने वाली घटना की मैंने याद दिलाई थी, क्या वह बात आपकी याद है ? ॥७४॥ सत्यशालर्षी ने धैर्य उस राजा शतघनु ने काशिराज की पुत्री की बात सुनकर जब वृत्तान्त जान लिया और पाटार के वरिष्ठान पूर्व जन्म करने देह का त्याग किया ॥७५॥ फिर उसने भेड़िया का जन्म लिया, उस समय भी वह धनिरिक्ता राजकुत्री निर्बल बन में पहुँची और उसने अपने पति से पूर्व जन्म

की याद दिलाई ॥७६॥ हे महाभाग ! आप भेडिया नहीं हैं, आप तो राजा शतपथ हैं। आपने क्रमशः कृता, शृगाल धीरे धीरे भेडिया का जन्म लिया है ॥७७॥

स्मारितेन यदा त्यक्तस्तेनात्मा भृघता गतः ।
अपापा सा पुनश्चैनं बोधयामास भामिनी ॥७८॥
नरेन्द्र स्मर्यतामात्मा ह्यलं ते गृध्रचेष्टया ।
पापण्डालापजातोऽयं दोषो यत्तृघ्नतां गतः ॥७९॥
ततः काकत्वमापन्नं समनन्तरजन्मनि ।
उपाच तन्वी भर्तारिभुपलभ्यात्मयोगतः ॥८०॥
अशेषभूभृतः पूर्वं वक्ष्या यस्मै वलिं ददुः ।
स त्वं काकत्वमापन्नो जातोऽयं वलिभुक् प्रभो ॥८१॥
एवमेव च काकत्वे स्मारितस्स पुरातनम् ।
तस्याज भूपतिः प्राणान्मयूरत्वमवाप च ॥८२॥

उसके इस प्रकार याद दिलाने पर राजा ने भेडिया की योनि छोड़ दी। तब उसे गृध्र होना पड़ा। उस योनि में भी उसकी पाप-रहित पत्नी ने उसे पूर्व वृत्तान्त का स्मरण कराया ॥७८॥ हे राजर् ! आप अपने रूप की याद करिये। इन गृध्र पेशाओं का त्याग कीजिये, क्योंकि पाण्डुही से सम्नापण करने के कारण ही आपको इस योनि की प्राप्ति हुई है ॥७९॥ उस योनि का परित्याग करने पर उसे कौए की योनि मिली। तब भी उस सुन्दरी ने योग बन से उसका वृत्तान्त जानकर और उसके पास पहुँचकर उससे कहा ॥८०॥ हे प्रभो ! आप वही हैं, जिनकी आशीर्षा की प्राप्ति हुए समस्त सामन्तगण विभिन्न प्रकार की भेंट प्रस्तुत करते थे। आज आप इस काक-योनि में घातुर वलि का भोजन करने वाले हुए हैं ॥८१॥ इस प्रकार पूर्व जन्म की याद दिलाये जाने पर राजा ने काक-योनि को त्यागकर मोर की योनि प्राप्त की ॥८२॥

मयूरत्वे ततस्सा वै चकारानुगतिं शुभा ।
दत्तं प्रतिक्षाम्य भोज्यंवालिं सञ्जातिभोजनैः ॥८३॥

ततस्तु जनको राजा वाजिमेघं महाक्रतुम् ।
 चकार तस्यावभृथे स्नापयामास त तदा ॥८४॥
 सस्नौ स्वयं च तन्वङ्गी स्मारयामास चापि तम् ।
 यथासौ श्वशृगास्तादियोनिं जग्राह पार्थिवः ॥८५॥
 स्मृतजन्मक्रमस्सोऽयं तत्याज स्वबलेवरम् ।
 जज्ञे स जनकस्यैव पुत्रोऽसौ सुमहात्मनः ॥८६॥
 ततस्सा पितरं तन्वी विवाहार्थमचोदयत् ।
 स चापि कारयामास तस्या राजा स्वयवरम् ॥८७॥
 स्वयवरे कृते सा त सम्प्राप्त पतिमात्मनः ।
 वरयामास भूयोऽपि भर्तुं भावेन भामिनी ॥८८॥
 ब्रुमुजे च तया सार्द्धं सम्भोगान्पुनन्दन ।
 पितृर्पुण्ड्रं राज्ञः विदेहेषु वफारः कः ॥८९॥
 इयाज यज्ञान्मुवहूददौ दानानि चार्थिनाम् ।
 पुत्रानुत्पादयामास युयुधे च सहारिभिः ॥९०॥

उस योनि मे भी काशिराजपुत्री ने उसे प्रतिक्षण मयूरोचित श्वश्रु
 ग्राह्यार देते हुए उसका सेवा की ॥८३॥ जिस समय राजा जनक ने अश्वमेध
 का अनुष्ठान किया । उस महामह मे अवभृथ स्नान के समय उस मोर को
 स्नान कराया गया ॥८४॥ फिर उस राजकन्या ने स्वयं भी स्नान किया और
 मधुर रूपी राजा को उनकी श्वान, शृगाल आदि योनियों का स्मरण कराया
 ॥८५॥ सब वृत्तान्त के बाद चलने पर उसने अपने मयूर-देह भी छोड़ दिया
 और राजा जनक के ही घर मे पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ ॥८६॥ फिर उस
 राजकुमारी ने अपने विवाह के लिये अपने पिता को प्रेरित किया, तब राजा ने
 उसका स्वयवर रचाया ॥८७॥ स्वयवर का आयोजन होने पर स्वयवर मे भागे
 अपने उस पति वा उस राजपुत्री ने पुनः पतिभाव से वरण किया ॥८८॥ फिर
 उस राजकुमार ने काशिराज पुत्री के साथ अनेक भोगों को भोगते हुए अपने
 पिता के मरणोपशान्त विदेह नगर का राजपद सम्माला ॥८९॥ उसने अनेकानेक

यज्ञ किये, याचकों को इच्छित दान दिये, अनेक पुत्रों की उत्पत्ति की ओर राजकुमारों के साथ अपनेको भीषण युद्ध किये ॥६०॥

राज्य भुक्त्वा ययान्याव पालयित्वा वसुन्धराम् ।
तत्याज स प्रियान्प्राणान्मग्राभे घर्मतो नृप ॥६१॥
तनश्चिताश्च त भूयो भर्तार सा शुभेक्षणा ।
अन्याहरोह विधिवद्ययापूर्वं मुदाविता ॥६२॥
ततोऽवाप तया साद्वं राजपुत्र्या स पार्यिव ।
ऐन्द्रानतीत्य वै लोकांल्लोकान्प्राप तदाक्षयात् ॥६३॥
स्वर्गाक्षयत्वमतुल दाम्पत्यमतिदुर्लभम् ।
प्राप्त पुण्यफल प्राप्य सशुद्धिं ता द्विजोत्तम ॥६४॥
एष पापण्डसम्भापादोप प्रोक्तो मया द्विज ।
तयाद्वमेधावभृयस्नानमाहात्म्यमेव च ॥६५॥
तस्मात्पापण्डिभि पापंरालापस्पर्शन त्यजेत् ।
विशेषत त्रिाकाले यज्ञादौ चापि दीक्षित ॥६६॥
क्रियाहानिगृहे यस्य मासमेक प्रजायते ।
तस्यावलोकनात्सूर्य पश्येत् मतिमान्तर ॥६७॥

१ इस प्रकार उसने पृथिवी का ग्यायपूर्वक पालन और राज्य-गुणों का उपभोग किया तथा अन्त में घम युक्त युद्ध करते हुए ही अपने प्राणों का परि-
त्याग कर दिया ॥६१॥ जब पहिले के समान ही उस सुन्दर नयन बानी रानी ने
अपने पितामह पति के साथ परलोक गमन किया ॥६२॥ इस प्रकार राजकुमारी
सहित नम्र राजा ने इन्द्रलोक से भी वद्वर अमय लोको को प्राप्त किया
॥६३॥ हे द्विजवर ! इस प्रकार शुद्धि को प्राप्त हुए उस राजा ने अतुलित एव
अमय स्वर्ग, अत्यन्त दुर्लभ दाम्पत्य तथा अपने पुण्य के फल का प्राप्त किया
॥६४॥ हे द्विज ! इस प्रकार मैं तुम्हारे प्रति पाखण्डी स वार्तालाप करने
का दोष और अस्वमेध यज्ञ में अवभृय स्नान करने का माहात्म्य कहा है ॥६५॥
एकलिये पाखण्डियों और पापकर्मियों से कभी सम्भाषण या उनका स्पर्श नहीं
करना चाहिए । विशेषकर नित्य नैमित्तिक कर्मों के समय या यज्ञादि क्रियाओं

मे दीक्षित होने पर तो उनके ससर्ग से बचना ही चाहिये ॥६६॥ जिसके घर में एक महीने तक नित्यकर्म न हुए हो, उस पुरुष का दर्शन मात्र होने पर सूर्य का दर्शन करना चाहिए ॥६७॥

किं पुनर्यस्तु सन्त्यक्ता त्रयी सर्वात्मना द्विज ।
पापण्डभोजिभिः पापैर्वेदवादविरोधिभिः ॥६८॥
सहालापस्तु ससर्गं सहास्या चातिपापिनी ।
पापण्डिभिर्दुराचारैस्तस्मात्तान्परिवर्जयेत् ॥६९॥
पापण्डिनो विकर्मस्यान्वैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हेतुकान्वकवृत्तीश्च बाढ्भात्रेणापि नार्चयेत् ॥७०॥
दूरतस्तैस्तु सम्पर्कस्याप्यश्चाप्यतिपापिभिः ।
पापण्डिभिर्दुराचारैस्तस्मात्तान्परिवर्जयेत् ॥७१॥
एते नग्नास्तवाख्याता दृष्टा श्राद्धोपधातका ।
येषां सम्भाषणात्पुसा दिनपुण्यं प्रणश्यति ॥७२॥
एते पापण्डिनः पापा न ह्येतानालपेद् बुधः ।
पुण्यं नश्यति सम्भाषादेतेषां तद्दिनोद्भवम् ॥७३॥
पुसा जटाधरणमौण्ड्यवता वृषैव

मोघाशिनामखिलशौचनिराकृतानाम् ।

तोयप्रदानपितृपिण्डयहिष्कृतानां

सम्भाषणादपि नरा नरकं प्रयान्ति ॥७४॥

वेदत्रयी धर्म के त्यागी, पास्तण्डियो का भ्रम भोजन करने वाले और वैदिक धर्म का विरोध करने वाले उन पापियों को देख लेने पर तो उपाय ही क्या कहा जाय ? ॥६८॥ इन दुराचारियों के साथ सम्भाषण करना, सम्पर्क रखना या उठना बैठना भी पाप है इसलिए उनका त्याग करना ही उचित है ॥६९॥ पाण्डु, कुर्मो, विषाकर पाप करने वाले, दुष्ट, स्वार्थी तथा वगुला वृत्ति वाले मनुष्यों का बचनों से भी सत्कार न करे ॥७०॥ इन पास्तण्डियों, दुराचारियों और भ्रष्ट पापियों का ससर्ग दूर, से ही त्याग देना चाहिए । इसलिये इनसे सदा ही बचे ॥७१॥ इस प्रकार नानों के विषय में मैंने तुमसे

कहा है, जिनके देखने से ही धाढ़ का क्षय हो जाता है तथा जिनसे वार्तालाप करने मात्र से एक दिन का पुण्य नष्ट हो जाता है ॥१०२॥ ऐसे यह पावण्ड्री अत्यन्त पापी होते हैं; बुद्धिमानों को इनसे कभी भी वार्तालाप नहीं करना चाहिये । क्योंकि वार्तालाप करने से ही उस दिन का पुण्य क्षीण हो जाता है ॥१०३॥ जो अकारण ही जटा धारण करते और फिर मुँहा लेते हैं, जो देवता, प्रतिमि को भोजन कराये बिना ही स्वयं खा खेतें हैं, तथा जो सब प्रकार से अशुद्ध और जलदान-पिण्डदान आदि से बहिष्कृत हैं, उन व्यक्तियों से बातचीत करने वालों को भी नरक की प्राप्ति होती है ॥१०४॥



चतुर्थ अंश

पहला अध्याय

भगवन्मन्त्रैः कार्यं साधुकर्मण्यवस्थितम् ।
तन्मह्यं गुरुणा रघोः नित्यनैमित्तिकात्मकम् ।
वर्णधर्मास्तथाख्याता धर्मा ये चाश्रमेषु च ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं वशं राज्ञा तद् ब्रूहि मे गुरो ॥२॥

मैत्रेय श्रूयतामयमनेकयज्वशूरवीरधीरभूपालालङ्कृतो ब्रह्मादि-
मनिवो वंश ॥३॥ तदस्य वशस्यानुपूर्वमशेषवक्षपापप्रणाशनाय मैत्रेयंता
कथा शृणु ॥४॥

तद्यथा सकलजगतामादिरनादिभूतस्स अग्न्यजुस्सामादिमयो
भगवान् विष्णुस्तस्य ब्रह्माणोऽमृतं रूपं हिरण्यगर्भो ब्रह्माण्डभूतो ब्रह्मा
भगवान् प्राग्वभूव ॥५॥ ब्रह्माणश्च दक्षिणाङ्गुष्ठजन्मा दक्षप्रजापतिः
दक्षस्याप्यदितिरदितो विवस्वान् विवस्वतो मनु ॥६॥ मनोरिक्वाबुनृगधृष्ट-
क्षर्यातिनरिप्सन्तप्रागुनाभागदिष्टकरूपपृषध्वाख्या दश पुत्रा बभूवुः ॥७॥

श्री मैत्रेयजी ने कहा—हे भगवन् ! साधु कर्मों ॥ अथर्वित पुराणों के
करने योग्य उन सभी नित्य-नैमित्तिक कर्मों को आपने मुझसे कह दिया ॥१॥
हे गुरो ! आपने वर्ण-धर्मों और आश्रम-धर्मों की भी व्याख्या कर दी, अथ मैं
राजवर्णों को सुनने की इच्छा करता हूँ, इसलिये वह विषय मेरे प्रति कहिये
॥२॥ श्री पराशरजी ने कहा—हे मैत्रेयजी ! जिस वंश के आदि वर्त्ता ब्रह्माजी
हैं, उस घनेही यज्ञ वाले, दूर, वीर और धीरजवान् राजाघो से मुनीभिः मनु-
वंश का वर्णन मुनी ॥३॥ हे मैत्रेयजी ! आपने वंश के सब पापों को मिटाने के
लिये इस वंश की परम्परा-गाथा को यत्न से सुनी ॥४॥ वह इस प्रकार है—
सम्पूर्ण अग्न के आदि कारण भगवान् विष्णु हैं । वे बनाये

चतुर्थ अंश-अ० १]

हैं। उन्होंने ब्रह्म स्वस्व भगवान् के मूर्त रूप में ब्रह्माण्डमय एवं हिरण्यगर्भ
ब्रह्माजी सर्व प्रथम उत्पन्न हुए ॥१॥ उन ब्रह्माजी के बाँए अंगुष्ठ से दक्ष अजा-
पति की उत्पत्ति हुई, दक्ष से अदिति का जन्म हुआ और अदिति ने भगवान्
विवस्वान् को प्रकट किया। उन्हीं विवस्वान् से मनु की उत्पत्ति हुई ॥६॥ मनु
का दक्ष पुत्र हुए जिनके नाम इक्ष्वाकु, नृप, धृष्ट, क्षात्रि, नरिष्यन्त, प्राशु,
माताग, दिष्ट, बरुप और पृथघ थे ॥७॥

इष्टि च मित्रावरुणयोर्मनु पुत्रकामश्चकार ॥८॥ तत्र तावदपह्लते
होतुरपचारादिला नाम कन्या बभूव ॥९॥ तत्र च मित्रावरुणयो
प्रमादात्सुद्युम्नो नाम मनो पुत्रो भवेय आसीत् ॥१०॥ पुनश्चेश्वरको-
पात्सौ सती सा तु सोममूत्रोर्बुध्नस्याश्रमसमीप बध्नाम ॥११॥ सानुरागश्च
तस्या बुध पुरुरवसमात्मजमुत्पादयामास ॥१२॥ जातेऽपि तस्मिन्मित्र-
तेनोभि परमपिभिरिष्टिमय ऋद्धभ्यो यजुर्मयस्साममयोऽयर्वणम-
यस्सर्ववेदमयो मनोमयो ज्ञानमयो न विश्विन्मयोऽतमनो भगवान्
यज्ञपुरषस्वरूपी सुद्युम्नस्य पुंस्त्वमभिलषद्भिर्वंध्यावदिष्टस्तत्प्रसादादिला
पुनरपि सुद्युम्नोऽभवत् ॥१३॥ तस्याप्युत्कलयविनताक्षय पुत्रा
बभूवु ॥१४॥

पुत्र की कामना से मनु ने मित्रावरुण की प्रसन्नता के लिये यज्ञ किया
॥८॥ परन्तु, होता के विपरीत सकल्प से उस यज्ञ में विपर्यय हो गया और
उससे इला नाम की कन्या उत्पन्न हुई ॥९॥ हे मैत्रेयजी ! बाद में मित्रावरुण
की वृषा से वही इला नाम्नी कन्या मनु पुत्र सुद्युम्न हो गया ॥१०॥ तबजी
के क्रोध के कारण वह इला स्त्री बनी हुई चन्द्रमा का पुत्र बुध के आश्रम के
समीप भ्रमण करने लगी ॥११॥ तब बुध उस देखकर आसक्तिमय हो गये और
उन्होंने उससे पुरुरवा नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ॥१२॥ पुरुरवा के उत्पन्न
होने के पश्चात् परम ऋषियों ने सुद्युम्न को पुरुषत्व प्राप्ति कराने की इच्छा से
सर्ववेदमय, मनोमय, ज्ञानमय, अन्नमय और परमाय वाले भगवान् यज्ञ पुरुष
का विधिवत् यज्ञ किया, तब उन यज्ञ पुरुष की कृपा से इला सुद्युम्न रूप में

चतुर्थ अंश

पहला अध्याय

भगवन्त्यस्मै कार्यं साधुकर्मण्यवस्थितं
तन्मस्य गुरुणाहं वा तन्नित्यनैमित्तिकात्मकम्
वर्णाधर्मस्ति याख्याता धर्मा ये चाश्रमेषु च ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं वशं राजा तद् ब्रूहि मे गुरो ॥२॥

मैत्रेय श्रूयतामयमनेकयज्वसूरवीरधीरभूपालालङ्कृतो ब्रह्मादि-
मानवो वश ॥२॥ तदस्य वशस्यानुपूर्वभिशेपवशपापप्रणाशनाय मैत्रेयैता
व्या श्रुणु ॥४॥

तद्यथा सकलजगतामादिरनादिभूतस्स ऋग्यजुस्सामादिमयो
भगवान् विष्णुस्तस्य ब्रह्मणो मूर्ति रूपं हिरण्यगर्भो ब्रह्माण्डभूतो ब्रह्मा
भगवान् प्राग्वभूव ॥५॥ ब्रह्मणश्च दक्षिणाङ्गुष्ठजन्मा दक्षप्रजापति
दक्षस्याप्यदितिरदितेविवस्वान् विवस्वतो मनु ॥६॥ मनोरिक्ष्वाकुनृगधृष्ट-
क्षर्यातिनरिण्यस्तप्राचुनाभागदिष्टकरूपपृषध्वाय दक्ष पुत्रा बभूवुः ॥७॥

श्री मैत्रेयजी ने कहा—हे भगवन् । साधु कर्मों में अवस्थित पुरुषों के
करने योग्य उन सभी नित्य नैमित्तिक कर्मों को आपने मुझसे कह दिया ॥१॥
हे गुरो । आपने वरुण धर्मों धीर आश्रम धर्मों की भी व्याख्या कर दी, अब मैं
राजवागी को सुनने की इच्छा करता हूँ इसलिये वह विषय मेरे प्रति कहिये
॥२॥ श्री पराशरजी ने कहा—हे मैत्रेयजी । जिस वश के बादि वर्त्ता ब्रह्माजी
हैं, उस करनेको यज्ञ काले, सूर, वीर धीर धीरजवान् राजाजी से सुशोभित मनु
वश का धरण सुनो ॥३॥ हे मैत्रेयजी । अपने वश के सब पापों को मिटाने के
लिये इस वश की परम्परा गाथा को यत्न से सुनो ॥४॥ वह इस प्रकार है—
सम्पूर्ण जगत् का आदि कारण भगवान् विष्णु हैं । वे भगवादि धीर निवेद रूप

: चतुर्थ अंश-अ० १]

है। तन्हीं ब्रह्म स्वरूप भगवान् के मूर्त रूप में ब्रह्माण्डमय एवं हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी सर्व प्रथम उत्पन्न हुए ॥५॥ उन ब्रह्माजी के दाँए अंगूठे से दश प्रजापति की उत्पत्ति हुई, दक्ष से अदिति का जन्म हुआ और अदिति ने भगवान् विवस्वान् को प्रकट किया। तन्ही विवस्वान् से मनु की उत्पत्ति हुई ॥६॥ मनु के दत्त पुत्र हुए, जिनके नाम इन्द्राक्ष, नृग, धृष्ट, दायति, नरिष्यन्त, प्रातु, नामाग, दिष्ट, वरुण और वृणश्च थे ॥७॥

इष्टि च मित्रावरुणयोर्मनुः पुत्रकामश्चकार ॥८॥ तत्र तावदपह्लते होनुरपंचारादिला नाम कन्या बभूव ॥९॥ संव च मित्रावरुणयोः प्रसादात्सुद्युम्नो नाम मनोः पुत्रो मैत्रेय आसीत् ॥१०॥ पुनश्चेश्वरकोपात्तु सती ता तु सोमसूतोर्वधस्याश्रमसमीपे वव्रात ॥११॥ सानुरागश्च तस्या बुधः पुरुरवसमात्मजमुत्पादयामास ॥१२॥ जातेऽपि तस्मिन्ममिता-तेजोभिः परमपिभिरिष्टिमय ऋद्धभ्यो यजुर्मयस्साममयोऽथर्वणम-यस्सर्ववेदमयो मनोमयो ज्ञानमयो न किञ्चिन्मयोऽन्नमयो भगवान् यत्तपुरुषस्वरूपी सुद्युम्नस्य पुंस्त्वमभिलषद्भिर्यथावदिष्टस्तत्प्रसादादिला पुनरपि सुद्युम्नोऽभवत् ॥१३॥ तस्याप्युत्कलप्यविनताक्षयः पुत्रा बभूव ॥१४॥

पुत्र की कामना से मनु ने मित्रावरुण की प्रसन्नता के लिये यज्ञ किया ॥८॥ परन्तु, होता के विपरीत सूरूप से उस यज्ञ में विपर्यय हो गया और उससे इला नाम की कन्या उत्पन्न हुई ॥९॥ हे मैत्रेयजी ! दाद ने मित्रावरुण की कृपा से वही इला नाम्नी कन्या मनु पुत्र सुद्युम्न हो गया ॥१०॥ शिवजी के क्रोध के कारण वह इला स्त्री बनी हुई चन्द्रमा के पुत्र बुध के आश्रम के समीप भ्रमण करने लगी ॥११॥ तब बुध उसे देखकर आसक्तिमय हो गये और उन्होंने उससे पुरुरवा नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ॥१२॥ पुरुरवा के उत्पन्न होने के पश्चात् परम ऋषियों ने सुद्युम्न को पुरुषत्व-प्राप्ति कराने की इच्छा से सर्ववेदमय, मनोमय, ज्ञानमय, अन्नमय और परमार्थ वाले भगवान् यत्त पुरुष का विधिवत् यजन किया, तब उन यज्ञ पुरुष की कृपा से इला सुद्युम्न रूप में

परिवर्तित हुई ॥१३॥ तत्र उस सुद्युम्न के तीन पुत्र उत्पन्न, मय और वितत नामक हुए ॥१४॥

सुद्युम्नस्तु स्त्रीपूर्वकत्वाद्राज्यभाग न लेभे ॥१५॥ तत्पित्रा तु वसिष्ठवचनात्प्रतिष्ठानं नाम नगरं सुद्युम्नाय दत्तं तच्चासी पुरुरवसे प्रादात् ॥१६॥ तदन्वयाश्च क्षत्रियास्सर्वे दिक्ष्वभवन् । पृथधस्तु मनुपुत्रो गुरुगोविधाच्छूद्रत्वगगमत् ॥१७॥ मनोः पुत्रः कल्प्यः करुपात्काहपाः क्षत्रिया महाबलपराक्रमा बभूवु ॥१८॥ दिष्टपुत्रस्तु नाभागो वैश्यतामगमत्तस्माद्वलन्धनः पुत्रोऽभवत् ॥१९॥ बलन्धनाद्वत्सप्रीतिरुदारकीर्तिः ॥२०॥ वत्सप्रीतेः प्राशुरभवत् ॥२१॥ प्रजापतिश्च प्राशोरेकोऽभवत् ॥२२॥

पहिले स्त्री होने के कारण सुद्युम्न को राज्य का अधिकार नहीं मिला था, परन्तु वसिष्ठजी की आज्ञा से पिता ने उसे प्रतिष्ठान नामक नगर का राजा बनाया, वही नगर सुद्युम्न ने पुरुरवा को प्रदान कर दिया ॥१५-१६॥ उसी पुरुरवा की सन्तान सब दिशामों में फैल गई । मनु का पुत्र पृथध अपने गुरु की गौ को मारने के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हो गया ॥१७॥ मनु का जो पुत्र कल्प था, उसी की सन्तान काहप नामक अत्यन्त बल और पराक्रम वाले क्षत्रियगण हुए ॥१८॥ विष्ट का पुत्र नाभाग हुआ जो वैश्यत्व को प्राप्त हो गया, उसने बलन्धन नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥१९॥ बलन्धन से अत्यन्त यशस्वी वत्सप्रीति, वत्सप्रीति से प्राशु और प्राशु से प्रजापति नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई ॥२०-२२॥

ततश्च खनित्रः ॥२३॥ तस्माच्चाक्षुषः ॥२४॥ चाक्षुषाच्चातिवलपराक्रमो विशोऽभवत् ॥२५॥ ततो विविशकः ॥२६॥ तस्माच्च खनिनेत्रः ॥२७॥ ततश्चातिविभूतिः ॥२८॥ अतिविभूतेरतिवलपराक्रमः करन्धमः पुत्रोऽभवत् ॥२९॥ तस्मादप्यविक्षित् ॥३०॥ अविक्षितोऽप्यतिवलपराक्रमः पुत्रो मरुतो नामाभवत् यस्येमावद्यापिश्लोको गीयेते ॥३१॥

मरुतस्य यथा यज्ञस्तथा कस्यामवहुवि ।

सर्वं हिरण्मयं यस्य यज्ञवस्त्वतिशोभनम् ॥३२॥

अमाद्यदिन्द्रस्सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।

मरुतः परिवेष्टारस्तदस्याश्च दिवौवसः ॥३३॥

प्रजापति का पुत्र क्षनिष्ठ हुआ, क्षनिष्ठ से चक्षुष और चाक्षुष से अत्यन्त बली-भराक्षणी विरा हुआ ॥२३-२४॥ विरा से विविमरु की उत्पत्ति हुई । विविमरु से क्षनिष्ठ, क्षनिष्ठ से अति-विभूति और अति विभूति से अत्यन्त बलवान् करन्धम हुआ ॥२६-२६॥ करन्धम से अतिशित् और अतिशित से मरुत् नामक महाबली पुत्र हुआ, जिसके विषय में अब भी वह दो श्लोक प्रचलित हैं ॥३०-३१॥ मरुत् के जैसा गज पृथिवी पर अभी तक किसी अन्य का नहीं हुआ, क्योंकि उसकी सभी शक्ति बस्तुएँ स्वर्ण युक्त और अत्यन्त सुन्दर थी ॥३२॥ उस यज्ञ में इन्द्र को सोम-रस से और ब्राह्मणों को दक्षिणा से पुत्र दिया गया था । उसमें मरुद्गण परोमने वाले और देवगण सदस्य हुए थे ॥३३॥

स मरुत्क्षत्रवर्ती नरिष्यन्तनामान पुत्रमवाप ॥३४॥ तस्माच्च दमः ॥३५॥ दमस्य पुत्रो राजवर्द्धनो जज्ञे ॥३६॥ राजवर्द्धनात्सुवृद्धिः ॥३७॥ सुवृद्धेः केवलः ॥३८॥ केवलात्सुवृद्धिरभूत् ॥३९॥ ततश्च नरः ॥४०॥ तस्माच्चन्द्रः ॥४१॥ ततः केवलोऽभूत् ॥४२॥ केवलाद्वन्धुमान् ॥४३॥ बन्धुमतो वेगवान् ॥४४॥ वेगवतो बुधः ॥४५॥ ततश्च सृण्विन्दुः ॥४६॥ तस्याप्येका बन्धा इलविला नाम ॥४७॥ ततश्चालम्बुता नाम वराप्तरास्तृणविन्दु भेजे ॥४८॥ तस्यामध्यस्य विशालो जज्ञे यः पुरी विशाला निर्ममे ॥४९॥

उसी मरुत् के नरिष्यन्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । नरिष्यन्त से दम और दम से राजवर्द्धन हुआ ॥४-३६॥ राजवर्द्धन से सुवृद्धि, सुवृद्धि से केवल और केवल से सुवृद्धि उत्पन्न हुआ ॥३७-३९॥ सुवृद्धि से नर, नर से चन्द्र और चन्द्र से केवल का जन्म हुआ ॥४०-४२॥ केवल से बन्धुमान्, बन्धुमान् से वेगवान्, वेगवान् से बुध बुध से सृण्विन्दु और सृण्विन्दु ने प्रथम में तो इलविला नाम की एक बन्धा उत्पन्न की, फिर अलम्बुता नाम की अप्सरा के प्राप्त होने पर उससे सृण्विन्दु ने विशाल नामक एक पुत्र उत्पन्न किया, जिसने विशाला नाम से एक पुरी का निर्माण कराया ॥४३-४९॥

हेमचन्द्रश्च विशालस्य पुत्रोऽभवत् ॥५०॥ ततश्चन्द्रः ॥५१॥ तत्तनयो धूम्राक्षः ॥५२॥ तस्यापि सृज्योऽभूत् ॥५३॥ सृज्यात्सहदेवः ॥५४॥ ततश्च वृशादवो नाम पुत्रोऽभवत् ॥५५॥ सोमदत्तः कृशाभाञ्जने योऽश्वमेधानी

शतमाजहार । १५६। तत्पुत्रो जनमेजयः । १५७। जनमेजयात्सुमतिः । १५८।

एते वैशालिका भूभृतः । १५९। दलोकोऽप्यत्र गीयते । १६०।

तृणविन्दोः प्रसादेन सर्वे वैशालिका नृपाः ।

दीर्घाण्डो महात्मानो वीर्यवन्तोऽतिधार्मिकाः । १६१।

धायतिः कन्या सुकन्या नामाभवत् यामुपयेमे च्यवनः । १६२।

भानर्त्तनामा परमधार्मिकश्चातिपुत्रोऽभवत् । १६३। भानर्त्तस्यापि

रेवतनामा पुत्रो जज्ञे योऽसावानर्त्तविषयं बुभुजे पुरी च कुशस्थली-

मध्युवास । १६४।

विशाल का पुत्र हेमवद्र, हेमवद्र का पुत्र धूम्राक्ष हुआ । धूम्राक्ष के

सृञ्जय, सृञ्जय के सहदेव और सहदेव के कुशाश्व की उत्पत्ति हुई । १५०-१५१॥

कुशाश्व से सौ अश्वमेधों का कर्त्ता सोमदत्त हुआ । सोमदत्त से

जनमेजय और जनमेजय से सुमति हुआ । यह सभी राजा विशाल के दशघर

हुए । इनके विषय ने यह नामा जाता है । १५६-६०॥ कि तृणविन्दु के प्रसाद

से विशाल वंश के सभी राजा दीर्घायु, महात्मा, वीर्यवन्त तथा धर्मन्त धार्मिक

हुए । १६१॥ मनु-पुत्र क्षयाति के सुकन्या नाम की एक कन्या हुई जिसका पाणि

ग्रहण च्यवन ऋषि ने किया । १६२॥ क्षयाति के एक धर्मन्त धर्मात्मा भानर्त्त

नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । भानर्त्त ने रेवत हुआ, जिसने कुशस्थली नगरी में

निवास करते हुए भानर्त्त देश के राज्य को भोगा । १६३-६४॥

रेवतस्यापि रैवतः पुत्रः ककुभिनामा धर्मात्मा भ्रातृशतस्य

ज्येष्ठोऽभवत् । १६५। तस्य रेवती नाम कन्याभवत् । १६६। स तामादाय

कस्येयमहंतीति भगवन्तमब्जयोनिं प्रपुं ब्रह्मलोकं जगाम । १६७। तावच्च

ब्रह्मणोऽन्तिके हाहाहूहसंज्ञाम्या गन्धर्वाम्यामतितान नाम दिव्यं

गान्धर्वमगीयत् । १६८। तच्च त्रिमार्गपरिवृत्तीरनेकयुगपरिवृत्तिं तिष्ठन्नपि

रैवतश्शृण्वन्मुहूर्त्तमिव मेने । १६९। गीतावसाने च भगवन्तमब्जयोनिं

प्रणम्य रैवतः कन्यायोग्यं वरमपृच्छत् । १७०। ततश्चासौ भगवानकथयत्

कथय योऽभिमतस्ते वर इति । १७१। पुनश्च प्रणम्य भगवते तस्मै

यथाभिमतानात्मनस्स चरान् कथयामास । क एषो भगवतोऽभिमत
इति यस्मै कन्यामिमा प्रयच्छामीति ॥७२॥

रैवत का पुत्र रैवत ककुची दुष्मा जो अत्यन्त धार्मिक थीर अपने सो
भाइयों से ज्येष्ठ था ॥६१॥ उसके ओ कन्या हुई उसका नाम रैवती हुआ ॥६६॥
उस कन्या को साय सेवर राजा रैवत ब्रह्माजी से वह कन्या किस वर के योग्य
है—यह पूछने के लिये ब्रह्मतोक को गये ॥६७॥ उस समय ब्रह्माजी के समक्ष
हाहा और हूह नामक दो गधरं अतिवान नामक दिव्य गीत गा रहे थे ॥६८॥
वही विमार्ग परिवर्तन युक्त उस भद्रमुत पीत को सुनते हुए वे राजा रैवत
युगों के परिवर्तन बाल तक वही दने रहे परन्तु उन्हें उतवा समय केवल एक
मूर्ध्ति के समान ही व्यतीत हुआ गया ॥६९॥ मीत के समाप्त होने पर महाराज
रैवत ने कमलपाणि भगवान् श्री ब्रह्माजी को प्रणाम करके उनसे अपनी कन्या
के योग्य वर के विषय में प्रश्न किया ॥७०॥ ब्रह्मा जी ने कहा—तुमने जो
वर पसन्द किया हो उसे बताओ ॥६१॥ इस पर उन्होंने ब्रह्माजी को पुनः
प्रणाम किया और जो-जो वर उनकी दृष्टि में थे, वह वह सब उन्हें बताकर
प्रश्न किया कि—इनमें से कौनसा वर आपको उचित प्रतीत होता है, जिसे मैं
पवनी यह कन्या प्रदान कर दूँ ॥७२॥

ततः किञ्चिदवनतशिरास्सस्मित भगवानब्जयोनिराह ॥७३॥
य एते भवतोऽभिमता नैतेषा साम्प्रत पुनर्पौनापत्यापत्यसन्ततिरस्त्यव-
नीतले ॥७४॥ बहूनि सवायैव गान्धर्वं शृण्वतश्चतुर्युगान्यतीतानि ॥७५॥
साम्प्रत महीतलेऽष्टाविंशतितममनोश्चतुर्युगमतीतप्राप वर्तते ॥७६॥
आसन्नो हि कलिः ॥७७॥ अन्यस्मै कन्यारत्नमिदं भवत्तंकाकिनाभिमताय
देयम् ॥७८॥ भवतोऽपि पुनर्मित्रकलत्रमग्निभृत्यवन्धु बलकोशादयस्स-
मस्ता कालेनैतेनात्यन्तमतीताः ॥७९॥ ततः पुनरप्युत्पन्नसाध्वसो राजा
भगवन्तं प्रणम्य पप्रच्छ ॥८०॥ भगवन्नेवमवस्थिते भयेयं कस्मै देयेति
॥८१॥ ततस्स भगवान् किञ्चिदवनम्रकन्धरः कृताञ्जलिभूत्वा सर्वलोक-
गुरुरम्भोजयोनिराह ॥८२॥

इम पर भगवान् पद्मयोनि ब्रह्माजी ने मस्तक झुकाकर कुछ मुमकाते हुए कहा—तुम्हें जो जो वर पसन्द हैं, उनमें से तो किसी की पुत्र-पौत्रादि सन्तान भी ध्रुव पृथिवी पर स्थित नहीं है ॥७४॥ क्योंकि यहाँ गंधर्वों का गीत सुनते हुए कई चतुर्भुजियाँ व्यतीत हो चुकी है ॥७५॥ इस समय पृथिवी पर झूठा-झूठे मनु की चतुर्भुजी समाप्त होने को है और कलियुग का आरम्भ निकट है ॥७६-७७॥ अब तुम एकाकी ही रह गये हो, इसलिये इस कम्पा-रतन की किसी ग्रन्थ योग्य वर की प्रदान करो । इतने समय में तुम्हारे पुत्र, मित्र, कलत्र, मन्त्रिण, भृत्यगण, बन्धु-बाधव, सेना और कोषादि कुछ भी शेष नहीं रहा ॥७८-७९॥ इस बात को सुनकर भयभीत हुए राजा रैवत ने ब्रह्माजी की पुनः प्रणाम करके प्रश्न किया ॥८०॥ हे भगवन् ! यदि ऐसा है तो अब मैं इस कम्पा की किसे हूँ ? ॥८१॥ तब सब लोकों के गुरु ब्रह्मा जी ने कुछ मस्तक झुका कर हाथ जोड़ने हुए कहा ॥८२॥

न ह्याविमध्यान्तमजस्य यस्य विद्यो वय सर्वमयस्य धातु ।
 न च स्वरूपं न परं स्वभाव न चैव सार परमेश्वरस्य ॥८३॥
 मलामुहूर्त्तादिमयश्च कालो न यद्विभूते. परिणामहेतु. ।
 अजन्मनाशस्य सदैकमूर्त्तरेनामरूपस्य समातनस्य ॥८४॥
 यस्य प्रसादादहमच्युतस्य भूत. प्रजासृष्टिबरोऽन्तवारी ।
 कोधाच्च रद्र स्थितिहेतुभूतो यस्माच्च मध्ये पुरुष. परस्मात् ॥८५॥
 मद्रूपमास्थाय सृजत्यजो य स्थितौ च योऽसौ पुरुषस्वरूपो ।
 रद्रस्वरूपेण च योऽस्ति विद्वधस्य तथानन्तयपुस्तमस्तम् ॥८६॥
 पापाय योऽमित्वमुपैति सोऽवान्विभक्ति पृथ्वीवपुरव्ययात्मा ।
 शक्रादिरूपी परिपाति विश्वमर्बेन्दुरूपश्च तमो हिनस्ति ॥८७॥
 करोति नेष्टाश्चसनस्वरूपी लोवस्य तृप्ति च जलाद्ररूपी ।
 ददाति विश्वस्थितिगस्थितस्तु सर्वावकाश च नभस्स्वरूपी ॥८८॥
 धस्मृज्यते मर्गं हृदात्मनेव य पाल्यते पश्यन्ति च येन ।
 विश्वात्मनस्सहि यतेऽन्तवारी पृथक् ॥

यस्मिञ्जगदो जगदेतदाद्यो यश्चाधितोऽस्मिञ्जगति स्वयम्भू ।

स सर्वभूतप्रभवो धरित्र्या स्वाप्तेन विष्णुर्नृपतेज्वतीर्णः । ६०।

श्री ब्रह्माजी बोले—जिन जन्म-रहित, सर्वात्मक परमेश्वर के प्रादि,

मध्य, अन्त को हम नहीं जानते और जिनके रूप, धैर्य स्वभाव और सार का ज्ञान भी हमको नहीं है ॥८३॥ जिनकी विभूति के परिणाम का कारण कला मुहूर्तादि युक्त कान भी नहीं हो सकता तथा जो जन्म-मरण स रहित, सनातन नाम-रूप से रहित एव सदा ही एक रूप हैं ॥८४॥ जिन अमृत भगवान के प्रसाद से मैं प्रजोत्पत्ति का कर्ता हूँ और जिनके क्रोध से उत्पन्न होकर रुद्र सृष्टि का अन्त करने में समर्थ होते हैं तथा जिनसे विश्व की स्थिति करने वाले विष्णु की मुख्य प्रकट हुए हैं ॥८५॥ जो अन्न-मा पेटे हुए में विश्व की रचना पुरुष रूप में स्थिति और रुद्र रूप में सम्पूर्ण विश्व को प्रण लेता है तथा अनन्त रूप से उसी विश्व को धारण करता है ॥८६॥ जो अ-गयात्मा परिष्कार करने के लिए अग्नि रूप होना तथा पृथिवी रूप से सब जीवों को धारण करता है, इन्द्रादि के क्रम में जगत् का पालन करना तथा सूर्य, चन्द्रमा के रूप में सब ग्रन्थकार का हारण कर लेता है ॥८७॥ जो श्वास-वशवान रूप में प्राणिमों की चैष्टावान् करना है, अन्न, जल के रूप में ससार की वृत्ति करता है और जगत् की स्थिति के कार्य को करना हुआ जो सभी को आकाश रूप से अवकाश प्रदान करता है ॥८८॥ जो अग्नि-मात्मा सृष्टि का रचने वाला होकर भी स्वय ही विश्व रूप से उत्पन्न होता और विश्व का पालनकर्ता होकर भी स्वय पातित होता है तथा प्रहारकर्ता होकर भी स्वय ही नष्ट हो जाता है ॥८९॥ जिनमें यह ससार स्थित है और जो आदि-मुख्य विश्व-रूप है और विश्व के ही आधिपत्य स्वयं नरप्र होने वाला है । हे राजन् । सभी भूतों का उद्भवस्थान वह विष्णु भगवान् पृथिवी पर अपने घरा से उत्पन्न होना है ॥९०॥

कुशस्थली या तव भूप रम्या पुरी पुराभूदमरावतीव ।

सा द्वारका सम्प्रति तत्र चास्ते स केशवाक्षो बलदेवनामा । ९१।

तस्मै त्वमेना तनया नरेन्द्र प्रपच्छ मायामनुजाम जायाम् ।

दनाध्यो वरोऽसौ तनया तवेय स्त्रीरत्नभूता महेशो हि योगः । ९२।

इतीरितोऽसौ कमलोद्भवेन भुवं समासाद्य पतिः प्रजानाम् ।
 ददर्श ह्रस्वान् पुरुषान् विरूपानल्पीजसस्वल्पविवेकवीर्यान् ॥६३॥
 कुशस्थलीं तां च पुरीमुपेत्य दृष्ट्वान्यरूपां प्रददौ स कन्याम् ।
 सीरायुधाय स्फटिकाचलाभवक्षः स्थलायातुलधीर्नरेन्द्रः ॥६४॥
 उच्चप्रमाणामिति तामवेक्ष्य स्वलाङ्गलाग्रेण च तालकैतुः ।
 विनम्रयामास ततश्च सापि बभूव सद्यो वनिता यथान्या ॥६५॥
 तां रेवती रेवतभूपकन्यां सीरामुधोऽसौ विधिनोषयेमे ।
 दत्त्वाय कन्यां स नृपो जगाम हिमालयं च तपसे धृतात्मा ॥६६॥

हे राजन् ! अमरावती के समान तुम्हारी कुशस्थली नाम की नगरी अव
 दारावती हो गई है । वहाँ भगवान् विष्णु के अंश रूप बलदेवजी स्थित हैं
 ॥६३॥ तुम अपनी इन कन्या को माया से मनुष्य बने बलदेवजी को ही भार्या
 रूप में प्रदान कर दो । वह बलदेवजी जगत् में अत्यन्त प्रशंसा के पात्र हैं और
 तुम्हारी यह पुत्री भी एतल है, इसलिए इन दोनों का मिलन उपयुक्त रहेगा ॥६४॥
 श्री पराशरजी ने कहा—श्री ब्रह्माजी द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर महाराज
 रेवत भूतल पर लीटे और उन्होंने देखा कि सब मनुष्य छोटे कद के, रूपहीन,
 मूढ़ सेव वाले, अस्व-वीर्य और मनिहीन हो गए हैं ॥६५॥ उन्होंने अपनी कुश-
 स्थली नाम की नगरी को नितान्त परिवर्तित रूप में पाया और स्फटिकावल
 के समान वक्षस्थल वाले अनुरामजी को अपनी कन्या प्रदान कर दी ॥६६॥ जब
 उन बलदेवजी ने उसे अत्यन्त ऊँचे शरीर की देखा तो अपने हल के अगले भाग
 से दबा कर छोटे कद की कर दी । ऐसा करने से वह रेवती भी उस समय की

दूसरा अध्याय

यावच्च ब्रह्मलोकात्स वकुक्षी रैवतो नाम्येति तावत्पुण्यजनसज्ञा
 राक्षसास्तामस्य पुरी कुनस्थसौ निजघ्नु ॥१॥ तच्चास्य भ्रातृशत पुण्य-
 जननासाद्विशो भेजे ॥२॥ तदन्वयाश्च क्षत्रियास्सर्वदिक्स्वभवन् ॥३॥ घृष्ट-
 स्यापि घाट्टक क्षत्रमभवत् ॥४॥ नाभागस्यात्मजो नाभागसन्नोऽभवत् ॥५॥
 तस्याप्यम्बरीष ॥६॥ अम्बरीषस्यापि विरूपोऽभवत् ॥७॥ विरूपात्पृषदश्चो-
 जज्ञे ॥८॥ ततश्च रयीतर ॥९॥ अनाय श्लोक एते क्षत्रप्रसूना वै पुनश्चा-
 न्निरसा स्मृता ॥ रयीतराणां प्रवरा क्षत्रोपेता द्विजातय ॥१०॥

श्री पराशरजी ने कहा—जब तक रैवत वकुक्षी ब्रह्मलोक में नहीं लौटे,
 तबों पुण्यजन नामक राक्षसों ने उनकी कुनस्थसौ पुरी को नष्ट भ्रष्ट कर दिया
 ॥१॥ उनके जो सौ भाई थे, वे सब उन पुण्यजन राक्षसों के भय के कारण
 दसों दिशाओं में भाग गये ॥२॥ उन्हीं सब वं वंशपर क्षत्रियगण उन सब
 दिशाओं में फैल गए ॥३॥ घुष्ट का वंश घाट्टक नामक क्षत्रियों के रूप में हुआ
 ॥४॥ नाभाग का पुत्र भी नाभाग सन्नक हुआ, जिसका पुत्र अम्बरीष और
 अम्बरीष का पुत्र विरूप हुआ । विरूप का पुत्र पृषदरव हुआ और पृषदरव से
 रयीतर की उत्पत्ति हुई ॥५॥ ६॥ उन रयीतर के विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध
 है—रयीतर के वंशपर क्षत्रिय होते हुए भी आगिरस कहा कर क्षत्रोपेता
 माने गए ॥१०॥

इति क्षुतवतश्च मनोरिक्ष्वाकु पुत्रो जज्ञे द्वाणत ॥११॥ तस्य
 पुत्रशतप्रधाना विकुक्षिनिमिदण्डाख्याख्य पुत्रा बभूवुः ॥१२॥ शत्रुनि-
 प्रमुखा पञ्चाशत्पुत्रा उत्तरापथरक्षितारो बभूवुः ॥१३॥ चत्वारिंशदष्टौ
 च दक्षिणापथभूपाला ॥१४॥ स चेदवाकुरष्टकायाश्चादमुत्पाद्य आडाहं
 मासमानयेति विकुक्षिमाज्ञापयामास ॥१५॥ स तथेति गृहीताज्ञो विवृत-
 नरासनो वनमध्येत्यनेकशो मृगान् हत्वा श्रान्तोऽतिशुत्परोनो विकुक्षि-
 रैव शनममशयत् ॥ शेष च मासमानीय पित्रे निवेदयामास ॥१६॥
 इक्ष्वाकुकुलाचार्यो वशिष्ठस्तत्रोक्षणाय चोदितः प्राह । सप्तमनेनामे-

ध्येनामिषेण दुरात्मना तव पुत्रैर्गुणैर्मांसमुपहत यतोऽग्नेन शनो भक्षितः
 ११७। ततश्चासौ विकुक्षिर्गुरुरसैवमुत्तदग्नेशादमंजामवाप पित्रा च
 परित्यक्तः ॥१८॥ पितर्युपरते चासावखिलामेतां पृथ्वी धर्मतश्शशास
 ॥१९॥ शशादस्य तस्य पुरञ्जयो नाम पुत्रोऽभवत् ॥२०॥

छीकते समय मनु की नागिका से इक्ष्वाकु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥११॥
 उनके सौ पुत्रों में विकुक्षि, निमि और दण्ड ग्रह तीन पुत्र प्रमुख हुए और
 उनके शकुनि भावि पचास पुत्र उत्तरापथ के और सत्तालीस पुत्र दक्षिणापथ के
 अधिकारी हुए ॥१२-१४॥ राजा इक्ष्वाकु ने पहला आठ का आरम्भ किया
 और अपने पुत्र विकुक्षि को आठ-योग्य अन्न खाने की आज्ञा दी ॥१५॥ उसने
 उनकी आज्ञा मान कर धनुष-बाण चढ़ाए और वन में आकर मृगों को
 मारने लगा । उस समय अत्यन्त शूराई होने के कारण विकुक्षि ने उनमें से
 एक शरगोश भक्षण कर लिया और शेष मांस पिता के समक्ष लाकर रखा ॥१६॥
 उस मांस को खाने की प्रार्थना किए जाने पर राजा इक्ष्वाकु के आचार्य
 सतिष्ठजी ने कहा कि —तुम्हारे दुरात्म पुत्र ने इस मांस को अपवित्र कर दिया
 है, उसने इसमें से एक शरगोश का भक्षण किया है, इसलिए इस दूषित मांस
 की क्या आवश्यकता है ? ॥१७॥ उन्ही समय में विकुक्षि का नाम शशाक हो
 गया और गुरु के वचन सुन पर पिता ने उसका स्थाप कर दिया ॥१८॥ परन्तु
 पिता को मृत्यु हो जाने पर उन्ही ने इस पृथिवी पर धर्म प्रवर्तक राज्य किया
 ॥१९॥ उस शशाक का पुत्र पुरञ्जय हुआ ॥२०॥

तस्येदं चान्यत् ॥२१॥ पुरा हि त्रेतायां देवासुरयुद्धमतिभीषणम्-
 भवत् ॥२२॥ तत्र चातियलिभिरसुरैरमराः पराजितास्ते भगवन्त विष्णु-
 माराधयाञ्चक्रुः ॥२३॥ प्रसन्नश्च देवानामनादिनिधनोऽखिलजगत्परायणो
 नारायणः प्राह ॥२४॥ ज्ञातमेतन्मया युष्मामिदं भिलपितं तदर्थमिदं
 श्रूयताम् ॥२५॥ पुरञ्जयो नाम राजर्षेशशादस्य तनयः क्षत्रियवरो
 यस्तस्य शरीरेऽहमग्नेन स्वयमेवावतीर्य तानशेषानसुराभिहनिष्यामि
 तद्भवद्भिः पुरञ्जयोऽसुरवधार्थमुद्योगं कार्यतामिति ॥२६॥

पुरञ्जय का भी एक दूसरा नाम पडा ॥२१॥ पूर्व काल की बात है—नेता युग में एक बार अत्यन्त भयङ्कर देवासुर युद्ध हुआ ॥२२॥ उसमें अत्यन्त बली-दैत्यो से देवगण पराजित हो गए और तब उन्होंने भगवान् विष्णु को प्रार्थना की ॥२३॥ उस समय आदि-शक्त से रहित, विष्णु का परिपालन करने वाले भगवान् श्री नारायण ने प्रसन्न होकर उन देवताओं से कहा ॥२४॥ आपकी जो कामना है, उस में जान बूझा है, अब उसके विषय में मेरी बात सुनो ॥२५॥ राजपि नशाब के पुत्र पुरञ्जय के देह में स्वयं मैं ही अपने प्रसन्न से प्रवर्णीयां होकर उन भयङ्करो का सहार करूँगा ॥ इसलिए तुम उस पुरञ्जय को दैत्यों से मारने के कार्य में तत्पर करो ॥२६॥

एतच्च श्रुत्वा प्रणम्य भगवन्त विष्णुममरा. पुरञ्जयसकाश-
माजगमुच्छुदचैतम् ॥२७॥ ओ ओ क्षत्रियवर्यास्माभिरभ्यर्चितेन भवता-
स्माकमरातिवधोद्यताना कर्तव्य साहाय्यमिच्छाम तद्भवतास्माक-
मभ्यागताना प्रणमभङ्गो न कार्य इत्युक्त पुरञ्जय प्राह ॥२८॥ नैलोक्य-
ममरातिमिस्सह योरस्ये तदहं भवता सहाय स्याम् ॥२९॥ इत्याकर्ण्य
समस्तदेवैरिन्द्रेण च वादमित्येव समन्वीप्सितम् ॥३०॥ ततश्च शतक्रतो-
वृं परुषधारिणं ककुदि स्थितोऽतिरोपसमन्वितो भगवतश्चरा चरगुरो-
रच्युतस्य तेजसाप्यायितो देवासुरसङ्ग्रामे समस्तानेवासुरान्निजघान
॥३१॥ यतश्च वृषभककुदि स्थितेन राज्ञा दंतेयबल निपूदितमतश्चासी
ककुत्स्थसज्जामवाप ॥३२॥

यह सुन कर भगवान् को प्रणाम करके देवगण वहाँ से चल दिए और पुरञ्जय ने पाद पङ्क्ति कर बोले ॥२७॥ हे क्षत्रियवर ! अपने शत्रुओं को नष्ट करने में तत्पर हुए हम अपनी सहायता के लिये यहाँ आये हैं । आप हमारी भावना को भङ्गी नष्ट न करें । इस पर पुरञ्जय बोले ॥२८॥ इन नेत्रीयनाथ धतकतु इन्द्र के कंधे पर आरुढ़ होकर यदि मैं युद्ध कर सकूँ तो प्रवश्य ही आप ही सहायता कर सकता हूँ ॥२९॥ उनकी बात सुनकर सभी देवगण सहित आप ही सहायता कर सकता हूँ ॥२९॥ उनकी बात सुनकर सभी देवगण सहित इन्द्र ने उसे स्वीकार कर लिया ॥३०॥ और वृषभ रूपधारी इन्द्र की पीठ पर

मारुत होकर भगवान् विष्णु के तेज से परिपूर्ण हुए वह राजा मृद में पहुँचे और उन्होंने क्रोधपूर्वक सब सब दैत्यों का वध कर दिया ॥३१॥ उन्होंने इन्द्र रूपी बैल के ककुद (कधे) पर चढ़कर दैत्य-सेना का सहार किया था, इसलिये वह ककुत्स्थ नाम से विख्यात हुए ॥३२॥

ककुत्स्थस्याप्यनेनाः पुत्रोऽभवत् ॥३३॥ पृथुरनेनसः ॥३४॥ पृथो-
घिष्टराश्वः ॥३५॥ तस्यापि चान्द्रो युवनाश्वः ॥३६॥ चान्द्रस्य तस्य युवना-
श्वस्य शावस्तः यः पुरी शावस्ती निवेशयामास ॥३७॥ शावस्तस्य
बृहदश्वः ॥३८॥ तस्यापि कुवलयश्वः ॥३९॥ योऽसावुदकस्य महर्षे-
र-पकारिणं धुन्धुनामानमसुरं वैष्णवेन तेजसाप्यायितः पुत्रसहस्रैरेक-
विंशद्भिः परिवृतो जपान धुन्धुमारसंज्ञामवाप ॥४०॥ तस्य च तनया-
स्समस्ता एव धुन्धुमुखनिःश्वासाग्निना विप्लुष्टा विनेशुः ॥४१॥ दृढाश्व-
चन्द्राश्वकपिलाश्वश्च त्रयः केवलं शेषिताः ॥४२॥

ककुत्स्थ का पुत्र अनेना हुआ ॥३३॥ अनेना का पुत्र पृथु, पृथु का विष्ट-
राश्व ॥३४॥ चान्द्र युवनाश्व और उसका पुत्र शावस्त हुआ, जिसने शावस्ती पुरी
को बसाया ॥३५-३७॥ शावस्त के बृहदश्व और बृहदश्वके कुवलयश्व हुआ, जिसने
भगवान् विष्णु के तेजसे परिपूर्ण होकर अपने इन्हीं हजार पुत्रोंको साथ लेकर
महर्षि उदक का अपहार करने वाले धुन्धु नामक दैत्य का सहार किया था,
इसलिये उसका नाम धुन्धुमार भी पड़ गया था ॥३८-४०॥ उनके सब पुत्र
धुन्धु के मुख से निर्गत हुई आसीन्धुवास रूपी अग्नि में भस्म हो गये ॥४१॥
उनमें से दृढाश्व, चन्द्राश्व और कपिलाश्व नामक तीन पुत्र ही शेष बचे
थे ॥४२॥

दृढाश्वद्वयश्वः ॥४३॥ तस्माच्च निकुम्भः ॥४४॥ निकुम्भस्यामिताश्वः
॥४५॥ ततश्च शृङ्गाश्वः ॥४६॥ तस्माच्च प्रसेनजित् ॥४७॥ प्रसेनजितो
युवनाश्वोऽभवत् ॥४८॥ तस्य आपुत्रस्यातिनिर्वेदान्मुनीनामाश्रममण्डले
निवगतो दयालुभिर्मुनिभिरपत्योत्पादनायेष्टिः कृता ॥४९॥ तस्यां च
मध्यरात्रौ निवृत्तायां मन्त्रपूतजलपूर्णं वत्सं वेदिमध्ये निवेश्य ते मुनयः
गुण्णुः ॥५०॥ गुण्णेषु तेषु अतीव मृदुपरीतस्य भूपानस्तमाश्रमं विवेश

१५१। सुमांश्च तानृपोर्नैवोत्थापयामास ॥५२॥ तच्च कलशमपरिमेय-
माहात्म्यमन्त्रपूतं पपी ॥५३॥ प्रबुद्धाश्च ऋषयः पप्रच्छुः केनैतन्मन्त्रपूतं
वारि पीतम् ॥५४॥ अत्र हि राज्ञो युवनाश्वस्य पत्नी महाबलपराक्रमं
पुत्रं जनयिष्यति । इत्याकर्ण्य स राजा अजानता मया पीतमित्याह
॥५५॥ गर्भश्च युवनाश्वस्योदरे अभवत् क्रमेण च ववृधे ॥५६॥ प्रातसमयश्च
दक्षिणं कुक्षिमवनिपतेर्निमिद्य निश्चक्राम ॥५७॥ न चासौ राजा
मगार ॥५८॥

हुडाश्व से हर्षाश्व, हर्षाश्व से निकुम्भ, निकुम्भ ने घमिनाश्व, घमिनाश्व
से कृशाश्व, कृशाश्व से प्रसेनजित् और प्रसेनजित् से युवनाश्व उत्पन्न हुआ
॥४९-६८॥ वह युवनाश्व अन्नानहीन होने के कारण दुःखित चित्त से महर्षियों
के आश्रम में रहने लगा ॥४९॥ आधी रात के समय जब वह मत्त सम्पूर्ण हो
गया, तब महर्षिगण मन्त्रपूत जन से परितुर्ण बनकर बोली में रक्त कर सो
गये ॥ ५० ॥ उनके सोने के पक्षान् राजा को अत्यन्त व्याम लगी और उसने
पक्ष स्थान में प्रवेश किया और ऋषियों को शयन करने हुए देखकर उसने उन्हें
नहीं जगाया ॥५१-५२॥ आस को न रोक सक्ने के कारण उसने उमी मन्त्रपूत
जन का पालन कर लिया ॥५३॥ जब ऋषिगण की निद्रा भंग हुई तब उन्होंने
कलश को जल-रहित देखा तो उन्होंने पूछा कि इस मन्त्रपूत जन का किन्ने
पान किया है ? ॥५४॥ इसी जन की पीकर युवनाश्व की भार्या अत्यन्त बन-
विक्रम युक्त पुत्र को जन्म देगी । तब राजा ने कहा—इस बात को बिना जाने
मैंने ही इस जन को पी लिया है ॥५५॥ इस प्रकार युवनाश्व के उदर में गर्भ
स्थिति हो गई और वह गर्भ क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होने लगा ॥५६॥ समय
प्राप्त कर राजा की दाहिनी कोख को फोड़कर वह गर्भ बाहर निकल आया
॥५७॥ परन्तु राजा उससे मरा नहीं ॥५८॥

जातो नामैष क धास्यतीति ते मुनयः प्रोचुः ॥५९॥ अयागत्य
देवराजोऽब्रवीत् मामय धास्यतीति ॥६०॥ ततो मान्धातृनामा सोऽभवत् ।
वक्त्रे चास्य प्रदेशिनी देवेन्द्रेण न्यस्ता ता पपी ॥६१॥ ता चामृत-
साविणीमास्वादाह्वं च व्यवर्द्धत ॥६२॥ ततस्तु मान्धाता चक्रवर्ती

सप्तद्वीपा मही ब्रुभुजे ।६२। तत्राय दलोव ।६४। यावत्सूर्य उदेत्यस्त
यावच्च प्रतितिष्ठति । सर्वं तद्योयनाश्वस्य मान्धातु क्षेत्रमुच्यते ।६५।

उम बालक के उत्पन्न होने पर श्रुतिगुण बोध—यह बालक क्या पीर
जीवित रहेगा ? ॥५६॥ तभी देवराज इंद्र ने वहाँ उत्पन्न होकर कहा—यह
मेरे आश्रय में जीवित रहेगा ॥६०॥ इसलिये उमका मान्धाता नाम पड़ा । इंद्र
ने उसके मुख में अपनी तर्जनी धँसुली देकर धमृत-पान कराया, जिससे वह
उसी दिन बड़ गया ॥६१-६२॥ उसी समय से मान्धाता सातों द्वीप वाली सम्पूर्ण
पृथिवी का चक्रवर्ती राजा हुआ ॥६३॥ इसके विदेश में यह शीघ्र प्रसिद्ध है—
सूर्योदय के स्थान से सूर्यास्त के स्थान पर्यंत सभी क्षेत्र युवनाश्व-पुत्र मान्धाता
के आधीन है ॥६४-६५॥

मान्धाता शतविन्दोर्दुहितर विन्दुमतीमुपये मे ।६६। पुरकुत्स-
मम्बरीष मुचुकुन्द च तस्या पुत्रनयमुत्पादयामास ।६७। पञ्चाशद्दुहि-
तरस्तस्यामेव तस्य नृपतेर्बभूवुः ।६८। तस्मिन्नन्तरे बह्वृचश्च सीभरि-
र्नाम महर्षिरन्तर्जले द्वादशाब्द कालमुवास ।६९। क्षत्र चान्तर्जले सम्मदो
नामातिबहुप्रजोऽतिमानप्रमाणो मीनाधिपतिरासीत् ।७०। तस्य च
पुत्रपौत्रदोहिना पृष्ठतोऽग्रत पाद्वर्धो पक्षबुच्छक्षिरसा चोपरि भ्रमन्त-
स्तेनैव सदाहर्निशमतिनिवृत्ता रेमिरे ।७१। स चापत्यस्पर्शोपचीयमान-
ग्रहर्षप्रकर्षो बहुप्रकारं तस्य श्रुये पश्यतस्तैरात्मजपुत्रपौत्रदोहिनादिभि
सहानुदिन सुतरा रेमे ।७२। अथान्तर्जलावस्थितस्सीभरिरेकाग्रतस्स-
माधिमपहायानुदिन तस्य मत्स्यस्यात्मजपुत्रपौत्रदोहिनादिभिस्सहति
रमणीयतामपेक्ष्याचिन्तयत् ।७३। अहो धन्योऽयमीदृशमनभिमत योन्य-
न्तरमवाप्यैभिरात्मजपुत्रपौत्रदोहिनादिभिस्सह रममाणोऽतीवास्माक
स्पृहामुत्पादयति ।७४। वयमप्येव पुत्रादिभिस्सह ललित रस्यामहे
इत्येवमभिकाङ्क्षन् स तस्मादन्तर्जलान्निष्क्रम्य सन्तानाय निवेष्टुकाम
कन्यार्य मान्धातार राजानमगच्छत् ।७५।

शतविन्दु की पुत्री विन्दुमती से उक्त मान्धाता ने विवाह किया, जिससे
पुरकुत्स, मम्बरीष और मुचुकुन्द नामक तीन पुत्र और पचास कन्याएँ उत्पन्न

हुई ॥५१-५२॥ उसी काल की बात है कि बहुवृत्त-पुत्र सोमरि श्रुति ने बारह वर्ष तक जल में रहकर तप किया ॥५६॥ उसी जल में सुम्भ नामक एक विशाल देह वाला सम्भराज रहता था जिसके बहुवृत्तों सन्तानें थीं ॥५०॥ उसके पुत्र, पौत्र, दौहित्र आदि उसके आगे-पीछे, इधर-उधर तथा पूर्व और मध्य पर हण्डित होते हुए झूमते हुए उसके साथ क्रीडा-रत रहते थे ॥५१॥ और वह भी अपने बालकों के कोमल स्पर्श से अत्यन्त प्रसन्न होकर उन मुनि के सामने ही दिन-रात खेतता रहता था ॥५२॥ इस प्रकार जब मैं खड़े हुए सोमरि श्रुति अपनी सम्भराज मुक्त मध्य वि को खाम कर अर्चनार्थ उस सम्भराज की उन बालकों के साथ होने वाली क्रीडा को देखत रहते और किराहूँने सोचा ॥५३॥ प्रहो, यह कैसा इतहास है जो ऐसी निरुद्ध योनि की प्रान हुमा भी अपने पुत्र, पौत्र, दौहित्रादि के साथ निरन्तर क्रीडा करता हुआ हमारे हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न कर रहा है ॥५४॥ इनो प्रकार हन भी अपने पुत्रादि के साथ अत्यन्त ललित बातक्रीडा करें। ऐसी कामना करत हुए श्रुति उस जल से बाहर निकले और सन्तान के निमित्त दृहम्यायन में प्रविष्ट होने की धमिलापा करते हुए कल्या-प्राप्ति के हेतु रात्रि मागधाता के यहाँ पहुँचे ॥५५॥

आगमनथवणुममनन्तर चोत्पाय तेन राजा सम्यगर्घ्यादिना सम्पूजितः कृताननपरिग्रहं नीनरिरमाच राजानन् ॥५६॥

निवेष्टुर्कामोर्गमि नरेन्द्र यस्या प्रवच्छ मे मा प्रणय विभाङ्गो ॥

न ह्यधिनः कार्यवशादुपेता बहुम्यवने विनुषाः प्रयान्ति ॥५७॥

अन्त्येऽपि सन्त्येव नृपा पृथिव्या मागधानरेया तनयाः प्रनूताः ॥

किं त्वयिनामयिनशानदोशाकुनव्रत इलाध्यमिदं कुलं ते ॥५८॥

गतायंस्त्वाम्भव मन्त्रि कन्यास्त्राता समैका नृपते प्रवच्छ ॥

सत्प्रायं नाम नूनमवद्विभेमि नम्यादह राजवरानिदु वात् ॥५९॥

इति श्रुतिवचनमाकर्ण्य स राजा जराजर्जरितदेहमृष्टिमालोक्त्य प्रदाम्प्रातकातरस्तस्माच्च गापनीयो विम्वचिचिदधोमुनश्चिर दध्यो य ॥६०॥

सप्तद्वीपा मही बुभुजे ।६३। तथाय श्लोक ।६४। यावत्सूर्य उदेत्यस्त
यावच्च प्रतितिष्ठति । सर्वं तद्योयनाश्वस्य मान्धातु क्षेत्रमुच्यते ।६५।

उस बालक के उत्पन्न होने पर श्रृपिण बोले—यह बालक क्या पीर
जीवित रहेगा ? ॥५६॥ सभी देवराज इन्द्र ने यहाँ उपस्थित होकर कहा—यह
मेरे आश्रय में जीवित रहेगा ॥६०॥ इसलिए उसका मान्धाता नाम पड़ा । इन्द्र
ने उसके मुख में अपनी तर्जनी में गुंथी देकर अमृत-पान कराया, जिससे वह
उसी दिन बड़ गया ॥६१-६२॥ उसी समय से मान्धाता सातों द्वीप वाली सम्पूर्ण
पृथिवी का चक्रवर्ती राजा हुआ ॥६३॥ इसके विश्व में यह श्लोक प्रसिद्ध है—
सूर्योदय के स्थान से सूर्यास्त के स्थान पर्यंत सभी क्षेत्र युवनाश्व-युव मान्धाता
के आधीन है ॥६४-६५॥

मान्धाता शतविन्दोर्दुहितर बिन्दुमतीमुपये मे ।६६। पुरकुत्स-
मम्बरीष मुचुकुन्द च तस्या पुत्रनयमुत्पादयामास ।६७। पञ्चाशद्दुहि-
तरस्तस्यामेव तस्य नृपतेर्वभूवु ।६८। तस्मिन्नन्तरे वह वृचश्च सौमरि-
र्नाम महर्षिरन्तर्जले द्वादशाब्द कालमुवास ।६९। तत्र चान्तर्जले सम्मदो
नामातिबहुप्रजोऽतिमानप्रमाणो मीनाधिपतिरसीत् ।७०। तस्य च
पुनर्पौत्रदोहिना पृष्ठतोऽग्रतः पार्श्वयोः पक्षबुच्छशिरसा चोपरि अमन्त-
स्तेनैव सदाहनिशमतिनिवृत्ता रेमिरे ।७१। स चापत्यस्पर्शोपचीयमान-
प्रहर्षप्रकर्षो बहुप्रकार तस्य ऋषेः पश्यतस्तीरात्मजपुनर्पौत्रदोहिनादिभिः
सहानुदिन सुतरा रेमे ।७२। अथान्तर्जलावस्थितस्सौमरिरेकाग्रतस्स-
माधिमपहायानुदिन तस्य मत्स्यस्यात्मजपुनर्पौत्रदोहिनादिभिस्सहाति
रमणीयतामवेक्ष्याचिन्तयत् ।७३। अहो घन्योऽयमीदृशमनभिमत योन्य-
न्तरगवाप्यंभिरात्मजपुनर्पौत्रदोहिनादिभिस्सह रममाणोऽतीवास्माकं
स्पृहामुत्पादयति ।७४। वयमप्येव पुत्रादिभिस्सह ललित रस्यामहे
इत्येवमभिवाङ्मन् स तस्मादन्तर्जलान्निष्क्रम्य सन्तानाय निवेष्टुवाम
कन्यार्थं मान्धातार राजानमगच्छत् ।७५।

शतविन्दु की पुत्री बिन्दुमती स उस मान्धाता ने विवाह किया, जिससे
पृथुस, अम्बरीष और मुचुकुन्द नामक तीन पुत्र और पचास कन्याएँ उत्पन्न

हई ॥६६-६८॥ उसी काल की बात है कि बहुवृच-पुत्र सीमरि ऋषि ने बारह वर्ष तक जन में रहकर तप किया ॥६९॥ उसी जन में सम्मद नामक एक विद्याल देह वाला मत्स्यराज रहता था जिसके बहुवृच-सी सन्तानें थी ॥७०॥ उसके पुत्र, पौत्र, दौहित्र आदि उसके भाने-भीष्टे, डबर-उधर तथा पूर्व और मत्स्य पर हविष्ठ होते हुए धूमते हुए उनके साथ कीड़ा-पत रहते थे ॥७१॥ और वह भी अपने बापकों के बोझ स्वयं से अत्यन्त भयान होकर उन मुनि के सामने ही दिन-रात खेतता रहता था ॥७२॥ इस प्रकार जन में रहने हुए सीमरि ऋषि अपने सम्मदता युक्त मनःवि को त्याग कर भर्तृनिधि तप मत्स्य-राज की उन बापकों के साथ होने वाली क्रीडा को देखते रहते और फिरउन्होंने सोचा ॥७३॥ अहो, यह कैसा कृतकृत्य है जो ऐसी निरुद्ध योनि को प्राप्त हुआ भी अपने पुत्र, पौत्र, दौहित्रादि के साथ निरन्तर क्रीडा करता हुआ हमारे हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न कर रहा है ॥७४॥ इसी प्रकार हम भी अपने पुत्रादि के साथ अत्यन्त ललित बातक्रीडा करें। ऐसी कामना करते हुए ऋषि उस जन से बाहर निकले और सन्तान के निमित्त गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने की अभिलाषा करते हुए कन्या-प्राप्ति के हेतु राजा मानघाता के यहाँ पहुँचे ॥७५॥

आगमनश्रवणमनन्तरं चांत्याय तेन राज्ञा सम्यगर्घ्यादिना सम्पूजितः कृतासनपरिव्रहः सीमरिरिवाच राजानम् ॥७६॥

निवेष्टुकामोऽस्मि नरेन्द्र वन्या प्रयच्छ मे मा प्रणये विभाङ्क्षोः ।

न ह्यधिनाः कार्यवशादुपेताः ककुत्स्थवन्नि विमुखाः प्रयान्ति ॥७७॥

अन्येऽपि सन्त्येव नृपाः पृथिव्या मान्धातुरेया तनयाः प्रभूताः ।

किं त्वर्थिनामपितदानदीक्षाकृतव्रत इत्याद्यपिदं कुतं ते ॥७८॥

यतार्थमुत्प्रास्तव नन्ति वन्यास्त्रानां ममैका नृपते प्रयच्छ ।

सत्प्राप्तानाम् नृपमाब्धिनेमि तस्मादहं राजवरातिदुःखान् ॥७९॥

इति श्रुतिवचनमाकर्ण्य म राजा जराजर्जरितदेहमृषिमात्मोक्तं प्रत्याख्यानकातरस्तस्मात्तु शापनीतो विन्यक्तिश्चिदधोमुनश्चिरं दध्यो य ॥८०॥

नरेन्द्र कस्मात्समुपेयि चिन्ता मसह्यमुक्तं न मयात्र किञ्चित् ।

यावदयदेया तनया तयैव कृतार्थता नो यदि किं न लब्धा ॥७१॥

ऋषि के आने की बात सुन कर राजा अपने तिहासन से उठे और उन्होंने ऋषि को भर्ष्य बेकर उनका पूजनादि किया । तब श्रेष्ठ प सन को प्राप्त हुये सोमरि ऋषि राजा से बोले ॥७६॥ सोमरि ऋषि ने कहा—हे राजन् ! मैं कन्या प्राप्त करने का इच्छुक हूँ, इसलिए तुम मुझे एक कन्या प्रदान करो । मेरा प्रणय भङ्ग न हो, वह कार्य करो । क्योंकि ककुत्स्थ वंश में किसी प्रकार की कामना लेकर प्राया हुआ कोई भी याचक खाली हाथ कभी नहीं जाता ॥७७॥ हे माग्धाता ! भूतल पर अग्य अनेक राजा हैं और उनके यहाँ कन्यायें हैं, परन्तु याचको की इच्छित वस्तु प्रदान करने में दृढ प्रतिज्ञ तो तुम्हारा यही वंश विख्यात है ॥७८॥ हे राजन् ! तुम अपनी पचास कन्याओं में से मुझे केवल एक ही कन्या प्रदान कर दो, क्योंकि मैं इस समय इन कष्ट से ग्रस्त भयभीत हूँ कि कहीं मेरी प्रार्थना भङ्ग न हो जाय ॥७९॥ श्री पराशरजी ने कहा—ऋषि के वचन सुन कर उनके वृद्धावस्था से जोलुं हुए देह की देखना हुआ राजा नाप की आशङ्का से भयभीत होकर अपने मुख की नीचा किए हुए मीन चिन्तन करने लगे ॥८०॥ सोमरि ने कहा—हे राजन् ! तुम क्या चिन्तन कर रहे हो ? मैंने कोई ऐसी बात तो कही नहीं, जो असह्य समझी जा सके । तुम्हें अपनी जो कन्या एक दिन किसी की अवश्य देनी है- उसे प्राप्त कर यदि मैं ही कृतार्थ हो सकूँ तो तुम्हें क्या उपमन्य नहीं हो सकता ? ॥८१॥

अथ तस्य भगवतश्शापभीतस्सप्रथयस्तमुवाचासी राजा ॥८२॥ भगवन् अस्मत्कुलस्यितिरिय य एव कन्याभिरुचितोऽभिजनवान्वरस्तस्मै कन्या प्रदीयते भगवद्याञ्जा चास्मन्मनोरथानामप्यतिगोचरवर्त्तिनो कथमप्येषा सञ्जाता तदेवमुपस्थिते न विद्यः किं कुर्म इत्येतन्मया चिन्त्यत इत्यभिहिते च तेन भूभुजा मुनिरचिन्तयत् ॥८३॥ अयमन्योऽस्मत्प्रत्याख्यानोपायो वृद्धोऽयमनभिमतः स्त्रीणां किमुत कन्यकानामित्यमुना सञ्चिन्त्येतदभिहितमेवमस्तु तथा वरिष्यामीति सञ्चिन्त्य माग्धातारमुवाच ॥८४॥ यद्येव तदादिदयतामस्मार्कं प्रवेशात् कन्यान्तःपुरवर्षवरो

यदि कन्यैव काचिन्मामभिलपति तदाह दारस्तग्रह करिष्यामि अन्यथा
चेत्तदलभस्माकमेतेनातीतवालारम्भणेनेत्युक्त्वा चिरराम ॥२॥

श्री पराशरजी ने कहा—फिर महर्षि सोभरि के शाप की शपथ से
भयभीत हुए राजा मान्यान्त विनम्रता पूर्वक उन ऋषि में बोले ॥२॥ राजा
ने कहा—हे भगवन् ! हमारे यश की यह परम्परा रही है कि कन्या जिस
साक्षुलोत्पन्न वर को पसन्द करे उसी को वह प्रदान की जाती है। आपकी
याचना हमारे धर्मोत्तरे से भी परे हैं, और न जाने किन प्रकार इसकी उत्पत्ति
हुई है ? इस अवस्था में मुझे क्या करना चाहिए, यह नहीं समझ पा रहा हूँ
और इसी बात की मुझे चिन्ता है। राजा मान्यान्त की यह बात सुनकर सोभरि
ऋषि विचार करने लगे ॥३॥ मुझे टानने के लिए यह एक अन्य उपाय प्रयुक्त
किया गया है। यह बृद्ध है, इसे प्रोडा स्त्रिया भी पसन्द नहीं कर सकतीं, तो
कन्याओं का कहना ही क्या है ? राजा ने यही सोचते हुए मुझे टानने की चेष्टा
की है। यदि ऐसा है तो मैं भी इसका उपाय करूँगा। ऐसा विचार करके
उन्होंने राजा से कहा ॥४॥ यदि ऐसा है तो कन्याओं के घन्तःपुर रत्नक की
मेरे प्रवेश की आज्ञा दो। फिर यदि कोई कन्या स्वयं ही मुझे पसन्द करेगी,
तब मैं स्त्री-परिग्रह करूँगा, अन्यथा इन टानती हुई धातु में शर्म के हम उद्यम
से कोई प्रयोजन ही नहीं रखेगा। यह कहकर वह चुप हो गए ॥५॥

ततश्च मान्यान्त मुनिशापशङ्किनेन कन्यान्त पुरवर्षवरस्ममागतः
॥६॥ तेन मह कन्यान्त पुर प्रविष्टोऽब भगवान्गिलसिद्धगन्धर्वैर्म्योऽ-
विशयेन कमनीय रूपमकरोत् ॥७॥ प्रवेश्य चतमृषिमन्तःपुरे वर्षपरस्ताः
कन्याःप्राहा ॥८॥ भवतीना जनयिता महाराजस्ममाज्ञापयति ॥९॥ अयमस्मान्
ग्रहापि कन्यायं समभ्यामन ॥१०॥ मया चास्य प्रतिज्ञातं यद्यस्मत्कन्या
या काचिद्भगवन्त वरयति तत्कन्यायादृष्टन्दे नाह परिपन्यान् करिष्या-
मीत्याहर्ष्यं सर्वा एव ताः कन्याः सानुरागा मप्रमदा करेणैव इवेभयू-
षन्ति तमृषिमहमहमिवया वरयाम्बभूवुरुचुश्च ॥११॥

यह सुन कर ऋषि के शाप-वश से भीत हुए राजा ने कन्याओं के घन्तः
पुर रत्नक को उनके प्रवेश की आज्ञा दी ॥६॥ तब उसके शाप घन्तःपुर में

जाते हुए महर्षि सीमरि के अपने रूप को सभी सिद्धो और गन्धर्वों से भी अत्यन्त कमनीय बना लिया ॥८७॥ इस प्रकार उन ऋषि श्रेष्ठ को कन्याओं के अन्त-पुर में ले जाकर उसके रक्षक ने कन्याओं से कहा ॥८८॥ तुम्हारे पिता महाराज मान्यता ने आज्ञा की है कि वह ब्रह्मर्षि हमारे यहाँ एक कन्या की इच्छा से आये हैं और मैंने इनको वचन दिया है कि मेरा जो कन्या इन्हे स्वेच्छा से वरण करती जाहेगी, मैं उसकी स्वच्छदान में बाधक नहीं बनूँगा । उसकी यह बात सुन कर उन सब कन्याओं ने युवपति हाथी का वरण करने वाली हविनियों के से समान अनुराग और आह्लाद सहित सहता कहा कि मैं ही इनका वरण करती हूँ, मैं ही करती हूँ । इस प्रकार कहती हुई सभी कन्याओं ने उन ऋषि को वरण कर लिया । उक्त समय वे सब परस्पर कहने लगी ॥८९-९१॥

अथ भगिन्योऽहमिमं वृणोमि वृणोम्यहं नैव तवानुरूप ।
ममैव भर्ता विधिनैव सृष्टस्मृष्टाहमस्योपशम प्रयाहि ॥९२॥
वृत्तो मयाय प्रथमं मयाय गृहं विराग्नेव विहन्यसे विम् ।
मया मयेति क्षितिपात्मजानां तदर्थमत्यर्थकलिर्बभूव ॥९३॥
यदा मुनिस्ताभिरतीवहार्दाद्वृतस्तस्मै कन्याभिरनिन्द्यकीर्ति ।
तदा स कन्याधिकृतो नृपाय यथावदाचष्ट विनम्रमूर्तिः ॥९४॥

तदवगमात्किञ्चिन्मेतत्स्थमेतत्किं करोमि किं मयाभिहित-
मित्याबुलमतिरनिन्द्यन्नपि कथमपि राजानुमेने ॥९५॥ वृत्तानुरूपविवा-
हश्च महर्षिस्तवला एव तां कन्यास्त्वमाश्रममनयत् ॥९६॥

महो बहिनो ! तुम सब क्यों ध्वयं चेष्टा कर रही हो, यह तुम्हारे तो अनुरूप ही नहीं है, मैं ही इनका वरण करती हूँ । विधना ने ही इन्हें मेरा पति और मुझे इनकी पत्नी निश्चिन किया है, इसलिए तुम अपने प्रयत्न में शांत होओ ॥९२॥ इनने अन्त-पुर में घुसते ही मैंने इन्हें वरण कर लिया था, अब तुम क्यों इन पर न्योछावर हो रही हो ? इस प्रकार मैंने इनका वरण किया, मैंने प्रथम ही वरण कर लिया बहती हुई उन सभी राज-कन्याओं में वसह उत्पन्न हो गया ॥९३॥ फिर उन सभी कन्याओं ने अत्यन्त अनुराग में वशी-
भूत होकर उन भक्ति-वचन वाले ऋषिश्रेष्ठका वरण कर लिया तब अन्त-पुर रम्य

ने राजा ने पास जाकर सब वृत्तान्त यथावत् निवेदन किया ॥६५॥ श्री परागर-
जी बोले—सब वृत्तान्त जानकर राजा सोचने लगे कि यह क्या कह रहा है ?
यह किस प्रकार सम्भव हुआ ? अब मुझे क्या करना चाहिए ? मैं उन्हें क्यों
बैसा कहा ? इस प्रकार व्याकुल होते हुए राजा ने अनिच्छा पूर्वक अपने वचन
को निभाया तथा अपने अनुसूचि विवाह-संस्कार के सम्पन्न होने पर उन सब
कन्याओं को साथ लेकर महर्षि सोमरि अपने आश्रम को गये ॥६५-६६॥

तत्र चाशेषशिल्पकल्पप्रणेतार घातारमिवान्य विश्वकर्माणमा-
हूय सकलकन्यानामेकैकस्या प्रोत्पृन्वपङ्कजा वृजत्कलहमकारण्डवा-
दिविहङ्गमाभिरामजलाशयास्मोपधाना सावकाशास्माधुशय्यापरि-
च्छदा प्रासादा त्रियन्तामित्यादिदेव ॥६७॥ तच्च तथैवानुष्ठितमशेष-
शिल्पविशेषाचार्यस्त्वष्टा दक्षितवान् ॥६८॥ तत्र परमर्षिणा सोमरिणा-
ज्ञप्तस्तेषु गृहेष्वनिवार्यानन्दनामा महानिधिरागाश्वके ॥६९॥ ततोऽनवर-
तेन भक्ष्यभोज्यलेह्याद्युपभोगैरामतानुगतभृत्यादीनह्निशमगेषुगृहेषु ता
क्षितीशदुहितरो भोजयामासु ॥१००॥

वहाँ पहुँच कर उन्होंने शिल्पकला के प्रणेता विश्वकर्मा को प्रार्थित कर
उनसे कहा कि इन सब कन्याओं के लिए पृथक् पृथक् भवन बना दो, जिनमें
विवक्षित हुए कमल, वृजते हुए हंस और कारण्डवादि जन-मक्षियों से परिपूर्ण
जलाशय, सुन्दर उपधान चम्पा और परिच्छदादि हस्त तथा उनमें गुप्ता हुप्रा
स्थान भी पर्याप्त रूप से हो ॥६७॥ यह सुनकर सम्पूर्ण शिल्पकला के विशेष
शाचार्य विश्वकर्मा ने उनकी इच्छा के अनुसार ही सब निमित्त करके उन्हें
दिखाया ॥६८॥ फिर महर्षि सोमरि की आज्ञा से उन भवनों में 'अनिवार्य
भानद' नाम की महानिधि विराजमान हो गई ॥६९॥ इसने कहा अनवरत भक्ष्य,
भोज्य, लेह्य आदि सामग्रियों के द्वारा वे राजपुत्रियों आगत प्रतिपदियों और
अन्य अनुगत भृत्या को वृत्त करने में रात दिन समर्थ हुई ॥१००॥

एवदा तु दुर्दृष्टेहादृष्टहृदयस्म महीपतिरनिदु चित्तान्ता उन
सुखिना वा इति निचिन्त्य तस्य महर्षेराथमममीपमुपेत्य स्फुरदगुमा-

लाललामा स्फटिकमयप्रासादमालामतिरम्योपवनजलाशया ददश ॥१०१॥
 प्रविश्य चैक प्रासादमात्मजा परिष्वज्य कृतासनपरिग्रह प्रवृद्धस्नेहन-
 यनाम्बुगभनयनोऽब्रवीत् ॥१०२॥ अप्यत्र वत्से भवत्या सुखमुत विश्वि-
 दसुखमपि ते महर्षिस्नेहवानुत न स्मयतेऽस्मद्गृहवास इत्युक्ता त-
 तनया पितरमाह ॥१०३॥ तातातिरमणीय प्रासादोऽत्रातिमनोज्ञमुपवन-
 मेते कलवाक्यविहङ्गमाभिस्ता प्रोत्फुल्लपद्माकरजलाशया मनोऽनुक-
 लभक्ष्यभोज्यानुलेपनवस्त्रभूषणादिभोगो मृदूनि शयनासनानि सवसम्प-
 त्समेत मे गाहस्थ्यम् ॥१०४॥ तथापि केन वा जन्मभूमिर्न स्मयते ॥१०५॥
 त्वत्प्रासादादिदमशयमतिशोभनम् ॥१०६॥ किं त्वेक ममतद्दुःखकारणं
 यदस्मद्गृहान्महर्षिरयम्नऋता न निष्कामति ममैव केवलमतिप्रीत्या
 समीपपरिवर्ती नान्यासामस्मद्भूमिनीनाम् ॥१०७॥

फिर हिन्दी एर त्तिन राजा माघाता घरनी क पापो के स्नेह से आइष्ट
 हृदय सहित उनके सुखी या दुखी होने के बिषय से जानने की उत्तुंगता से महर्षि
 ने आश्रम के समीप पहुँचे । तब उन्हें वहाँ अत्यन्त रमणीय उपवनो और जला-
 शयों ने सुगोभित स्फटिकमय प्रासादों की शक्ति दिखाई पड़ी, जो मधुर मधु-
 मालामौ से आश्रित नानाप्रतीत होती थी ॥१०१॥ फिर वह एक भवन में
 जाकर घरनी पुत्री को हृदय से लगाकर आसन पर बैठ गये और स्नेहसिक्त
 मनो मजल भरत हृदय बहने लग ॥१०२॥ हे वत्से ! तुम सब यहाँ सुख-
 पूरक तो रह रही हो ? किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं पाली ? महर्षि तुमसे प्रेम
 तो करत है ? क्या तुम्हें घरने पितृस्नेह की भी कभी याद आती है ? पिता की
 याद सुन कर राजकुमारी बानी — हे पिताजी ! यह प्रासाद अत्यन्त रमणीय है
 यह उपवनानि भी अत्यन्त चित्ताकर्षक हैं विनसित कमलों वाले इन जलाशयो
 न जलजली मदा हो मधुर बोली बोलत है भव्य भोज्यानि आद्य तथा अग्राग,
 पद्माभूषण, सुशोभन वास्या, मृदु आसन सभी मन-पराद हैं । इन प्रकार हमारा
 गार्हस्थ्य जीवन अत्यन्त सम्यक् सम्यक् और सुखा है ॥१०४॥ फिर भी घरने
 जन्म स्थान का स्मरण भला किम न होमा ? ॥१०५॥ यद्यपि आगे के प्रसाद से
 सब कृप आश्रित शोभाय है, फिर भी मुझ एक अत्यन्त दुःख यह है कि हमारे

पनि यह महर्षि मेरे भवन से कभी निकलने ही नहीं, मुझ पर भी अत्यधिक स्नेह रहने के कारण यह मेरे ही पास रहे जाते हैं, मेरी अन्य बहिनों के पास नहीं जाते ॥१०६-१०७॥

एव च मम सोदयोऽतिदुःखिता इत्येवमतिदुःखकारणमित्यु-
क्तत्वा द्वितीय प्रासादमुपेत्य स्वतनया परिष्वज्योपविष्टस्तथैव पृष्टवान्
॥१०८॥ तमापि च सर्वमेतत्तत्प्रासादाद्युपभोगमुख भृशमावधत्तं ममैव
केवलमतिप्रीत्या पार्श्वपरिवर्त्ति, नान्यान्मामस्मद्भूमिनीनामित्येवमादि
श्रुत्वा समस्तप्रासादेषु राजा प्रविवेका तनया तनया तथैवापृच्छत् ॥१०९॥
सर्वाभिश्च ताभिस्तथैवाभिहितः परितोपविस्मयनिर्भरविषमहृदयो
भगवन्तः सोमश्चिमेकान्तावस्थितमुपेत्य कृत्स्नोऽग्र्योत् ॥११०॥ दृष्ट्वा
भगवन् सुमहानेप सिद्धिप्रभायो नैव विचमन्यस्य वस्यचिदस्माभिर्विभू-
तिभिर्विपुलसितमुपलक्षित यदेतद्भगवत्तत्पसः फलमित्यमिपूज्य तमृपि
तनय तेन अपिचर्येण सह किञ्चित्कालमभिमतोपभोगान् कुमुजे स्वपुर
चञ्जगाम ॥१११॥

इससे मेरी अन्य बहिनें आपत्त दुःखित होगी । इसी में मैं आपत्त दुःखी
हूँ । इसके पश्चात् राजा दूसरे भवन में पहुँचे और अपनी कन्या का आतिशय
कर आसन पर बैठे और उसमें भी उन्होंने वही प्रदत्त किया ॥१०८॥ उन राज-
कुमारों ने भी उसी के सपान भवनादि सब सुख भोगों का वर्णन करके उसी
प्रकार कहा कि मुझ में आपत्त प्रेम होने के कारण महर्षि केवल मेरे ही पास
रहते हैं, मेरी किसी अन्य बहिन के पास नहीं जाते । इस बात को सुन कर
राजा एकाएक बरके सभी भवनों में गये और अपनी सभी कन्याओं से वीगा ही
प्रदत्त किया ॥१०९॥ तथा उन सब ने भी वही वीगा ही उत्तर दिया । उन की
बात सुनने के अनन्तर राजा अत्यन्त आनन्दित और विस्मित हुए तथा एकाएक
में स्थित महर्षि सोमश्चि का पूजन करके उन्होंने निवेदन किया ॥११०॥ हे
भावन् ! यह सब प्रभाव आपकी ही योग-मिद्धि का दिशाई दे रहा है । इस
प्रकार में ऐश्वर्य के सहित विलास करते हुए सभी किसी को नहीं देखा । यह
सब आपने सा का ही प्रभाव है । राजा ने इस प्रकार महर्षि का अभिवादन कर

बुद्ध बाल तक उनके साथ आनन्दोप भोग किया और अन्त में अपने नगर को वापिस लौटे ॥१११॥

कालेन गच्छन्ता तस्य तासु राजतनयामु पुत्रदत्तं सार्धममवत् ॥११२॥ अनुदिनानुसृढस्नेहप्रसरश्च स तत्रातीव ममताकृष्टहृदयोऽभवत् ॥११३॥ अप्येतेऽमृत्युया कलभापिणः पद्भ्या गच्छेयुः अप्येत यौवनिनो भवेयुः अपि कृतदारानेतान् पश्येयमप्येषा पुत्रा भवेयुः अप्येतत्पुत्रान्पुत्र-समन्वितान्पश्यामीत्यादिगनोरयाननुदिन कालसम्पत्तिप्रवृद्धानुपेक्षयैत-च्चित्तन्यामास ॥११४॥

अहो मे मोहस्यातिविरतारः ॥११५॥

मनोरयाना न समाप्तिरस्ति वर्षायुतेनापि तथाब्दलक्षैः ।

पूर्णेपु पूर्णेपु मनोरयानामुत्पत्तयस्सन्ति पुनर्नवानाम् ॥११६॥

पद्म्या गता यौवनिनश्च जाता दारश्च सयोगमिता प्रसूताः ।

दृष्टाः सुतास्तत्तनयप्रसूतिं द्रष्टु पुनर्वाञ्छति मेऽन्तरारमा ॥११७॥

द्रक्ष्यामि तेषामिति चेत्प्रसूतिं मनोरथो मे भविता ततोऽन्य ।

पूर्णेऽपि तत्राप्यपरस्य जन्म निवार्यते केन मनोरथस्य ॥११८॥

आमृत्युनो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य ।

मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसङ्गि ॥११९॥

कालान्तर मे उन राजकुमारियो के द्वारा तोभरि मुनि ने डेढ सौ पुत्र उत्पन्न किए । इससे दिनो दिन बढ़ने हुए स्नेह के कारण उनका हृदय अरन्त ममता से भर गया । ११२-११३॥ उस समय वह गोचने लगे कि क्या मेरे यह पुत्र मधुर बोली सुनावेंगे ? आने पेरो से चलेंगे ? सुवाक्स्था को प्राप्त होंगे ? क्या मैं इन सब को पत्नी सहित देख सकूंगा ? फिर इनके भी पुत्र होंगे तब क्या मैं अपने को पुत्र-पौत्रो से सम्पन्न देख पाऊंगा ? फिर इस प्रकार दिन प्रतिदिन बढ़ते हुये इन मनोरथो की उपेक्षा नरन हुए उन्होंने सोचा ॥११४॥ अरे, मेरा मोह कितना विस्तृत हो गया है ? ॥११५॥ यह मनोरथ तो हजारों-लाखो वर्ष मे भी निवृत्त नहीं हो सकते । क्योंकि उनमे से जितने मनोरथ पूर्ण होते हैं उनके स्थान पर अन्य नवीन मनोरथ उत्पन्न हो जाते हैं ॥११६॥ मेरे

पुत्र धन पांवों में चढ़ने लगे, फिर मुवावस्था को प्राप्त हुये, फिर उन्नत विवाह हो गया, यह सभी कुछ मैं देख लिया है। अब मैं अपने पोरो की उत्पत्ति देखने की प्रशिक्षणा करता हूँ ॥११७॥ जब मैं उनकी उत्पत्ति देखूंगा तब मेरे मन में धन्य मनोरथ की उत्पत्ति होगी और जब वह भी पूर्ण हो जायगा, तब किसी धन्य मनोरथ के उद्भव को कौन रोक सकेगा ? ॥११८॥ मैं अब नव प्रकार समझ गया हूँ कि मरणकाल तक भी मनोरथा का अन्त नहीं होगा और किन् मनोरथों में प्राप्त है वह परमायं में लग ही नहीं सकता ॥११९॥

रा मे समाधिर्जलवातमिनमत्स्यस्य सद्भात्महर्मव नष्ट ।

परिग्रहम्भङ्गकृतो भयाय परिग्रहोत्था च ममातिलिप्ता ॥१२०॥

दुःख यदैवंकमरीरजन्म अताद्धं सत्याकमिदं प्रसूतम् ।

परिग्रहेण क्षितिपातमजाना सुतरनेर्बवंहृत्सीकृतं तत् ॥१२१॥

सुतात्मजैस्तत्तनयैश्च भूयो भूयश्च तेषां च परिग्रहेण ।

विस्तारमेप्यत्यतिदुःखहेतुः परिग्रहो वै ममताभिधान ॥१२२॥

चोर्णं तपो यत्तु जलाश्रयेण तस्यद्विरेषा तपसोऽन्तराय ।

मत्स्यस्य सद्भादनवन्धवो मे सुनादिरागो मुपिनोऽस्मि तेन ॥१२३॥

निस्मङ्गता मुक्तिपदं यतीनां सद्भादशेषं प्रनवन्ति दोषा ।

प्रादुर्भूतो विनिपाततेऽयम्भङ्गेन योरी विमुक्तान्पमिद्ध ॥१२४॥

अरे, मेरी वह मनावि जन न पाय रहने वान मत्स्य ही मपनि में रहता था हा गई। उसी से आत्मा किन दृष्ट मैं स्त्री और धनादि का ग्रहण किया तथा अब वह स्त्री पनादि का परिग्रह हो अब मेरी गृष्ठा वृद्धि का कारण बन गया है ॥१२०॥ प्रथम तो दह धारण करना ही दुःख था है, फिर मैं तो इन राजकुमारियों के साथ विवाह करके उन दुःख को पचाव गुना कर दिया है और अब तो इन धनक पुत्रों का कारण उसी अथवा वृद्धि हो गई है ॥१२१॥ अब भविष्य में जब पुत्रों व पुत्र होंगे, तथा उनके भी पुत्रादि और बारबार विवाह सम्बन्ध होने से उसकी और भी वृद्धि होगी जायगी। यह ममता का विवाह सम्बन्धों के कारण ही दुःख का कारण हो रहा है ॥१२२॥ अताप्य में निवास करते हुए मैं तो तन किया था, अपने कन से प्राप्त यह

वैभव भी तपस्या में बाधक हो रहा है । मत्स्य के सँग दोष से मेरे मन में सन्तानादि का राग उत्पन्न हुआ था, उसी में मैं ठग गया हूँ ॥१२३॥
हीनता ही यतियों के लिये मोक्षदायिनी है और सभी दोषों की प्राप्ति सग से होती है । सग के कारण योगसिद्ध पुरुषों का भी पतन हो जाता है, तो अज्ञेय सिद्धि वालों का कहना ही क्या है ॥१२४॥

अहं चरिष्यामि तदात्मनोऽर्थे परिग्रहग्राहगृहीतबुद्धिः ।

यदा हि भूय परिहीनदोषो जनस्य दुःखं भविता न दुःखी ॥१२५॥

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमणोरणीयासमतिप्रमाणम् ।

सितासिता चेश्वरमीश्वराणामाराधयिष्ये तपसैव विष्णुम् ॥१२६॥

तस्मिन्नशेषीजसि सर्वरूपिण्यव्यक्तविस्पष्टतनावनन्ते ।

ममाचल चित्तमपेतदोष सदास्तु विष्णावभवाय भूय ॥१२७॥

समस्तभूतादमलादनन्तात्सर्वेश्वरादन्यदनादिमध्यात् ।

यस्मात् किञ्चित्तमहं गुरुणा परं गुरुं सश्रयमेमि विष्णुम् ॥१२८॥

परिग्रह रूपी ग्राह ने मेरी मति को अङ्क लिया है, इस समय मैं ऐसा मरत कहूँगा, जिससे दोषों से छुटकारा पाकर फिर अपने कुटुम्बीजनों के दुःख से दुःख को प्राप्त न होऊँ ॥१२५॥ अब मैं सर्वधातार, अचिन्त्य रूप, अणु भी सूक्ष्म, सब से महान् सित और अस्मित रूप, ईश्वरों के भी ईश्वर भगवान् श्रीहरि की तप के द्वारा आराधना करूँगा ॥१२६॥ उन सबनजोमय, सर्वरूप अव्यक्त विस्पष्ट तन, अनन्त रूप भगवान् विष्णु में मेरा निर्दोष चित्त अविच्छिन्न भाव से सदा ही लगा रहे, जिससे मुझे पुन पृथिवी पर जन्मधारण न करना पड़े ॥१२७॥ जिन सबरूप, निम्न, अत्यन्त, सर्वेश्वर तथा आदि, मध्य से रहित से अनिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है मैं उन्हीं गुरुओं के परम गुरु भगवान् श्रीहरि की शरण जाता हूँ ॥१२८॥

इत्थात्मानमात्मनैवाभिधायासी सोभरिरपहाय पुत्रगृहासनपरि
च्छदादिवमशेषमर्थजातं सत्तत्त्वार्थासमन्वितं वनं प्रविशेत् ॥१२९॥
तत्राप्यनुदिनं वैशानसनिष्पाद्यमशेषविद्याकलाय निष्पाद्य क्षपितसकल
म् परिष्वक्मनोऽतिरात्यन्यग्नौन्नामारोप्य भिशुरभवत् ॥१३०॥

भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम धर्मग्रन्थ

हिन्दी अनुवाद सहित

१. चारों वेद ८ जिल्दों में-

ऋग्वेद ४ खण्ड	...	२४)
अथर्व वेद २ खण्ड	...	१२)
यजुर्वेद १ खण्ड	...	६)
सामवेद १ खण्ड	...	६)

२. १०८ उपनिषदें (३ खण्डों में)

ज्ञान खण्ड	...	७)
ब्रह्मविद्या खण्ड	...	७)
साधना खण्ड	...	७)

३. पद दर्शन (६ जिल्दों में)

वेदान्त दर्शन	...	४)
सांख्य दर्शन	...	४)
योग दर्शन	...	४)
चैतन्य दर्शन	...	४)
न्याय दर्शन	...	४)
मीमांसा दर्शन	...	४)

४. २० स्मृतियाँ २ खण्ड

... (8)

५. शिव प्रराण

... १२७५

१०) से अधिक के शहरों पर (२२) जिलों में १०० करोड़ रुपये खर्च।

भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम धर्मग्रन्थ

हिन्दी अनुवाद सहित

१. चारों वेद न जिल्दों में—

ऋग्वेद ४ खण्ड	...	२४)
अथर्व वेद २ खण्ड	...	१२)
यजुर्वेद १ खण्ड	...	६)
सामवेद १ खण्ड	...	६)

२. १०८ उपनिषदें (३ खण्डों में)

ज्ञान खण्ड	...	७)
ब्रह्मविद्या खण्ड	...	७)
साधना खण्ड	...	७)

३. षट् दर्शन (६ जिल्दों में)

वेदान्त दर्शन	...	४)
सांख्य दर्शन	...	४)
योग दर्शन	...	४)
वैशेषिक दर्शन	...	४)
न्याय दर्शन	...	४)
मीमांसा दर्शन	...	४)

४. २० स्मृतियाँ २ खण्ड

... १४)

५. शिव पुराण

... १२-७५

१०) से अधिक के आर्डर पर १२१% कमोशन। टाक मर्य प्रलग।

प्रकाशक :

संस्कृति मंत्रालय, खाजा कुतुब, बरेली (उ.प्र.)